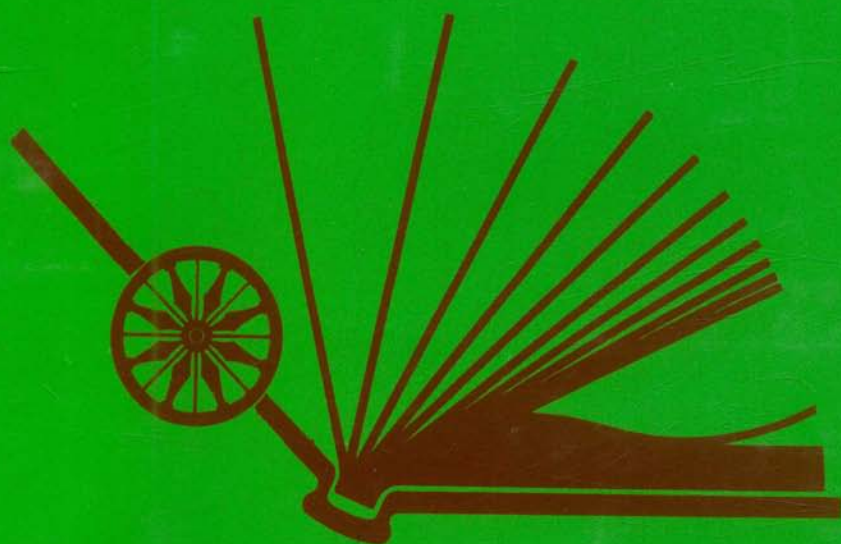


जैन संस्कृत महाकाव्य



डॉ० सत्यव्रत

जैन संस्कृत महाकाव्य

(पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी में रचित)

डॉ० सत्यव्रत

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग;

राजकीय महाविद्यालय,

श्रीगङ्गानगर (राज०)

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य । एक सौ पचास रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू-३४१३०६ ।

JAINA SAMSKṚTA MAHĀKĀVYA
SATYAVRAT

Rs. 150.00

प्रकाशकीय

जैन विश्व भारती की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत साध्वी संधमित्रा की सुख्यात कृति “जैन धर्म के प्रभावक आचार्य” के पश्चात् प्रस्तुत कृति “जैन संस्कृत महाकाव्य” है जो अपनी परिधि में एक विशाल क्षितिज को समेटे हुए है। इस कृति में विद्वान् लेखक ने पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दियों में रचित संस्कृत महाकाव्यों की तलस्पर्शी एवं तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की है। शास्त्रीय महाकाव्य, आस्र काव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य और पौराणिक महाकाव्य—इन चार वर्गों के अन्तर्गत २२ काव्य-ग्रन्थों पर सूक्ष्म विवेचन इस कृति में समाविष्ट है।

अपने क्षेत्र की एक अद्वितीय अमूल्य कृति के रूप में इसका समुचित समादर होगा, यह असंदिग्ध है।

जैन विश्व भारती,
लाहनू-३४१३०६
दिनांक ३-११-८६

श्रीचन्द रामपुरिया
कुलपति

आशीर्वचन

प्रोफेसर सत्यव्रत की पुस्तक मेरे सामने है। इसमें जैन महाकाव्यों का अनुशीलन किया गया है। अनुशीलन में अध्ययन परिलक्षित होता है। आजकल महाप्रबन्ध की परम्परा शिखर की ओर जा रही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रोफेसर सत्यव्रत ने अवश्य ही आरोहण का प्रयत्न किया है। गम्भीर अध्ययन से जो निकलता है, उसमें ऊँचाई की छूने की अहंता होती है।

वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों परम्पराओं में महाकवि हुये हैं। उन्होंने बड़े-बड़े काव्य लिखे हैं। महाकवि कालिदास, माघ, भारवि जैसे कवि बहुत प्रसिद्ध हैं। अश्वघोष भी विश्रुत हैं। जैन कवि बहुत अज्ञात रहे हैं। इसमें जैन विद्वानों की उदासीनता एक कारण है। इसका दूसरा कारण है—उनके काव्य समीक्षा से वंचित रहे हैं। कवियों और समीक्षकों की धारणा रही—जैन कवियों के काव्यों में शृंगार और वीर रस नहीं होता। उनके काव्यों में मुख्य चित्रण शान्त रस का होता है। इसलिये उनके काव्य अन्य कवियों जितने आकर्षक और हृदयग्राही नहीं होते। प्रोफेसर सत्यव्रत ने जैन काव्यों का अनुशीलन प्रस्तुत कर उक्त धारणा को विखंडित किया है। कवि आखिर कवि होता है। विराग अपनी साधना का प्रश्न है। रागात्मक चित्रण सामाजिक या लौकिक परिप्रेक्ष्य है। हिमालयी गुफा में जीने वाला भी लौकिक वृत्त की उपेक्षा नहीं करता, तब समाज के बीच जीने वाला व्यक्ति उपेक्षा कैसे कर सकता है? प्रस्तुत अनुशीलन में हीरविजय काव्य काव्य-धर्म की एक नई दिशा है। भरत-बाहुबली महाकाव्य कथावस्तु की अल्पता होने पर भी कवित्व की दृष्टि से काफी प्रौढ़ है। पार्श्वभूयुक्त के विषय में लेखक की एक टिप्पणी इस प्रकार है—

पार्श्वनाथ काव्य में समासबहुला भाषा का बहुत कम प्रयोग किया गया है। जहाँ वह प्रयुक्त हुई है वहाँ भी शरत् की नदी की भांति वह अपना “प्रसाद” नहीं छोड़ती। मंगलाचरण के दीर्घ-समास अनुप्रास तथा प्राञ्जलता के कारण अर्थ बोध में बाधक नहीं हैं।

पद्मसुन्दर को शब्दचित्र अंकित करने में अद्भुत कौशल प्राप्त है। शब्दचित्र की सार्थकता इस बात में है कि वर्ण्य विषय अथवा प्रसंग को ऐसी शब्दावली में अंकित किया जाये कि पाठक के मानस चक्षुओं को तत्काल प्रत्यक्ष हो जाए। छठे सर्ग में पार्श्वप्रभु के विहार के अन्तर्गत प्रभञ्जन तथा महावृष्टि के वर्णन की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

छह

समालोचना का स्तर श्रेष्ठ है। उसमें अध्ययन की गम्भीरता परिलक्षित होती है। जैन विश्व भारती के कुलपति श्रीचन्द्रजी रामपुरिया तथा अन्य अधिकारी वर्ग ने प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन कर जनता को यथार्थ से परिचित होने का अवसर दिया। संस्कृत काव्य के अनुशीलन ग्रंथों में यह पुस्तक उचित रूप में समावृत्त हो पाएगी।

जैन विश्व भारती, लाडनू
दिनांक ३-११-८६

युवाचार्य महाप्रज्ञ

आमुख

गुण तथा परिमाण में विपुल होता हुआ भी, जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत-साहित्य, अधिकांश में, उपेक्षित है। जहाँ जैनतर अध्येताओं ने इसे साम्प्रदायिक अथवा प्रचारवादी कह कर इसका अवमूल्यन करने की चेष्टा की है, वहाँ जैन विद्वानों का उत्साह दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। ललित साहित्य की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं है, यद्यपि जैन लेखकों ने काव्य, नाटक, चम्पू, व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोष आदि ललित तथा शास्त्रीय साहित्य की सभी विधाओं के मूल्यवान् ग्रन्थों से साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। अकेले आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त प्रायः सभी विषयों से सम्बन्धित इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया है कि वह कई शोध-प्रबन्धों को उपयोगी सामग्री प्रदान कर सकता है। इस वैविध्य, व्यापकता तथा गुणात्मकता के कारण संस्कृत-साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास के ज्ञान, विकासमान प्रवृत्तियों के क्रमिक अध्ययन और तथा-कथित सुप्त युगों की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने तथा उसकी समग्रता का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिये जैन संस्कृत-साहित्य की उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है। फिर भी अधिकतर आलोचक जैन ललित साहित्य के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, यह आश्चर्य की बात है। डॉ० नेमिचन्द्र जैन ने संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों के योगदान का मूल्यांकन करने का भगीरथ प्रयत्न किया है, किन्तु पन्द्रह-सोलह शताब्दियों की विराट् काव्यराशि के सभी पक्षों के साथ एक ग्रन्थ के सीमित कलेवर में न्याय कर पाना सम्भव नहीं है। इसीलिये प्रतिपाद्य की विशालता के कारण यह ग्रन्थ आलोच्य काल के काव्य का सकल चित्र प्रस्तुत करने की बजाय उसकी रूपरेखा-मात्र बनकर रह गया है। ज्ञात तथा अप्रकाशित जैन साहित्य का सर्वांगीण विमर्श स्वतन्त्र ग्रन्थों के द्वारा ही किया जा सकता है। सौभाग्यवश सुधी विद्वानों ने इस दृष्टि से जैन संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में रुचि प्रदर्शित की है। पाश्चान्ताय विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा छह खण्डों में जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का प्रकाशन, इस दिशा में, परम सराहनीय कार्य है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत-महाकाव्यों पर रचित डॉ० श्यामशंकर दीक्षित के शोधप्रबन्ध का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ उस शृंखला की दूसरी कड़ी है। यह हमारे शोध-ग्रन्थ का परिष्कृत, वस्तुतः नवप्रणीत, रूप है, जिसे, कभी अतीत में, राजस्थान विश्वविद्यालय ने पीएच-डी. उपाधि के लिये स्वीकार किया था।

पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं ईस्वी शताब्दियों में, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ अनुकूल न होने पर भी, जैन साहित्य की गतिविधियाँ—विशेषतः काव्य रचना—प्रबल रही हैं। इस युग में प्रणीत जैन संस्कृत-महाकाव्यों का पर्यालोचन प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है। आलोच्य युग के जैन संस्कृत-महाकाव्य चिर-प्रतिष्ठित महाकाव्य-परम्परा का प्रसार है। यह सत्य है कि वे समवर्ती प्रवृत्तियों, अपने रचयिताओं के परिवेश तथा उपजीव्य ग्रन्थों के प्रभाव से अनुप्राणित हैं, किन्तु उनमें क्रमागत परम्परा से तात्त्विक भेद अधिक दिखाई नहीं देता। फिर भी जैन संस्कृत महाकाव्यों की निजी विशेषताएँ तथा प्रवृत्तियाँ हैं। अतः विवेच्य महाकाव्यों के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान के लिये, प्रथम अध्याय में, उन प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है; जो इन काव्यों की प्रेरक हैं तथा जिन्होंने इनका स्वरूप निर्धारित किया है। एक अर्थ में, यह अध्याय, विवेचित महाकाव्यों की शिल्प एवं स्वरूपगत विशेषताओं का आकलन है।

अगले चार अध्यायों में आलोच्य युग के महाकाव्यों का सांगोपांग विवेचन किया गया है, जो ग्रन्थ का सर्वस्व है। शैली के आधार पर महाकाव्यों का शास्त्रीय, शास्त्र, ऐतिहासिक तथा पौराणिक इन चार अनुभागों में वर्गीकरण किया गया है। शास्त्रकाव्यों में एक ऐसा काव्य (सप्तसन्धान) भी है, जो उक्त शैली की कृति न होने पर भी उस कवि की रचना है जिसका अधिकतर जीवन सतरहवीं शताब्दी में बीता है। शास्त्रीय महाकाव्यों के गौरव के अनुकूल उनकी समीक्षा पहले की गयी है, तत्पश्चात् क्रमशः शास्त्र, ऐतिहासिक तथा पौराणिक महाकाव्यों की। इससे विवेचित महाकाव्यों के तिथिक्रम का कुछ व्यतिक्रम होता है। कतिपय पौराणिक महाकाव्य कुछ शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक महाकाव्यों से पूर्व की रचनाएँ हैं। किन्तु इस व्यतिक्रम का परिहार किसी भी वैज्ञानिक वर्गीकरण से नहीं किया जा सकता। अतः महाकाव्यों के महत्त्व के आधार पर वर्गीकरण का उक्त मानदण्ड अनुचित नहीं है। प्रस्तुत युग में शास्त्रीय महाकाव्यों की रचना कम नहीं हुई, यह सुखद आश्चर्य है। ग्रन्थ में आठ शास्त्रीय महाकाव्यों का विवेचन मिलेगा, यद्यपि उनमें से कुछ के स्वरूप के विषय में मतभेद सम्भव है। आलोच्य काल के ऐतिहासिक महाकाव्य दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के प्रसिद्ध शासकों अथवा मन्त्रियों के वृत्त पर आधारित हैं। दूसरी प्रकार के महाकाव्य, परम्परागत अर्थ में, ऐतिहासिक पात्रों से सम्बद्ध नहीं हैं। उनमें जैन धर्म के बहुमानित आचार्यों एवं प्रभावकों का चरित निरूपित है। सब मिलाकर ग्रन्थ में २२ महाकाव्यों का पर्यालोचन किया गया है। इनमें आठ शास्त्रीय महाकाव्य हैं, दो शास्त्रकाव्य, छह ऐतिहासिक तथा शेष पौराणिक रचनाएँ हैं। कतिपय काव्यों से तो जैन विद्वान् भी, प्रथम बार, इस ग्रन्थ में परिचित होंगे।

महाकाव्य की समीक्षा की हमारी निश्चित प्रणाली है। प्रारम्भिक परिचय के पश्चात् महाकाव्य के स्वरूप-निर्माता तत्त्वों का संकेत करते हुए उन प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर अमुक रचना को शास्त्रीय, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महाकाव्य माना गया है। तदुपरान्त काव्यकर्ता का परिचय देकर तथा काव्य का रचनाकाल निश्चित करके कथावस्तु के निर्वाह, रसविधान, प्रकृति-चित्रण, चरित्रचित्रण तथा भाषा-शैली की कसौटी पर महाकाव्यों का मूल्यांकन किया गया है। विभिन्न महाकाव्यों के विवेचन में, इन तत्त्वों के क्रम में, उनकी महत्ता के अनुरूप, कमबेश परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता हमने अवश्य ली है। जिन महाकाव्यों में समसामयिक समाज की मान्यताओं अथवा जैन धर्म एवं दर्शन का प्रसंगवश निरूपण हुआ है, उनका विश्लेषण भी विवेचन के अन्तर्गत यथास्थान किया गया है। ऐतिहासिक महाकाव्य की सार्थकता उसके इतिहास एवं काव्यत्व की समान मफलता में निहित है। अतः ऐतिहासिक महाकाव्यों का कवित्व की दृष्टि से मूल्यांकन करने के पश्चात् उनकी ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता का परीक्षण भी किया गया है। जैनाचार्यों के जीवनवृत्त पर आधारित कतिपय महाकाव्यों की समीक्षा में भी इसी प्रणाली को अपनाया गया है। इस युग के महाकाव्यों ने पूर्ववर्ती प्रख्यात महाकाव्यों की धरोहर को किस प्रकार आत्मसात् किया है, इसका विशद विवेचन हमने यथाप्रसंग किया है। विवेचित महाकाव्यों के आधार-स्रोतों को खोजकर उनसे, सम्बन्धित काव्य के कथानक के विनियोग तथा भाव एवं भाषागत साम्यासाम्य का विमर्श, प्रथम बार इस ग्रन्थ में मिलेगा। यथाप्रसंग विदित होगा कि महापुराण तथा त्रिपिटकालाकापुरुषचरित प्रस्तुत महाकाव्यों के मुख्य स्रोत रहे हैं। तुलनात्मक अध्ययन रोचक होने पर भी कितना कष्टसाध्य होता है, इसका आभास प्रबन्ध के प्रासंगिक अंशों से होगा। इस प्रकार विवेचन को यथाशक्य सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। समीक्षा का कलेवर सर्वत्र कृति की महत्ता तथा विषयसमृद्धि के अनुरूप है। उसमें विभिन्न महाकाव्यों से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातें समेटने की तत्परता है। विस्तार के प्रति हमारा आग्रह नहीं है, किन्तु कतिपय महाकाव्य इतने सुन्दर हैं कि उन पर विस्तार से लिखना अनिवार्य हो जाता है।

विवेच्य युग में दो प्रकार के महाकाव्य प्राप्त हैं। एक तो वे, जो अभी तक अप्रकाशित हैं और हस्तलिखित प्रतियों के रूप में, देश के विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों अथवा विद्याव्यसनी व्यक्तियों के निजी संग्रहों में ही, उपलब्ध हैं। दूसरे काव्य वे हैं, जो साहित्यप्रेमी श्रावकों अथवा धार्मिक एवं साहित्यिक संस्थाओं की उदारता से प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रन्थ में जिन महाकाव्यों को अध्ययन का विषय बनाया गया है, उनमें १७ प्रकाशित हैं, शेष अप्रकाशित। हस्तप्रतियों को प्राप्त करने तथा उनके प्राचीन लेख को पढ़ने में कितनी कठिनाई होती है, यह इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को विदित है। भण्डारों के अधिपतियों के स्वनिर्मित नियमों की

बेड़ियों से इस साहित्यिक निधि को मुक्त करवाना प्रायः असम्भव है। इस कठोर बन्धन के कारण ही सुमतिसम्भव के अध्ययन के लिये उसकी फोटोप्रति से ही संतोष करना पड़ा है। कुछ प्रकाशित महाकाव्य भी अप्रकाशित जैसे ही हैं। वे अनीत में इधर-उधर मुद्रित हुए थे। उन्हें बड़ी कठिनाई से, विविध स्रोतों से, प्राप्त किया गया।

उपर्युक्त महाकाव्यों का प्रथम बार इस ग्रंथ में समुचित अध्ययन किया गया है। अप्रकाशित रचनाओं के पर्यालोचन की बात तो दूर, उनमें से सुमतिसम्भव, स्थूलभद्रगुणमाला, यशोधरचरित के अस्तित्व का भी अधिकतर विद्वानों को पता नहीं था। यदुसुन्दर की एकमात्र उपलब्ध हस्तप्रति की जानकारी स्वयं हमें बहुत बाद में मिली थी। मूल प्रबन्ध में यदुसुन्दर का विवेचन नहीं था। प्रकाशित महाकाव्यों में से भी कुछ का छिट-पुट संकेत मोहनलाल दलीचन्द देसाई के 'जैन साहित्य' नो संक्षिप्त इतिहास तथा हीरालाल कापड़िया के 'जैन संस्कृत साहित्य नो इतिहास' में किया गया है। किन्तु मात्र उल्लेख सर्वांग अध्ययन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। यह भी कतिपय मुज्ञात महाकाव्यों तक सीमित है। डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग ६, में अपेक्षाकृत अधिक महाकाव्यों का परिचय दिया है, किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उनसे भी छूट गये हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है, केवल हम्मीरमहाकाव्य का, इतिहास तथा काव्य दोनों दृष्टियों से, विस्तृत मूल्यांकन सुधी आलोचकों ने किया है। हमने उन सबका यथासम्भव अवलोकन किया है तथा आवश्यकतानुसार अपनी समीक्षा में उनका सामान्य प्रयोग किया है।

जैन काव्य-रचनाओं का महाकाव्यत्व निर्णीत करना दुस्साध्य कार्य है। जैन कवियों ने कतिपय ऐसे काव्यों को भी उदारतापूर्वक महाकाव्य घोषित किया है, जिनमें स्थूल लक्षणों के अतिरिक्त महाकाव्य का कोई स्वरूपविधायक तत्त्व नहीं है। इसके विपरीत कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिनकी अन्तरात्मा तो काव्य की है, किन्तु उनमें बाह्य रुढ़ियों का निर्वाह नहीं हुआ है। इस विषय में हमें दण्डी का मत—न्यूनमप्यत्र यैः कंश्चिदंगैः काव्यमत्र न दुष्यति—व्यावहारिक प्रतीत होता है। जिस काव्य में कथानक महान् है, रसात्मकता है, चरित्र की उदात्तता है, भाषा-शैली में यथेष्ट परिपक्वता है, हमने उसे निस्संकोच महाकाव्य स्वीकार किया है, भले ही उनमें बाह्य नियमों का पालन न किया गया हो। जिनकी आत्मा महाकाव्य के अनुकूल नहीं है, उन्हें महाकाव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया गया है। जयानन्द-केवलचरित, विक्रमचरित तथा करकण्डुचरित को महाकाव्य न मानने का यही कारण है।

इन चार अध्यायों में आलोच्य महाकाव्यों के सर्वांगीण विमर्श के पश्चात्, उपसंहार में, पूर्वविवेचित महाकाव्यों पर विहंगम दृष्टि डालकर संस्कृत के प्रतिष्ठित महाकाव्यों की पंक्ति में उनके स्थान का संकेत किया गया है।

उन सब हितैषी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मेरा नैतिक कर्त्तव्य है, जिनसे मुझे ग्रन्थ-प्रणयन में सहायता मिली है। प्रस्तुत ग्रन्थ जैन साहित्य के विख्यात विद्वान्, स्मृतिशेष श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पथप्रदर्शन तथा प्रोत्साहन का परिणाम है। मुझे जैन साहित्य में दीक्षित करने का श्रेय उन्हीं को है। अपने प्रति उनके उपकारों के लिये मैं सदैव उनका कृतज्ञ रहूँगा। डॉ० कृष्णबेंकटेश्वर शर्मा, भूतपूर्व निदेशक, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर, ने अनेक साहित्यिक ग्रन्थियों का भेदन कर मेरा मार्ग प्रशस्त किया, इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मुनि श्री नथमलजी (वर्तमान युवाचार्य महाप्रज्ञ), डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्रीयुत दलसुख-भाई मालवणिया, महोपाध्याय विनयसामर तथा स्वर्गीय प्रो० पृथ्वीराज जैन के सहयोग के बिना ग्रन्थ अधूरा रह जाता। इन महानुभावों ने मुझे दुर्लभ ग्रन्थों तथा हस्तप्रतियों के अध्ययन की सुविधा प्रदान की। मैं इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मेरे शोध-निदेशक, डा० सुधीरकुमार गुप्त का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद मुझे सदैव सुलभ रहा है। तदर्थ मैं उनका ऋणी हूँ। मैं उन सब विद्वानों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृतियों का प्रयोग मैंने प्रबन्ध में किया है। सहघमिणी विमला ने अपनी अकादमिक तथा पारिवारिक ज़िम्मेदारियों के साथ-साथ मेरे दायित्वों को भी सहर्ष ओढ़कर मुझे साहित्यिक कार्यों में एकाग्र मन से प्रवृत्त होने का वातावरण प्रदान किया, अतः वह भी धन्यवाद की पात्र है।

ग्रन्थ का प्रकल्पन परमपूज्य आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के आशीर्वाद का फल है। जैन विश्वभारती के कुलपति, साधुमना आदरणीय श्रीचंद जी रामपुरिया ने उस आशीर्वाद को मूर्त रूप दिया है। मैं इन पूज्यजनों की कृपा की कामना करता हुआ इनकी धरणवन्दना करता हूँ।

यदि जैन संस्कृत-महाकाव्य के प्रकाशन एवं मूल्यांकन में अथवा महाकाव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जैन साहित्य के योगदान को समझने में प्रस्तुत ग्रन्थ से तनिक भी सहायता मिली, हमारा श्रम सार्थक होगा।

सत्यव्रत

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

आलोच्य महाकाव्यों की प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ	१—१६

द्वितीय अध्याय

शास्त्रीय महाकाव्य	१७—२२२
जैनकुमारसम्भव : जयशेखरसूरि	१६—४७
काव्यमण्डन : मण्डन	४८—७४
नेमिनाथमहाकाव्य : कीर्तिराज उपाध्याय	७५—९९
यदुसुन्दरमहाकाव्य : पद्मसुन्दर	१००—१२३
हीरसौभाग्य : देवविमलगणि	१२४—१५२
भरतबाहुबलिमहाकाव्य : पुष्पकुशल	१५३—१८४
स्थूलभद्रगुणमालाचरित्र : सूरचन्द्र	१८५—२०७
दिग्विजयमहाकाव्य : मेघविजयगणि	२०८—२२२

तृतीय अध्याय

शास्त्र-काव्य	२२३—२५६
देवानन्दमहाकाव्य : मेघविजयगणि	२२५—२३९
सप्तसन्धानमहाकाव्य : मेघविजयगणि	२४०—२५६

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक महाकाव्य	२५७—३६४
हर्षमीरमहाकाव्य : नयचन्द्रसूरि	२५९—२९२
कुमारपालचरित : चारित्रसुन्दरगणि	२९३—३०५
वस्तुपालचरित : जिनहर्षगणि	३०६—३२०
सोमसौभाग्य : प्रतिष्ठासोम	३२१—३३६
सुमतिस्सम्भव : सर्वविजयगणि	३३७—३५१
विजयप्रशस्तिमहाकाव्य : हेमविजयगणि	३५२—३६४

पंचम अध्याय

पौराणिक महाकाव्य

श्रीधरचरित : माणिक्यचन्द्रसूरि	३६५—४८५
यशोधरचरित्र : पद्मनाभकायस्थ	३६७—३९२
पार्श्वनाथकाव्य : पद्मसुन्दर	३९३—४०४
पार्श्वनाथचरित : हेमविजयगणि	४०५—४१६
जम्बूस्वामिचरित : राजमल्ल	४२०—४४२
प्रद्युम्नचरित : रत्नचन्द्रगणि	४४३—४६४

उपसंहार

४८६—४८८

सन्दर्भ-ग्रन्थ

४८९—४९२

शुद्धि पत्र

४९३—४९४

प्रथम अध्याय

आलोच्य महाकाव्यों की प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ

प्रथमानुयोग के शिखर से काव्य का जो महानद प्रवाहित हुआ, उसकी मुख्य धारा का नाम जैन ललित साहित्य है। समवायांग के रेखात्मक चरितवर्णन से संकेत पाकर परवर्ती जैन लेखकों तथा कवियों ने अपने सृजन को गौरवान्वित करने के लिये शलाका पुरुषों के जीवनवृत्त को उत्साहपूर्वक उसका विषय बनाया है। धार्मिक आदर्श तथा आचार को जन-जन तक पहुँचाने के लिये काव्य तथा कथा का सरस माध्यम सर्वत्र उपयोगी है। वस्तुतः जैन वाङ्मय में शास्त्र तथा साहित्य की भेदक रेखा अधिक स्थूल नहीं है। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में, बलभी-वाचना के फलस्वरूप जैन आगम के व्यवस्थित रूप में लिपिबद्ध होने से पूर्व आगमेतर साहित्य का निर्माण आरम्भ हो चुका था जिससे जैन साहित्य की ये दोनों शाखाएँ एक-दूसरे के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करती दिखाई देती हैं।

जैन महाकाव्य में प्राचीन महाकाव्य-परम्परा से तात्त्विक भिन्नता नहीं पायी जाती। वह उस गौरवशाली परम्परा का उत्तराधिकारी है, जो अश्वघोष से आरम्भ होकर श्रीहर्ष के समय तक, अपने समस्त गुण-दोषों के साथ, प्रतिष्ठित हो चुकी थी। और इसमें सन्देह नहीं कि जैन कवियों ने, विवेकी दायारों की तरह, उस पूँजी का दक्षता से उपयोग किया है। यद्यपि जैन काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य-सम्बन्धी परिभाषाओं की तत्त्वगत विशेषताओं को बहुलांश में ग्रहण किया है,^१ तथापि जिनसेन के सूत्र—महापुराणसम्बन्धि. महानायकगोचरम्^२—ने जैन कवियों को इस गहराई से प्रभावित किया कि जैन महाकाव्य पुराणोन्मुखी बन गया। वस्तुतः जैन साहित्य में पुराण महाकाव्य के अग्रगामी तथा प्रेरक हैं। यह सत्य है कि ब्राह्मण पुराणों के विपरीत जैन पुराणों का काव्यगत मूल्य बहुत ऊँचा है और उनके कई प्रकरण आमूलचूल महाकाव्य का आभास देते हैं, पर इस तथ्य का भी अपलाप नहीं किया जा सकता कि इस पुराण-निर्भरता के कारण अधिकतर जैन महाकाव्यों में, पुराणों की भांति, प्रचारवादी भावना कुछ अधिक मुखरित है और उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उद्देश्य रत्नत्रय पर आधारित जैन सिद्धान्त तथा अनुशासन को ग्राह्य बनाना है।^३ कतिपय अपवादों को छोड़कर जैन कवियों ने काव्य

१. काव्यानुशासन, ८.६ तथा वृत्ति, पृ० ४४६-४६२

२. आदिपुराण, १.६६

३. पद्मपुराण (रविषेण), १-१

को पंचव्रत, स्याद्वाद, जीवाजीव, कर्म आदि सिद्धान्तों के वाहन के रूप में प्रयुक्त किया है। रंजन तथा उपयोगिता का यह गठबन्धन वहीं तक अत्याज्य है जहां तक यह काव्य की आत्मा को अभिभूत अथवा विकृत नहीं करता। जैनैतर काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य में धार्मिक तथा नैतिक उपदेश को सर्वथा नकारा नहीं है पर इस विषय में उनके दृष्टिकोण का सच्चा प्रतिनिधित्व विष्णुधर्मोत्तरपुराण की यह उक्ति करती है—

धर्मार्थकाममोक्षायां शास्त्रं स्यादुपदेशकम् ।

तत्रैव काव्यमित्युक्तं चोपदेशं विना कृतम् ॥ १५-१-२

उनके लिये शास्त्र तथा काव्य का विभाजक तत्त्व 'धर्मोपदेश' है। जिस काव्य को तत्त्वज्ञान का क्षेत्र बना दिया जाता है, वह उनकी दृष्टि में शास्त्र के निकट है और उसे काव्यमय शास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैन कवियों के आध्यात्मिक चिन्तन तथा संस्कारगत परिवेश में इस तात्त्विक अन्तर की अर्थवत्ता अधिक नहीं है।

काव्य की पश्चाद्बर्ती समूची गतिविधियों का स्रोत जैन पुराण हैं। कतिपय पुराणकारों ने अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित जैसे विराट्काव्य ग्रन्थों को महाकाव्य की संज्ञा देकर प्रकारान्तर से, उनके आकर-स्वरूप को रेखांकित किया है। जैन कवियों ने अपनी रचनाओं से यह उदाहृत तथा प्रमाणित किया है कि धर्म-भावना साहित्य के लिए ही नहीं, समाज के लिये भी स्फूर्ति तथा प्रेरणा की अक्षय संजीवनी है। परवर्ती कवियों के लिये जैन पुराण आदर्श के दीपस्तम्भ हैं। जैन कवियों ने मान्य शलाकापुरुषों अथवा अन्य महत्त्वचरित के आधार पर, नाना प्रकार के महाकाव्यों की विशाल राशि का निर्माण किया है, जिनमें से कुछ अपने काव्य-गुणों तथा अन्य विशिष्टताओं के कारण समय साहित्य के गौरव हैं। महाकाव्य के तथाकथित शुष्क युग में जैन कवियों ने मूल्यवान् महाकाव्यों के द्वारा काव्य-परम्परा को न केवल जारी रखा है बल्कि उसे समृद्ध भी बनाया है। जैनैतर महाकाव्य के पतन का युग जैन महाकाव्य के उत्थान का काल है।

पहले कहा गया है कि जैन कवियों ने पूर्ववर्ती महाकाव्य-परम्परा में क्रांति-कारी परिवर्तन नहीं किये हैं। आपाततः जैनैतर तथा जैन कवियों द्वारा प्रणीत महाकाव्यों में आन्तरिक भेद दिखाई भी नहीं देता। परन्तु जैन मतावलम्बी कवियों ने, जो लगभग शत प्रतिशत दीक्षित साधु थे, अपने उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप, महाकाव्य-परम्परा में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन किये हैं तथा उनकी कुछ निजी प्रवृत्तियाँ हैं जिनका विश्लेषण जैन महाकाव्यों के स्वरूप के सम्यक् बोध के लिये आवश्यक है।

जैन महाकाव्य-प्रणेताओं ने मंगलाचरण के शास्त्रीय विधान को यथावत् स्वीकार किया है।^४ जैन महाकाव्यों के मंगलाचरण अधिकतर नमस्कारात्मक अथवा आशीर्वादात्मक हैं। जयशेखर, पुण्यकुशल आदि ने सीधा कथावस्तु का प्रारम्भ कर वस्तुनिर्देश-मंगलाचरण की परम्परा का पालन किया है। साहित्यशास्त्र के नियम के अतिरिक्त उनके सामने कालिदास (कुमारसम्भव), भारवि आदि प्राचीन महाकवियों के आदर्श थे। जैन महाकाव्यों के मंगलाचरणों की विशेषता यह है कि वे सदैव एक पद्य तक सीमित नहीं हैं, न उनमें केवल अभीष्ट देव की स्तुति की रुढ़ि को स्वीकारा गया है। कतिपय महाकाव्यों में, एकाग्रिक पद्यों में, जिनेश्वर के अतिरिक्त, सिद्धों, गणधरों, वाग्देवी अथवा रत्नत्रय की स्तुति/वन्दना पायी जाती है। अन्य पक्षों की भांति हम्मीरमहाकाव्य का मंगलाचरण भी क्रान्तिकारी है। इसके सात पद्यों के मंगलाचरण में 'परम ज्योति' की उपासना, श्लिष्ट विधि से ऋषभ, पार्श्व, महावीर, शान्तिनाथ, नेमिनाथ के साथ-साथ क्रमशः ब्रह्मा, पुरुषोत्तम, शंकर, भास्कर, शशिशेखर महेश तथा सरस्वती की आशीर्वाद-प्राप्ति के लिये उदात्त भावपूर्ण स्तुति की गयी है। यह साम्प्रदायिक आप्रह्महीनता नयचन्द्र की उदारता तथा व्यापक दर्शन का संकेत देती है। आकार की दृष्टि से दिग्विजय-महाकाव्य का मंगलाचरण सब सीमाओं को पार कर गया है। इसके पूरे चौबीस दीर्घ छन्दों में क्रमशः चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। आलोच्य युग के दो महाकाव्य ऐसे भी हैं, जिनके लेखकों ने प्रत्येक सर्ग को मंगलाचरण की दृष्टि से स्वतन्त्र इकाई माना है। राजमल्ल के जम्बूस्वामिचरित में यह और अनूठापन है कि इसके सभी बारह सर्ग दो-दो जिनेश्वरों की स्तुति से आरम्भ होते हैं। इस प्रकार इसमें सभी तीर्थंकरों के प्रति मंगलाचरण के रूप में श्रद्धा व्यक्त की गयी है। जैनतर महाकाव्यों में इस प्रकार के विस्तृत तथा वैविध्यपूर्ण मंगलाचरण अकल्पनीय हैं। महाकाव्य के इस अति स्थूल तत्त्व में जैन कवियों ने मूल को स्वीकारते हुए भी इतना परिवर्तन किया है कि वे आचार्य हेमचन्द्र के नियम से भी बहुत दूर चले गये हैं। नेमिनाथ महाकाव्य आलोच्य युग की एक मात्र ऐसी रचना है, जिसके मंगलाचरण में स्वयं काव्यनायक नेमिप्रभु की वन्दना से पुण्यार्जन की बलवती स्पृहा है।^५

परिभाषा के अनुसार जैन महाकाव्यों का कथानक प्रख्यात अथवा सदाश्रित

४. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।—साहित्यदर्पण, ६.३१६

आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमस्त्वम् ।—काव्यानुशासन, ८.७ (पृ. ४५६)

५. बन्धे तन्नेमिनाथस्य पदद्वन्द्वं धियां पदम् ।

भास्वरसेवि देवानां यद् भृंगैरिव यंकजम् ॥—नेमिनाथ महाकाव्य, १.१.

है।^१ जैन कवियों के ऐतिहासिक महाकाव्यों के अतिरिक्त सभी महाकाव्यों के कथानक पुराणों से ग्रहीत है। इसीलिये उनमें, चाहे वे शास्त्रीय हों अथवा पौराणिक या शास्त्रकाव्य, बहुधा तीर्थंकरों आदि शलाकापुरुषों के समन्वित अथवा पृथक् चरित निरूपण करने में कविकर्म की सार्थकता मानी गयी है। इस पुराणाश्रय के कारण जैन महाकाव्य, तात्त्विक रूप से पुराणों से भिन्न होने पर भी, पुराणापेक्षी हैं। शास्त्रीय महाकाव्यों के रचयिताओं ने पुराण-प्रथित कथानक के अकाव्योचित सन्दर्भों की यथामति काट-छांट की है परन्तु उनकी प्रचारधर्मी अन्तर्वृत्ति उन्हें महाकाव्य में पौराणिकता का समावेश करने को बाध्य करती है। काव्यनायक के कायकलाप में देववर्ग का अविच्छिन्न साहचर्य, उसकी विषय-पराङ्मुखता, स्वधर्म का गौरव-गान तथा परधर्म की गद्दी पौराणिक रचना के अधिक अनुकूल है। शास्त्रीय काव्यों में सुनियोजित देवस्तुति भी उसी वृत्ति से प्रेरित है। कालिदास ने भी अपने दोनों काव्यों में एक-एक स्तोत्र का समावेश किया है किन्तु उनके स्तोत्र कथावस्तु के स्वाभाविक अवयव हैं और उनमें प्रवाहित दर्शन की अन्तर्धारा काव्यगुणों को आहत किये बिना उन्हें उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। जैन काव्यों में स्तोत्र-जानबूझ कर आरोपित किये गये प्रतीत होते हैं। उनका काव्यगत अथवा दार्शनिक महत्त्व भी अधिक नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जैन कवियों के शास्त्रीय महाकाव्यों से पौराणिकता रह-रह कर झंकती है। पुराणोचित सामग्री को यथा-शक्य छोड़कर, जैन कवियों ने, माघ आदि की भांति, अवशिष्ट कथानक को विषयान्तरों से मांसल बनाकर, काव्य शैली के अलंकरण के साथ प्रस्तुत किया है जिससे वर्ण्य विषय वर्णन-प्रकार की तुलना में गौण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उनका आदर्श कालिदास नहीं बल्कि पतनोन्मुख काल के वे कवि हैं, जो काव्य की कलात्मक सजावट को महाकाव्य का सर्वस्व मानते हैं।

पौराणिक महाकाव्यों में, पुराण-ग्रहीत कथानक, आद्योपान्त उसी परिवेश तथा शैली में निरूपित हैं। पुराणों के अतिशय प्रभाव के कारण, इन काव्यों में, कर्मफल की अपरिहार्यता के प्रतिपादन के लिये, काव्यनायक के पूर्वभवों के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं, जिन्होंने दो-दो, तीन-तीन सर्ग, और कभी-कभी काव्य का आधा भाग लील कर कथानक को चकनाचूर कर दिया है। पौराणिक महाकाव्यों में अलौकिक तथा अति प्राकृतिक घटनाओं की भरमार है। सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि दैवी तथा अर्द्ध दैवी पात्र काव्यनायकों को अलौकिक शक्तियाँ, अमोघ मन्त्र तथा चित्र-विचित्र विद्याएँ देकर, उनके मानवी रूप को दिव्यता में परिणत कर देते हैं। जैन कवियों ने अपने पौराणिक काव्यों में रोमांचकता का समावेश करने में भी कंजूसी नहीं की

है। यह स्पष्टतः अपभ्रंश काव्यों के प्रभाव का फल था। इसमें रूप-परिवर्तन, कन्याहरण, पातालगमन आदि लोककथाओं की रूढ़ियों को पर्याप्त स्थान मिला है। पौराणिक काव्यों के मंच के अधिकतर अभिनेता देवता हैं। वास्तव में इन काव्यों का संसार अतिशयोक्ति, अलौकिकताओं तथा असम्भावनाओं का अविश्वसनीय संसार है।

जैन पौराणिक महाकाव्य मूलतः धार्मिक रचनाएँ हैं। उनका उद्देश्य कथं के व्याज से धर्म का उपदेश देना है। इसलिये इनमें कथारस गौण और धर्मभाव प्रधान है। जगत् की नश्वरता, भोगों की दुःखमयता, वैराग्यभाव, आत्मज्ञान तथा सदाचार आदि के आदर्शों का निरूपण करना उन काव्यों का मुख्य विषय है।

आलोच्य युग में दो प्रकार के ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना हुई है। हम्मीरमहाकाव्य, कुमारपालचरित तथा वस्तुपालचरित इतिहास के सुप्रसिद्ध शासकों तथा नीतिकुशल मन्त्रियों से सम्बन्धित हैं, जो अपने शौर्य, उत्सर्ग तथा कूटनीतिक निपुणता के कारण राष्ट्र के आदर के पात्र हैं। जहाँ हम्मीर-महाकाव्य तथा वस्तुपालचरित का इतिहास-पक्ष प्रामाणिक है और नयचन्द्र अपनी अन्वेषणवृत्ति यथा तटस्थता के कारण आधुनिक इतिहासकार के बहुत निकट आ जाते हैं, वहाँ कुमारपालचरित में कवि के धार्मिक आवेश तथा ऐतिहासिक विवेक के अभाव ने इतिहास पर हरताल पीत दी है। दूसरी कोटि के ऐतिहासिक महाकाव्यों में जैन धर्म के तपस्वी तथा निःस्पृह आचार्यों का जीवनचरित निबद्ध है। तथ्यात्मक निरूपण के कारण ये काव्य सम्बन्धित आचार्यों के धार्मिक इतिहास की जानकारी के लिये अत्यन्त विश्वसनीय तथा उपयोगी हैं। इन दोनों श्रेणियों के महाकाव्यों में से कुछ, काव्य की दृष्टि से भी, उच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं।*

इस युग के शास्त्रकाव्यों का आदर्श, भट्टिकाव्य की तरह व्याकरण के नियमों को उदाहृत करना नहीं है। सम्बन्धित दो महाकाव्यों में से एक में समस्या पूर्ति का चमत्कार है, दूसरे में श्लेष के द्वारा सात महापुरुषों का जीवन ग्रथित करने का उद्योग है। दोनों भाषा के उत्पीड़न तथा बौद्धिक व्यायाम के प्रतीक हैं।

काव्यशैली के इस चतुर्विध विभाजन के बावजूद जैन महाकाव्यों में उपर्युक्त शैलियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। कतिपय काव्यों को शैली-विशेष की प्रधानता के कारण उक्त वर्गों में स्थान दिया गया है। उदाहरणार्थ, माणिक्यचन्द्रसूरि का श्रीधरचरित छन्दशास्त्र के सामान्य विश्लेषण तथा विभिन्न ज्ञाताज्ञात छन्दों को उदाहृत करने के कारण शास्त्रकाव्य की पदवी का और प्रौढ़ भाषा तथा अभिव्यञ्जना शैली की प्रबलता के कारण शास्त्रीय काव्य के पद का अधिकारी है, परन्तु अन्तिम

दो सगों के सिन्धुप्रवाह ने उसके अन्य गुणों को इस प्रकार मज्जित कर दिया है कि उसे पौराणिक काव्यों में सम्मिलित करने को विवश होना पड़ता है। सम्राट् अकबर तथा हीरविजयसूरि के धार्मिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धों और आचार्य के साधु-जीवन का प्रामाणिक स्रोत होने के नाते हीरसौभाग्य को ऐतिहासिक काव्य माना जा सकता था पर यह नैषधचरित की परम्परा का अन्तिम समर्थ उत्तराधिकारी तथा विविध काव्यगुणों से भूषित है। अतः इसका विवेचन शास्त्रीय काव्यों में किया गया है।

जैन महाकाव्यकारों ने नायक से सम्बन्धित शास्त्रीय विधान का आंशिक पालन किया है। देवों तथा क्षत्रिय कुल के महापुरुषों को नायक बनाना शास्त्रीय बन्धन की स्वीकृति है। परन्तु जैन कवियों ने वणिक्वंशोत्पन्न वैराग्यशील तपस्वियों को नायक के गौरवशाली पद पर आसीन कर, महाकाव्य-परम्परा में नवीनता का सूत्रपात किया है और उसे देवी-देवताओं के वायवीय वातावरण से उतार कर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि उनके इन काव्यों में भी अलौकिक तथा अद्भुत प्रसंगों की कमी नहीं है। हीरसौभाग्य, सोमसौभाग्य, सुमति-सम्भव आदि के पूज्य नायक वैश्यवंश की विभूतियाँ हैं।

रघुवंश आदि की भांति कतिपय जैन महाकाव्य ऐसे भी हैं, जिनमें एकाधिक पात्र नायक की पदवी पर आरुढ़ हैं, यद्यपि वे सदैव एक वंश के विभूषण नहीं हैं (एकवंशभवाः)। भरत-बाहुबलि-महाकाव्य में बाहुबलि को, काव्य के कलेवर के रोम-रोम में व्याप्त होने तथा उसकी उदात्त परिणति के कारण किसी भी प्रकार नायक के पद से च्युत नहीं किया जा सकता। व्यक्तित्व की गरिमा तथा पवित्रता के कारण हीरविजय भी अपने शिष्य विजयसेन के समान, विजयप्रशस्ति के निर्विवाद नायक हैं। काव्यमण्डन तथा सप्तसंघान में नायकों की संख्या, क्रमशः पाँच तथा सात तक पहुँच गयी है। सप्तसंघान के सातों नायक सात विभिन्न कुलों के वंशज हैं। यह संयोग है कि वे सभी जाति से क्षत्रिय हैं।

जैन महाकाव्यों के अधिकतर नायकों में वे समूचे शास्त्रविहित गुण हैं, जिनके कारण नायक को धीरोदात्त माना जाता है। पर ऐसे काव्य भी कम नहीं हैं जिनके नायक अपनी निर्लिप्तता तथा स्थितप्रज्ञा के कारण 'धीरप्रशान्त' श्रेणी में आते हैं। नेमिनाथमहाकाव्य, सोमसौभाग्य तथा जम्बूस्वामिचरित में नायकों की धीर प्रशान्तता की पावनता है। रत्नचन्द्रकृत प्रद्युम्नचरित के प्रद्युम्न में धीरोद्भूत नायक की विशेषताओं का बाहुल्य है। उधर पद्मनाभ के यशोधरचरित का नायक आत्म-

८. सङ्क्षेपः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।। —साहित्यदर्पण, ६.३१६

संयम, विवेक, दूरदर्शिता आदि नायकोचित गुणों से वृन्त्य है।

शास्त्रबाह्य वर्ग से नायक चुनकर धीरोदात्त के अतिरिक्त धीरप्रशान्त और धीरोद्धत व्यक्ति को भी उस पद पर आसीन करना, जैन महाकाव्यों की एक अन्य विशेषता है।

महाकाव्य में शान्तरस की प्रमुखता सिद्धान्त से अनुमोदित है, पर जैनतर कवि इसकी ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए हैं। ऐसे जैनतर महाकाव्यों की संख्या अत्यल्प है जिनमें शान्तरस को अंगी रस की प्रतिष्ठा मिली है। जैन कवियों ने शास्त्र-मान्य शान्तरस की व्यावहारिक निष्पत्ति से उसे अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया है। यह पाठक को विषयभोग से विमुख कर निर्वेद की ओर प्रवृत्त करने के उनके लक्ष्य के अनुकूल है। कन्नड कवि रन्न (दसवीं शताब्दी) द्वारा अंकित प्राचीन जैन परम्परा में जिनेन्द्र एकमात्र शान्तरस के पोषक हैं और उसका स्थायी भाव 'तत्त्वज्ञान' है (निनगे रसमोन्दे शान्ते जिनेन्द्र)।^{१०} आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन प्रकारान्तरे से इसका समर्थन करता है^{११}। आलोच्य युग के जैन कवियों के लिये शान्त रसाधिराज है और काव्य की सार्थकता उसके शान्तरस से परिपूर्ण होने में^{१२} है। जैन पौराणिक महाकाव्यों में तो इस 'रसाधिप' की उच्छलता स्वाभाविक थी। जिन महाकाव्यों का अंगी रस शृंगार अथवा वीर है, उनमें से भी अधिकांश की परिणति शान्तरस में हुई है। श्रीधरचरित तथा भरत-बाहुबलि-महाकाव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकाव्य में शान्तरस को मुख्य रस के रूप में प्रतिष्ठित करना जैन कवियों की प्रलाध्य उपलब्धि है।

काव्य में शृंगार रस की स्थिति के सम्बन्ध में जैन कवियों का दृष्टिकोण अस्पष्ट, बल्कि परस्परविरोधी, है। रत्नचन्द्र के लिये शृंगार किपाक के समान त्याज्य है^{१३}। पद्मसुन्दर ने शृंगार को रसराज का पद दिया है और उसकी तुलना में अन्य रसों को तुच्छ माना है^{१४}। यद्यपि नयचन्द्र भी आवेश में 'रतिरस' को

६. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते ।—साहित्यदर्पण, ६।३।७

10, Contribution of Jainism to Indian Culture ; Ed. R. C. Dwivedi, P. 43.

११. तथा हि तत्त्वज्ञानस्वभावस्य शमस्य स्थायिनः.....।—काव्यानुशासन, विवरण, पृ० १२१

१२. रसाधिराजं सेवस्व शान्तं शान्तमनाश्चिरम् ।—प्रद्युम्नचरित, १२-२४३

शान्तं रसैः पूरितः ।—होरसोपनिषद्, ११-६४

अथ शान्तरसं तरसा सरसम् ।—भ० बा० महाकाव्य, १७-७४

१३. किपाकसदृशं मुञ्च शृंगारं विरसं पुरः ।—प्रद्युम्नचरित, १२-२४३

१४. अन्यरसातिशयो शृंगारः ।—पद्मसुन्दर, ६.५३

‘परमात्सरस’ से श्रेष्ठ घोषित कर गये^{१५} तथापि उनका विवेकसम्मत मत यह प्रतीत होता है कि काव्य में प्रधानता किसी भी रस की हो, शृंगार का पुट काव्या-स्वाद को दूना कर देता है।^{१६} जैन कवियों की निवृत्तिवादी विचार-धारा और शृंगार रस में स्पष्ट विरोध है किन्तु उन्होंने शृंगार को न केवल अपने महाकाव्यों में प्रमुख स्थान दिया है अपितु कुछ काव्यों में, माघ आदि के अनुकरण पर, उसका इस मुक्तता से चित्रण किया है कि वे ‘कामकला’ के सिद्धहस्त आचार्य प्रतीत होते हैं। यह भी माघ के अत्यधिक प्रभाव का परिणाम है कि कतिपय वीररसप्रधान काव्यों में किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध के समान शृंगार का कामशास्त्रीय शैली में इतनी प्रगाढ़ता से निरूपण किया गया है कि उनमें गौणरस (शृंगार) ने अंगी रस को रौंद डाला है और ये शृंगारप्रधान रचनाओं का आभास देते हैं। शृंगार के चित्रण में खण्डिता, कलहान्तरिता, मुग्धा आदि नायिका-भेदों तथा सम्भोग एवं विपरीत रति (पुंश्चेष्टितमाततान—यशोधरचरित, ३.८७) का खुला वर्णन ‘आत्मा को जाग्रत करने वाली मनुहार’ कैसे है, यह निष्पक्ष समीक्षक की समझ से परे है। पर यह तथ्य है कि शृंगार का स्वच्छन्द चित्रण करने वाले जैन कवियों की भी वृत्ति उसमें नहीं रमती। अवधोष की तरह उन्हें भी नारी मलमूत्र का कुत्सित पात्र प्रतीत होने लगती है।^{१७}

इतिहास-प्रसिद्ध वृत्तों पर आधारित महाकाव्यों के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय महाकाव्यों में भी वीर रस की अंगी रस के रूप में निष्पत्ति हुई है। शृंगार को ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ मानने वाले नयचन्द्र को अब ‘समरसम्भवरस’ को ‘रतिरस’ से उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित करने में संकोच नहीं है।^{१८} जैन महाकाव्यों में वीर रस के नाम पर अधिकतर वीररसात्मक रूढ़ियों का निरूपण हुआ है, जिनमें योद्धाओं की वीरता की अपेक्षा युद्ध के पूर्वराग के रूप में धनुषों की टंकार, कबन्धों के नतन,

१५. रतिरसं परमात्सरसाधिकं कथममी कथयन्तु न कामिनः ।—हम्मीरमहाकाव्य,
७. १०४

१६. रसोऽस्ति यः कोऽपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय ।—वही, १४-३६

१७. पुरीषमूत्रमूषासु योषासु ।—श्रीधरचरित, १-१४४

यदत्र गंहितं किञ्चित्तत्सर्वं स्त्रीकुटीरके ।

वर्चोमूत्राद्यसङ्गमांससम्भूते कीकसोन्मये ॥—जम्बूस्वामिचरित, १०-१३

तुलना कीजिये—स्रवमूत्रविलनं करिवरशिरस्पर्धि जघनम् ।—पुरुषार्थोपदेश,

२८

१८. शृंगारतः समरसम्भवो रसो नूनं विशेषमधुरस्वमंचति ।—हम्मीरमहाकाव्य,

१२.१३

द्वन्द्व युद्ध आदि को वीररस का पर्याय मान लिया जाता है^{१९}। वीर रस का सबसे अटपटा चित्रण श्रीधर-चरित में हुआ है। दैवी शक्तियों के हस्तक्षेप, विविध विद्याओं के प्रयोग तथा नायक की दयालुता के सहसा उद्रेक ने माणिक्यसुन्दर के युद्ध-चित्रण को कल्पनालोक का विषय बना दिया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जैन कवियों की मूल वृत्ति हिंसा के विरुद्ध है। अतः युद्धवर्णन उनके लिये शास्त्रीय विधान की खानापूर्ति का साधन है अन्यथा उनके लिये संग्राम विषय है और शस्त्र की तो बात क्या, पृष्ण से भी युद्ध करना पाप है^{२०}। राजपूती तथा खिल्जी सेनाओं के घनघोर युद्धों का जम कर वर्णन करने के पश्चात् नयचन्द्र की यह उक्ति—न पुष्पैरपि प्रहृतं-व्यविधिविधेयः^{२१}—एकदम हास्यजनक है।

करुणरस के चित्रण में जैन कवियों का आदर्श भवभूति का उत्तररामचरित रहा है, जिसमें पाषाण को रूलाने तथा वज्र को विदीर्ण करने में करुण रस की सफलता मानी गयी है^{२२}। जैन महाकाव्यों की करुणा भी चीत्कार-क्रन्दन पर आधारित है। फलतः वह कालिदास की पैनी व्यञ्जना और मार्मिकता से शून्य है। यद्यपि वह कभी-कभी हृदय की गहराई को अवश्य छूती है पर इसमें सन्देह नहीं है कि जैन कवि मानवहृदय की करुणा को उभारने की अपेक्षा मृत व्यक्ति के गुणों को स्मरण करने तथा विधि को धिक्कारने में ही करुण रस की सार्थकता मान लेते हैं। उसे 'हृदय को विगलित करने वाली करुणा की बरसात'^{२३} की संज्ञा देना जैन कवियों के करुण-रसचित्रण का भावुकतापूर्ण मूल्यांकन है।

करुण के समान अन्य रस भी अंग रूप में जैन महाकाव्यों की रसात्मकता की वृद्धि करते हैं। संस्कृत साहित्य में बीभत्स रस का बहुत कम चित्रण हुआ है। काव्य-मण्डन तथा कुमारपालचरित के बीभत्स वर्णन साहित्य के अपवाद रूप स्थलों में हैं।

नयचन्द्र आदि कतिपय महान् कवि महाकाव्य में रस के महत्त्व से सर्वथा अभिज्ञ हैं^{२४}। यदुसुन्दर भ० बा० महाकाव्य, श्रीधरचरित तथा हम्मीर महाकाव्य में वस्तुतः विभिन्न रसों की इतनी प्रगाढ़ निष्पत्ति है कि उन्हें साहित्य-शास्त्र की भाषा

१९. जम्बूद्वामिचरित, ७. २३१-२४१, यदुसुन्दर, १०. ३३-४२ आदि।

२०. संगरो गर इवाकलनीयः।—भ० बा० महाकाव्य, १६. २१; विग्रहो न कुसुमै-रपि कार्यः।—बही, १६. २४

२१. हम्मीरमहाकाव्य, १२. ८३

२२. अपि घावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।—उत्तररामचरित, १. २८

२३. राजस्थान का जैन साहित्य, ज्ञानिका, पृ० १७

२४. वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन् निपीयमाने मुबमेति चेतः।—हम्मीरमहाकाव्य, १४-३५

में 'प्रपानक रस' का आकर कहा जा सकता है। इसके विपरीत कतिपय काव्य 'आत्मा' से लगभग शून्य हैं। उनमें रस के कुछ कण ही हाथ लगते हैं। वस्तुपाल-चरित, भुमतिसम्भव, विजयप्रशस्ति, देवानन्द महाकाव्य तथा सप्तसन्धान इस दृष्टि से निराशाजनक हैं।

कथानक को पुष्ट बनाने तथा उसमें विविधता और रोचकता लाने के लिए जैन महाकाव्यों में वस्तुव्यापार के नाना वर्णन मिलते हैं। इन सब का सिद्धान्त में विधान है^{२५}। इन वर्णनों की दोहरी उपयोगिता है। एक ओर इनमें कवियों की काव्यप्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है, दूसरी ओर ये समसामयिक समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं। सभी काव्यों में कालिदास जैसा युगचित्रण सम्भव नहीं है किन्तु कुछ जैन महाकाव्यों में समाज के विभिन्न पक्षों की रोचक झलक दिखाई देती है। इन वस्तुव्यापारों में से कुछ की वर्णनशैली तथा उनमें प्रयुक्त रुढ़ियों के लिए जैन कवि कालिदास, माघ आदि प्राचीन महाकाव्यों के ऋणी हैं। रघुवंश के प्रभातवर्णन (पंचम सर्ग) ने कतिपय जैन महाकाव्यकारों को बहुत प्रभावित किया है। उन्होंने न केवल इसे सर्गान्त में^{२६} स्थान देकर कालिदास की परम्परा का निर्वह किया है बल्कि उसके अन्तर्गत प्रातःकाल-हाथी के जाग कर भी मस्ती से आखें मूंद कर पड़े रहने तथा करवट बदलकर शृंखला ख करने और घोड़ों के नमक चाटने आदि रुढ़ियों का भी रुचिपूर्वक प्रयोग किया है^{२७}। वीरतापूर्ण कथानक में पुष्पावचय, जल-क्रीडा, सुरापान तथा सुरत के कामुकतापूर्ण वर्णनों पर माघ का प्रभाव स्पष्ट है। इनके अन्तर्गत नायिकाभेद के तत्परतापूर्ण निरूपण तथा सम्भोग की विविध मुद्राओं का स्रोत भी शिशुपालवध में ढूँढा जा सकता है। भारवि तथा माघ ने इन प्रसंगों के द्वारा अपनी असन्दिग्ध कामविशारदता प्रकट की है परन्तु बाद में इन प्रकरणों ने रुढ़ि का रूप धारण कर लिया है। इन्हें उन काव्यों में, जिनमें इन्हें आरोपित करने से उनका उद्देश्य तथा गौरव आहत होता है, ठूसने में पवित्रतावादी जैन कवियों को कोई वैचित्र्य नहीं दिखाई देता, यह आश्चर्य की बात है। जैन महाकाव्यों के प्रकृति-चित्रण भी बहुधा माघ से प्रभावित हैं। उसी के अनुकरण पर जैन कवियों ने प्रकृति का अलंकृत चित्रण किया है और यमक का जाल बुनने में प्रकृतिचित्रण की सफलता मानी है। स्वयम्बर और उसके पश्चात् स्वीकृत पुत्रा नरेश तथा तिरस्कृत राजाओं के युद्ध का प्रथम वर्णन रघुवंश के इन्दुमतीस्वयम्बर में मिलता है, जिसे श्रीहर्ष ने

२५. काव्यानुशासन, पृ० ४५८-४५९

साहित्यदर्पण, ६-३२२-३२४

२६. जैनकुमारसम्भव, १०.८०-८४; यदुसुन्दर, ७.७४-८२ आदि।

२७. रघुवंश, ५.७२-७३; माघ, ११.७; नेमिनाथमहाकाव्य, २.५४

अनन्त विस्तार तथा दैवी सहभाग से असम्भावनाओं की परतों में दबा दिया है । काव्यमण्डन और श्रीधरचरित का स्वयम्बर-वर्णन कालिदास से प्रेरित तथा प्रभावित है; पद्मसुन्दर का आदर्श नैषधचरित का स्वयम्बर वर्णन रहा है । पुरसुन्दरियों का सम्भ्रमचित्रण महाकाव्यों की एक ऐसी रूढ़ि है, जिसके विषय में साहित्यशास्त्र मौन है । बुद्धचरित से उद्भूत इस रूढ़ि को पल्लवित करने में कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष का विशेष योग रहा है । जैनमहाकाव्यकारों का इसके प्रति कुछ ऐसा अनुराग है कि अनेक समर्थ कवियों ने इस प्रसंग को अपने काव्यों में सोत्साह स्थान दिया है । जहाँ जयशेखर और पद्मसुन्दर ने इसका प्रयोग विवाह के संदर्भ में किया है, वहाँ नेमिनाथमहाकाव्य, भ. बा. महाकाव्य, हीरसौभाग्य, सुमतिस्म्भव तथा विजयप्रशस्ति में प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिये जाते समय कुमार को देखने के प्रसंग में पौराणिकों की अधीरता का चित्रण किया गया है । कालिदास ने इस सम्भ्रमचित्रण को कवित्व के चरम बिन्दु पर पहुँचा दिया था । अतः इस रूढ़ि के प्रति असन्दिग्ध पक्षपात के बावजूद अन्य जैनतर तथा जैन महाकाव्यों में कालिदास के भावों की प्रतिगूँज ही सुनाई पड़ती है । नायक तथा प्रतिनायक (?) के द्वन्द्व युद्ध से पूर्व विपक्षी सेनाओं की भिड़न्त के वर्णन पर माघ के समानान्तर वर्णन का स्पष्ट प्रभाव है । भारवि के वर्णन भी जैन कवियों के अन्तर्मान में अवश्य रहे होंगे । वस्तुव्यापार के ये वर्णन सभी महाकाव्यों में कमबेश पाये जाते हैं, यद्यपि उनका गुणात्मक मूल्य भिन्न-भिन्न है ।

साहित्य की अन्य विधाओं के समान जैन महाकाव्य भी प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ महाकाव्यों का समानान्तर प्रस्तुत करने की भावना से प्रेरित हैं । माघ की काव्यरूढ़ियों ने कतिपय जैन महाकाव्यों को कितना गहरा प्रभावित किया है, इसका संकेत किया जा चुका है । कुछ काव्य पूर्णतया प्राचीन काव्यों पर आधारित हैं । भ. बा. महाकाव्य कथानक के विनियोग में माघ का ऋणी है । घटनाओं के संयोजन, रूढ़ियों के परिपालन तथा रसचित्रण में पुण्यकुशल माघ के पग-चिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं । देवानन्दमहाकाव्य न केवल कथानक की दृष्टि से शिशुपालवध का अनुगामी है अपितु इसमें माघकाव्य के प्रथम सात सर्गों की समस्यापूर्ति के द्वारा माघ-सदृश पाण्डित्य स्थापित करने का धनधोर उद्योग किया गया है । माघ वस्तुतः कालिदासोत्तर संस्कृत-महाकाव्य के एकच्छत्र सम्राट् हैं जिनके सर्वव्यापी प्रभाव से नयचन्द्र जैसे इतिहासकार भी नहीं बच सके । जहाँ ये काव्य, आंशिक रूप से, माघ से प्रेरित हैं, जैनकुमारसम्भव की रचना कालिदासकृत कुमारसम्भव का जैन समानान्तर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गयी है । यदुसुन्दर को श्रीहर्ष के भरकम काव्य का सन्तु संस्करण कहा जा सकता है । कुछ अन्य काव्यों पर भी, विभिन्न रूपों में, प्राचीन कवियों का न्यूनाधिक प्रभाव है ।

यह सच है कि जैन कवियों के लिये साहित्य 'कलाबाजी' नहीं बल्कि धार्मिक आचार की पवित्रता और साधना का अंग है^{२८}; परन्तु भाषा पाण्डित्य की द्योतक है, जैन महाकाव्यकार इस तथ्य से भली प्रकार परिचित हैं^{२९}। जैन महाकाव्यों में भाषा के कई स्तर दिखाई देते हैं। ये स्तर शैली-विशेष के अनुरूप नहीं हैं। प्राचीन कवियों की परम्परा में रचित अधिकतर शास्त्रीय महाकाव्यों तथा कुछ ऐतिहासिक महाकाव्यों की भाषा प्रौढ़ तथा परिष्कृत है। इनमें भाषा को नाना उपकरणों से अलंकृत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जैनकुमारसम्भव, हम्मौरमहाकाव्य, यदुसुन्दर तथा हीरसौभाग्य में व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों की कमी नहीं है। हीरसौभाग्य तो नैषधचरित के विद्वत्तापूर्ण प्रयोगों से इस तरह भरपूर है कि उनकी सम्झी कूची तैयार की जा सकती है। मेघविजय के महाकाव्यों में, चाहे वे शास्त्र-काव्य हों अथवा शास्त्रीय शैली का दिग्विजयमहाकाव्य, भाषा की प्रौढ़ता कुत्रिमता तथा दुष्कृता में परिणत हो गयी है। इनमें से अधिकतर काव्यों में श्लेष तथा यमक का अधिक प्रयोग किया गया है, जिससे इनकी भाषा कहीं-कहीं बोझिल बन गयी है। नेमिनाथमहाकाव्य, सुवर्तिसम्भव, यदुसुन्दर तथा दिग्विजयमहाकाव्य में नाना प्रकार के चित्रकाव्य ने इनकी भाषा को दुस्ताव्य बना दिया है। श्रीधरचरित में अपभ्रंशभाषाचित्र, प्रहेलिका तथा समस्यापूर्ति के हयकण्ड भी अपनये गये हैं, यद्यपि यह मुख्यतः पौराणिक शैली का काव्य है। धर्मशर्माश्रुदय, नरनारायणानन्द आदि पूर्ववर्ती काव्यों की भांति आलोच्य युग के किसी महाकाव्य में, पूरे एक सर्ग में, चित्रकाव्य की योजना नहीं की गयी, यह संतोष की बात है। देवानन्दमहाकाव्य की रचना भाषकाव्य की समस्यापूर्ति के आधार पर हुई है, जिससे यह सप्तसन्धान की तरह दुर्भेद्य बन गया है। दूसरी ओर भ. बा. महाकाव्य है, जो शास्त्रीय शैली की रचना होने पर भी भाषा की प्रांजलता तथा प्रासादिकता का कीर्तिमान स्थापित करता है।

पौराणिक महाकाव्यों की रचना विद्वद्बर्ग के लिये नहीं अपितु सामान्य जनों को जैन धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिये हुई है। अतः इनकी भाषा सुबोध तथा सरल है। उद्देश्य प्राप्ति के आवेश में इन काव्यों के प्रणेताओं ने भाषा की शुद्धता को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। धार्मिक तथा वार्शनिक सिद्धान्तों और अन्य आदर्शों के समर्थन के लिये पौराणिक काव्यों में प्राकृत गाथाएं तथा पररचित पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं। शैली तथा विषयवस्तु में ये काव्य पुराणों के अधिक निकट हैं।

२८. राजस्थान का जैन साहित्य, भूमिका, पृ० २०

२९. आह्वयबाबुदत्त व पाण्डित्यमित्र भाषया ।—पारश्वनाथचरित, ३.१६१

जैन कवि विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए साहित्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हुए, यद्यपि उनकी विज्ञता में सन्देह नहीं है। मेघविजय के एकमात्र अपवाद को छोड़कर आलोच्य काल के कवियों के लिए अलंकार साध्य नहीं हैं। वे अभिव्यक्ति के साधन हैं। जैन कवि 'काव्यसंदर्भ' की सौन्दर्यवृद्धि के उपकरण के रूप में अलंकारों के महत्त्व से पूर्णतया परिचित हैं^{१०}, परन्तु उन्होंने अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग का ही समर्थन किया है^{११}। फिर भी शास्त्रकाव्यों तथा कतिपय शास्त्रीय महाकाव्यों में न केवल श्लेष तथा यमक के द्वारा रचनाकौशल प्रदर्शित करने का साग्रह प्रयत्न दिखाई देता है बल्कि चित्रकाव्यों के विविध रूपों से चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है। श्लेष तथा यमक का जघन्यतम रूप देवानन्दमहाकाव्य, सप्तसन्धान तथा दिग्विजयमहाकाव्य में मिलता है। अलंकारों में से उपमा से इन कवियों का विशेष अनुराग है। कुछ काव्यों में प्रयुक्त उपमाओं की गणना साहित्य की उत्तम उपमाओं में की जा सकती है। प्राचीन महाकाव्यों की तरह इनमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों तथा शास्त्रों से अप्रस्तुत ग्रहण किये गये हैं। उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, समासोक्ति आदि चमत्कारजनक अलंकारों की भी जैन महाकाव्यों में कमी नहीं है।

विवेच्य युग के महाकाव्यों ने छन्दों के प्रयोग में शास्त्रीय नियम का पालन किया है। सर्ग में एक छन्द की प्रधानता, सर्गान्त में छन्दपरिवर्तन तथा एक सर्ग में नाना छन्दों का प्रयोग—यह शास्त्रीय बन्धन इन कवियों को मान्य है। पौराणिक काव्यों तथा स्थूलभद्रगुणमाला में आद्यन्त अनुष्टुप् का प्रयोग सरलता की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। श्रीधरचरित में छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने की व्यग्रता के कारण ६६ छन्द प्रयुक्त कर कीर्त्तिमान स्थापित किया गया है। इनमें एकाक्षर 'श्री' से लेकर 'दण्डक' तक विविध छन्द शामिल हैं। श्रीधरचरित की विशेषता यह है कि इसमें पहले छन्दों के लक्षण दिये गये हैं, फिर उन्हें उदाहृत किया गया है। इसमें वदनक, अडिल्ला, आरूयानकी, षट्पदी, चण्डकाल, मृदंग, ऋचपदा, हलमुखी, पद्धटिका, मुदत्तम् आदि ऐसे छन्द भी हैं जिनका शायद ही अन्यत्र प्रयोग हुआ हो। अन्य महाकाव्यों में भी अप्रचलित छन्दों के प्रयोग के द्वारा छन्दशास्त्रीय ज्ञान प्रकट करने की प्रवृत्ति है। कुछ छन्द प्राकृत तथा अपभ्रंश से प्रभावित हैं।

३०. सालंकारः कवेः काव्यसम्पर्भ इव व्यभात् ।—पार्वनाथमहाकाव्य, ३.१५६

३१. यथोचित्यमलंकारान् स्थापयामास पार्थिवः ।—पार्वनाथचरित, ४.२६१

द्वितीय अध्याय

शास्त्रीय महाकाव्य

१. जैनकुमारसम्भव : जयशेखरसूरि

मेघदूत की भांति कालिदास के कुमारसम्भव ने किसी अभिनव साहित्यिक विधा का प्रवर्तन तो नहीं किया, किन्तु महाकवि के इस काव्य से प्रेरणा ग्रहण कर जिन तीन-चार कुमारसम्भव-संज्ञक कृतियों की रचना हुई है, उनमें, जयशेखरसूरि का जैनकुमारसम्भव (जै. कू. सम्भव)^१, अपने विविध गुणों तथा महाकाव्य-परम्परा के सम्पक् निर्वाह के कारण विशेष उल्लेखनीय है। कालिदासकृत कुमारसम्भव के समान जैन. कू. सम्भव का उद्देश्य कुमार (भरत) के जन्म का वर्णन करना है; किन्तु, जिस प्रकार कुमारसम्भव के प्रामाणिक भाग (प्रथम आठ सर्ग) में कार्तिकेय का जन्म वर्णन नहीं है, उसी प्रकार जैन कवि ने भी अपने काव्य में भरतकुमार के जन्म का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है। इस दृष्टि से दोनों काव्यों के शीर्षक उनके प्रतिपादित विषय पर पूर्णतया चरितार्थ नहीं होते। परन्तु जहाँ कालिदास ने अष्टम सर्ग में, पार्वती के गर्भाधान के द्वारा कुमार कार्तिकेय के भावी जन्म की व्यंजना करके काव्य को समाप्त कर दिया है, वहाँ जैनकुमारसम्भव में सुमंगला के गर्भाधान का संकेत करने के पश्चात् भी (६/७४) काव्य को पाँच अतिरिक्त सर्गों में घसीटा गया है। यह अवांछनीय विस्तार कवि की वर्णनात्मक प्रकृति के अनुरूप है, पर इससे कथानक की अन्विति छिन्न हो गयी है और काव्य का अन्त अतीव आकस्मिक हुआ है।

जैनकुमारसम्भव का महाकाव्यत्व

भामह से लेकर विश्वनाथ तक, संस्कृत के प्राचीन समीक्षक आचार्यों ने महाकाव्य की अन्तरात्मा की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर का अधिक निरूपण किया है। इस स्थूलतावादी दृष्टिकोण के कारण भामह के पश्चात् काव्याचार्यों के महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षण उत्तरोत्तर संकलनात्मक होते गये। चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री विश्वनाथ ने अपने लक्षण में पूर्ववर्ती महाकाव्य-परिभाषाओं में निदिष्ट सभी स्थूलास्थूल तत्त्वों का समाहार करने की चेष्टा की है^२। इन परिभाषाओं ने महाकाव्यकारों के लिये एक दुर्बोध चारदीवारी निर्मित कर दी है। उस परिधि के बन्धन में ही संस्कृत महाकाव्यों की रचना हुई है। महाकाव्य में सभी

१. आर्यरक्षित पुस्तकोद्धार संस्था, जामनगर, सम्बत् २०००

२. साहित्यदर्पण, ६/३१५-२४

लक्षणों का यथावत् निर्वाह करना न सम्भव है, न बांछनीय । शास्त्रविहित तत्त्वों में से कुछ के अभाव में, कोई महाकाव्य महाकाव्य-पद से च्युत नहीं हो जाता । दण्डी ने इस वास्तविकता को बहुत पहले स्वीकार किया था* ।

महाकाव्य की रूढ परम्परा के अनुसार जैन. कु. सम्भव का आरम्भ मंगला-चरण से हुआ है, जो उसके आदर्शभूत, कालिदास के कुमारसम्भव के समान वस्तु-निर्देशात्मक है । ऋषभचरित का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आदिपुराण, त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित आदि जैन स्रोतों के अतिरिक्त ब्राह्मणपुराणों, विशेषतः भागवतपुराण, में सविस्तार निरूपण किया गया है । भारतीय समाज की वैदिक तथा श्रमण दोनों धाराओं में मान्य होने के कारण जैनकुमारसम्भव के कथानक को व्यापक 'प्रख्यात' (इतिहासकथोद्भूत) माना जा सकता है । विश्वनाथ ने देवता अथवा धीरोदात्तत्वादि गुणों से सम्पन्न सट्ठश क्षत्रिय को महाकाव्य का नायक माना है । ऋषभदेव महान् इक्ष्वाकुकुल के वंशज हैं तथा उनमें वे समग्र विशेषताएं निहित हैं, जो धीरोदात्त नायक में अपेक्षित हैं । रस की दृष्टि से जैन. कु. सम्भव की विचित्र स्थिति है । ऋषभदेव के विवाह तथा भरत के जन्म से सम्बन्धित होने के कारण इसमें शृंगार की प्रमुखता अपेक्षित थी, परन्तु जयशेखर ने ऋषभ की मुक्तिकामी वीतराग के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे उसका काव्य शृंगार की प्रगाढता से वंचित हो गया है । शान्तरस भी सूक्ष्म संकेतों के अतिरिक्त अंगी रस के रूप में परिपक्व नहीं हो सका है । फलतः जैन. कु. सम्भव में कोई भी रस इतना उद्दाम अथवा पुष्ट नहीं है कि उसे प्रधान रस के पद पर आसीन किया जा सके । सामान्यतः शृंगार को जैन. कु. सम्भव का अभिलषित अंगी रस मानने से परम्परा का निर्वाह हो सकता है । पुरुषार्थचतुष्टय में से जैनकुमारसम्भव का उद्देश्य एक दृष्टि से धर्मसिद्धि है और दूसरी दृष्टि से अर्थ की साधना । आदिदेव के चरित के माध्यम से जैन धर्म के गौरव का निरूपण करना कवि का परोक्ष प्रयोजन है । जैन. कु. सम्भव के परिवेष्ट में अर्थसिद्धि का तात्पर्य लौकिक अशुद्ध्य है । चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति से पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के आदर्श से जैन. कु. सम्भव सतत अनुप्राणित है । काव्य का शीर्षक इसके अभीष्ट प्रतिपाद्य पर आधारित है, यद्यपि वह वर्तमान वर्णित विषय पर पूर्णतया घटित नहीं होता । सुमंगला के गर्भाधान को कुमार के जन्म का पूर्वाभास मानने से सम्भवतः इस कठिनाई का निराकरण हो सकता है । अष्टम सर्ग के नाम 'चतुर्दशस्वप्नावधारण' से द्योतित है कि सर्गों के नामकरण में भी कवि को परम्परागत नियम मान्य था । जयशेखर ने छन्दों के विधान में शास्त्र का यथावत् पालन किया है । काव्य में विवाह, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न आदि

के कल्पनापूर्ण वर्णन इसकी कथावस्तु को समृद्ध बनाते हैं । इसकी भाषा में महाकाव्योचित प्रौढता तथा परिष्कार और शैली में काव्य भव्यता है । जैनकुमारसम्भव में युग जीवन, विशेषकर वैवाहिक परम्पराओं का विस्तृत चित्रण कवि के सामयिक बोध तथा संवेदनशीलता का द्योतक है । ये विशेषताएं जै. कु. सम्भव के महाकाव्यत्व की प्रतिष्ठा के आधार हैं ।

जैनकुमारसम्भव का स्वरूप

जयशेखर ने पुराणवर्णित ऋषभचरित को महाकाव्य का विषय बनाया है । जै. कु. सम्भव में देवों का काव्य के पात्रों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसे निस्संकोच देववेष्टित कहा जा सकता है । सूत्रधार की भांति जो पात्र काव्य के कार्यकलाप का आच्यन्त संचालन करता है, वह देवाधिपति इन्द्र है । किन्तु मर्त्य और अमर्त्य के इस मिलन के कारण जै. कु. सम्भव को पौराणिक काव्य मानना उचित नहीं है । काव्य के स्वरूप का निर्धारण कथा-परिवेश के आधार पर नहीं अपितु उसके प्रस्तुतीकरण, काव्य की भाषा-शैली तथा उसके वातावरण की समग्रता के आधार पर होना चाहिये । इस दृष्टि से देखने पर जै. कु. सम्भव के शास्त्रीय शैली की रचना होने में सन्देह नहीं रहता । इसकी पुराणगृहीत कथावस्तु को परिमार्जित तथा गरिमापूर्ण भाषा-शैली में वर्णित किया गया है, जो कवि की बहुश्रुतता को बिम्बित करती है । पौराणिक काव्यों की तरह जै. कु. सम्भव में प्रत्यक्षतः धर्मप्रचार का आग्रह नहीं है । यह अवान्तर कथाओं तथा पूर्वध्वनों के पौराणिक वर्णनों से भी मुक्त है । इसके विपरीत शास्त्रीय शैली के महाकाव्य की प्रकृति के अनुरूप जै. कु. सम्भव में वर्ण्य विषय की अपेक्षा अभिव्यञ्जना शैली अधिक महत्वपूर्ण है । स्वल्प कथानक तथा काव्य के आकार में अन्तर इसी प्रवृत्ति का परिणाम है ।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

जैनकुमारसम्भव से इसके यशस्वी प्रणेता जयशेखरसूरि के जीवनवृत्त अथवा काव्य के रचनाकाल का कोई विश्वस्त सूत्र हस्तगत नहीं होता । काव्य में प्रान्तप्रशस्ति के अभाव का यह दुःखद परिणाम है । जयशेखर पट्टधर नहीं थे, अतः पट्टावलियों में भी उनका विवरण प्राप्त नहीं है । जै. कु. सम्भव के प्रत्येक सर्ग की टीका के अन्त में टीकाकार धर्मशेखर ने जयशेखर की साहित्यिक उपलब्धियों का जो संकेत किया है, उससे विदित होता है कि जयशेखर काव्यसरिता के 'उद्गमस्थल' तथा 'कविघटा' के मुकुट थे । जैनकुमारसम्भव के रचयिता की कवित्वशक्ति तथा काव्यकौशल को

४. सूरिः श्रीजयशेखरः कविघटाकोटीरहरेरच्छविः—

धर्ममलादिमहाकवित्वकलनाकल्लोलिनोसानुमान् ।

देखते हुए यह शिष्य (टीकाकार) की गुरुभक्ति से उत्प्रेरित श्रद्धांजलि मात्र नहीं है। धम्मिलकुमारचरित की प्रशस्ति में जयशेखर ने स्वयं 'कविचक्रधर' विशेषण के द्वारा अपनी प्रबल कवित्वशक्ति को रेखांकित किया है^५।

धम्मिलचरित की प्रशस्ति में निरूपित अंचलगच्छ की परम्परा से स्पष्ट है कि जयशेखर, अंचलगच्छ के प्रख्यात पट्टधर, महेन्द्रप्रभसूरि के द्वितीय शिष्य थे^६। सहस्रगणा गांधी गोविन्द सेठ ने, सम्वत् १४१४ में, रत्नपुर में, जो जिनप्रासाद बनवाया था, उसकी प्रतिष्ठा जयशेखर की प्रेरणा से की गयी थी^७। पेशापुर के जिनालय की धातुमूर्ति पर अंकित लेख में जयशेखरसूरि का उल्लेख है^८, किंतु उसमें निर्दिष्ट वर्ष (सम्वत् १५१७) भ्रामक है। यदि वर्ष शुद्ध है तो जयशेखर का उल्लेख असंगत है। सं० १५१७ को निर्दोष मानने से, उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय, जयशेखर की दीर्घायु (लगभग १२५ वर्ष) की पुष्टि किसी अन्य साधन से नहीं होती। धम्मिलचरित के रचनाकाल, सम्वत् १४६२, तक उनकी स्थिति असन्दिग्ध है।

जयशेखर शाखाचार्य, बहुश्रुत विद्वान् तथा प्रतिभाशाली कवि थे। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में निर्मित उनकी विभिन्न कृतियाँ, उनकी विद्वत्ता की द्योतक हैं। प्रबोधचिन्तामणि की रचना सम्वत् १४३६ में सम्पन्न हुई थी। उपदेशचिन्तामणि तथा धम्मिलचरित एक ही वर्ष, सम्वत् १४६२ में लिखे गये थे^९। कुमारसम्भव उनकी सर्वोत्तम रचना है। जयशेखर को साहित्य में जो यश प्राप्त है, उसका आधार यही जैनकुमारसम्भव है। इसकी रचना सम्वत् १४६२ (१४०५ ईस्वी) से पूर्व हो चुकी थी। धम्मिलचरित की प्रशस्ति में जैनकुमारसम्भव के निम्नान्त नामोल्लेख से यह निश्चित है^{१०}। जैनकुमारसम्भव सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भिक वर्षों

५. धम्मिलकुमारचरित, प्रशस्ति, ७.

६. वही, ३-६.

७. पण्डित ही. छ. लालन, जैनगोत्रसंग्रह, पृ. ६५.

८. सं. १५१७ वर्ष सा. श्रीबीरवंशे अ. चापा भार्या जयशेखरसूरीणामुपदेशेन स्वश्रेयसे श्रीसुमतिनार्यादिब का०। बुद्धिसागर : जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ६८८.

९- द्विषट् वारिधिवन्दाकवर्षे विक्रमभूपतेः ।

अकारि तन्मनोहारि पूर्णं गुर्जरमण्डले ॥ धम्मिलचरित, प्रशस्ति, १०.

हीरालाल कापडिया : जैन संस्कृत साहित्य नो इतिहास, भाग २, पृ. १६३

१०. प्रबोधचिन्तामणिरद्भुतस्तथोपदेशचिन्तामणिरथपेशलः ।

व्यधाधि येजैनकुमारसम्भवाभिधानतः सूतिसुधासरोवरम् ॥ धम्मिलचरित, प्रशस्ति, ८.

में निमित्त कृति है। जयशेखर के शिष्य धर्मशेखर ने सम्बत् १४८२ (सन् १४२५) में, इस काव्य पर टीका लिख कर, गुरु के प्रति सारस्वत श्रद्धांजलि अर्पित की है।

वेशो सपादसखे सुखलक्ष्ये पद्ये (!) पुरप्रवरे ।

नयनवसुधाधिचन्द्रे वर्षे हर्षेण निमिता सेयम् ॥^{११}

उपर्युक्त चार ग्रन्थों के अतिरिक्त जयशेखर की कुछ अन्य संस्कृत तथा गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। आत्मकुलक, धर्मसर्वस्व, अजितशान्तिस्तव, संबोधसप्तिका, नलदमयन्तीचम्पू, न्यायमंजरी तथा कतिपय द्वात्रिंशिकाएँ उनकी मौलिक संस्कृत रचनाएँ हैं। त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध, परमहंसप्रबन्ध, प्रबोधचिन्तामणि चौपाई, अन्तरंग चौपाई की रचना गुजराती में हुई है^{१२}।

कथानक

जैनकुमारसम्भव के ग्यारह सर्गों में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के विवाह तथा उनके पुत्रजन्म का वर्णन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य का आरम्भ अयोध्या के वर्णन से होता है, जिसके अन्तर्गत वहाँ के वासियों की धनाढ्यता, धर्मनिष्ठा तथा शील-सम्पन्नता का कवित्वपूर्ण निरूपण किया गया है। धनपति क्रुबेर ने, अपनी प्रिय नगरी अलका की सहचरी के रूप में, अयोध्या का निर्माण किया था। अयोध्या के निवेश से पूर्व, जब यह देश इक्ष्वाकुभूमि के नाम से ख्यात था, आदिदेव युग्मिपति नाभि के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे। सर्ग के शेषार्ध में ऋषभ के शैशव, यौवन, रूपसम्पदा तथा यशःप्रसार का मनोरम चित्रण है। द्वितीय सर्ग में देवगायक तुम्बुरु तथा नारद से यह जानकर कि ऋषभदेव अभी अविवाहित हैं, सुरपति इन्द्र उन्हें वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने के लिये तत्काल अयोध्या को प्रस्थान करते हैं। इस प्रसंग में उनकी यात्रा तथा अष्टापद पर्वत का रोचक वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग में इन्द्र नाना युक्तियाँ देकर ऋषभ को गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करने के लिये प्रेरित करते हैं। उनके मौन को स्वीकृति का द्योतक मानकर इन्द्र उनकी सगी बहनों—सुमंगला तथा सुनन्दा से उनका विवाह निश्चित करता है^{१३} और देववृन्द को विवाह के आयोजन का आदेश देता है। यहीं वधुओं की विवाहपूर्व सज्जा का कवित्वपूर्ण वर्णन है।

११ टीकाप्रशस्ति, ५.

१२ जयशेखर की कतिपय अन्य सद्यः संस्कृत रचनाएँ अभी प्राप्त हुई हैं। हस्त-प्रति मुनि कलाप्रभासागर, जैन मन्दिर, साटूंगा, अम्बई के संग्रह में है।

१३ “शाक्यों में भी भगिनी-विवाह प्रचलित था। महावंस में उल्लेख है कि साट-वेश के राजा सीलबराहु ने अपनी भगिनी को पटरानी बनाया। ऋग्वेद का यम-यमो संवाद भी द्रष्टव्य है”। —जगदीशचन्द्र जैन : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ. ३, पा. नि. २.

स्नान-सज्जा के उपरान्त ऋषभ जंगम प्रासादतुल्य ऐरावत पर आरूढ़ होकर वधूगृह को प्रस्थान करते हैं। पाणिग्रहणोत्सव में भाग लेने के लिये समूचा देवमण्डल घरा पर उतर आया, मानो स्वर्ग भूमि का अतिथि बन गया हो। चतुर्थ सर्ग के उत्तरार्द्ध तथा पंचम सर्ग के अधिकांश में तत्कालीन विवाह-परम्पराओं का सजीव चित्रण है। पाणिग्रहण सम्पन्न होने पर ऋषभदेव विजयी सम्राट की भांति घर लौट आते हैं। यहीं, दस पद्यों में, उन्हें देखने को लालाधित पुरसुन्दरियों के सम्भ्रम का रोचक चित्रण है। छठा सर्ग रात्रि, चन्द्रोदय, षड्ऋतु आदि वस्तुव्यापार के वर्णनों से परिपूर्ण है। ऋषभदेव नवोढा वधुओं के साथ शयनगृह में प्रविष्ट हुए जैसे तत्त्वान्वेषी मति तथा स्मृति के साथ शास्त्र में प्रवेश करता है। सर्ग के अन्त में सुमंगला के गर्भाधान का संकेत मिलता है। सातवें सर्ग में सुमंगला को चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं। वह उनका फल जानने के लिए पति के वासगृह में जाती है। अष्टम सर्ग में ऋषभदेव सुमंगला के असामयिक आगमन के विषय में नाना वितर्क करते हैं। उनका मनरूपी द्वारपाल उन स्वप्नों को बुद्धिबाहु से पकड़ कर विचारसभा में ले गया और उनके हृदय के धीवर ने विचार-पयोधि का अवगाहन कर उन्हें फलरूपी मोती भेंट किये। नवें सर्ग में ऋषभ सुमंगला के गौरव का बखान तथा स्वप्नफल का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं। यह जानकर कि इन स्वप्नों के दर्शन से मुझे चौदह विद्याओं से सम्पन्न चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी, सुमंगला आनन्द-विभोर हो जाती है। दसवें सर्ग में सुमंगला अपने वासगृह में आती है और सखियों को समूचे वृत्तान्त से अवगत कराती है। ग्यारहवें सर्ग में इन्द्र सुमंगला के सौभाग्य की सराहना करता है तथा उसे विश्वास दिलाता है कि 'तुम्हारे पति का वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। अवधि पूर्ण होने पर तुम्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। उसके नाम (भरत) से यह देश 'भारत' तथा वाणी 'भारती' कहलाएगी। मध्याह्न-वर्णन के साथ काव्य सहसा समाप्त हो जाता है।

अधिकांश कालिदासोत्तर महाकाव्यों की भांति जैनकुमारसम्भव को कथावस्तु के निर्वाह की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। जैनकुमारसम्भव का कथानक, उसके कलेवर के अनुरूप विस्तृत अथवा पुष्ट नहीं है। भूल कथा तथा वर्ण्य विषयों के बीच जो खाई सर्वप्रथम भारवि के काव्य में दिखाई देती है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। यदि जैनकुमारसम्भव की निरी कथात्मकता को लेकर काव्यरचना की जाये तो वह तीन-चार सर्गों से अधिक की सामग्री सिद्ध नहीं होगी, किन्तु जयशेखर ने उसे विविध वर्णनों, सम्वादों तथा अन्य तत्त्वों से पुष्ट कर ग्यारह सर्गों का वितान खड़ा कर दिया है। यह वर्णन-प्रियता की प्रवृत्ति काव्य में अविच्छिन्न विद्यमान है। प्रथम छह सर्ग अयोध्या, ऋषभ के शैशव तथा यौवन, वर-वधू के अलंकरण तथा

वैवाहिक आचारों और रात्रि, चन्द्रोदय आदि के वर्णनों से आच्छादित हैं। छठे सर्ग के बाद भी कवि कथानक का सूक्ष्म संकेत करके, किसी-न-किसी वर्णन में जुट जाता है। अन्तिम पाँच सर्गों में से स्वप्नदर्शन तथा उनके फल-कथन का ही मुख्य कथा से सम्बन्ध है। दसवाँ तथा ग्यारहवाँ सर्ग तो सर्वथा अनावश्यक है। काव्य को यदि नौ सर्गों में ही समाप्त कर दिया जाता, तो शायद वह अधिक अन्वितिपूर्ण बन सकता। ऋषभदेव के स्वप्नफल बताने के पश्चात् इन्द्र द्वारा उसकी पुष्टि करना निरर्थक है। उससे देवतुल्य नायक की गरिमा आहत होती है। किन्तु इस विस्तार के लिये जय-शेखर को दोषी ठहराना उचित नहीं है। कालिदासोत्तर महाकाव्यों की परिपाटी ही ऐसी थी कि उसमें वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-शैली के अलंकरण में कवित्व की सार्थकता मानी जाती थी।

जैनकुमारसम्भव के आधारस्रोत

यद्यपि ऋग्वेद में 'ऋषभ' अथवा 'ऋषभ' के संकेत खोजने का तत्परतापूर्वक प्रयत्न किया गया है^{१४}, किन्तु ऋषभचरित के कुछ प्रसंगों की स्पष्ट प्रतिध्वनि सर्व-प्रथम ब्राह्मण पुराणों में सुनाई देती है। ऋषभ के अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अभिषिक्त करके प्रवज्या ग्रहण करने, पुलहा के आश्रम में उनकी तपश्चर्या, भरत के नाम के आधार पर देश के नामकरण आदि ऋषभ के जीवनवृत्त की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की आवृत्ति लगभग समान शब्दावली में कई प्रमुख पुराणों में हुई है^{१५}। भागवत-पुराण में आदि तीर्थंकर का चरित सविस्तार वर्णित है। भागवतपुराण में (५/३-६) नाभि तथा ऋषभ का जीवनचरित ठेठ वैष्णव परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। भागवत के अनुसार ऋषभ का जन्म भगवान् यज्ञपुरुष के अनुग्रह का फल था जिसके परिणामस्वरूप वे स्वयं सन्तानहीन नाभि के पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुए। आकर्षक शरीर, विपुल कीर्ति, ऐश्वर्य आदि गुणों के कारण वे 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) नाम से ख्यात हुए^{१६}। गार्हस्थ्य धर्म का प्रवर्तन करने के लिये उन्होंने स्वर्गाधिपति इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया और श्रौत तथा स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करते हुए, उससे सौ पुत्र उत्पन्न किये। महायोगी भरत उनमें ज्येष्ठ थे। उन्हीं के नाम के कारण

१४. आचार्य तुलसी तथा मुनि नथमल : अतीत का अनावरण, भारतीय ज्ञानपीठ; १९६९, पृ. ७

१५. मार्कण्डेय पुराण, ५०/३९-४१, कूर्मपुराण, ४१.३७-३८, वायुपुराण (पूर्वार्द्ध), ३३.५०-५२, अग्नि पुराण, १०.१०-११, ब्रह्माण्डपुराण, १४.५९-६१, लिङ्ग-पुराण, ४७.१९-२४.

१६. तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा...चौजसा बलेन श्रिया यशसा...ऋषमं इतीवं नाम चकार। भागवतपुराण, ५.४.२

‘अजनाभखण्ड’ भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ^{१७}। पुराण के वैष्णव परिवेश के अनुरूप भरत को परमभागवत के रूप में प्रस्तुत किया गया है^{१८}। भागवत के शेष प्रकरण में ऋषभदेव के यज्ञानुष्ठान, धर्माचरण, लोकोपकार तथा योगविधि से शरीरत्याग का वर्णन है।

जैन साहित्य में ऋषभचरित का प्राचीनतम निरूपण उपांगसूत्र जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में हुआ है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का संक्षिप्त विवरण ऋषभचरित की कतिपय सूक्ष्म रेखाओं का आकलन है। उसमें आदि तीर्थंकर के धार्मिक तथा परोपकारी साधक स्वरूप को रेखांकित करने का प्रयत्न है। ऋषभ के सौ पुत्रों में भरत की ज्येष्ठता तथा उनके राज्याभिषेक का संकेत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी किया गया है^{१९}।

तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनवृत्त के दो मुख्य स्रोत हैं—जिनसेन का आदि-पुराण (नवीं शताब्दी) तथा हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (बारहवीं शताब्दी)। इन उपजीव्य ग्रन्थों के फलक पर, भिन्न-भिन्न शैली में, समग्र ऋषभचरित अंकित किया गया है। जिनसेन ने चार विशाल पर्वों (१२-१५) में जिनेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है। आदिपुराण का यह प्रकरण, विद्वत्ताप्रदर्शन तथा काव्यात्मक गुणों के आग्रह के कारण उच्च बिन्दु का स्पर्श करता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में ऋषभचरित का अनुपातहीन किन्तु सरस वर्णन है। हेमचन्द्र ने जिस प्रकार ऋषभचरित का प्रतिपादन किया है, उसमें जिनजन्म के प्रस्तावना-स्वरूप मरुदेवी के स्वप्नदर्शन-सहित ऋषभ के जीवन के पूर्वार्द्ध ने आदिपर्व के द्वितीय सर्ग के लगभग पाँच सौ पद्यों का निगरण कर लिया है तथा संवेगोत्पत्ति तक के शेष भाग का केवल तीन सौ पद्यों में समाहार करने की चेष्टा की गयी है। जयशेखर ने कथानक के पल्लवन तथा प्रस्तुतीकरण में, कतिपय अपवादों को छोड़कर, बहुधा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का अनुगमन किया है। दोनों में इतना आश्चर्यजनक साम्य है कि जैनकुमारसम्भव की रचना त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के आदि पर्व को सामने रख कर की गयी प्रतीत होती है। वस्तुतः जयशेखर ने कथानक का स्थूल स्वरूप ही त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से ग्रहण नहीं किया, विभिन्न प्रसंगों में उसके असंख्य भावों तथा वर्णनों को आत्मसात् करके काव्य की प्रकृति के अनुरूप उन्हें प्रौढ़ शैली तथा परिष्कृत भाषा में प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र तथा जयशेखर के मुख्य वृत्त

१७. घेषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेवं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। वही, ५.४.६

१८. वही, ११.२.७.

१९. पढमराया पढमजिण पढमकेवली पढमतित्यकरे पढमधम्मवर चकवटो समुप्पाज्जित्था।—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूत्र ३५.

में केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में सुमंगला के चौदह स्वप्नों तथा उनके फलकथन का क्रमशः एक-एक पद्य में सूक्ष्म संकेत है। जयशेखर ने इस प्रसंग का निरूपण लगभग दो सर्गों में किया है^{२०}। जैनकुमारसम्भव के कथानक में, जिसका फलागम कुमार-जन्म है, यह सम्भवतः अनिवार्य था। किंतु जयशेखर को इसकी प्रेरणा हेमचन्द्र द्वारा वर्णित मरुदेवी के स्वप्नों तथा फलकथन से मिली थी, इसमें सन्देह नहीं।

जयशेखर को प्राप्त कालिदास का दाय

जयशेखर का आधारस्रोत कुछ भी रहा हो, कालिदास के महाकाव्यों तथा जैनकुमारसम्भव के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि कथानक की परिकल्पना तथा विनियोग, घटनाओं के संयोजन तथा काव्यरुडियों के पालन में जयशेखर कालिदास-कृत कुमारसम्भव का अत्यधिक ऋणी है। यह बात भिन्न है कि महाकवि के प्रबल आकर्षण के आवेग में वह अपनी कथावस्तु को नहीं सम्भाल सका है।

कुमारसम्भव के हृदयग्राही हिमालय-वर्णन के आधार पर जयशेखर ने अपने काव्य का आरम्भ अयोध्या के रोचक चित्रण से किया है^{२१}। कालिदास के बिम्ब-वैविध्य, यथार्थता तथा सरस शैली का अभाव होते हुए भी, अयोध्या-वर्णन कवि की असंदिग्ध कवित्वशक्ति का द्योतक है। महाकवि के काव्य तथा जैनकुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में ही क्रमशः पार्वती तथा ऋषभ के जन्म से यौवन तक, जीवन के पूर्वार्द्ध का निरूपण है^{२२}। पार्वती के सौन्दर्य का यह वर्णन सहजता तथा मधुरता के कारण संस्कृत-काव्य के उत्तमोत्तम अंशों में प्रतिष्ठित है। ऋषभदेव के यौवन का चित्रण यद्यपि उस कोटि का नहीं है, किन्तु वह रोचकता से शून्य नहीं है। कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में तारक के आतंक से पीड़ित देवताओं का एक प्रतिनिधिमण्डल ब्रह्मा की सेवा में जाकर उनसे संकट-निवारण की प्रार्थना करता है। जयशेखर के काव्य में इन्द्र स्वयं ऋषभदेव को विवाहार्थ प्रेरित करने के लिये अयोध्या में अवतरित होता है। कालिदास के अनुकरण पर जैनकुमारसम्भव के इसी सर्ग में एक स्तोत्र का समावेश किया गया है^{२३}। ब्रह्मा के स्तोत्र में निहित दर्शन की अन्तर्धारा, उसके कवित्व को आहत किये बिना, उसे दर्शन के उच्च घरातल पर प्रतिष्ठित करती है। जैनकुमारसम्भव की यह प्रशस्ति ऋषभदेव के पूर्व भवों तथा सुकृत्यों का संकलन मात्र है। फलतः कालिदास के स्तोत्र की तुलना में जयशेखर का

२०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १.२.८८६-८८७, जैन कुमारसम्भव, ७, ६.

२१. कुमारसम्भव, १.१-१६; जैनकुमारसम्भव, १.१-१६

२२. कुमारसम्भव, १.२०-४६; जैनकुमारसम्भव, १.१७-६०

२३. कुमारसम्भव, २.३-१५; जैनकुमारसम्भव २.४६-७३

प्रशस्तिगान शुष्क तथा नीरस प्रतीत होता है। महाकविकृत कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में इन्द्र तथा वसन्त का मनोहर संवाद है, जिसमें इन्द्र वसन्त को अपने प्रिय मित्र काम के सहयोग से भगवान् शंकर की समाधि भंग करने के लिये उत्तेजित करता है। जैनकुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में इन्द्र तथा ऋषभ के वार्त्तालाप की योजना की गयी है, जिसका उद्देश्य काव्य नायक को वैवाहिक जीवन स्वीकार कर के दाम्पत्य धर्म के प्रवर्तन के लिये प्रेरित करना है^{१५}। जयशेखर का यह संवाद कालिदास के समानान्तर संवाद की माधुरी से वंचित होता हुआ भी कवित्व की दृष्टि से नगण्य नहीं है। इसी सर्ग में सुमंगला तथा सुनन्दा की और चतुर्थ सर्ग में ऋषभ की विवाहपूर्व सज्जा का विस्तृत वर्णन कालिदास-कृत पार्वती एवं शिव के प्राक्-विवाह अलंकरण पर आधारित है^{१६}। कालिदास का संक्षिप्त वर्णन यथार्थता तथा मार्मिकता से ओतप्रोत है। जैनकुमारसम्भव में वरवधू की सज्जा का चित्रण बिस्तार के कारण नखशिख सौन्दर्य की सीमा तक पहुँच गया है। कालिदास की अपेक्षा वह अलंकृत भी है और कृत्रिम भी, यद्यपि दोनों में कहीं-कहीं भावसाम्य दृष्टिगोचर होता है^{१७}।

जैन कुमारसम्भव में ऋषभ विवाह का वर्णन बहुलांश में शंकर-विवाह की अनुकृति है। ऋषभ का विवाह देवराज इन्द्र के प्रयत्न तथा व्यवहारनिपुणता का परिणाम है। वे प्रकारान्तर से उस कृत्य की पूति करते हैं, जिसका सम्पादन सप्तर्षियों द्वारा ओषधिप्रस्थ जाकर किया जाता है^{१८}। दोनों काव्यों में अन्य देवी पात्रों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। कालिदास के समान जयशेखर ने विवाह के सन्दर्भ में तत्कालीन वैवाहिक विधियों का निरूपण किया है। कालिदास ने अपनी शैली के अनुरूप केवल ग्यारह पद्यों में प्रासंगिक आचार्यों का समाहार किया है जबकि जयशेखर ने समकालीन समय वैवाहिक परम्पराओं का सूक्ष्म निरूपण करने की आवश्यकता के कारण इस प्रसंग का अधिक विस्तार कर दिया है। पाणिग्रहण की चरम विधि के रूप में हिमालय के पुरोहित ने केवल एक पद्य में पार्वती को पति के साथ धर्माचरण का उपदेश दिया है। जैनकुमारसम्भव में वर-वधू को क्रमशः इन्द्र तथा शची अलग-अलग शिक्षा देते हैं, जो विस्तृत होती हुई भी रोचकता तथा उदात्त

२४. कुमारसम्भव, ३.१-१३; जैनकुमारसम्भव, ३.१-३६

२५. कुमारसम्भव, ७.७-२४; जैनकुमारसम्भव, ३.६०-८१; ४.१४-३२

२६. कुमारसम्भव, ७.१५, ७.६; ७.११, ७.२१; जैनकुमारसम्भव ३.६४, ४.१५, ४.१७, ४.३१

२७. कुमारसम्भव, ६.७८-७९

भावों से उच्छ्वसित है^{१८}। कालिदास के काव्य में शंकर विवाह के पश्चात् पर्वतराज की कन्या का हाथ पकड़ कर कौतुकागार में प्रविष्ट हो गये। ऋषभदेव वधुओं के साथ मणिहर्म्य में ऐसे प्रविष्ट हुए जैसे तत्त्वान्वेषी मति और स्मृति के साथ शास्त्र में प्रवेश करता है^{१९}। कालिदास ने शंकर-पार्वती की रतिक्रीड़ा का अतीव रंगीला चित्रण किया है जिसके अन्तर्गत नाना मुद्राओं तथा भंगिमाओं को समेटने का प्रयास है। नायक-नायिका के सम्भोग का मुक्त वर्णन पवित्रतावादी जैन कवि को प्राप्त नहीं हो सकता था। उसने सुमंगला के गर्भाधान से इस ओर इंगित मात्र किया है। ऋषभ कौतुकागार में भी अनासक्त भाव से, उन्हें पूर्वजन्म का भोक्तव्य मान कर, विषयों में प्रवृत्त होते हैं^{२०}। तीर्थंकर की विषय-पराङ्मुखता तथा मोक्षपरायणता का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करने के लिये यह चित्रण अनिवार्य था, भले ही उस स्थिति में वह हास्यास्पद प्रतीत हो।

जैनकुमारसम्भव में पौर नारियों के सम्भ्रम का चित्रण कालिदास के समानान्तर वर्णन का अनुगामी है, जो कुमारसम्भव तथा रघुवंश में समान शब्दावली में उपन्यस्त है^{२१}। अश्वघोष से आरम्भ होकर यह रुढ़ि माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई परवर्ती जैन कवियों द्वारा तत्परता से ग्रहण की गयी है। परन्तु इसके प्रति उत्साह के बावजूद उत्तरवर्ती कवियों ने इसमें नवीन उद्भावना नहीं की है। फलतः जयशेखर का प्रस्तुत वर्णन कालिदास के पद्यों की प्रतिध्वनि मात्र है। कुमारसम्भव के पंचम सर्ग से संकेत पाकर जयशेखर ने नायक-नायिका के संवाद की योजना की है। यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उमा-बटु-संवाद की गणना, उसकी नाटकीयता तथा सजीवता के कारण, सर्वोत्तम काव्यांशों में होती है। ऋषभ तथा सुमंगला का वार्तालाप साधारणता के धरातल से ऊपर नहीं उठ सका है।

जैनकुमारसम्भव में वस्तुव्यापारों की योजना कालिदास के प्रासंगिक वर्णनों से प्रेरित है। कालिदास की तरह जयशेखर ने अपने काव्य में रात्रि तथा चन्द्रोदय का ललित वर्णन किया है, जो नवदम्पती की विवाहोत्तर चेष्टाओं की समुचित भूमिका निर्मित करता है। ऋतुवर्णन के एकमात्र अपवाद को छोड़कर, जयशेखर के प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न सहित उपर्युक्त वर्णन काव्य के अत्यन्त रोचक तथा

२८. कुमारसम्भव, ७.८३; जैनकुमारसम्भव, ५.५८-८३

२९. कुमारसम्भव, ७.६५; जैनकुमारसम्भव, ६.२३

३०. भोगार्हकर्म ध्रुववेद्यमन्यजन्माजितं स्वं स विभुर्विबुध्य। जैनकुमारसम्भव, ६.२६

३१. कुमारसम्भव, ७.५६-६२; जैनकुमारसम्भव, ५.३७-४५

उत्कृष्ट अंश हैं। जयशेखर की कविता में जो प्रसाद तथा आकर्षण है, उस पर भी कालिदास की जैली की सहजता तथा भाषा की प्राञ्जलता की छाप है^{१२}।

रसविधान

काव्य की अन्तरात्मा उसकी रसात्मकता में निहित है, यह कथन सर्वमान्य तथ्य की आवृत्ति है। शान्तसहित नौ काव्यरसों का प्राचीनतम उल्लेख अनुयोग-द्वार सूत्र में हुआ है। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्र के क्रम के विपरीत इसमें 'वीर' को प्रथम स्थान प्राप्त है।

एव कव्वरसा पणत्ता, तं जहा—

वीरो सिगारो अभुओ अ रोहो अ होइ बोद्धव्वो ।

बेलणओ नीचच्छो हासो कलुणो पसंतो अ ॥^{१३}

महाकाव्य में शृंगार, वीर तथा शान्त में से किसी एक का अंगी रस के रूप में परिपाक विहित है। अन्य रस उसके पोषक बन कर महाकाव्य की रसवत्ता को तीव्र बनाने में सहायक होते हैं।^{१४}

जैनकुमारसम्भव रसवादी कृति नहीं है। नायक ऋषभदेव के विवाह तथा कुमार-जन्म से सम्बन्धित होने के नाते इसमें शृंगार रस के प्राधान्य की न्यायोचित अपेक्षा थी, परन्तु काव्यनायक की वीतरागता रेखांकित करने के लिये उनकी आसक्ति की अपेक्षा विरक्ति को काव्य में अधिक उभारा गया है। उनके लिये वैषयिक सुख विषयतुल्य है [३।१५]। वे 'अवक्रमति' से काम में प्रवृत्त होते हैं और 'उचित उपचारों' से विषयों को भोगते हैं (६।२५-२६)। जहाँ जयशेखर के आदर्शभूत कालिदास ने शिव-पार्वती के विवाहोत्तर सम्भोग का उद्दाम चित्रण किया है, जैन कवि ने अपने निवृत्तिवादी दृष्टिकोण के कारण जानबूझकर एक ऐसा प्रसंग हाथ से गंवा दिया है, जिसमें रस की उच्छल धारा प्रवाहित हो सकती थी। वर्तमान रूप में, जैनकुमारसम्भव में शृंगार का अंगी रसोचित परिपाक नहीं हुआ है, फिर भी इसमें सामान्यतः शृंगार की प्रधानता मानी जा सकती है। जैनकुमारसम्भव के विविध प्रसंगों में शृंगार के कई रोचक चित्र दिखाई देते हैं।

३२. इस विषय के सविस्तार अध्ययन के लिये देखिये मेरा निबन्ध—Jayaśekhara's Indebtedness to Kālidāsa : Bhārati-Bhānam : Dr. K. V. Sarma Felicitation Volume, Hoshiarpur, 1980, P. 193-203.

३३. अणुओगद्दाराइम्, जैन आगम सीरीज, ग्रन्थांक १, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६८ पृ० १२१-१२४

३३a. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इव्यते ।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥ साहित्यवर्षण, ६.३१७

शृंगार के चित्रण में जयशेखर की प्रवीणता निर्विवाद है। वे शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित विविध भावों को पृथक्-पृथक् अथवा समन्वित रूप में चित्रण करने में कुशल हैं। जैन कुमारसम्भव में दोनों प्रकार के वर्णन मिलते हैं। ऋषभदेव के विवाह में आते समय, प्रियतम का स्पर्श पाकर, किसी देवांगना की मैथुनेच्छा सहसा जाग्रत हो गई। भाबोच्छ्वास से उसकी कंचुकी टूट गयी। वह कामावेग के कारण असहाय हो गयी। फलतः वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रियतम की चापलूसी में जुट गयी।

उपात्तपाणिस्त्रिबशेन बल्लभा श्रमाकुला काचिवुदंचिकंचुका ।

बृषस्पया चादृशतानि तन्वती जगाम तस्यैव गतस्त विघ्नताम् ॥ ४।१०

नवविवाहित ऋषभ को देखने को उत्सुक पुर-युवति की अधबन्धी नीची दौड़ने के कारण खुल गयी। उसका अधोवस्त्र नीचे खिसक गया पर उसे इसका भान नहीं हुआ। वह नायक को देखने के लिए अधीरता से दौड़ती गयी और उसी मुद्रा में जनसमुदाय में मिल गयी। पौर युवती पर नायक के प्रति रति भाव आरोपित करना तो उचित नहीं किन्तु शृंगार के संचारी भाव उत्सुकता की तीव्रता, उसकी अधीरता तथा आत्मविस्मृति में बिम्बित हैं।

कापि नार्धयमितश्चनीवी प्रसरन्निवसनापि न ललज्जे ।

नायकानननिवेशितनेत्रे जन्यलोकनिकरेऽपि समेता ॥ ५.३६.

रुचकाद्रि के लतागृहों की गोपनीयता देवदम्पतियों की रति के लिये आदर्श परिवेश का निर्माण करती है, तो अष्टापद की रजत शिलाएँ तथा सुखद पुष्प-शय्याएँ, सम्भोगकेलि में मानिनियों को मानत्याग के लिए विकल कर देती हैं। शृंगार के उद्दीपन भावों को, रति के सोपान के रूप में, चित्रित करके कवि ने पर्वतीय नीरवता का समुचित उपयोग किया है।

तत्क्षरत्सूनमूत्ररच्छदा व्यधत्त यत्तारशिला विलासिनाम् ।

रतिक्षणालम्बितरोषमानिनीस्मयग्रहप्रन्धिभिदे सहायताम् ॥ २.३६.

जयशेखर ने काव्य की रसात्मकता की तीव्रता के लिए वात्सल्य, भयानक, हास्य तथा शान्त रसों का आनुषंगिक रूप में यथेष्ट पल्लवन किया है। ऋषभ के शैशव के चित्रण में वात्सल्य रस की मधुर छटा दर्शनीय है। शिशु ऋषभ की तुलनाती बाणी, लड़खड़ाती गति, अकारण हास्य आदि केलियाँ सबको आनन्द से अभिभूत करती हैं। वह दौड़कर पिता से चिपट जाता है। पिता उसके अंगस्पर्श से विभोर हो आते हैं। हर्षतिरेक से उनकी आँखें बन्द हो जाती हैं और वे 'तात-तात' की गुहार लगाते रहते हैं।

अवयवतमुक्तं स्खलदंष्ट्रियानं निःकारणं हास्यमवस्त्रमंगम् ।

अनस्य यद्वोषसयामिधेयं तच्छेदये यस्य बभूव भूषा ॥ १.२७

बूरातु सभाहूय हूवोपपीडं माध्वमुबा मोलितनेत्रपत्रः ।

अथांगजं स्नेहविमोहितात्मा यं तात तातेति जगाव नाभिः ॥ १.२८

जैनकुमारसम्भव में हास्य के अवसर अधिक नहीं हैं। पौर सुन्दरियों के सम्भ्रम-चित्रण के अन्तर्गत, निम्नोक्त पद्य में, हास्य रस की रोचक अभिव्यक्ति हुई है। नवविवाहित ऋषभ को देखने की लालसा से 'मूढदृष्टि' कोई स्त्री, अपने रोते शिशु को छोड़कर बिल्ली का बच्चा गोद में उठाकर दौड़ आयी। उसे देखकर सारी बारात हंस पड़ी, किन्तु उसे इसका आभास नहीं हुआ। उसकी इस अधीरता-जन्य चेष्टा में हास्य की मधुर रेखा है।

तूर्णिमूढदृग्पास्य खलन्तं पोतमोतुमघिरोप्य कटीरे ।

कापि धावितवती नहि जज्ञे हस्यमानापि जयज्जनैः स्वयम् ॥ ५.४१

पहले कहा गया है, शृंगारचित्रण का अद्भुत अवसर खोकर भी जयशेखर शांत रस की तीव्र निष्पत्ति करने में सफल नहीं हुए। जैनकुमारसम्भव में ऋषभदेव की अनासक्ति तथा विरक्ति के चित्रण में शान्तरस की क्षीण अभिव्यक्ति हुई है। काव्यनायक को गार्हस्थ्य जीवन में प्रवृत्त करने के लिए इन्द्र की उक्तियों में ऋषभ का निर्वेद मुखर है।

वयस्यनंगस्य वयस्पृष्टे भूतेश कपेऽनुपमस्वरूपे ।

पदीदिरायां कृतमन्विरायां को नाम कामे विमनास्त्वग्रन्थः ॥ ३.२४

क्रुद्ध भंसे के चित्रण में भयानक रस की प्रभावशाली व्यंजना हुई है (४.६)। वस्तुतः जयशेखर ने विविध मनोभावों के विश्लेषण तथा सरस चित्रण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

प्रकृति चित्रण

काव्यशास्त्रियों का विधान, जिसके अन्तर्गत उन्होंने वर्ण्य विषयों की बृहत् सूचियाँ दी हैं, काव्य में प्रकृतिचित्रण की महत्ता तथा उपयोगिता की स्वीकृति है। जैनकुमारसम्भव के वर्णन-बाहुल्य में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को विशाल फलक मिला है। जयशेखर की प्रकृति मानव से निरपेक्ष जड़ प्रकृति नहीं है। उसमें मानवीय भावनाओं का स्पन्दन है तथा वह मानव की तरह ही नाना क्रियाकलापों में रत है। उसका आधार समासोक्ति अलंकार है जिसका मर्म वर्ण्य विषय पर अप्रस्तुत के व्यवहार, कार्य आदि आरोपित करने में निहित है। जयशेखर के प्रकृति-वर्णन में समासोक्ति के प्रचुर प्रयोग का यही रहस्य है। प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न, रात्रि, चन्द्रोदय तथा ऋतुओं के वर्णन में जयशेखर ने समासोक्ति के माध्यम से

प्रकृति का उदारता-पूर्वक भानवीकरण किया है, जिससे सामान्य दृश्य भी अत्यन्त रोचक तथा कवित्वपूर्ण बन गये हैं। दसवें सर्ग का प्रभातवर्णन, कवित्व तथा प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से कदाचित् जैनकुमारसम्भव का सर्वोत्तम अंग है। छह पद्यों के इस संक्षिप्त वर्णन में कवि ने अपनी प्रतिभा की तूलिका से प्रातःकालीन समग्र वातावरण उजागर कर दिया है। इसमें जयशेखर ने बहुधा समासोक्ति के द्वारा प्रकृति की नाना चेष्टाओं के अभिराम चित्र अंकित किये हैं।

चन्द्रमा ने रात भर अपनी प्रिया के साथ रमण किया है। इस स्वच्छन्द कामकैल से उसकी कान्ति म्लान हो गयी है। प्रतिद्वन्द्वी सूर्य के भय से वह अपना समूचा वैभव तथा परिवार छोड़ कर नंगा भाग गया है। उसकी निष्कामता को देखकर पुंश्चली की तरह यामिनी ने उसे निर्दयता से ठुकरा दिया है। सेनानी के रणभूमि छोड़ देने पर सैनिकों की क्या बिसात ? जब उनका अधिपति चन्द्रमा ही भाग गया है, तो तारे सूर्य के तेज के सामने कैसे टिक सकते थे ? वे सब एक-एक करके बुझ गये हैं। समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि ने चन्द्रमा तथा तारों के अस्त होने की दैनिक घटना को कविकल्पना से तरलित कर दिया है।

लक्ष्मीं तथाम्बरमयात्मपरिच्छदं च

मुञ्चन्तमागमितयोगमिवास्तकामम् ।

दृष्ट्वेशमस्यद्विमुञ्चति कामिनीव

तं यामिनी प्रसरमम्बुरुहाक्षि पश्य ॥ १०.८२

अवशमनशब्दीतः शीतद्युतिः स निरम्बरः

खरतरकरे ष्वस्यद्भवान्ते रवावदयोन्मुखे ।

विरलविरलास्तज्जायन्ते नमोऽध्वनि तारकाः

परिवृढदृशीकाराभावे बले हि कियद्वलम् ॥ १०.८३

प्रभात वर्णन के अन्तिम पद्य में कवि ने कमल को मन्त्रसाधक कामी का रूप दिया है। जैसे कामी अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए नाना मन्त्र-तन्त्र की साधना करता है, कमल ने भी गहरे पानी में खड़ा होकर सारी रात, आकर्षण-मन्त्र का जाप किया है। प्रातः काल उसने सूर्य की किरणों के स्पर्श से स्फूर्ति पा कर प्रतिनायक चन्द्रमा की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया है और उसे अपनी 'अंकशय्या' (पत्रशय्या) पर लेटा कर आनन्द लूट रहा है। "चन्द्रमा के अस्त होने पर कमल अपने पूर्ण वैभव तथा ठाट से खिल उठता है," यह प्रतिदिन की सुविज्ञात घटना कमल पर चेतना का आरोप करने से कितनी आकर्षक तथा प्रभावशाली बन सकती है, निम्नोक्त पद्य उसका भव्य निदर्शन है।

गम्भीराम्भस्थितमथ जपमुद्धितास्यं निशाया-

मन्तर्गुञ्जनमधुकरमिषान्नूनमाकुण्ठिमन्त्रम् ।

प्रातर्जातिरफुरणमरुणस्योदये चन्द्रबिम्बा-

दाकुब्याब्जं सपदि कमलां स्वांकतलोचकार ॥ १०.८४

जयशेखर ने रात्रि का भी बहुधा मानवीरूप में चित्रण किया है। रात्रि के अन्धकार में ऋजु-वक्र आदि आकृतियों तथा कृष्ण, पीत आदि रंगों का विवेक स्वतः समाप्त हो जाता है। कवि ने रात्रि पर क्रान्तिकारी योगिनी का कर्म आरोपित किया है, जो 'वर्णव्यवस्था' के कृत्रिम किन्तु बद्धमूल भेद को मिटा कर जग में अद्वैत की स्थापना के लिये अवतरित हुई है^{१४}। रात्रि की कालिमा तथा चन्द्रमा के प्रकाश का अन्तर्मिलन प्राकृतिक सौन्दर्य का हृदयहारी दृश्य है। कवि ने समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास के द्वारा रात्रि तथा चन्द्रमा को कलहशील दम्पती के रूप में चित्रित किया है। चन्द्रमा जगत् में उज्ज्वलता का प्रसार करना चाहता है किन्तु उसकी पत्नी (रात्रि) उसे अन्धकार से पोतने को कटिबद्ध है। कलासम्पन्न पुरुष (चन्द्रमा) को भी स्वानुकूल स्त्री भाग्य से मिलती है^{१५}। चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि के अन्तर्गत समासोक्ति का उदार प्रयोग, प्रकृति के मानवीकरण के प्रति कवि के पक्षपात का प्रमाण है^{१६}।

अधिकांश कालिदासोत्तर कवियों की भांति जयशेखर ने प्रकृति के अलंकृत चित्रण को अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु जैनकुमारसम्भव के प्रकृतिचित्रण की विशेषता यह है कि वह यमक आदि की दुरुहता से आक्रान्त नहीं है और न उसमें कुचक्रिपूर्ण भृंगारिकता का समावेश है। इसलिये जयशेखर के विभिन्न प्रकृतिवर्णनों का अपना आकर्षण है। वस्तुतः जयशेखर प्रकृति के ललित कल्पनापूर्ण चित्र अंकित करने में सिद्धहस्त है।

रात्रि की कालिमा में छिटके तारे मनोरम दृश्य प्रस्तुत करते हैं। कवि का अनुमान है कि रात्रि, गजचर्मवृत तथा मुण्डमालाधारी शंकर की विभूति से सम्पन्न है। उसकी कालिमा शंकर का गजचर्म है तथा तारे असंख्य अस्थिखण्ड हैं, जो श्मशान में उनके चारों तरफ बिखरे रहते हैं।

अमुक्त भूतेशतनोर्विभूर्ति भौतो तमोभिः स्फुटतारकोष्ठा ।

विभिन्नकासच्छविदन्तिवैत्यचर्मवृतेर्भूरिनरासिम्भाजः ॥ ६.३.

रात्रि की कालिमा को लेकर कवि ने नाना कमनीय कल्पनाएँ की हैं।

३४. किं योगिनीयं धृतनीलकन्था तमस्विनी तारकशंखभूषा ।

वर्णव्यवस्थामधूय सर्वाभेदबाधं जगतस्ततान ॥ जैनकुमारसम्भव, ६.८.

३५. तितांसति श्वेत्यमिहेन्दुरस्य जाया निशा दिस्सति कालिमानम् ।

अहो कलत्रं हृदयानुयायि कलानिघोनामपि भाग्यलक्ष्यम् ॥ ६.९.

३६. जैनकुमारसम्भव, ६.१४, ६.१९, ११.१, ११.४, ११.७, ११.६२, तथा ६.६९, ७१.

उसके विचार में रात्रि वस्तुतः गौरवर्ण थी। यह अनाथ साध्वियों को सताने का फल है कि उनके शप की ज्वाला से उसकी काया काली पड़ गयी है। विकल्प रूप में, रात्रि के अन्धकार को चकवों की धुंधलाती विरहाम्नि का धुआं माना गया है। उसके स्फुलिंग, जुगनुओं के रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

हरिद्वेयं यदभिननामा बभूव गौर्यैव निशा ततः प्राक् ।

सन्तापयन्ती तु सतीरनायास्तच्छापदग्धाजनि कालकाया ॥ ६.७.

यत्कोकपुग्मस्य वियोगबल्लिर्ज्ज्वाल मिश्रेऽस्तमिते निशाद्यौ ॥

सोद्योतखद्योतकुलस्फुलिंगं तदधूमराजिः किमिवं तमिन्नम् ॥ ६.११.

प्रौढोक्ति के प्रति अधिक प्रवृत्ति होने पर भी जयशेखर प्रकृति के सहज रूप से सर्वथा पराङ्मुख नहीं है। जैन कुमारसम्भव में उसने श्लेष द्वारा प्रकृति के स्वाभाविक गुण चित्रित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह तथ्य है कि प्रकृति के आलम्बन पक्ष के प्रति उसकी रुचि सतही है। छोटे सर्ग में सुमंगला तथा षड् ऋतुओं के सरल मनोरम चित्र दृष्टिगत होते हैं (६.४०-४५), वसन्त में पुष्प विकसित हो जाते हैं। मलय बयार चलने लगती है। भौरों की गुंजन तथा कोकिल की कूक धातावरण को मदसिक्त करती हुई जनमानस को मोहित करती है। वसन्त के इन उपकरणों का रोचक वर्णन श्लेष के भीने आवरण में स्पष्ट दिखाई देता है।

उल्लासयन्ती सुमनःसमूहं तेने सदालिप्रियतामुपेता ।

वसन्तलक्ष्मीरिव दक्षिणाहिकान्ते रुचि सत्परपुष्टपोषा ॥ ६.४४

अधिकतर पूर्ववर्ती तथा समवर्ती कवियों के विपरीत जयशेखर ने प्रकृति की उद्दीपक भूमिका को महत्त्व नहीं दिया। केवल उद्यानप्रकृति के चित्रण में लता तथा भ्रमरों की परिरम्भश्रीड़ा, कामिनियों की भावनाओं को उद्बलित करती हुई तथा उनमें चंचलबुद्धि का संचार करती हुई चित्रित की गयी है। प्रकृति यहां उद्दीपन का काम करती है।

बल्ली बिलोला मधुपानुषंगं वितन्वती सत्तरुणाश्रितस्य ।

पुरा परागस्थितिः प्ररूढा पुपोष योषित्सु चलत्वबुद्धिम् ॥ ६.४४.

जैनकुमारसम्भव में पशु-पक्षियों की प्रकृति का भी स्वाभाविक चित्रण किया गया है, जो कवि की पर्यवेक्षण शक्ति का द्योतक है तथा अपनी मार्मिकता और तथ्यपूर्णता के कारण पाठक के हृदय को अनायास आकृष्ट करता है। ग्रीष्म की शोपहरी में, गर्मी से संतप्त पक्षी, बाल चेष्टाएँ छोड़ कर योगी की भाँति धने वृक्षों की छाया में चुपचाप बैठे रहते हैं। मध्याह्न-वर्णन में पक्षियों के इस स्वभाव का रम्य चित्रण हुआ है।

अमो निमीलनयना विपुक्तबाह्याभ्रमा भौनजुषः शकुन्ताः ।

अयन्ति सान्द्रद्रुमपर्णशाला अभ्यस्तयोगा इव नीरजाणि ॥ ११.६६

जयशेखर ने, इस प्रकार, प्रकृति के आलम्बन तथा उद्दीपन पक्षों का कम चित्रण किया है, किन्तु उक्तिवैचित्र्य तथा मानवीकरण में उसकी काव्यकला का उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है। जैनकुमारसम्भव में षड्ऋतुवर्णन ही एक ऐसा प्रसंग है जो साधारणता के धरातल से ऊपर नहीं उठ सका है। इस वर्णन में बहुधा ऋतुओं के सेवीरूप को रेखांकित किया गया है^{१०}।

सौन्दर्यचित्रण

जैन कुमारसम्भव के फलक पर मानवसौन्दर्य के भी अभिराम चित्र अंकित किये गये हैं। जयशेखर के सौन्दर्य चित्रण में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। एक ओर विविध अप्रस्तुतों के द्वारा, कविकल्पना के आधार पर वर्ण्य पात्र के विभिन्न अवयवों का सौन्दर्य निरूपित करने की चेष्टा है, दूसरी ओर नाना प्रसाधनों से सहज सौन्दर्य को वृद्धिगत करने का प्रयत्न है। जयशेखर के सौन्दर्य चित्रण में यद्यपि परम्परागत प्रासंगिक वर्णनों से अधिक भिन्नता नहीं है परन्तु कवि की उक्ति-वैचित्र्य की वृत्ति तथा सादृश्यविधान की कुशलता के कारण ये वर्णन सरसता से सिक्त हैं। ऋषभ के यौवनजन्य सौन्दर्य का वर्णन उपर्युक्त प्रथम कोटि का है, जिसमें यदा-कदा हेमचन्द्र के भावों की प्रतिमूर्ज सुनाई देती है^{११}।

ऋषभ का मुख चन्द्रमा था और चरण कमल थे। परन्तु प्रभु के पास आकर चन्द्रमा तथा कमल ने परम्परागत वैर छोड़ दिया था। वही शक्तिशाली शासक है, जिसके सान्निध्य में शत्रु भी शाश्वत विरोध भूल कर सौहार्दपूर्ण आचरण करें।

तस्याननेन्दावुपरि स्थितेऽपि पादाब्जयोः शीरस्रञ्जनं हीना ।

घृतां स एव प्रभुतामुदीते द्रुह्यन्ति यस्मिन्न मिथोऽरयोऽपि ॥ १.३६

उनके ऊरुओं का वर्णन रूपक द्वारा किया गया है। ऋषभ की जंघाओं पर तरकशों का आरोप करने से प्रतीत होता है कि कामिनियों के भानभञ्जन के लिये काम के पास प्रसिद्ध पाँच बाणों के अतिरिक्त अन्य तीर भी हैं।

धीरांगनाधैर्यभिदे पृषत्काः पंचेषुवीरस्य परेऽपि सन्ति ।

तद्वरूणीरयुगं विशालवृत्सं त्रिलोक्येति बुधैरतर्क ॥ १.४२

युवा ऋषभ के विशाल वक्ष तथा पुष्ट नितम्बों के बीच कृश मध्यभाग, जैन दर्शन सम्मत त्रिलोकी के आकार का प्रतिरूप है।

उपर्युरः प्रौढमघः कटी च व्यूढान्तराभूत्तलिनं विलग्नम् ।

किं चिन्मयेऽस्मिन्ननु योजकानां त्रिलोकसंस्थाननिदर्शनाय ॥ १.४५

३७. जैनकुमारसम्भव, ६.५२-७३

३८. तुलना कीजिए : जैनकुमारसम्भव, १.३६, ४६, ५५ तथा त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, १.२.७१५, ७१४, ७१६

सद्यःस्नाता सुमंगला तथा सुनन्दा की रूपराशि के निरूपण में जयशेखर ने अतीव भावपूर्ण तथा नवीन उपमानों का प्रयोग किया है। शुभ्र परिधान से भूषित उनकी कान्तिमती शरीररूपिणी की स्फटिक के म्यान में स्थित स्वर्णकटारी से तुलना करके तथा उनकी नितम्बस्थली को काम की अश्वशाला कह कर क्रमशः उनकी दीप्ति एवं बेधकता तथा स्थूलता एवं विस्तार का सहज भान करा दिया गया है।

तनूस्तवीया ददृशेऽमरीभिः संवेतशुभ्रामल्लमंजुबासा ।

परिस्फुटस्फटिककोशबासा हैमकृपाणीव मनोमयस्य ॥ ३.६८

त्रिभुवनविजिगीषोर्मारभूपस्य बाह्या-

वनिरजनि विशाला तन्निस्तम्बस्थलीयम् ।

धरचि यद्विह काचोकिकिणीभिः प्रवल्ग-

च्छतुरंगभूषाधर्घरीघोषशंका ॥ ३.७९

प्रसाधन-सामग्री के द्वारा पात्रों का सौन्दर्य उद्घाटित करने की रीति ऋषभ तथा वधुओं की विवाहपूर्व सज्जा में दृष्टिगत होती है। इस सन्दर्भ में मालिश और स्नान से लेकर विभिन्न प्रसाधनों के प्रयोग तथा अंगों पर नाना आकृतियाँ अंकित करने का विस्तृत वर्णन हुआ है। इन प्रसंगों में निस्सन्देह आभूषण आदि अलंकरण अंगविशेष के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं, किन्तु कवि की कल्पनाशीलता ने उसे दूना कर दिया है।

देवांगनाओं ने वधुओं के कपोलों पर कस्तूरी से जो मकरी अंकित की थी उसे देखकर वे स्वयं कामाकुल हो गयीं। कवि की कल्पना है कि मकर अपने स्वामी काम को स्त्रीप्रेम के कारण उनके पास ले आया है। उनके स्तनों पर पत्रावलियाँ चित्रित की गयी थीं। कवि के विचार में काम ने उनके लावण्य की नदी में, 'कुच-कुम्भ' लेकर विहार किया था जिससे उन पर पत्रावलियों के रूप में पत्ते चिपक गये हैं। वधुओं के कर्णकूपों को कवि-कल्पना में कमलरूपी कर्णाभूषणों से इसलिये जल्दी-जल्दी ढक दिया गया था कि कहीं युवकों का कामान्ध हृदय उनमें न गिर जाए^{११}।

चरित्रचित्रण

जैनकुमारसम्भव देवी तथा मानवी पात्रों का समवाय है। इसकी कथावस्तु में ऋषभदेव, सुमंगला, सुनन्दा, इन्द्र तथा शची, केवल ये पाँच पात्र हैं। इनमें से शची की भूमिका अत्यल्प है और सुनन्दा की चर्चा समूचे काव्य में एक-दो बार ही हुई है।

ऋषभदेव

जयशेखर ने, प्रकारान्तर से, काव्यनायक में जो गुण अनिवार्य माने हैं, उनके अनुसार उसका दाता, कुलीन, मधुरभाषी, सौन्दर्य सम्पन्न, वैभवशाली, तेजस्वी तथा योगी एवं मोक्षकामी होना अनिवार्य है^{४०}। काव्यनायक का यह स्वरूप काव्यशास्त्र के विधान से अधिक भिन्न नहीं है^{४१}। अन्तिम दो गुण (योगी तथा मोक्षकामी) निवृत्तिवादी विचारधारा से प्रेरित हैं।

युग्मिपति नाभि के पुत्र ऋषभदेव जैनकुमार सम्भव के धीरोदात्त नायक हैं। यद्यपि उनका चरित पौराणिक परिवेश में अंकित किया गया है, किन्तु वह जयशेखर द्वारा विहित गुणों को सर्वांश में बिम्बित करता है। पौराणिक नायक की भांति वे विभूतिमान्, पराक्रमी तथा सौन्दर्य-सम्पन्न हैं। गर्भावस्था में ही ऋषभ त्रिजान से सम्पन्न तथा कैवल्य के अभिलाषी थे। उनके जन्म से जगतीतल के क्लेश इस प्रकार विलीन हो गये जैसे सूर्योदय से चक्रवर्तों का शोक तत्काल समाप्त हो जाता है। उनकी शैशवकालीन निवृत्ति से काम को अपने अस्त्रों की अमोघता पर सन्देह हो गया (जै० कु० सम्भव, १. १८-२१, ३६)। यौवन में उनके सौन्दर्य तथा शौर्य में विलक्षण निखार आ गया किन्तु उस मादक अवस्था में भी उन्होंने मन को ऐसे वश में कर लिया जैसे कुशल अश्वारोही उच्छृंखल घोड़े को नियन्त्रित करता है। अपनी रूपराशि से काम को जीतकर वे स्वयं काम प्रतीत होते थे। उनकी रूप-सम्पदा का यथार्थ निरूपण करना बृहस्पति के लिये भी सम्भव नहीं था^{४२}।

काव्यनायक के स्वरूप के अनुसार ऋषभदेव मधुरभाषी थे। उनकी वाणी के माधुर्य के समक्ष 'का सुधा दासी', अमृत नीरस था। प्रतीत होता है, विघाता ने चन्द्रमा का समूचा सार उनकी वाणी में समाहित कर दिया था (१०. ६)। धीरोदात्त नायक होने के नाते वे प्रतिभावान् तथा दानी थे। उनके अद्विराम औदार्य के कारण कल्पवृक्ष की दानवृत्ति अर्थहीन हो गयी। ऋषभ अनुपम यशस्वी थे। उनके यश का पान करके देवगण अमृत के माधुर्य को भूल जाते थे (१. ६६-७०, २. ६)।

ऋषभदेव के चरित की मुख्य विशेषता यह है कि अनुपम वैभव, अतुल रूप तथा मादक यौवन से सम्पन्न होने पर भी वे विषयों से विमुक्त थे। लोकस्थिति के

४०. दाता कुलीनः सुवचा रुचाद्यः रत्नं पुमानेव न चास्मभेदः। वही, ११. ३४

तथैव योगानुषवेन पूर्वसवे स्वहस्तेऽकृतमोक्षतत्त्वम्। वही, ११. ४८

४१. स्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।

वसोऽनुरक्तलोकास्तेजोवैषम्यशीलवान् नेता॥ साहित्यदर्पण, ३. ३०

४२. रूपसिद्धिमपि वर्णयितुं ते लक्षणाकर न वाक्यतिरोशः—जै० कु० सम्भव, ५. ५६

पालन के लिये उन्होंने विवाह अवश्य किया पर काम उन्हें अभिभूत नहीं कर सका । वे विषयों को पूर्व जन्म का भोक्तव्य मान कर उन्हें अनासक्ति तथा उचित उपचारों से भोगते हैं । काम के अमोघ बाण यदि कहीं विफल हुए हैं तो ऋषभदेव पर (३.११) । कवि ने उनके चारित्रिक गुणों का समाहार प्रस्तुत पद्य में इस प्रकार किया है ।)

वयस्यनंगस्य वयस्यभूते भूतेश रूपेऽनुपमस्वरूपे ।

यद्वीरिरायां कृतमन्विरायां को नाम कामे विमनास्त्वदन्यः ॥ ३.२४

ऋषभदेव लोकोत्तर ज्ञानवान् नायक हैं । वे त्रिलोकी के रक्षक, त्रिकाल के ज्ञाता तथा त्रिज्ञान के धारक हैं (८.१६) । उन्होंने ज्ञानबल से मोहराज को धरा-शायी कर दिया । दम्भ, लोभ आदि उसके सैनिक तो कैसे टिक सकते थे (२.६६) । जैन परम्परा में ऋषभदेव को प्रथम राजा—पटमरायो—माना गया है । उनके अप्रतिहत शासन तथा प्रजा को आचार-मार्ग पर प्रवृत्त करने का काव्य में सूक्ष्म संकेत है (३.५) । वे समस्त कलाओं तथा शिल्पों के स्रोत तथा प्रथम तीर्थंकर हैं । उन्होंने के द्वारा आगम का प्रवर्तन किया गया । वे गार्हस्थ्य धर्म के भी आदि प्रवर्तक हैं (३.६) ।

ऋषभदेव के चरित के बहुमुखी पक्ष हैं । उनमें देव, गुरु, तीर्थ, मंगल, सखा, तात का अद्भुत समन्वय है । उनसे श्रेष्ठ कोई देवता नहीं, उनके नाम से सशक्त कोई जपाक्षर नहीं, उनकी उपासना से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं और उनकी प्राप्ति से बड़ा कोई आनन्द नहीं^{१४} । वस्तुतः कवि के लिये वे मात्र काव्यनायक नहीं, प्रभु हैं (१.४०) ।

सुमंगला

काव्य की नायिका सुमंगला ऋषभदेव की सगी बहिन तथा पत्नी है । उसका चरित्र ऋषभ के गरिमामय व्यक्तित्व से इस प्रकार आक्रान्त है कि वह अधिक विकसित नहीं हो सका है । वह कुलीन, बुद्धिमती तथा रूपवती युवती है । उसके सौन्दर्य के सम्मुख रम्भा निष्प्रभ है और रति म्लान है । उसके मुखमण्डल में चन्द्रमा तथा कमल की समन्वित रमणीयता निहित है । वह प्रियभाषिणी, पाप से अस्पृष्ट, सदैवृत्त से शोभित तथा मलिनता से मुक्त है । शिव का कण्ठ विष से, चन्द्रमा कलंक से तथा गंगा सेवाल से कलुषित है परन्तु सुमंगला का शील निर्मल तथा शुभ्र है (६.३८) । उसे असीम वैभव प्राप्त है । ऋषभदेव के साथ विवाह होने से वह और भी गौरवान्वित हो जाती है । जिन सुरांगनाओं का दर्शन मन्त्र-जाप से भी दुर्लभ है,

४३. स एव देवः स गुरुः स तीर्थं स मंगलं सखं सखा स तातः । बही, १.७३
तथा २.७१.

वे उसके चरणों की दासता के लिये लासयित रहती हैं (६-११)। कवि के शब्दों में वायु उसका आंगन बहारती है, गंगा पानी भरती है और स्वयं सूर्य उसका भोजन पकाता है (८-३०)। वह भाग्यशाली नारियों में अग्रगण्य है (११-२८)। अपने विविध गुणों के कारण वह पति के हृदयपर्जन्य की सारिका बन गयी है (११-२३)।

सुमंगला हीन भावना से ग्रस्त है। स्वप्नफल की अनभिज्ञता उसकी आत्म-हीनता को रेखांकित करती है। काव्य में उसके द्वारा की गयी नारी-निन्दा उसके अवचेतना में छिपी हीनता को व्यक्त करती है। उसी के शब्दों में नारी और चिन्तन दो विरोधी ध्रुव हैं (७-६२)।

सुनन्दा

सुनन्दा काव्य की उपेक्षित सहनायिका है। वह यद्यपि काव्य की सहनायिका हैं किन्तु सुमंगला के प्रति पक्षपात के कारण कवि ने उसके महत्त्व को समाप्त कर दिया है। एक-दो प्रसंगों के अतिरिक्त काव्य में उसकी चर्चा भी नहीं हुई है। वह अन्तरिक्ष के जल के समान निर्मल, नीतिनिपुण तथा गुणवती है।

इन्द्र

इन्द्र यद्यपि काव्यकथा का सूत्रधार है परन्तु उसका चरित्र अधिक पल्लवित नहीं हुआ है। वह व्यवहार-कुशल, दृढनिश्चयी तथा लोकविद् व्यक्ति है। यह उसकी व्यवहार-कुशलता का ज्वलन्त प्रमाण है कि बीतराग ऋषभ, उसकी नीति-मुष्ट युक्तियों से वैवाहिक जीवन में प्रवेश कर गृहस्थ धर्म का प्रवर्तन करते हैं। विवाह के समय जिस सुक्षमता तथा तत्परता से वह समस्त लोकचारों का पालन करता है, वह उसके व्यावहारिक ज्ञान तथा लोकनीति का परिचायक है।

इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है। देवों के साम्राज्य में उसका अप्रतिहत शासन है। उसके संकेत मात्र से समूचा देववृन्द, ऋषभ के विवाह में घरा पर उतर आता है और उसके आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करता है। पूज्य जनों के प्रति उसके हृदय में असीम श्रद्धा है। ऋषभदेव के चरणों में नत होकर तथा उनके पूर्व भवों एवं परोपकारी कार्यों का गौरवगान कर वह गद्गद हो जाता है। वह अपना समस्त वैभव उनके चरणों में न्योछावर करने को उद्यत है।

उसकी पत्नी शची उसकी छाया है। वह सुनन्दा से भी अधिक उपेक्षित है।

भाषा

जैन कुमारसम्भव की प्रमुख विशेषता इसकी उदात्त एवं प्रौढ़ भाषा है। महाकाव्य की क्लासिकालीन रचना होने पर भी इसकी भाषा, माघ अथवा श्रीहर्ष की भाषा की भाँति, विकट समासान्त तथा परवर्ती मेघविजयगणि की तरह कष्टसाध्य

अथवा दुरूह नहीं है। हेमचन्द्र, बाणभट्ट आदि जैनाचार्यों के विधान का उत्त्वंन करके काव्य में चित्रबन्ध की योजना न करना कवि की भाषात्मक सुरक्षि का परिचायक है। काव्य में बहुधा प्रसादपूर्ण तथा भावानुकूल पदावली प्रयुक्त हुई है। जैनकुमारसम्भव की भाषा के परिष्कार तथा सौन्दर्य का श्रेय मुख्यतः अनुप्रास तथा गौणतः यमक की विवेक पूर्ण संयत योजना को है। काव्य में जिस कोटि का अनुप्रास तथा यमक प्रयुक्त हुआ है उसने भाषा में माधुर्य तथा मनोरम ऋकृति को जन्म दिया है। भाषा की प्रसंगानुकूलता जयशेखर के भाषाधिकार की द्योतक है।

ऋषभदेव के वाक्कौमल की प्रशंसा में जयशेखर ने काव्य की भाषा के गुणों का अवगुण्ठित संकेत किया है। उसके अनुसार भाषा की सफलता उसकी स्वादुता, मृदुलता, उदारता, सर्वभावपटुता (अर्थात् समर्थता) तथा अकूटता (स्पष्टता) पर आधारित है^{११}। जयशेखर ने इन भाषायी विशेषताओं के द्वारा कदाचित् काव्यशास्त्र में मान्य प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों का विवरणात्मक पुनराख्यान किया है। और इसमें सन्देह नहीं कि जैनकुमारसम्भव की भाषा में ये तीनों गुण यथोचित विद्यमान हैं।

भाषा-सौष्ठव तथा मनोरम पदशय्या काव्य में प्रसादगुण का संचार करते हैं। जैनकुमारसम्भव की भाषा अधिकतर प्रांजलता से परिपूर्ण है। अतः इसके अनेक प्रसंगों में प्रसाद गुणसम्पन्न वैदर्भी रीति का प्रयोग दृष्टिगत होता है, जिसका मूलाधार 'अवृत्ति' अथवा 'अल्पवृत्ति' है। विशेषकर सुमंगला के वासगृह का वर्णन तथा पंचम सर्ग में वर-वधू को दिया गया उपदेश प्रसादगुणजन्य सरलता तथा स्वाभाविकता से ओत-प्रोत है। इन दोनों प्रकरणों की भाषा यथार्थतः सहज है। अतः वह तत्काल हृदयंगम हो जाती है। विवाहोत्तर 'शिक्षा' का यह अंश इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—

अन्तरेण पुच्छं नाहि नारी, तां विना न पुच्छोऽपि विभाति ।

पावयेन रुचिमंचति शास्त्रा शास्त्रयैव सकलः किल सोऽपि ॥ ५.६१

या प्रभूष्णुरपि भर्तरि दासोभावनमावहति सा क्षु कान्ता ।

कोपपंककुला नृषु शेवा योषितः क्षतजसोषजलूकाः ॥ ५.८१

मृदुलता तथा सहजता भाषा के माधुर्य गुण की सृष्टि करती हैं। शृंगार के अन्तर्गत भाषा-माधुर्य का संकेत शृंगारचित्रण के प्रसंग में किया जा चुका है। तृतीय सर्ग में इन्द्र-ऋषभ-संवाद में भी माधुर्य की छटा है। वीतराग ऋषभदेव को विवाहार्थ प्रेरित करने वाली इन्द्र की युक्तियों का माधुर्य, विषय तथा उद्देश्य के

सर्वथा अनुकूल है तथा ऋषभ की स्वीकृति-प्राप्ति के लिये उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है ।

शठौ समेतौ दृढसंस्थमेतौ तारुण्यमारौ कृतलोकमारौ ।

भेत्तुं धतेतां मम आतु चित्तबुद्धं महात्मन्निति मा स्म संस्थाः ॥ ३.१६

यया वृक्षा पश्यसि देव रामा इमा मनोभूतरवारिधाराः ।

तां पृच्छ पृथ्वीधरवंशवृद्धौ नन्ताः किमभ्योधरवारिधाराः ॥ ३.१६

कहने की आवश्यकता नहीं, इन पद्यों का माधुर्य अनुप्रास तथा यमक की भङ्कृति पर आधारित है ।

जैन कुमारसम्भव की भाषा की इस उदाहृत गुणात्मकता से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि वह सर्वत्र अथवा सरलता से ओतप्रोत है । उसमें एक निश्चित सप्रयत्नता दिखाई देती है । जयशेखर की भाषा उसकी बहुश्रुतता को व्यक्त करती है । व्याकरणसम्मत विद्वत्तापूर्ण प्रयोगों से जयशेखर ने अपने शब्दशास्त्र के पाण्डित्य को बिम्बित करने का नियोजित प्रयत्न किया है । काव्य में प्रयुक्त दुर्लभ शब्द, लुङ्, कर्मणि लिट्, क्वसु, कानच्, सन्, णमुल प्रत्ययों का प्रचुर साग्रह प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से प्रेरित है^{१५} । कर्मणि लुङ् के प्रति तो कवि का कुछ ऐसा पक्षपात है कि उसने काव्य में आद्यन्त उसका व्यापक प्रयोग किया है जिससे कहीं-कहीं भाषा बोझिल हो गयी है । अप्रचलित धातुओं तथा अन्य रूपों की भी काव्य में कमी नहीं है । यह अवश्य है कि विद्वत्ता-प्रदर्शन की यह प्रवृत्ति मर्यादित है । इस संयम के कारण ही जैनकुमारसम्भव की भाषा में सहजता तथा प्रौढता का मनोरम मिश्रण है ।

जयशेखर का शब्दचयन तथा गुम्फन, पर्यवेक्षणशक्ति तथा वर्णन कौशल प्रशंसनीय है । वह प्रत्येक प्रसंग को, यथोचित वातावरण में, उसकी सम्पूर्ण

४५. लुङ्.—उपासिण्टीष्टताम् (२.६७), संगसीष्ट (३.६३), अजोषिष्ट (३.३५), न्यविशत (३.४०), आयासिषम् (८.३१), मा सदत्पबम् (१०.५६) कर्मणि लुङ्.—दग्धवनावामि (२.६), आविरमावि शक्या (३.३६), प्रसन्नत्वमभाजि (४.५५), वस्त्रिणा द्रुतमयोजि (५.१), युवाक्षिर्गुणैस्तवरामि (६.२१), हारि मा तविदमद्य निद्रया (१०.५२), अवेवि नेदीयसि देवराजे (११.५६)
कर्मणिलिट्—वैदघिकीबभूवे (३.५२), फलं जगे (४.२५), शरदोपतत्ये (६.६३), स्वप्नैर्बभूवे (८.४०) आवि
प्रत्यय—सितत्यापयिषुः (६.२२), जगन्वान् (८.४७), भवः पत्वत्प्रभ (१०.१४) आवि

विशेषताओं के साथ वर्णित करने में समर्थ है। उसके कुछ वर्णनों में भले ही यथार्थता का अभाव हो, वे प्रायः सर्वत्र कवित्व से तरलित हैं। सुमंगला के वासगृह तथा अष्टापद पर्वत के वर्णन जयशेखर की दो शैलियों के प्रतीक हैं। पहले में सहजता का लालित्य है, दूसरे में प्रौढता की गरिमा। सुमंगला के आवास के इस काल्पनिक वर्णन में कवित्व की कमनीयता तथा भाषा की मधुरता दर्शनीय है।

यच्च नीलामलोत्सोचामुक्ता मुक्ताफलव्रजः ।

बभ्रुर्नमस्तलाधारतारकालक्षकक्षया ॥ ७.३

सौवर्ण्यपुष्पिका यत्र रत्नस्तम्भेषु रेजिरे ।

अध्येतुमागता लीलां देव्या देवांगना इव ॥ ७.४

यन्मणिक्षोणिसंक्रान्तमिन्दुं कन्दुकशंकया ।

आदिस्सवो भग्ननखा न बालाः कमजीहसन् ॥ ७.७

व्यालम्बिमालमास्तीर्णकुसुमालि समन्ततः ।

यददृश्यत पुष्पास्त्रशास्त्रागारधिया जनैः ॥ ७.८

द्वितीय सर्ग में अष्टापद के वर्णन में भाषा की प्रौढता तथा शैली की गम्भीरता उसके स्वरूप को व्यक्त करने में सहायक है। कवि की प्रौढोक्ति ने उसे सशक्तता प्रदान की है। प्रस्तुत श्लेष में अष्टापद को गजराज का रूप दिया गया है।

ववर्श दूरादथ बोधवन्तं घनालिमाद्यत्कटकान्तमुन्नतम् ।

प्रलम्बकक्षायितनीरनिर्भरं सुरेश्वरोऽष्टापदमद्रिकुञ्जरम् ॥ २.३०

योगीजन जब शरत् की रातों में अष्टापद की स्फटिक-शिलाओं पर बैठ कर साधना करते हैं तो उन्हें भीतर और बाहर दोनों स्थानों पर 'परमतेज' के दर्शन होते हैं।

शरन्निशोन्मुद्रितसान्द्रकौमुदीसमुन्मदिष्णुस्फटिकांशुहम्बरे ।

निविश्य यन्मूर्द्धि साधकं रसाधिकंमंहोऽन्तर्बहिरप्यदृश्यत ॥ २.३८

जैनकुमारसम्भव 'सूक्तिमुद्रा का सरोवर' है। उसमें विभिन्न प्रसंगों में लगभग सौ भावपूर्ण लोकोक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। वे बहुधा अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त के अवयव हैं। जयशेखर की सूक्तियाँ उसकी संवेदनशीलता, निरीक्षणशक्ति तथा लोकबोध को द्योतित करती हैं। कतिपय भावपूर्ण सूक्तियाँ यहां उद्धृत की जाती हैं।

१. यदुद्भवो यः स तदाभ्येष्टितः । २.६

२. स्याद् यत्र शक्तेरवकाशनाशः श्रियेत सूररपि तत्र साम । ३.१५

३. न कोऽथवा स्वेऽवसरे प्रभूयते । ४.६६

४. आत्यरत्नपरीक्षयां बालाः किमधिकारिणः । ७.६८

५. अतिश्वरा विघ्नकरीष्टसिद्धेः । ८.६२

अलंकारविधान

अलंकार भावाभिव्यक्ति के सशक्त साधन हैं। अलंकारों के परिधान में सामान्य भाव भी विलक्षण सौन्दर्य से दीप्त हो जाते हैं। जयशेखर के अलंकार चमत्कृति के साधन नहीं हैं। वे काव्यसौन्दर्य को प्रस्फुटित करते हैं तथा भाव प्रकाशन को समृद्ध बनाते हैं। जैनकुमारसम्भव के अलंकार-प्रयोग की सहजता का यह प्रबल प्रमाण है कि उसके यमक और श्लेष भी दुरुह नहीं हैं। दसवें सर्ग में सुमंगला की सखियों के नृत्य की मुद्राओं तथा विभिन्न दार्शनिक मतों के श्लिष्ट वर्णन में श्लेष तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की नीरसता ने कवित्व को अवश्य दबोच लिया है। जयशेखर की अलंकारयोजना के दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक हैं।

शब्दालंकारों में कवि ने अनुप्रास तथा यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अनुप्रास तथा यमक काव्य में किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र व्याप्त है। अनुप्रास तो प्रायः सभी अलंकारों में अनुत्पूत है। अन्त्यानु-प्रास का एक भव्य उदाहरण देखिए—

सम्पन्नकामा नयनाभिरामाः सदैव जीवत्प्रसवा अबामाः ।

यत्रोज्ज्वलान्यप्रसवावलोका अबृष्टशोकाः । न्यविह्वलन्त लोकाः ॥ १.२

जैनकुमारसम्भव का यमक भी कवि की सुरुचि का परिचायक है। अन्य कवि जहाँ यमक को अपनी विद्वत्ता का वाहक बनाकर उससे कविता को अभिभूत कर देते हैं, वहाँ जयशेखर का यमक श्लिष्टता से मुक्त है। सुनन्दा के गुणों के प्रति-पादक इस पद्य में यमक की सरलता उल्लेखनीय है।

परान्तरिक्षोदकनिष्कलंका नाम्ना सुमन्दा नयनिष्कलंका ।

लक्ष्मं गुणधेनिभिरद्वितीया प्रभोवपूरं व्यतरद् द्वितीया ॥ ६.४६

जयशेखर ने अपने भाषाधिकार के प्रदर्शन केलिये, यमक की भांति श्लेष का भी प्रचुर प्रयोग किया है। परन्तु उसके श्लेष की विशेषता यह है कि दसवें सर्ग के पूर्वोक्त प्रसंग को छोड़ कर वह भी यमक के समान दुरुहता से अस्पृष्ट है। कम से कम वह अधिक कष्टसाध्य नहीं है। प्रस्तुत पद्य में पावस तथा सुमंगला का श्लिष्ट विधि से एक साथ चित्रण किया गया है।

धनागमप्रीणितसत्कवम्बा सारस्वतं सा रसमुद्गिरन्ती ।

रञ्जोन्नमं संसृतोपनीतछाया धनती प्राबृषमन्वकार्वात् ॥ ६.४०

जै. कु. सम्भव में अर्थालंकार भावोद्बोध के साधन हैं। उपमा कवि का प्रिय

अलंकार है। उपमा वर्ण्य भाव को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर देती है। जयशेखर ने भावपूर्ण तथा अनुभूत उपमानों के द्वारा भावों की समर्थ अभिव्यक्ति की है। सुमंगला तथा सुनन्दा की दृष्टि की चंचलता पति के सामने इस प्रकार विलीन हो गयी जैसे अध्यापक के समक्ष छात्र की चपलता (४.७८)। सखियों ने सहसा उठकर सुमंगला को ऐसे घेर लिया जैसे भ्रमरों की पंक्ति कमलिनी को घेर लेती है (१०.३१)। जयशेखर के दार्शनिक तथा अमूर्त उपमान भी उपमित भाव को सहजता से प्रस्फुटित करते हैं। ऋषभ के विवाह-प्रसंग की एक उपमा उद्धृत की जाती है जिससे कवि के उपमा-कौशल का सम्यक् परिचय मिलता है। एक स्त्री, ऋषभ के गले में बस्त्र डालकर उन्हे विवाहमण्डप में ऐसे ले गयी जैसे कर्मरूप पाप-प्रकृति आत्मा को भवसागर में खींच ले जाती है।

प्रगृह्य कौसुम्भसिन्धु गलेऽबला बलात्कृषन्त्येनमनेष्ट मंडपम् ।

अथाप्तभारा प्रकृतिर्वेच्छेच्छया भवार्णवं चेतनमप्यस्त्रीश्वरम् ॥ ४.७४

उपमा के अतिरिक्त काव्य में दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास की भरमार है। इन दोनों अलंकारों का आधार कवि का व्यावहारिक ज्ञान, लोकोन्मुखता तथा तीव्र निरीक्षण शक्ति है। जैनकुमारसम्भव को 'सूक्तिसागर' बनाने का श्रेय दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास को ही है। निद्रा-प्रशांसा में दृष्टान्त की मार्मिकता उल्लेखनीय है।

दृष्टनष्टविभवेन घण्यन्ते भाग्यवानिति सबंध बुद्धिघ्नः ।

जन्मतो विगतलोचनं जनं प्राप्तलुप्तनयनः पनायति ॥ १०.५१

जैनकुमारसम्भव में अर्थान्तरन्यास का कदाचित् सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। काव्य में अनेक रोचक तथा भावपूर्ण अर्थान्तरन्यास मिलते हैं। रात्रि के प्रस्तुत वर्णन में कवि की कल्पना ने अर्थान्तरन्यास का बाना धारण किया है। यहाँ पूर्वार्द्ध के विशेष कथन की पुष्टि उत्तरार्द्ध की सामान्य उक्ति से की गयी है।

तितांसति श्वेत्यमिहेन्दुरस्य जाया निशा विस्रसति कालिमानम् ।

अहो कलत्रं हृदयानुमायि कलानिघीनामपि भाग्यलभ्यम् ॥ ६.६

ऋषभ के सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत इस पद्य में स्त्रियों की दृष्टि का उनके (ऋषभ के) विविध अंगों में क्रम से विहार करने का वर्णन होने के कारण 'पर्याय' अलंकार है।

स्नान्धास्त्रिलोकेऽस्य दृशो वसानां प्रभापयोऽक्षिप्रपयोनिपीड ।

छायां चिरं झूलतयोरुवाक्य भासस्थले संबधुरध्वगत्वम् ॥ १.५६

रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, विरोध, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, असंगति, विभावना, अनुमान, तद्गुण, उदात्त, उल्लेख, संदेह, प्रहेलिका, समासोक्ति, स्वभावोक्ति कवि के अन्य प्रिय अलंकार हैं। इनमें कुछ पूर्ववर्ती प्रसंगों में उदाहृत

किये जा चुके हैं।

छन्दयोजना

जैनकुमारसम्भव का छन्द-विधान शास्त्र के अनुकूल है। इसके प्रत्येक सर्ग में एक छन्द की प्रधानता है। उपजाति कवि का प्रिय छन्द है। काव्य में इसीकी प्रधानता है। जैनकुमारसम्भव में उपजाति, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, वंशस्थ, शालिनी, वैश्वदेवी, स्वागता, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, मृध्वी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, प्रह्विणी, हरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित ये अठारह छन्द प्रयुक्त हैं।

समाजचित्रण

जैनकुमारसम्भव का वास्तविक सौन्दर्य इसके वर्णनों में निहित है। इनमें एक ओर कवि का सच्चा कवित्व मुखरित है और दूसरी ओर जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित होने के कारण इनमें समसामयिक समाज की चेतना का स्पन्दन है। इन वर्णनों में तत्कालीन समाज की व्यवस्था, खान-पान, आभूषण-प्रसाधन आदि से सम्बन्धित उपयोगी सामग्री निहित है। विवाह के मुख्य प्रतिपाद्य होने के नाते जैनकुमारसम्भव में तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओं का विस्तृत निरूपण हुआ है। यद्यपि काव्य में वर्णित ये लोकाचार हेमचन्द्र के प्रासंगिक विवरण^{४६} पर आधारित हैं, इन्हें समाज में प्रचलित विवाह-परम्पराओं का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

वर-वधू के सौन्दर्य को परिष्कृत करने के लिए विवाह से पूर्व उनका प्रसाधन किया जाता था। वरयात्रा के प्रस्थान के समय नारियाँ मंगलगान करती थीं। वरपक्ष के कुछ लोग, हाथ में खुले शस्त्र लेकर, वर की अगवानी करते थे। वर के मण्डपद्वार पर पहुंचने पर एक व्यवहार-कुशल स्त्री, चन्दन, धूप, दही आदि के अर्घ्य से उसका स्वागत करती थी। अबसर-सुलभ हास-परिहास स्वभाविक था। वहीं दो स्त्रियाँ मथानी तथा मूसल से उसके भाल का तीन बार स्पर्श करती थीं^{४७}। तब वर के सामने नमक तथा आय से भरे दो सिकोरे रखे जाते थे, जिन्हें वह पांवों से कुचल देता था^{४८}। तत्पश्चात् उसे गले में वस्त्र डाल कर मण्डप में ले जाते थे, जहाँ उसे वधू के सम्मुख बैठाया जाता था। वधू धूपट करती थी। वहीं पाणिपीठन होता था। तदनन्तर तारामेलपर्व विधि सम्पन्न होती थी, जिसमें वर-वधू एक-दूसरे

४६. त्रिषष्टिशलाकापुद्गवचरित, १. २. ८२७-८७६

४७. तुलना कीजिए—मथा वृचुम्ब बिम्बीठी त्रिमालं जगत्पतेः। वही, १.२.८४१

४८. तटत्प्रतिदि कुर्वाणं लवणानलग्नमितम्। सरावसम्पुटं द्वारि मुमुक्षुर्मण्डपस्त्रियः॥

वही, १.२.८३२

को निनिमेष दृष्टि से देखते थे । हेमचन्द्र की कवित्वपूर्ण भाषा में वे नेत्रों के रास्ते एक-दूसरे हृदय में उतर जाते थे^{४९} । वर-वधू के वस्त्रांचलों की गांठ बांध कर उनके अविचल प्रेम की कामना की जाती थी । इसके बाद उन्हें स्वर्णकलशों से सज्जित बेदी पर ले जाया जाता था, जहां वे मन्त्रपूत अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे । विवाह-विधि सम्पन्न होने पर वर हाथ से वधू के मुख का स्पर्श करता था तथा उसे भोजन कराता था, जो इस तथ्य का प्रतीक था कि नारी का निर्वाह पुरुष के अधीन है । वधू वर को भोजन भेंट करती थी, जो इस बात का द्योतक था कि प्रतिभासम्पन्न पुरुष भी भोजन के विषय में नारी पर आश्रित है । भोजन के बाद वस्त्रबन्धन खोल दिया जाता था । समूची विधियां सम्पन्न होने पर बारात को बिदा किया जाता था । आजकल की तरह पुरनारियां समस्त गृहकार्य छोड़ कर बारात को देखने के लिए उमड़ पड़ती थीं^{५०} ।

दाम्पत्य जीवन के सुखमय यापन के लिए वर पक्ष के वृद्धजन वर तथा वधू को पृथक्-पृथक् उपदेश देते थे । इन्द्र ने ऋषभ को तथा शची ने वधूओं को जो उपदेश दिया था, उसमें पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों एवं कर्त्तव्यों का मार्मिक प्रतिपादन है, जो शाश्वत सत्य की भांति, आज भी नवविवाहित प्रेमी युगलों के लिये उपयोगी तथा ग्राह्य है । दाम्पत्य का आनन्द समन्वय तथा समर्पण में निहित है । पति-पत्नी वृक्ष तथा शाखा के समान अन्योन्याश्रित हैं । वृक्ष के बिना शाखा निराधार है और शाखा के बिना वृक्ष निरा ठूठ है^{५१} ।

४९. कनीनिकासु तेऽन्योन्यं रेजिरे प्रतिबिम्बिताः ।

प्रविशन्त इवान्योन्यं हृवयेष्वनुरागतः ॥ वही, १.२.८५२

५०. जैनकुमारसम्भव, ४.४५-७६; ५.७-४७

५१. वही, ५.६१

२. काव्यमण्डन : मण्डन

काव्यमण्डन^१ आलोच्य युग का कदाचित् एक मात्र ऐसा शास्त्रीय महाकाव्य है, जिसका रचयिता कोई दीक्षित साधु नहीं अपितु मण्डपदुर्ग का एक श्रावक, मन्त्री मण्डन है। इसीलिये यह साम्प्रदायिक आग्रह अथवा धर्मोत्साह के संकीर्ण उद्देश्य से प्रेरित नहीं है। तेरह सगों के इस काव्य में महाभारत का एक लघु प्रसंग, महाकाव्योन्मिक्त विस्तार के साथ, काव्यशैली में वर्णित है। काव्यमण्डन की विशेषता यह है कि इसमें जैनतर कथानक को उसके मूल परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। अन्य जैन काव्यकारों की भाँति मण्डन ने उसे जैन धर्म के रंग में रंगने का प्रयत्न नहीं किया। काव्य का समूचा वातावरण तथा प्रकृति उसके उपजीव्य ग्रन्थ के अनुकूल है।

काव्यमण्डन का महाकाव्यत्व

काव्यमण्डन की रचना में परम्परागत शास्त्रीय मानदण्डों का पालन किया गया है, यह कथन तथ्य का मात्र पुनराख्यान है। किन्तु काव्यमण्डन की कुछ तात्त्विक विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं क्योंकि वे सर्वसुलभ नहीं हैं। यह बहुनायक काव्य है। धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न पांच पाण्डवकुमार इसके महान् तथा तेजस्वी नायक हैं। इस दृष्टि से काव्यमण्डन की तुलना रघुवंश से की जा सकती है, जिसमें इक्ष्वाकु-वंश के अनेक शासक नायक के पद पर आसीन हैं। काव्यमण्डन उन अल्पसंख्यक जैन काव्यों में है, जो अपने कथानक के लिये पंचम वेद (महाभारत) के ऋणी हैं। परम्परागत चतुर्वर्ग में से मण्डन की रचना का उद्देश्य 'अर्थ' है। प्रस्तुत काव्य के परिवेश में 'अर्थ' का तात्पर्य लौकिक अभ्युदय है। द्रौपदी को प्राप्त करने के पश्चात् पाण्डव धूमन्तू जीवन छोड़कर पुनः अपनी राजधानी हस्तिनापुर लौट जाते हैं। वस्तुव्यापार के विविध विस्तृत वर्णन वर्ण्यविषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार को अधिक महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति के द्योतक हैं। छन्दों के विधान में मण्डन को शास्त्रीय लक्षणों की परिधि मान्य नहीं है। इसके अधिकांश सगों में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। इससे महाकाव्य के तात्त्विक स्वरूप में तो कोई अन्तर नहीं आता किन्तु छन्दबाहुल्य कथा-प्रवाह में अवांछनीय अवरोध उत्पन्न करता है।

काव्यमण्डन के सीमित इतिवृत्त में भी नाट्यसन्धियों की सफल योजना हुई है, जिनका लक्षणकारों ने कथानक को सुगठित बनाने के लिये निश्चित विधान किया

१. श्रीहेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली, नं. १७, सम्बत् १९७६.

है। प्रथम सर्ग में अन्य बीरों के साथ पाण्डवकुमारों के विलक्षण शौर्य के वर्णन में मुख सन्धि मानी जा सकती है, क्योंकि यहाँ बीजरूप अर्थ प्रकृति वर्तमान है। द्वितीय से चतुर्थ सर्ग तक परिवर्तनशील ऋतुओं से पाण्डवों के प्रमुदित होने तथा दुर्योधन की ईर्ष्या एवं कपटनीति से उनके लाक्षागृह में अग्निज्वाला में फंसने किन्तु भूमिविदर से बच निकलने के वर्णन में बीज का कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है। अतः यहाँ प्रतिमुख सन्धि है। पाँचवें से नवें सर्ग तक गर्भ सन्धि है। क्योंकि यहाँ तीर्यटितन के द्वारा समय-यापन करने से पाण्डवों को फल प्राप्ति की आशा होती है परन्तु दनुज किर्म्मौर द्वारा उन्हें बन्दी बना कर कुलदेवी को उनकी बलि देने के लिये तैयार होने तथा किर्म्मौर एवं बकासुर के साथ भीम के युद्ध की घटनाओं से उन्हें चिन्ता होती है। आशा-निराशा का यह द्वन्द्व गर्भसन्धि की सृष्टि करता है। दसवें से बारहवें सर्ग तक ब्राह्मणवेश में अर्जुन के द्वारा राघायन्त्र को बीध कर द्रौपदी को प्राप्त करने से फलप्राप्ति की सम्भावना का गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक विकास होता है, किन्तु हताश कौरवों से युद्ध करना अभी शेष है जिससे कुछ सन्देह बना रहता है। अतः यहाँ विमर्श सन्धि है। तेरहवें सर्ग में निर्बहण सन्धि विद्यमान है। यहाँ कृष्णमिलन के पश्चात् पाण्डव द्रौपदी के साथ सहर्ष हस्तिनापुर लौट जाते हैं, जो इस काव्य का फलागम है। भाषागत प्रौढता, शैली की गम्भीरता, विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, युगजीवन का चित्रण आदि तत्त्व काव्यमण्डन के महाकाव्यत्व को पुष्ट करते हैं।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

मण्डन ने काव्यमण्डन तथा अपनी अन्य कृतियों में अपनी वंशपरम्परा, धार्मिक वृत्ति आदि की पर्याप्त जानकारी दी है तथा स्थितिकाल का भी एक महत्त्वपूर्ण संकेत किया है। उसके जीवनवृत्तपर आधारित महेश्वर के काव्यमनोहर में भी मण्डन तथा उसके पूर्वजों का विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास निबद्ध है। उक्त स्रोतों के अनुसार काव्यमण्डन का कर्त्ता श्रीमाल वंश का भूषण था। उसका गोत्र सोनगिर था तथा वह खरतरगच्छ का अनुयायी था। उसके पितामह भंभण के छह पुत्र थे—चाहड़, बाहड़, देहड़, पद्म, पाहुराज तथा कोल। काव्यकार मण्डन बाहड़ का द्वितीय तथा कनिष्ठ पुत्र था। मण्डन को नयकौशल तथा मन्त्रित्व उत्तराधिकार में

२. काव्यमण्डन, १३-५४ तथा

श्रीमद्बाहड़नन्दनः समधरोऽभूद्भाग्यवान्सद्गुणोऽ

हस्येतस्याखरजो रजोविरहितो भूमण्डनः मण्डनः।

श्रीमान्सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीमालवंशोद्भवः

सोऽकार्षीत्किल काव्यमण्डनमिदं विद्वत्कवीन्द्रप्रियः ॥ १३-५४

चम्पूमण्डन, ७-६, काव्यमनोहरमण्डन, १.४-८, काव्यमनोहर, ६.२४.,

भुगारमण्डन, १०५-१०७.

मिले थे। आभू से लेकर भ्रंशण संघवी तक उसके समस्त पूर्वज देश के विभिन्न शासकों के मन्त्री रह चुके थे।

काव्य के वातावरण को देखते हुए मण्डन की धार्मिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्ति हो सकती है तथा पाठक उसे भागवत अथवा शैव धर्म का अनुयायी मान सकता है। काव्य में जिस तन्मयता से पुराणप्रसिद्ध तीर्थों, नदियों तथा शंकर के विभिन्न रूपों का स्तुतिपरक वर्णन किया गया है, उससे इस धारणा को बल मिलता है। परन्तु मण्डन ने जिनमत में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में तथा अन्यत्र भी उसने निम्नलिखित शब्दों में जिनेश्वर की वन्दना की है तथा अलंकार मण्डन में स्वयं को 'जिनभक्त' कह कर भ्रम का निवारण किया है^३। अतः मण्डन के जैन होने में सन्देह नहीं रह जाता। उसके सभी पूर्वज निष्ठावान् जैन श्रावक थे जिन्होंने तीर्थयात्रा आदि सुकृत्यों से प्रभूत ख्याति अर्जित की थी^४। काव्यमण्डन के मंगलाचरण में जिस 'धाम' तथा 'परेश' की स्तुति की गयी है, उससे नयचन्द्र की भांति मण्डन को भी 'परम जिन' अभिप्रेत है। काव्य में अन्यत्र भी प्राणिहिंसा तथा परपीड़न का विरोध करके उसने अपनी अहिंसावादी जैन वृत्ति का परिचय दिया है। अतः काव्यकार मण्डन को 'कामसमूह' (१४५७ ई. में रचित) के प्रणेता मन्त्री मण्डन से अभिन्न मानना भ्रामक होगा क्योंकि वह जाति से नागर आश्रय था तथा उसके पितामह का नाम नारायण था और वह श्रीमाल वंश में नहीं प्रत्युत भामल्लवंश में उत्पन्न हुआ था।

श्रीमाल कुल ने मालव के साहित्यिक तथा राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उसमें मण्डन, पुंजरज तथा मेघ जैसे साहित्यकार-प्रशासक हुए हैं। मण्डन नीतिकुशल मन्त्री तथा बहुमुखी विद्वान् था। व्याकरण, अलंकारशास्त्र, काव्य, संगीत आदि साहित्य के विभिन्न अंगों को उसकी प्रतिभा का आलोक प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त मण्डन की पांच अन्य रचनाएं प्रकाशित हैं। चम्पूमण्डन के सात पटलों में भगवान् नेमिनाथ का उदात्त चरित वर्णित है। मालव नरेश के अनुरोध पर रचित कादम्बरीमण्डन बाणभट्ट की कादम्बरी का पद्यबद्ध सार है। चन्द्रविजयप्रबन्ध में चन्द्रोदय से चन्द्रास्त तक चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओं का चारु चित्रण किया गया है। अलंकारमण्डन के पांच परिच्छेदों में साहित्यशास्त्र का

३. काव्यमनोहर, ६.१-४७

४. काव्यमण्डन, १३.५२, ५६ तथा अलंकारमण्डन, ५.७५

इति जिनभक्तेन मण्डनेन विनिर्मिते ।

पंचमोऽयं परिच्छेदो जातोऽलंकारमण्डने ॥

५. काव्यमनोहर, ६.२१-३७.

निरूपण हुआ है। शृंगारमण्डन १०८ शृंगारिक पद्यों का संग्रह है। संगीतमण्डन तथा उपसर्गमण्डन मन्त्री मण्डन की दो अन्य कृतियाँ हैं, जो अभी तक अप्रकाशित हैं। उसके कविकल्पद्रुम का उल्लेख 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' में हुआ है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

जिस हस्त प्रति के आधार पर काव्यमण्डन के वर्तमान संस्करण का प्रकाशन हुआ है, वह सम्बत् १५०४ (१४४७-४८ ई०) में लिखी गयी थी^६। कादम्बरीमण्डन; चम्पूमण्डन, अलंकारमण्डन तथा शृंगारमण्डन की प्रतियों का लिपिकाल भी यही है^७। काव्यमण्डन के लेखक ने शृंगारमण्डन में अपने लिये 'सारस्वतकाव्यमण्डनकविः'^८ उपाधि का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि मण्डन ने सारस्वतमण्डन ग्रन्थ की भी रचना की थी। सारस्वतमण्डन की दो प्रतियाँ भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में सुरक्षित हैं, जिनमें से एक सम्बत् १६३२ (१५७६ ई.) में लिखी गयी थी। उक्त पाण्डुलिपि के आदि तथा अन्त से स्पष्ट है कि सारस्वतमण्डन का लेखक तथा काव्यकार मण्डन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इस प्रकार मण्डन की छह कृतियों की पाण्डुलिपियों का प्रतिलिपिकाल ज्ञात है। काव्यमण्डन तथा पूर्वोक्त चार प्रकाशित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ एक ही वर्ष, सन् १४४८, में की गयी थीं। स्पष्टतः काव्यमण्डन की रचना सन् १४४८ से पूर्व हो चुकी थी। स्वयं कवि के कथनानुसार काव्यमण्डन की रचना उस समय हुई थी जब मण्डपदुर्ग पर यवननरेश आलमसाहि का शासन था। यह यवन शासक अतीव प्रतापी तथा शत्रुओं के लिये साक्षात् आतंक था।

अस्त्येतन्मण्डपाख्यं प्रथितमरिचमूदुरहं दुर्गमुच्चै-

र्यसिम्नालमसाहिलिवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम् ।

यच्छौर्यैरमन्दः प्रबलघरणिभृत्सैन्यवन्वाभिपाती

शत्रुस्त्रीवाष्पवृष्ट्याप्यधिकतरमहो दीप्यते सिच्यमानः ॥^९

श्री परशुराम कृष्ण गोडे के विचार में मालव के यवन शासकों के कालानुक्रम को देखते हुए अलपखान अपरनाम होशंगगोरी (१४०५—१४३२ ई.) ही एकमात्र ऐसा शासक है जिसे मण्डन का आश्रयदाता आलमसाहि माना जा सकता है^{१०}। सन्

६. सम्बत् १५०४ वर्षे शाके १३६६ प्रवर्तमाने.....मात्रशुवि पंचम्यां तिथौ बुधदिने पुस्तकमलेखि । काव्यमण्डन के अन्त में लिपिकार की टिप्पणी ।

७. द्रष्टव्य—इन ग्रन्थों की लिपिकार की अन्त्य टिप्पणियाँ ।

८. यः सारस्वतकाव्यमण्डनकविर्दारिद्र्यभूभृत्पविः । शृंगारमण्डन, १७.

९. काव्यमण्डन, १३-५३. शृंगारमण्डन की रचना भी आलमसाहि (अलपखान) के शासनकाल में हुई थी । द्रष्टव्य—पृष्ठ १०३-१०४ ।

१०. जैन एण्टीक्वेरी, ११-२, पृ. २५-२६, पादटिप्पणी १ ।

१४०८ के करीब अलपखान अपने पिता बिलावरखान को विष देकर मालव की गद्दी पर आसीन हुआ था। सन् १४११ तथा १४१८ में होशंग (अलपखान) ने निकटवर्ती गुजरात पर दो बार आक्रमण किया किन्तु अहमदशाह के रणकौशल ने उसे भग्नमनोरथ कर दिया। १४१६ ई. में अहमदशाह से पुनः पराजित होकर उसे भण्डपदुर्ग में शरण लेनी पड़ी थी। यदि आलमसाहि की उक्त पहचान ठीक है तो १४१६ तथा १४३२ ई० की मध्यवर्ती अवधि को काव्यमण्डन का रचनाकाल माना जा सकता है।

कथानक

काव्यमण्डन का कथानक महाभारत के एक प्रारम्भिक प्रसंग पर आधारित है, जिसे कवि ने तेरह सर्गों में प्रस्तुत किया है। प्रथम सर्ग में मंगलाचरण के पश्चात् भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कौरव वीरों तथा पाण्डव कुमारों के शौर्य एवं यश का वर्णन है। यहीं पाण्डवों के प्रति धृतराष्ट्र के पुत्रों की ईर्ष्या का प्रथम संकेत मिलता है। द्वितीय तथा तृतीय सर्ग का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें परम्परागत ऋतुओं का वर्णन किया गया है। चतुर्थ सर्ग में वीर पाण्डवों के गुणों को सहन करने में असमर्थ दुर्बुद्धि कौरव उन्हें लाक्षागृह में भस्मीभूत करने का षड्यन्त्र बनाते हैं। सरलहृदय पाण्डव, माता सहित, जतुगृह में रहने का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं। देखते-देखते, रात्रि को लाक्षागृह धू-धू करके जल उठता है, किन्तु पाण्डव भूमि-मार्ग से सकुशल निकल जाते हैं। भीम कौरवों को अपने क्रोध की अग्नि में शलभों की तरह भस्म करने का संकल्प करता है परन्तु युधिष्ठिर की शान्ति का प्रेष उसे प्रज्वलित होने से पूर्व ही शान्त कर देता है। धर्मराज के अनुरोध पर वे प्रतीकार की भावना छोड़ कर, समय-यापन करने के लिये तीर्थयात्रा को चले जाते हैं। पाँचवें से आठवें सर्ग तक चार सर्गों में पाण्डवों के तीर्थाटन का विस्तृत वर्णन है। इन सर्गों में गंगा, यमुना, शिप्रा, नर्मदा, कावेरी आदि विभिन्न नदियों, काशी, प्रयाग, महाकाल, अमरकण्टक, गया, नृसिंहक्षेत्र आदि तीर्थों तथा उनके अधिष्ठाता देवों—अष्टमूर्ति, जटाम, विश्वनाथ शिव का पुराणों की तरह किन्तु अलंकृत शैली में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वर्णन किया गया है। छठे सर्ग में मायावी दनुज किष्कीर भीम को अनुपस्थिति में पाण्डवों तथा उनकी माता कुन्ती को महाभिचार से अचेत बना कर उन्हें कुलदेवता को बलि देने के लिये बांध ले जाता है। हिडिम्बा भीम को तत्काल कुलदेवी के आयतन में पहुँचा देती है; जहाँ वह किष्कीर को मार कर अपने

११. मण्डन के स्थितिकाल के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—पी.के. गोडे—द प्राइममिनिस्टर ऑफ मालव एण्ड हिज धर्म्स, जैन एण्टीक्वेरी, ११.२, पृ. २५-३४।

हरणासन्न भाइयों तथा माता को मुक्त कर देता है। नवें सर्ग में पाण्डव एकचक्रा क्षत्री में जाकर प्रच्छन्न वेश में एक दरिद्र ब्राह्मण के घर में निवास करते हैं। वहाँ श्रीम माता की प्रेरणा से नरभक्षी दकासुर को मार कर दीन ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र की रक्षा करता है तथा नगरवासियों को सदा के लिये उस क्रूर असुर के आतंक से मुक्त कर देता है। द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार पाकर पाण्डव पंचाल देश को चले पड़ते हैं। दसवें सर्ग में स्वयंवर-मण्डप, आगन्तुक राजाओं तथा सूर्यास्त, रात्रि आदि का वर्णन है। द्रुपद कृष्ण को सूचित करता है कि मैं अपनी रूपसी कन्या बाणी से पहले ही वीर अर्जुन को दे चुका हूँ। यदि तुम्हारी कृपा से वे जीवित हों तो स्वयंवर में वे अवश्य आयेंगे^{११} ! श्रीकृष्ण द्रुपदराज को विश्वास दिलाते हैं कि पाण्डव सुरक्षित हैं। ग्यारहवें सर्ग में द्रौपदी स्वयंवर सभा में प्रवेश करती है। यहाँ उसके सौन्दर्य का सविस्तार वर्णन किया गया है। बारहवें सर्ग में पाण्डव ब्राह्मणवेश में मण्डप में प्रवेश करते हैं। अभ्यागत राजा पहले उन्हें स्वयंवर देखने को लालायित कुतूहली ब्राह्मण समझते हैं किन्तु उनके वर्चस्व को देख कर उनकी वास्तविकता पर सन्देह करने लगते हैं। घृष्टशुम्भ औपचारिक रूप से स्वयंवर की शर्त की घोषणा करता है। जहाँ तथाकथित प्रतापी राजा शर्त की पूर्ति में असफल रहते हैं, वहाँ अर्जुन लक्ष्य को भीध कर सबको विस्मित कर देता है। दुर्योधन ब्राह्मणकुमार को अर्जुन समझ कर द्रुपद को उसके विरुद्ध भड़काता है और उसे द्रौपदी को किसी अन्य उपयुक्त वर को देने को प्रेरित करता है। इस बात को लेकर तेरहवें सर्ग में दोनों में युद्ध ठन जाता है। अर्जुन अकेला ही भुजबल से शत्रुपक्ष को परास्त करता है। अपने अभिन्न सखा तथा मार्गदर्शक कृष्ण से चिरकाल बाद मिलकर पाण्डवों को अपार हर्ष हुआ। वासुदेव पाण्डवों को द्रुपदराज से मिलते हैं तथा उसे ब्राह्मण कुमारों की वास्तविकता से अवगत करते हैं। पाण्डव, पत्नी तथा माता के साथ हस्तिनापुर लौट आते हैं। यहीं काव्य समाप्त हो जाता है।

इस संक्षिप्त कथानक को मण्डन ने अपने वर्णन कौशल से तेरह सर्गों का विशाल आकार दिया है। इस दृष्टि से ऋतुओं, तीर्थों, नदियों, युद्धों आदि के विपुल वर्णन विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ऐसी स्थिति में मूल कथावस्तु स्वभावतः गौण बन गयी है। काव्यमण्डन में कथानक का सहज प्रवाह दृष्टिगत नहीं होता। द्वितीय तथा तृतीय सर्ग परम्परागत ऋतुओं के वर्णन पर व्यय कर दिये गये हैं। चतुर्थ सर्ग

१२. मया दत्ताञ्जबद्धांगी द्रौपदीयं सुमध्यमा ।

पार्थाय सत्यया वाचा पूर्वं विक्रमशालिने ॥ १०.३३

श्वत्कृपातः कथंचिच्च जीवेयुर्यदि तेऽनघाः ।

कुतश्चिच्छ सनेष्यन्ति राघायन्त्रं ततः कृतम् ॥ १०.३६ ।

में कथावस्तु एक पग आगे बढ़ती है, किन्तु उसे तुरन्त चार सगौं के सेतुबन्ध से जूझना पड़ता है। नवें सर्ग से कथानक मन्दिर गति से आगे बढ़ने लगता है पर वह पुनः स्वयम्बर तथा युद्ध के व्यूह में उलझ जाता है। वस्तुतः मण्डन वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-शैली को महत्त्व देने वाली तत्कालीन काव्य-परम्परा का बन्दी है। उससे मुक्त होना शायद सम्भव भी नहीं था। सचाई तो यह है कि कालिदासोत्तर महाकाव्य कथाप्रवाह की दृष्टि से बहुत कच्चे हैं। मण्डन के लिए कथानक एक सूक्ष्म तंतु है जिसके चारों ओर उसने अपना शिल्पकौशल प्रदर्शित करने के लिए वर्णनों का जाल बुन दिया है।

काव्यमण्डन का आधारस्त्रोत

जैन मतावलम्बी कवि मण्डन ने महाभारत के एक प्रकरण को काव्य का विषय बना कर तथा उसे उसके मूल परिवेश में निरूपित करके निस्संदेह साहस का काम किया है। काव्यमण्डन के इतिवृत्त का आधार महाभारत का आदिपर्व (१.१४०-५०, १५६-६३, १६२-६८, २०५) है। किष्कीरवध की घटना वनपर्व में वर्णित है। मण्डन ने महाभारत के इतिवृत्त को अपने काव्य के कलेवर तथा सीमाओं के अनुसार काट-छांट कर ग्रहण किया है, यद्यपि इस प्रक्रिया में कुछ सार्थक तथ्यों तथा घटनाओं की उपेक्षा हो गयी है। लाक्षागृह के निर्माता पुरोचन तथा वारणावत का उल्लेख न करना इसी कोटि की चूक है। काव्य में पुरोचन तथा छह अन्य स्थानापन्न व्यक्तियों के जलने के वर्णन का भी अभाव है, "हालांकि कौरवों को पाण्डवकुमारों के नष्ट होने का विश्वास दिलाने के लिए यह अनिवार्य था। यह बात भिन्न है कि काव्य में कौरवों को फिर भी अपने षड्यंत्र की सफलता पर पूरा विश्वास है।" पाण्डवों का तीर्थाटन तथा विभिन्न तीर्थों का क्रमबद्ध वर्णन महाभारत में उपलब्ध नहीं है। आदि पर्व में, इस प्रसंग में, केवल अर्जुन के तीर्थविहार का संक्षिप्त वर्णन है।" महाभारत की भाँति काव्यमण्डन में भी पाण्डव एकचक्रा नगरी में विपन्न ब्राह्मण के घर में निवास करते हैं और कुन्ती ब्राह्मण के इकलौते पुत्र को बकासुर से बचाने के लिए अपने पांच पुत्रों में से एक की बलि देने का प्रस्ताव

१३. आयुष्मागारमादीप्य दग्धा चैव पुरोचनम् ।

षट् प्राणिनो निधयेह ब्रह्मामोऽनभिलक्षिताः ॥ महाभारत (मूल, गीता प्रेस), १.१४७.४

१४. पंचैव दग्धाः किल पाण्डवास्ते लाक्षालये कर्मवशाववश्यम् ।

प्रत्यक्षमस्माभिरपीक्षितानि उवाचार्धदग्धानि अपूपि तेषाम् ॥ काव्यमण्डन, १२.३५

१५. महाभारत (पूर्वोक्त), १.२१२-२१६

करती है। महाभारत में यह प्रस्ताव ब्राह्मण से किया गया है जबकि काव्यमण्डन में यही प्रस्ताव पुत्र के भावी वध से विकल ब्राह्मणी को किया जाता है।^{१३} महाभारत में पाण्डव द्रुपद की राजधानी में कुम्भकार की शाला में ठहरते हैं। काव्यमण्डन में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। मण्डन के अनुसार द्रौपदी-स्वयम्बर की शर्त तैल में छवि देखकर राधायन्त्र को बीधना था। स्पष्टतः मण्डन ने महाभारत की कठिन शर्त को सरल बनाने का प्रयत्न किया है क्योंकि महाभारत में पांच तीरों से यन्त्र बीधने का उल्लेख है।^{१४} प्राप्त वस्तु (द्रौपदी) को बिना देखे उसे पांचों भाइयों में बांटने के कुन्ती के आदेश की चर्चा महाभारत तथा काव्यमण्डन दोनों में हुई है।^{१५} महाभारत में द्रुपदराज व्यास की प्रेरणा से द्रौपदी का पांच पाण्डव कुमारों से विधिवत् विवाह करते हैं। काव्यमण्डन में व्यास की भूमिका का निर्वाह बासुदेव कृष्ण करते हैं।^{१६} काव्यमण्डन में श्रीकृष्ण की कृपा से ही पाण्डव लाक्ष्मण से सकुशल बच निकलने में सफल होते हैं। महाभारत में इसका श्रेय महात्मा विदुर की दूरदर्शिता को दिया गया है।^{१७}

काव्यमण्डन के इतिवृत्त में किर्मीर-वध की घटना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। महाभारत में इसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए इसका वर्णन आदिपर्व से पृथक् वन पर्व में किया गया है। दनुज किर्मीर अपने भाई बक तथा मित्र हिडिम्ब के वध तथा हिडिम्बा के अपहरण से क्रुद्ध होकर भीम पर आक्रमण करता है और मारा जाता है।^{१८} काव्यमण्डन में भीम अपने अपहृत भाइयों तथा माता को किर्मीर के जंगल से बचाने के लिये उसका वध करता है।^{१९} संभवतः भीम की प्रचण्डता तथा दुर्द्वर्षता को कथानक में सविशेष रेखांकित करने के लिए मण्डन ने इस प्रसंग को अपने इतिवृत्त में आरोपित किया है। काव्य में वस्तुतः 'किर्मीरान्तक' (१२.७१) संबोधन के द्वारा भीम के इस कृत्य तथा शौर्य का अभि-नन्दन किया गया है।

१६. महाभारत, १.१६०.३, काव्यमण्डन, ६.८।

१७. राधायन्त्रोपरिष्ठात्सुघटितशफरी तैलपूर्णं कटाहे।

.....हृन्वाद्भुवि कृतगुदश्चक्षुषंकेषुषालं। काव्यमण्डन, १२.१८

छिन्नेन यन्त्रस्य समर्थयन्त्रं शरैः शितं व्योमचरैर्वशाघैः। महाभारत, १.१८४.३५

१८. काव्यमण्डन, १३.१६, महाभारत, १.१६२.२।

१९. महाभारत, १.१६७.४, काव्यमण्डन, १६.३७, ३६।

२०. काव्यमण्डन, ४.१३, महाभारत, १.१४६.१७।

२१. महाभारत, ३.११.३०, ३२।

२२. काव्यमण्डन, ७.३७।

रसचित्रण

पाण्डवों का जीवन मानव के उत्थान-पतन की दर्पपूर्ण किन्तु कष्ट कहानी है। अपने वैविध्यपूर्ण जीवन में उन्हें अनेक चित्र-विचित्र परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है। परन्तु उनके शौर्य तथा साधन-सम्पन्नता का स्वर सर्वत्र गुंजित रहता है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि काव्य में पाण्डवों की सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा की घुरी भीम है। उसकी दुर्दृष्टि तेजस्विता से काव्य आद्यन्त स्पन्दित है। मृत्युकुण्ड लाक्षागृह से अपने भाइयों तथा माता को अक्षत निकालने, उन्हें बर्बर किर्मीर के लोह पाश से मुक्त करने तथा बकासुर के आतंक को समाप्त करने का श्रेय उसी को है। उसके इन युद्धों में वीररस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है जिसे अर्जुन की वीरता पुष्टि प्रदान करती है। वैसे भी काव्य में सर्वत्र भीम का आचरण वीरोचित साहस तथा दृढ़ता से तरलित है। फलतः काव्यमण्डन में अंगी रस के रूप में वीर रस की निष्पत्ति हुई है। चतुर्थ सर्ग में लाक्षागृह से सकुशल निकलने के पश्चात् धर्मराज की शान्तिवादिता की खिल्ली उड़ाने वाली भीम की उक्तियाँ वीरोचित दर्प तथा असहनशीलता से भरपूर हैं। उसके विचार में कौरवों से हित की आशा करना मृग-खलना है। वे दुर्जन सत्संगति में रहकर भी अपनी स्वाभाविक दुष्टता नहीं छोड़ सकते। क्या मगरमच्छ गंगाजल में रहने से दयालु बन जाता है? यदि धर्मराज की दया की मेघमाला विघ्न न बने, वह कौरवों की शलभ की भाँति अपनी क्रोधान्ति में भस्मसात् कर देगा।

भस्कोधवत्काव्यकारदीप्ते पापाः पतिष्यन्ति पतंगवत्ते ।

न चेत्सोद्द्वामयाम्बुदाली तच्छान्तिकर्त्री ज्वितान्तरायः ॥४.३६

काव्यमण्डन में भीम और अर्जुन के युद्धों को पर्याप्त स्थान मिला है जिनके वर्णन में वीररस का प्रबल उद्बेक हुआ है। द्रौपदी को स्वयम्बर में प्राप्त करने में हताश हुआ दुर्योधन ईर्ष्याविश ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन पर आक्रमण कर देता है जिससे दोनों में जम कर युद्ध होता है। अर्जुन के पराक्रम के वर्णन में वीररस—विशेषकर उसके अनुभवों—का सफल चित्रण हुआ है (१३.१)।

भीम को देखते ही दनुज किर्मीर के थोड़ा उस पर टूट पड़ते हैं। उनका यह दुस्साहस भीम की क्रोधान्ति में घी का काम करता है। वह उन्हें तत्काल गदा से चूर-चूर कर देता है तथा किर्मीर और उसके नगर को ध्वस्त करके अपने भाइयों को बन्धन से मुक्त करता है। भीम तथा किर्मीर के युद्ध के इस प्रसंग में वीर रस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

प्रारब्धोद्धुरसंगरं तमवधीकिर्मीरमम्बासुरं

आम्यवधोरगवाविशीर्णवपुषं वीराननेकानपि ।

आच्छेत्सीदपि बन्धनान्यपहसन्धर्मादिकानां तसौ

ध्याक्षीत्तन्मगरं चकथं पथं केशेषु शत्रुस्त्रियः ॥७॥३८॥

प्रमुख वीर रस के अतिरिक्त काव्यमण्डन में कर्ण, भयानक, रौद्र, शान्त, शृंगार तथा अद्भुत रस अंग रूप में विद्यमान हैं। ये अंगभूत रस अंगी रस को परिपुष्ट करके काव्य की रसवत्ता को तीव्र बनाते हैं तथा उसमें इन्द्रधनुषी सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। गौण रसों में कर्ण रस की प्रधानता है। जतुगृह में पाण्डवों के दहन से आशंकित पौरवासियों के विलाप में और किर्मीर द्वारा बन्दी बनाए गये पाण्डवों को बलि देने के लिए कुलदेवी के मन्दिर में ले जाने पर कुत्ती के मातृसुलभ चीत्कार में कर्ण रस की तीव्रता प्रगट हुई है। वारणावत के निवासियों के शोक में कर्णा की मार्मिकता है।

व्या पृथायास्तनया नयाद्या दग्धा विदग्धा जतुमन्विरस्थाः ।

विवेशब्धिः कुरुराजपुत्रैः पापात्मभिर्धर्मभृतो हहाऽमी ॥

दीनानुकम्पां च करिष्यते कः को मानयिष्यत्यपि मानयोग्यान् ।

वर्तिष्यते सम्प्रति कः प्रजासु भूशानुरागात्विह बन्धुबन्ध ॥४॥१५-१६॥

दैत्य किर्मीर पाण्डवों को वशीभूत करने के निमित्त सिद्धि प्राप्त करने के लिए श्मशान में महाभिचार होम का अनुष्ठान करता है। श्मशान की भयंकरता के वर्णन में भयानक रस का परिपाक है। किर्मीर की साधनास्थली कहीं भूत-पिशाचों की हुंकार से गुंजित है, कहीं कराल वेतालों तथा डाकिनियों का जमघट है, कहीं प्रेत भैरव अट्टहास कर रहे हैं, कहीं योगिनियों का चक्रवाल अपनी किलकिलाहट से हृदय को कंपा रहा है और कहीं डमरुओं का विकट नाद और महिषों, मेंढों आदि का चीत्कार त्रास पैदा कर रहा है। इस भयावह परिवेश में किर्मीर का महाभिचार किसे भीत नहीं कर देता ?

हिंसाकरं सत्वरसिद्धिर्बन्धुं च श्मशानवाटे वटसन्निभृष्टे ।

हुंकारवद्भूतपिशाचवक्त्रं सक्षिणीराक्षसशाकिनीके ॥६॥२६॥

उत्तालवेतालकरालकाशकंकालकूष्माण्डकडाकिनीके ।

प्रहासवत्प्रेतकरंकरंके प्रहर्षवद्भैरवभैरवे च ॥ ६॥२७॥

उदितकिलकिलाके योगिनीचक्रवाले विकटडमरुदाक्षेत्रपालाकुले च ।

मनुषमहिषमेघः कुक्कुटरारटद्भिः कलितकुसुममालेर्बध्यमानः सुरोद्भिः ॥६॥२८॥

कुन्ती अपने एक पुत्र के बलिदान से ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र के प्राणों की रक्षा करने का प्रस्ताव करती है। पवित्रहृदया ब्राह्मणी इसे प्रार्थिहिंसा मान कर बस्वीकार कर देती है। उसकी इस धारणा का प्रतिवाद करती हुई कुन्ती उसे जगत् की विभूतियों तथा पदार्थों की नश्वरता और विषयों की विरसता से अवगत कराती

है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि समूचे सम्बन्ध मरुमरीचिका की तरह आभास मात्र हैं। उनकी स्थिति बुद्बुद, इन्द्रधनुष, इन्द्रजाल आदि से श्रेष्ठ नहीं। अतः इस असार संसार में मनुष्य को प्राणों की बाजी लगाकर भी निर्मल यश का संचय करना चाहिए। शिवि ने अपना मांस तथा दधीचि ने अस्थियां देकर यही किया। वैभव तथा विषयों की क्षणभंगुरता के इस चित्रण में शान्त रस की पावन धारा प्रवाहित है।

स्वं शिविः पलमवाद्दधीचिरप्यस्थिसंचयमसारसंतुतौ ।

सद्यशः कुमुदकुन्दनिर्मलं स्यान्नु च प्रविबधेऽधिविष्टयम् ॥ ६-१५

छातमातृपितृपुत्रबान्धवप्रेयसीप्रभृतयो विभूतयः ।

स्वादवश्च विषया ह्या गजा भूरयो निमिषभंगुरा इमे ॥ ६-१६

अपने प्राणप्रिय भाइयों को कुलदेवता के मन्दिर में बन्दी अवस्था में तथा दैत्य किर्मीर को उन्हें बलि देने को तैयार देख कर भीम क्रोध से पागल हो जाता है। उसकी भूकुटि तन जाती है, गदा घूमने लगती है, उसकी सिंहगर्जना से पर्वत गूँज उठते हैं और लोगों का हृदय दरक जाता है। उसकी इन चेष्टाओं के चित्रण में रौद्र रस की अवतारणा हुई है।

इति श्रुत्वा मग्नोऽतनुजवचनं बल्ललतया

गवां घ्रामं घ्रामं भूकुटिकुटिलास्योऽनिलसुतः ।

महासिंहध्वानोन्मुखरगिरिविद्राविलम्बनो

वदन्संतिष्ठस्वेत्यसुरपतिमप्युद्धतवशा ॥ ७-३५

काव्यमण्डन में शृंगाररस के पल्लवन के लिये अधिक स्थान नहीं है। द्रौपदी के सौन्दर्य-वर्णन में अधिकतर शृंगार के आलम्बन विभाव का निरूपण है। काम की कटारी के समान द्रौपदी के स्वयम्बर-मण्डप में प्रविष्ट होते ही उपस्थित राजाओं के समुद्र में कामजन्य क्षोभ का ज्वार आ जाता है। यहां शृंगार के उद्दीपन विभाव का भी चित्रण हुआ है।

अगञ्जयायास्त्रमिवाप्तमेवोः सा द्रौपदी संसवमाससाह ।

विशोभयन्ती वदनेन्दुनाथ नानावनीनापसमूहवार्द्धिम् ॥ ११-१

मण्डन ने इस प्रकार विविध प्रसंगों में मनोभावों के मार्मिक चित्रण के द्वारा काव्य को रसात्मकता से सिकत बनाया है। यह तीव्र रसवत्ता काव्य की विभूति है।

प्रकृति-चित्रण

काव्यमण्डन में प्रकृति का चित्रण शास्त्रीय विधान की खानापूर्ति के लिये किया गया है। प्रथम सर्ग के तुरन्त बाद दो सर्गों में ऋतु-वर्णन तथा दसवें सर्ग में स्वयम्बरमण्डप आदि के पश्चात् सूर्यास्त और चन्द्रोदय का वर्णन परम्परा के निर्वाह के लिये जबरदस्ती फिट किया गया प्रतीत होता है। ऋतुवर्णन के अन्तर्गत पाण्डवों

के आखेट, दीपावली तथा दोलाक्रीड़ा के अपेक्षाकृत विस्तृत एवं अनावश्यक वर्णनों से कवि की प्रकृतिचित्रण के प्रति वास्तविक भावना तथा दृष्टिकोण स्पष्ट है। यह बात भिन्न है कि इन प्रसंगों में प्रकृति के कतिपय अतीव मनोरम चित्र अंकित हुए हैं और वे कवि के प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं। प्रकृति-वर्णन की कालिदासोत्तर परम्परा के अनुरूप मण्डन के प्रकृति-चित्रण में स्वाभाविकता की कमी है। उसने अधिकतर उक्तिवैचित्र्य को प्रकृति-वर्णन का आधार बनाया है। इसीलिये भारवि, हर्ष आदि की कृतियों की भाँति काव्यमण्डन में प्रकृति के अलंकृत वर्णनों का बाहुल्य है। अलंकृत वर्णनों के अन्तर्गत कहीं विविध अलंकारों के आधार पर प्रकृति का कल्पनापूर्ण वर्णन किया जाता है, कहीं उसे मानवी रूप में प्रस्तुत किया जाता है और कहीं उसके उद्दीपन पक्ष को उभारा जाता है। काव्यमण्डन में प्रकृति-चित्रण की उक्त सभी श्रेणियाँ दृष्टिगत होती हैं। द्वितीय सर्ग का पावसवर्णन आबन्त यमक से आच्छादित है। दसवें सर्ग का सूर्यास्त तथा चन्द्रोदय का वर्णन कवि-कल्पना से तरलित है। इस बात का अपलाप नहीं किया जा सकता कि इन अलंकृत वर्णनों के आवरण के नीचे कहीं-कहीं प्रकृति के स्वाभाविक उपादानों का भी चित्रण हुआ है। काव्यमण्डन के इन सहज अलंकृत चित्रों का निजी सौन्दर्य है।

सुकृती धर्मराज तथा शरत् के इस श्लिष्ट वर्णन में शरत्काल के सहजात गुणों का चित्रण निहित है। धर्मपुत्र की सद्बृत्ति से लोकों में लक्ष्मी का उदय होता है, मूढ़ व्यक्ति जड़ता छोड़कर निर्मल बुद्धि प्राप्त करते हैं और वह सर्वत्र पवित्रता का संचार करती है। शरत् में कमल खिल उठते हैं, जलाशयों का जल निर्मल हो जाता है और मार्ग आदि का कीचड़ सूख जाता है। श्लेष के महीन आवरण में शरद् ऋतु की स्वाभाविकता स्पष्ट दिखाई दे रही है।

पयोधयं विदधती भुवनेष्वथोर्ध्व-

रातन्वती विमलतां च अद्याशयेऽपि ।

निष्पंकतां विदधती भुवि धर्मसूतो-

वृत्तिर्यथा सुकृतिनः शरदाचिरासीत् ॥ ३१.

मण्डन के कतिपय अलंकृत वर्णन बहुत अनूठे हैं। उनसे उसकी कमनीय कल्पना तथा शिल्पकौशल का परिचय मिलता है। सूर्यास्त के साधारण दृश्य को कवि ने सन्ध्याकाल पर स्वर्णकार के कर्म का आरोप करके रोचकता से भर दिया है। जैसे स्वर्णकार सोने को आग में तपा कर पहले पानी में बुझाता है, फिर उससे नाना प्रकार के आकर्षक आभूषण बनाता है, उसी प्रकार सन्ध्या के स्वर्णकार ने स्वर्णपिण्ड के समान सूर्य को आकाश की मूषा में तपाया है और संसार को चाँद, तारों आदि के भूषणों से सुशोभित करने के लिये उसे पश्चिम सागर के पानी में फेंक

दिया है ।

ताम्ररोचिरतितम्भमुपास्रं हेमगोलमिव कालकलादः ।

अक्षिपज्जलनिधौ रविबिम्बं निर्मिमासुरप विश्वविभूषाम् ॥ १०-५३

नबोदित चन्द्रमा क्षीण क्यों होता है ? इस सम्बन्ध में मण्डन की कल्पना केसिये । चन्द्रमा स्वामिद्रोह का दोषी है । उसके स्वामी भगवान् शंकर ने अपने सृतीय नेत्र की ज्वाला से जिस काम को भस्म किया था, चन्द्रमा उसे अपनी अमृतवर्षी किरणों से पुनः जीवित करने की चपलता करता है । प्रभुद्रोह के उस अपराध के दण्ड के रूप में उसे क्षीणता भोगनी पड़ती है ।

त्रिनयननयनार्चिर्बग्न्यवेहं यवि

दुर्मदनममृतवर्षीर्विविद्यन्त्यंशुभिः स्वैः ।

तदनुभवति मूनं स्वप्रभुद्रोहणाह-

फलममितमबलं क्षीणतां बिभ्रबग्नौ ॥ १०-६८

मण्डन ने प्रकृति को मानवी रूप देने में भी अपनी निपुणता का परिचय दिया है । काव्यमण्डन में प्रकृति के मानवीकरण के अनेक अभिराम चित्र अंकित किये गये हैं । मण्डन का पावस शक्तिशाली सम्राट् के समान अपने शत्रु, ग्रीष्म, का उच्छेद करके, राजसी ठाट से गगनांगन में प्रवेश करता है । धनघोर गर्जना करता हुआ मेघ उसका मदमस्त हाथी है, बिजली ध्वजा है, इन्द्र-धनुष उसका चाप है, बगुले चंवर हैं तथा खुम्ब श्वेत छत्र हैं । प्रमुदित मयूर, बंदियों की तरह, उसका उल्लासपूर्वक अभिनन्दन करते हैं ।

अथ घनाधनमसमतंगजो निमिषरोचिरदक्षितकेतनः ।

रुचिरशक्रशरासननिष्पतच्छरशब्दं रश्मयश्शुभि संभवम् ॥ २.१

बहुलगजितकुञ्जजलागमः प्रमदवच्छिन्नबन्धिमिरीडितः ।

अतनुमूतिरिषोद्धतमुपतिः सन्तपन्तपन्तमहम्मरिम् ॥ २.२

रुचिरचामरचायबलाक उच्छ्रितसिलिःप्रसितातपवारणः ।

प्रकटयन्सुतरामतुराजतां प्रमुविरो मुविरोवय आबभौ ॥ २.४.

वसन्त-वर्णन के निम्नोक्त पद्य में लता पर रजस्वला नारी का आरोप किया गया है, जो लज्जित होकर पल्लवों के वस्त्र से रजघर्म के सभी चिह्न छिपाने का प्रयास कर रही है ।

लता पुष्पवती जाता मद्योः संगद् वधुरिव ।

लसत्पल्लववस्त्रेण लज्जितात्मानमावृणोत् ॥ ३.२०

पहले कहा गया है कि प्रकृति के आलम्बन पक्ष के चित्रण में कवि को अधिक रुचि नहीं है । काव्यमण्डन में प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य के कतिपय चित्र ही

दृष्टिगत होते हैं। ये कवि के निश्छल प्रकृति-प्रेम के प्रतीक हैं और अपनी यथार्थता तथा मनोरमता के कारण वर्ण्य विषय को मूर्त रूप देने में समर्थ हैं। शरद् ऋतु में वर्षाकाल की मलिनता दूर हो जाती है, हंस मानस से लौट आते हैं, चारों ओर उनका मधुर कलरव सुनाई पड़ता है, दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं, पृथ्वी काष्ठ-कुसुमों से भर जाती है, धान पक कर फल के भार से झुक जाते हैं तथा विभिन्न पुष्पों की मादक गन्ध से भरी समीर जनमन को आनन्दित करती है। शरद् के इन उपकरणों का सहज चित्र निम्नांकित पंक्तियों में किया गया है।

नास्थाभूर्न रजस्वलात्वमखिलाः स्वच्छोदकाः सिन्धवः

प्रोद्दामप्रमदं दधुः कलगिरः काष्ठासु हंशालयः ।

दिग्बोधोऽविमदः प्रसावममितो वक्त्रेण्वभूः साम्बरा

बभ्राजे सुविकाशकासकुसुमैर्भूमण्डली मण्डिता ॥ ३.३

आवापेषु सरोजसौरभमरश्चान्तालयः शालयः

पाकोद्रेकफलोद्यमारनमिता बभ्राजिरे भूरिशः ।

मन्दं मन्दमयी समीरनिवहा अन्ति स्म सप्तच्छदो—

न्निव्रत्कोकनवारविन्दकुमुदामोदच्छटामेवुराः ॥ ३.४

प्रस्तुत पद्य में ग्रीष्म की प्रचण्डता साकार हो गयी है।

ग्रीष्मे धूम्रान्धकाराः ककुभ उदमवन्दावधग्धा बनान्ता

वास्या सोल्कोदरेणुर्ध्वरगिरनलवन्मुर्मुरीभूतपांसुः ।

नद्यः पर्णैः कषायवधिततनुजाला बह्विवर्षा विवस्वा-

स्यान्याः श्वासोष्णभाजो घिगुदयमसतां जातविश्वोपतरपम् ॥ ३.३६

इन पंक्तियों को पढ़ कर गर्मी की चिलचिलाती धूप, आंघी-भस्खड़, खीलते पानी, सूर्य की अग्निवर्षा, तप्त भूमि और दहकती धूल का यथार्थ चित्र अनायास मानस-पटल पर अंकित हो जाता है। कहना न होगा, इन स्वभावोक्तियों में मण्डन का कवित्व उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है। निस्सन्देह ये पद्य साहित्य की उत्तमोत्तम स्वभावोक्तियों से टक्कर ले सकते हैं।

प्रकृति के प्रति मण्डन का दृष्टिकोण रूढ़िवादी है। प्रकृतिवर्णन के अन्तर्गत पूरे एक सर्ग में यमक का प्रयोग करना तत्कालीन काव्यशैली के प्रभाव का परिणाम है। परम्परा से प्रभावित होता हुआ भी मण्डन प्रकृति का कुशल चित्रकार है।

सौन्दर्यचित्रण

मण्डन प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति मानव-सौन्दर्य का भी चतुर चितेरा है। कवि ने संस्कृत-साहित्य में प्रचलित सौन्दर्य-वर्णन की दोनों शैलियों के द्वारा अपने पात्रों के शारीरिक सौन्दर्य की व्यंजना की है। उसने परम्परागत तथा चिर-प्रचलित

नखशिखप्रणाली का आश्रय लेकर पात्रों के अंगों-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का क्रमबद्ध वर्णन किया है और वर्ण्य व्यक्तियों के समग्र सौन्दर्य के समन्वित चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। स्यारहवें सर्ग में द्रौपदी के विस्तृत वर्णन में नारी-सौन्दर्य का सांगोपांग चित्रण हुआ है। वस्तुतः काव्य में नारी-सौन्दर्य का ही प्राधान्य है। आरम्भ में मण्डन ने दशक के मन पर पड़ने वाले द्रौपदी के सौन्दर्य के समग्र प्रभाव का सामान्य वर्णन किया है^{११}, तत्पश्चात् उसने नखशिखविधि से द्रौपदी के विभिन्न अवयवों के लावण्य का विस्तृत वर्णन किया है। नवीन उपमानों की योजना के कारण उसके सौन्दर्य-चित्र सहजता तथा सजीवता से ओतप्रोत हैं। निम्नलिखित पद्यों में कृष्णा के स्तनों, कटाक्ष, तिलक, केशपाश तथा दृष्टि की तुलना क्रमशः काम के निधि-कुम्भों, कूटयन्त्र, चन्द्र-कलंक, गंगा-यमुना की मिश्रित जलराशि तथा मदिरा एवं त्रिपुरविद्या से की गयी है।

कण्ठस्थलीलोलमहेन्द्रनीलहाराहिराजेन मुरझयमानौ ।

निधानकुम्भाविब गोपनीयो स्तनावमुष्याः स्मरपार्थिवस्य ॥ ११.३४

कूटयन्त्रं कटाक्षोऽस्या मृगाख्या दृश्यते स्फुटम् ।

युववातायवो येन पात्यन्ते निकटस्थिताः ॥ ११.३६

कस्तूरीतिलको भाति भालेऽस्या रुचिराकृती ।

शारदे पार्वणे चन्द्रे कलंक इव संकुलः ॥ ११.४१

एतस्या हरिणीदृशस्त्रिभुवनोन्मादाय कादम्बरी

कामं कामुककामकन्दलसमुल्लासाय कादम्बिनी ।

विश्वाकर्षणमोहनस्ववशतः प्रोद्भावयन्ती क्षणाद्

दृष्टिर्भाति महाप्रभावगहना विद्येव सा त्रिपुरी ॥ ११.४२

भास्ते केशपाशोऽस्या मुक्ताजालकलापभूत् ।

बंहीयान्काण्ड्यवानोघो गंगायमुनयोरिव ॥ ११.४८

द्रौपदी के नखशिख के अन्तर्गत उसके सर्वातिशायी सौन्दर्य को साकार करने के लिए मण्डन ने व्यतिरेक का भी आश्रय लिया है। प्रस्तुत पद्य में उसके पांव, गति तथा जंघाएं चिर-प्रतिष्ठित उपमानों—हंस तथा कदलीस्तम्भ के सौन्दर्य को पराजित करती हुई चित्रित की गयी हैं।

अस्याः पदारविन्दे ब्रूधमुपहसतो राजहंसान्प्रयाते

माधुर्ये शिजितानां कलकलविलसद्वस्त्रमञ्जोरदम्भात् ।

२३. निर्वर्धं स्मरभूदहं हरकषा ह्यं कूरयन्ती पुनः

प्रौढं राजकवम्बकं प्रपुलकं स्वालोकत कुर्वती ।

श्यामा कामिमनोमयूरनिकरं प्रोद्भावयन्ती मुहुः

सेयं भाति नितम्बिनी तथनयोर्दृश्येव कादम्बिनी ॥ काव्यमण्डन, ११.१०

ऊरूभ्यां कोमलाभ्यां अदिमधरलसस्तम्भगर्भाश्च रुक्माः

कम्पन्तेऽस्याः जिताः किं तपहिमसमयोद्धूतशैत्योष्णिमभ्याम् ॥ ११.२६

पुरुष सौन्दर्य का चित्रण कौरव तथा पाण्डव कुमारों के वर्णन में देखा जा सकता है। किन्तु कवि ने यहां उपर्युक्त दोनों प्रणालियों को छोड़कर भूषणों तथा सामान्य सज्जा से उत्पन्न सौन्दर्य का वर्णन किया है^{१५}।

चरित्रचित्रण

काव्यमण्डन के कर्त्ता ने अपने पात्रों को उनके मूल परिवेश में प्रस्तुत किया है। अतः उसके लिए पाण्डव सद्गुणों के आगार हैं, कौरव दुर्गुणों के भण्डार। काव्य में पाण्डवों कथा कौरवों का चित्रण, समष्टि तथा व्यष्टि दोनों रूपों में, चित्रित किया गया है। सामूहिक रूप में पाण्डव उद्धत शौर्य से सम्पन्न, महाबाहु, प्रतापी तथा धर्मानुरागी हैं। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अटल भक्ति है। वे धनुर्धारियों में अग्रणी हैं। उनका यश समूचे भूमण्डल में व्याप्त है। वे प्रसन्नमुख तथा सत्यवादी हैं। उन्हें प्रजा का अटूट विश्वास प्राप्त है। नीतिमत्ता उनके जीवन की धुरी है। दानशीलता में वे कल्पवृक्षों को भी मात करते हैं। वे साम्राज्यलक्ष्मी के पात्र हैं। उनका हृदय दया तथा परोपकार की भावना से ओत-प्रोत है। वे समरांगण में सिंह की भाँति निर्भय विचरण करते हैं। वास्तव में पाण्डव अमूल्य गुणों की विशाल निधि हैं^{१६}।

व्यष्टि रूप में धर्मराज युधिष्ठिर शान्ति की साक्षात् प्रतिमा हैं। घोर विपत्तियाँ भी उनके समत्व को विचलित नहीं कर सकतीं। लाक्षागृह में यम के मुख से निकलने के पश्चात् वे कौरवों के प्रति किये गये अपने उपकारों तथा उनके अपकारों को याद करके ही सन्तोष कर लेते हैं। वे अपने वीर अनुजों को भी प्रतिशोध का मार्ग छोड़ कर तीर्थयात्रा में समय व्यतीत करने का परामर्श देते हैं^{१७}। उनका बिस्द 'धर्मराज' उनके व्यक्तित्व की पवित्रता तथा उदात्तता का द्योतक है, जिसे काव्य में विशेषतः रेखांकित किया गया है। अपने गरिमापूर्ण व्यक्तित्व के कारण वे समस्त पृथ्वीमण्डल पर प्रतिष्ठित तथा समादृत हैं^{१८}। उनकी वृत्ति जगत् के अभ्युदय की विधाता है। भगवान् कृष्ण भी उनके गुणों तथा व्यक्तित्व से अभिभूत हैं। द्रौपदी-स्वयम्बर के बाद श्रीकृष्ण स्वयं युधिष्ठिर से मिलने के लिये आते हैं और पादबन्धना से उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं^{१९}।

२४. काव्यमण्डन, १.२६-२७, ३०-३१.

२५. वही, ४.१-५.

२६. अहानि हानिप्रचुराणि यावत्तावद्धि तीर्थाटनमाश्रयासः । वही, ४.३३.

२७. धर्मोऽधिभित्तिलब्धकोसिः । वही, १.२३

२८. तेनाभिबन्धितपदः प्रथमं ततोऽजं । वही, १३.२७

भीम मूर्तिमान् दर्प तथा शौर्यं है । वह दुर्दम्भं भोद्धा तथा अद्वितीय ओजस्वी है । वह भ्रातृस्नेह के कारण धर्मराज के तीर्थाटन के परामर्श को मान तो लेता है किन्तु उसकी बोधी आदर्शवादिता पर वह अपने क्रोध तथा हंसी को नहीं रोक सकता । वह अपनी श्रोघाग्नि से दुष्ट कौरवों को भस्म करने को तैयार है, किन्तु उसे आशंका है कि धर्मराज की दया का भेज उसे तुरन्त शान्त कर देगा^{२६} । भीम के भुजबल, शौर्य तथा प्रचण्डता का कोई ओर-छोर नहीं है । वही हर विपत्ति में अपने भाइयों की रक्षा करता है । लाक्षागृह में, मृत्युमुख में फंसे अपने भाइयों और माता को सकुशल निकालने का श्रेय काव्य में उसे ही दिया गया है^{२७} । किर्म्मौर के चंगुल से उन्हें छुड़ाना केवल भीम जैसे अप्रतिहत तथा साधन-सम्पन्न व्यक्ति के लिए ही सम्भव था । वह किर्म्मौर तथा बकासुर को क्षण भर में घराशायी कर देता है । पाण्डवों के लिए किर्म्मौर के वध का कितना महत्व था, यह इसी से स्पष्ट है कि अर्जुन जैसा धनुर्धर भी उसे 'किर्म्मौरान्तक' कहकर सम्बोधित करता है तथा गाढ़े समय में द्रौपदी की सुरक्षा का भार उसे सौंपता है^{२८} ।

अर्जुन अद्वितीय धनुर्धारी है । वह कृष्ण का परम मित्र तथा प्रतापी योद्धा है । वह अकेला ही प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने में समर्थ है जैसे अकेला सिंह हाथियों को पछाड़ देता है और सूर्य नक्षत्रों का तेज नष्ट कर देता है^{२९} । उसने अपने भुजबल और रणकौशल से द्रुपद को भी बन्दी बना लिया था । उसके गुणों और वीरता से अभिभूत होकर द्रुपदराज ने अपनी रूपवती पुत्री उसे देने का पहले ही निश्चय कर लिया था^{३०} । पंचालनरेश की यह कामना कि अर्जुन लाक्षागृह से किसी प्रकार बच कर स्वयम्बर में आ जाए, उसके सदगुणों एवं शौर्य की स्वीकृति है । अर्जुन सौन्दर्यसम्पन्न युवक है । स्वयम्बर मण्डप में लक्ष्य बीधने को उद्यत ब्राह्मण कुमार को अर्जुन समझने मात्र से द्रौपदी में काम का उद्रेक हो जाता है । अर्जुन अचूक निशानची है । दिग्दिगन्तों से आए हुए राजाओं में केवल वही घूमती शफरी के प्रतिबिम्ब को देख कर उसकी आँख बीधने में सफल होता है । कौरवों तथा उनके पक्षपोषकों की संगठित सेनाएँ भी उनके सामने नहीं टिक सकीं ।

कौरवों का चरित्र ईर्ष्या तथा धृणा से कलंकित है । समष्टिरूप में वे क्रूर-

२६. वही, ४.३६.

२७. लाक्षागृहे प्रबलधूमहुताशोप्ते संरक्षिता हि भवता बत भीमसेन ! वही, ७.१७.

२८. किर्म्मौरान्तक रक्ष राजतनयां यावद्विषः शास्म्यहम् । वही, १२.७१

२९. वही, १०.३४

३०. मया वत्साऽनवहांगी द्रौपदीयं सुमध्यमा ।

पार्याय सत्यया वाचा पूर्व विक्रमशालिने ॥ वही, १०.३३

हृदय, पापात्मा, दुर्बुद्धि, राज्यलोलुप तथा विषयासक्त हैं। पाण्डवों के प्रति उनकी ईर्ष्या इस सीमा तक पहुँच गई है कि वे उन्हें जीवित भी नहीं देख सकते। पाण्डवों को जतुगृह में जीवित जलाकर मारने का उनका षड्यन्त्र इसी ईर्ष्या तथा द्वेष से प्रसृत है। पाण्डवों की ओर उनकी यह घृणा काव्य में पग-पग पर प्रकट हुई है। स्वयम्बर में राधायन्त्र को बीँधने वाले ब्राह्मणकुमार की वास्तविकता को जान कर कौरवराज दुर्योधन द्रुपद को उस विपन्न ब्राह्मण को कन्या न देने के लिए भड़काता है। इस कूटनीति में असफल होकर वह पाण्डवों से युद्ध ठान लेता है, किन्तु अर्जुन का बाहुबल उसका दर्प चूर कर देता है।

द्रौपदी काव्य की नायिका है। वह परम सुन्दरी है। उसके स्वयम्बर-मण्डप में पदार्पण करते ही आगन्तुक राजा कामाकुल हो जाते हैं तथा उसे प्राप्त करने को अधीर हो उठते हैं। यद्यपि उसे अर्जुन ने ही जीता था किन्तु विधि की विडम्बना है कि उसे पाँचों भाइयों की पत्नी बनना पड़ता है। श्रीकृष्ण के अनुसार यह धर्म से अनुमोदित है^{१४}।

इनके अतिरिक्त काव्य में एक और पात्र है, जो बहुधा पदों के पीछे से ही सूत्रसंचालन करता है। वह है कृष्ण वासुदेव। वे पाण्डवों के विश्वस्त सखा तथा सच्चे मार्गदर्शक हैं। अर्जुन के साथ तो उनकी मैत्री इतनी प्रगाढ़ है कि काव्य में उसे 'कृष्णसखा' इस साभिप्राय विशेषण से सम्बोधित किया गया है। श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य उन्हें हस्तामलकवत् स्पष्ट हैं^{१५}। वस्तुतः वे ईश्वर हैं। गाढ़े समय में पाण्डव नियमित रूप से उन्हें याद करते हैं और वे भक्तवत्सल उन्हें सदैव विपत्तियों से उबारते हैं। वास्तव में, पाण्डव सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते कभी भी उन्हें नहीं भूलते। उन्हीं की कृपा से पाण्डव समस्त कठिनाइयों पर विजय पाते हैं^{१६}। वे पाण्डवों के जीवन में इस प्रकार घुले-मिले हुए हैं कि उनके बिना पाण्डवों के अस्तित्व की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। तीर्थयात्रा आरम्भ करते समय पाण्डव सर्वप्रथम द्वारिका जाकर उनके दर्शन करते हैं। द्रौपदी के स्वयम्बर में जहाँ अन्य उपस्थित राजा, यहाँ तक कि कौरव भी, ब्राह्मणकुमार को पहचानने में भूल करते हैं, वे अपने मित्रों को तुरन्त पहचान लेते हैं और गुप्त रूप से अर्जुन की प्रणति स्वीकार करते हैं। वे ही द्रुपदराज को उन द्विजवैशद्यारी युवकों की वास्तविकता बता कर उसका संदेह दूर करते हैं। श्रीकृष्ण भक्तवत्सल हैं।

३४. वही, १३.३७

३५. भूतं भवच्च किल भावि च वेधि सर्वम्। वही, १३.३८, सर्वज्ञोऽसि जगन्नाथ।

वही, १०.३२

३६. हंसि स्वमेव सकलानहितप्रज्ञानः। वही, १३.३५

द्रौपदी के स्वयम्बर के पश्चात् वे स्वतः अपने प्राणप्रिय भक्त तथा मित्र पाण्डवकुमारों से मिलने आते हैं। उनके भक्तों को त्रिकाल में भी भय नहीं सता सकता।

न कदाचित्कालतोऽपि सद्भक्तता बिभ्रते भयम् ।

संकटेषु हि सर्वेषु जाग्रद् रक्षामि तानहम् ॥ १०.४१.

भाषा

भाषा की दृष्टि से काव्यमण्डन जैनजैन संस्कृत काव्यों में उच्च पद का अधिकारी है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वस्तुतः वह वाग्वश्या की भाँति उसका अनुसरण करती है। काव्यमण्डन की भाषा महाकाव्य के अनुरूप धीर-गम्भीर है। उसमें सहजता तथा अलंकरण का संजुल मिश्रण है। समर्थ होते हुए भी मण्डन ने अपने भाषा-पाण्डित्य का अनावश्यक प्रदर्शन नहीं किया है। वह भली-भाँति जानता है कि भाषा का सौन्दर्य क्लिष्टता में नहीं, सहजता में निहित है। अतः उसने यथोचित भाषा के द्वारा पात्रों के हृद्गत भावों तथा कथावस्तु की विभिन्न परिस्थितियों को वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। इसीलिए काव्यमण्डन की भाषा में एक ओर पारदर्शी विशदता है तो दूसरी ओर वह समाससंकुल तथा दुर्बोध है यद्यपि यह मानने में आपत्ति नहीं कि यह भाषात्मक दुर्बोधता काव्यमण्डन का मात्र एक ध्रुव है। सामान्यतः वह प्रसादपूर्ण तथा सुबोध है। अपने इस भाषात्मक कौशल के कारण मण्डन प्रत्येक वर्ण्य विषय का यथार्थ चित्रण करने में समर्थ है। घृष्टता लाक्षागृह हो अथवा भयानक महाभिचार होम, कुन्ती की हृदयद्रावक विकलता हो या प्राणलेवा युद्ध, नारी-सौन्दर्य हो अथवा पुरुष का पौरुष, भगवान् शंकर का ताण्डव हो या गंगा की पावन धारा, ये सब प्रसंग मण्डन की तुलिका का स्पर्श पाकर मुखरित हो गये हैं। अपने प्राणप्रिय पुत्रों की सम्भावित बलि से विकल कुन्ती के शोक के वर्णन की पदावली में मानव की विवशता तथा दीनता की कसक है जिससे हतबुद्धि होकर वह विधि के प्रति आक्रोश प्रकट करके हृदय को सान्त्वना देता है।

हा हा विधे ! प्रलयमास्तवन्मदीया

मन्नास्त्वया किमु सुताः सुरभूहो वा ।

पञ्चैव भुक्तकरुणेन यदीयदोष्णां

छायाश्रया सुखमर्गा जगतीतलेऽस्मिन् ॥ ७.१५.

लाक्षागृह से बचकर धर्मराज अपने भाइयों को आश्वस्त करने के लिए जो शब्द कहते हैं, वे उनकी शान्तिवादी नीति के सर्वथा अनुकूल हैं। प्रतिकार का मार्ग उस अजातशत्रु को वरणीय नहीं है। उस विधिनिमित्त 'विषाद' को भूलना ही अच्छा है।

वीराः सुधीरा जहिताहितैस्तेः कृतं विषादं विधिनिमित्तं तम् ।

अत्यन्तपापस्य फलानुभूतिरिहैव लभ्येति वदन्ति सन्तः ॥

इसी सर्ग में युधिष्ठिर की शान्तिवादिता का प्रतिवाद करने वाली भीम की वीरोचित उक्तियाँ उसके दर्प तथा प्रचण्डता को व्यक्त करती हैं । उसका स्पष्ट मत है कि धर्मराज ने कौरवों पर विश्वास करके नीतिविरुद्ध कार्य किया है । हिसक जन्तु के समान दुर्जन कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता । अनुकूल पदावली ने इन उक्तियों की प्रभावशालिता को दूना कर दिया है ।

ते दुर्जनाः सज्जनसन्निधाने हिंसा वसन्तो जनपावनेऽपि ।

जहत्यहो नैव निजस्वभावं गंगाजले नक्रगणा इवामी ॥ ४.३७

रणकवीरोऽपि सहायनेत्य महामघे मां प्रबलानिलं वा ।

धनंजयो धक्ष्यति दीप्ततेजाः सुबाधवो नः परसैन्यवभ्याम् ॥ ४.३३

युद्ध आदि कठोर प्रसंगों में मण्डन की भाषा, यथोचित वातावरण के निर्माण के लिए, सरलता तथा सहजता को छोड़ कर, प्रयत्नसाध्य बन जाती है । उसमें ओजगुण व्यंजक चुने-चुनिन्दे शब्दों की झड़ी लग जाती है, विशालकाय समासों की लड़ी बनती जाती है और फलतः वर्ण्य दृश्य पाठक के मानस चक्षुओं के सामने मूर्त हो जाता है । श्मशान की भीषणता का कर्कश वर्णन पहले उद्धृत किया जा चुका है । स्वयम्बर में निराश होकर दुर्योधन अपने वीरों को ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन पर आक्रमण करने का आदेश देता है । इससे मण्डप में खलबली मच जाती है तथा वह सागर का रूप धारण कर लेता है । इस सम्भ्रम के चित्रण में प्रयुक्त समाससंकुल ओजपूर्ण भाषा परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप है ।

परिस्फूर्जत्खड्गस्फुरदुरगसंचार विधमः

परिप्रेक्षत्सखेटककमठकूटोऽतिरटितः ।

प्रतापीर्वज्ज्वालोऽस्तमितरिपुशौर्योष्णकिरणः

ततोऽभाक्षीत्क्षोभं प्रबलबलराजन्दजलधिः ॥ १२. ६८

मण्डन ने अपने काव्य में समासबहुला भाषा का बहुत प्रयोग किया है । तीर्थाटन के समय विभिन्न नदियों तथा तीर्थों के अधिष्ठाता देवों की स्तुति में भाषा का विकट रूप दिखाई देता है । यमक के अबाध गुम्फन तथा स्रग्धरा जैसे दीर्घ छन्दों के प्रयोग ने भाषा को, कहीं-कहीं तो, अतीव दुर्लभ बना दिया है । अष्टमूर्ति की स्तुति में जो भाषा प्रयुक्त की गयी है, उसे सुनकर भगवान् आशुतोष की बुद्धि भी चकरा गयी होगी । ताण्डव के वर्णन में तो विकट समासान्त भाषा नृत्य की उद्धतता तथा प्रचण्डता के अनुकूल मानी जाएगी परन्तु हृदय के सहज निश्चल भावों को व्यक्त करने वाले स्तोत्रों में यह क्षम्य नहीं । स्पष्टतः काव्यमण्डन के ये प्रसंग प्राचीन

शिवताण्डव आदि स्तोत्रों के अतिशय प्रभाव के चोतक हैं। मण्डन ने निस्सन्देह यहाँ अपने भाषा-पाण्डित्य से पाठक को अभिभूत करने का प्रयास किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

वश्याऽवश्यायभूमद्वुहितुरहितुराषाड्विलासाविलासा
ज्नीहाहानीहारहारप्रकरकरकोज्जंभकाशाभकाशा ।
स्तुत्याऽस्तु त्यागशीला शुभसितमसितभ्राजमानाजमाना
नित्याऽनित्यानभक्त्या तनुरतनुरसौभाग्यसौभाग्यदेशी ॥ ८.६१

इसके विपरीत काव्यमण्डन की भाषा में कहीं-कहीं हृदयग्राही सहजता तथा सुमधुर नादसौन्दर्य विद्यमान है। अनुप्रास तथा यमक की कुशल योजना से वह और वृद्धिगत हो गया है। दारिकाधीश के वर्णन में भाषा का यह गुण दृष्टिगम्य होता है।

अजरमरमाद्यं वेदवाचामवेद्यं
सगुणमगुणमेकं नैकरूपं महिष्ठम् ।
अणुतरमविदूरं चातदूरं दुरन्त
दुरितचयमदन्तं योगिविसे वसन्तम् ॥ ५.४

काव्यमण्डन की भाषा में सरलता तथा प्राङ्गता का सम्मिश्रण है। वह सर्वत्र उदात्त है, किन्तु कहीं-कहीं कवि ने उसे अधिक अलंकृत कर दिया है, जो तत्कालीन काव्य-परिपाटी को देखते हुए अक्षम्य नहीं है।

अलंकारविधान

काव्यमण्डन में अधिक अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। यमक के अतिरिक्त अन्य किसी अलंकार को काव्य में बलात् ठूसने का प्रयत्न कवि ने नहीं किया है। समूचे दूसरे सर्ग में तथा अन्यत्र भी यमक की जानबूझ कर विस्तृत योजना की गयी है जिससे काव्य में, इन स्थलों पर, विलम्बिता आ गयी है। ऋतुवर्णन में यमक के प्रयोग की परम्परा कालिदास के रघुवंश तक जाती है। शंकर की स्तुति में यमक को श्रद्धालु हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना हास्यास्पद है। इसी प्रसंग के यमक का एक विकट उदाहरण देखिये—

लोलोलोलौघनृत्यज्जलजलजविभ्रामरालीमराली,
मालामालानगंगविलसितलसितोत्कंप्रवाहं प्रवाहम् ॥ ८.६५

यमक के अतिरिक्त अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है। इसे भी काव्य में व्यापक स्थान मिला है। अनुप्रास की मधुरता तथा भक्कृत काव्य में मनोरम सौन्दर्य को जन्म देती है। भगवान् शंकर की स्तुति के इस पद्य में अत्यानुप्रास की विवेक पूर्ण योजना की गयी है।

नमोऽनन्तरूपाय मूर्च्छन्महिम्ने सुघाघामवद्विस्फुरदीप्तिभूम्ने ।

जगत्पापविध्वंसकृद्भूरिनाम्ने लसत्कण्ठलोठस्फुमन्वारवान्ने । ८.१४

अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, रूपक, यथासंख्य, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध आदि अलंकारों का प्रयोग काव्य में हुआ है। मंडन उपमा का मर्मज्ञ है। काव्यमण्डन में अनेक हृदयग्राही उपमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वर्ण्य विषय के स्पष्टीकरण के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों को ग्रहण किया है। निम्नोक्त पद्य में याज्ञसेनी की तुलना अमूर्त कुण्डलिनी शक्ति से तथा पांच पाण्डवों की पांच ज्ञानेन्द्रियों से की गयी है।

तैः पंचभिर्मूर्तभिरायताक्षी सा याज्ञसेनी सुतरां विरेजे ।

बुद्धीन्द्रियैर्वर्ष्मणि विस्फुरद्भिः समन्विता कुण्डलिनीव शक्तिः ॥ १३.४४.

काव्यमण्डन में अनूठी स्वभावोक्तियाँ मिलती हैं, जो कवि की निरीक्षण शक्ति तथा व्यापक अनुभव की प्रतीक हैं। इन स्वभावोक्तियों में कवि का सच्चा कवित्व प्रकट हुआ है। हेमन्त में, ऊँचे मचान पर बैठ कर तथा गोपिये (भिण्डिमाल) से पक्षियों को उड़ाकर खेतों की रखवाली करने वाले किसानों का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है। इस शब्दचित्र में ग्राम्य जीवन का उक्त दृश्य साकार हो उठा है।

यत्र क्षेत्रसुरक्षणक्षणमभूत्तुंगाट्टमारुह्य त—

तत्सकौतूहलवन्कुषीवलकुलं कोलाहलव्याकुलम् ।

उद्भ्राम्यद्भुजभिण्डिमालविगलसच्चण्डोपलप्रस्फुट—

त्सूत्रप्रान्तपरित्रस्तल्लगगणव्यघ्राप्रहस्तद्वयम् ॥ ३.१४.

कृष्ण, कृष्णा तथा कुरुनन्दन का क्रमशः 'स्नेहाद्रिभावा', 'घनरागपूर्णा' तथा 'रोषारुणा' से सम्बन्ध होने के कारण, निम्नोक्त पद्य में यथासंख्य अलंकार है।

कृष्णोऽधिकृष्णं कुरुनन्दने च पाण्डोः सुतानां सममापतन्ती ।

स्नेहाद्रिभावा घनरागपूर्णा रोषारुणा च प्रबभूव दृष्टिः ॥ १२.६

काव्यमण्डन में अनेकज विविध अलंकारों का संकर दिखाई देता है। प्रस्तुत पद्य में व्यतिरेक तथा यथासंख्य मिल कर संकर की सृष्टि करते हैं ॥

धनुष्मतामाजिभुलेऽपगत्वान्निजेच्छया मृत्युवशंवदत्वात् ।

जितेन्द्रियत्वाच्च जिगाम्य योऽपि रामं यमं काममवार्यवीर्यम् ॥ १.६.

मण्डन ने भावाभिव्यक्ति को समर्थ बनाने के लिये काव्य में कतिपय अन्य अलंकारों का भी प्रयोग किया है।

छन्दयोजना

छन्दों के प्रयोग में मण्डन ने पूर्ण स्वच्छन्दता से काम लिया है। प्रत्येक सर्ग में एक छंद की प्रधानता का शास्त्रीय बन्धन उसे सदैव मान्य नहीं है। इसीलिये

काव्यमण्डन के तेरह में से आठ सर्गों में नाना छंदों का प्रयोग किया गया है। तीसरे आठवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें सर्ग में क्रमशः ग्यारह, पन्द्रह, दस, ग्यारह, ग्यारह तथा बारह छन्द प्रयुक्त हुए हैं। पांचवें तथा छठे सर्ग दोनों में नौ-नौ छन्दों का उपयोग किया गया है। तृतीय सर्ग में जिन ग्यारह छन्दों की योजना हुई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, शालिनी, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, अनुष्टुप्, उपजाति, हरिणी तथा वंशस्थ। इन छन्दों की अपेक्षा पांचवें सर्ग में मालिनी, छठे में उपेन्द्रवज्रा, आठवें में भृजंगप्रयात, रथोद्धता, मन्दाक्रान्ता, मंजुभाषिणी, तथा स्वागता, दसवें में पृथ्वी तथा पुष्पिताग्रा, बारहवें में स्रग्विणी, और तेरहवें में एक अज्ञात विषमछन्द (१-त त ज ज, २-र भर, ३-त त ज ग ग, ४-ज त ज ग ग) के अतिरिक्त प्रहृषिणी नये छंद हैं। ग्यारहवें सर्ग में कोई नया छन्द नहीं है। शेष पांच सर्गों में से प्रथम सर्ग की रचना में मुख्यतः उपजाति का आश्रय लिया गया है। प्रथम दो तथा अन्तिम पद्य क्रमशः स्रग्धरा, मालिनी तथा शार्दूलविक्रीडित में हैं। द्वितीय सर्ग में द्रुतविलम्बित का प्राधान्य है। सर्गान्त के पद्यों में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ सर्ग में उपजाति, अनुष्टुप्, स्रग्धरा, वसन्ततिलका तथा द्रुतविलम्बित, ये पांच छन्द प्रयुक्त हुए हैं। सप्तम सर्ग में वसन्ततिलका को अपनाया गया है। सर्ग के अन्त में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित तथा प्रहृषिणी को स्थान मिला है। नवम सर्ग मुख्यतः रथोद्धता में रचित है। सर्गान्त के तीन पद्य अनुष्टुप् तथा शार्दूलविक्रीडित में हैं। सब मिला कर काव्यमण्डन में उक्त अज्ञात विषम छन्द के अतिरिक्त बाईस छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

समाज-चित्रण

काव्यमण्डन के सीमित परिवेश में युगजीवन का व्यापक चित्रण तो सम्भव नहीं था किन्तु उसमें कुछ तत्कालीन मान्यताओं तथा विश्वासों की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। भारत में शुभाशुभ मूर्त के विचार की परम्परा अति प्राचीन है। आजकल की भांति मण्डन के समकालीन समाज में भी प्रत्येक कार्य मूर्त की अनुकूलता-प्रतिकूलता का विचार करके किया जाता था। इसके लिये समाज को ज्योतिर्विदों का मार्गदर्शन प्राप्त था। इन्द्रराज ने अपनी पुत्री के स्वयम्बर का आयोजन, ज्योतिर्विदों द्वारा निश्चित किये गये मूर्त में ही किया था^{११} ॥

शकुनों की फलवृत्ता पर विश्वास का इतिहास भी बहुत पुराना है। मण्डन^{१२} कालीन समाज में नाना प्रकार के शकुन प्रचलित थे तथा उनके फलीभूत होने में लोगों की दृढ़ आस्था थी। छौंक तत्काल मृत्यु की सूचक मानी जाती थी।^{१३} कुलदेवी

३७. वही, १०.४७.

३८. भूतमयक्षणमृत्युदायि । वही, ७.२८

के मन्दिर में प्रवेश करते समय दनुजराज किम्मीर का छींक आई थी जिसके फलस्वरूप भीम ने उसे गदा से चूर-चूर कर दिया^{३९}। आजकल की भाँति उस समय भी गीदड़, उल्लू आदि का शब्द विपत्तिजनक माना जाता था। कृष्णमृग का बाईं ओर से गुजरना, गीदड़ की फेंकार, उल्लू का दाईं ओर शब्द करना भयावह था। सूर्य के परिवेश का प्रकट होना भी अशुभ था।^{४०} वन से लौटते समय भीम के समक्ष ये सभी अपशकुन उपस्थित हुए थे, जो उसके भाइयों की विपत्ति के पूर्वसूचक थे। समाज में एक अन्य विश्वास यह था कि चारपाई पर मरने वाले व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। पवित्र नदी में स्नान मोक्षदायक माना जाता था।^{४१}

काव्य में वध्य पुरुष की भूषा के वर्णन से संकेत मिलता है कि तत्कालीन समाज में प्राणदण्ड का प्रचलन था। दण्डित पुरुष को लाल माला पहना कर और सिन्दूर से उसका सिर रंग कर वध्य स्थल पर ले जाया जाता था। वह मुँह भुका कर चलता था और दर्शक उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे^{४२}। प्राणदण्ड का दूसरा ध्रुव आत्महत्या है। आत्महत्या उद्देश्य में असफल होकर अथवा जीवन से निराश होकर की जाती थी। भीम अपने भाइयों को खोजने में असफल होकर तथा कुन्ती अपने पुत्रों के सम्भावित वध के दुःख को न सह सकने के कारण चिता में जल कर मरने को तैयार हो गये थे।^{४३} गिरिपतन तथा प्रयाग में शरीर-दाह आत्महत्या के अन्य प्रकार थे। कभी-कभी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये भी लोग आत्महत्या कर लेते थे। स्वयम्बर में उपस्थित कतिपय राजा द्रौपदी के लिये प्राण देने को उद्यत थे। अभीष्ट सिद्धि के लिये यज्ञ-होम तथा इष्ट देव की आराधना की जाती थी।^{४४} अथर्ववेद के मन्त्रों से यज्ञ करने तथा महाभिचार होम का काव्य में उल्लेख हुआ है।

वर्णाश्रम प्रणाली भारतीय समाज-व्यवस्था की निजी विशेषता है, किन्तु जैन कवियों में इस का समर्थन करने वाला कदाचित् मण्डन ही एकमात्र कवि है। लाक्षागृह में पाण्डवों के सम्भावित दहन पर विलाप करते हुए प्रजाजन चिन्तित थे

३९. तमवधीत्किम्मीरमम्बासुरम् । वही, ७.३८

४०. वही, ६.३२-३४

४१. मञ्चकमृतोऽपि पातकी मुच्यते । वही, ८.२२

४२. गलरक्तमालाः । सिन्दूरशोणितशिरसस्त्रपया नतास्या, हास्याश्रयाः परिषृताः पुरलोकसंघैः ॥ वही, ७.३.

४३. वही, ६.३६, ७.२१-२२

४४. वही, ११. १७-१८

हैं कि अब वर्णाश्रम व्यवस्था का कौन पालन करेगा^{४५} ?

धर्म

जैन धर्म का अनुयायी होता हुआ भी काव्यमण्डन का लेखक साम्प्रदायिक कदाग्रह तथा संकीर्णता से मुक्त समन्वयवादी व्यक्ति था। काव्य में भागवत धर्म तथा शैव मत का मनोयोगपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। कथानक के परोक्ष सूत्रधार कृष्ण वासुदेव के स्वरूप का वर्णन तो अप्रत्याशित नहीं था किन्तु जिस तन्मयता, निष्ठा तथा श्रद्धा से कवि ने भगवान् शंकर की विस्तृत स्तुति की है, वह शैव धर्म के प्रति उसके निश्चित पक्षपात की परिचायक है। पाण्डवों की तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में पुराण-प्रसिद्ध नदियों तथा भगवान् शिव का पौराणिक शैली किन्तु अलंकृत भाषा में वर्णन एक ओर मण्डन की धार्मिक उदारता को व्यक्त करता है और दूसरी ओर उसे प्राचीन स्तोत्रकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित करता है।

भागवत मत के अनुरूप श्रीकृष्ण को मित्रों के रक्षक तथा भक्तवत्सल के रूप में चित्रित किया गया है। वे पाण्डवों के अभिन्न मित्र, पथप्रदर्शक तथा सहायक हैं। कृष्ण दीनो तथा अनाथों के उद्धारक हैं।^{४६} वे नियमित रूप से अपने भक्तों की हर विपत्ति का निवारण करते हैं। वास्तव में उनके भक्ती का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता।^{४७} वासुदेव भूत, वर्तमान तथा भविष्य, तीनों कालों के ज्ञाता हैं।^{४८} उनकी भक्ति से निर्विघ्न सिद्धि प्राप्त होती है।^{४९} वे वस्तुतः 'भगवान्' हैं।^{५०} उनकी मैत्री में छोटे-बड़े का विवेक नहीं है। उसमें भक्त और भगवान् एक हैं। इस तादात्म्य के कारण ही वे पाण्डवों से मिलने के लिये उनके आवास पर जाते हैं।

वासुदेव के भागवत धर्म-सम्मत रूप के अतिरिक्त काव्यकार ने उनके स्वरूप का उपनिषदों की विरोधाभासात्मक शैली में भी वर्णन किया है। उसके अनुसार वे आदि देव तथा अजर-अमर हैं। वे सगुण भी हैं, निर्गुण भी। एक होते हुए भी उनके नाना रूप हैं, वे महान् भी हैं, सूक्ष्म भी। निकटवर्ती होते हुए भी वे दूरवर्ती हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को वेद के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता।^{५१}

विभिन्न तीर्थों के अधिष्ठाता देव के रूप में, शंकर के सर्वेश्वर, अष्टमूर्ति, जटाम आदि विविध रूपों का जो भक्तिपूर्ण विस्तृत वर्णन काव्य में हुआ है, उसमें भगवान् शंकर के दो पक्ष उभर कर आए हैं, जिन्हें क्रमशः उनका पौराणिक तथा

४५. वर्णाश्रमान्कः खलु पालयिष्यत्यलं च षष्ठांशहरः सुधर्मा । वही, ४.१७

४६. अनाथदीनोद्धरणेन । वही, ४.२१

४७. वही, १०.४१

४८-५०. क्रमशः वही, १२.३८, १२.४, १३.३४

५१. तुलना कीजिए—ईशावास्योपनिषद्, ४-५.

औपनिषदिक स्वरूप कहा जा सकता है। पौराणिक रूप में वे जगत् की उत्पत्ति, रक्षा तथा संहार के कारण हैं। वे नित्य हैं। उनका न आदि है, न अन्त। वे भुक्ति तथा मुक्ति के दाता हैं। उनकी पूजा मुख्य देवता के रूप में की जाती थी। पीठ के मध्य में स्थापित शंकर के चारों ओर गणेश, गृहपति, गिरिजा तथा कृष्ण की स्थापना, गौण देवों के रूप में की जाती थी।^{५३} हृदय से की गयी शंकर की भक्ति से अभीष्ट की प्राप्ति होती है।^{५४} अघोरपंचाक्षरी मन्त्रराज से उनकी स्तुति मोक्षदायक मानी गयी है।^{५५} उनके अन्य पौराणिक तत्त्वों में चंद्रकला, भ्रम, गंगा, जटाजूट, प्रचंड अट्टहास, अन्धकवध, त्रिशूल, पंचवक्त्र, यज्ञध्वंस मदनदाह, ताण्डव आदि का भी काव्य में उल्लेख आया है (न. ११-१६)। उनके ताण्डव का तो कवि ने अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है।

चंचच्चन्द्रकलं चलत्फणिगणं बलाद्बहुकुण्डल-

क्षुब्धन्मूर्द्धधुनीमहोमिषटलीप्रक्षालिताश्रान्तरम् ।

बेल्लकृत्तिरणत्कपालवलथं प्रेक्षज्जटान्तं मुहु

गौरीहर्षकरं चिरं पुररिपोनृत्यं शिवं पातु वः ॥ न. ४३

दूसरे रूप में शंकर का स्वरूप उपनिषदों के ब्रह्म के समान है। ब्रह्म की भांति उन्हें 'अक्षर' कहा गया है। वास्तव में वे परब्रह्म हैं। शंकर ही उपनिषदों में ब्रह्म नाम से ख्यात हैं। उन्हें ऊँकार तथा ओंकार पदों से ही प्राप्त किया जा सकता है।^{५६} वेद तथा उपनिषद् उनके स्वरूप के ज्ञान के माध्यम हैं।^{५७}

पौराणिक नदियों में गंगा के प्रति कवि की विशेष श्रद्धा है। काव्य में गंगा का निष्ठापूर्वक वर्णन किया गया है, जो युग-युगों में उसके गौरव का सूचक है।

क्षलद्वीचीहस्तर्बहलतमपकाविलतनुं

जनं माता बालं सुतमिव दयाधीनहृदया ।

त्वदुत्संगे गंगे विलुठितपरं पापदमनैः

सुधागुर्धः प्रक्षालयति भवती निर्मलजलैः ॥ ५.३०.

काव्यमण्डन मण्डन की काव्यप्रतिभा का कीर्तिस्तम्भ है। उसने एक जनेतर

५२. काव्यमण्डन, ६.१६

५३. हृदि वधे रूपं परं शंकरम् । वही, ५.१८

धामिका धूर्जटी विदधते मनो वृढम् । वही, ६.२२

५४. वही, न. १५

५५. ऊँकारमोंकारपदैकगम्यं तमक्षरं मोक्षरसिचिन्मयम् ।

वन्दामहे चोपनिषत्सुगीतं ब्रह्मेति यं प्राहुरमी मुनीन्द्राः ॥ वही, न. ३६

५६. वेदवेदान्तवेद्याय । वही, न. १३.

कथानक को लेकर उसे उसके मूल परिवेश तथा वातावरण में प्रस्तुत किया है। मण्डन ने भ्रलंकरण-प्रधान समवर्ती महाकाव्य-शैली का आत्मसात् करके अपनी सुरुचि से उसे संयम के वृत्त में रखा है। उसने कुछ स्थलों पर विकट समासान्त शैली में अपने कौशल का मनोयोगपूर्वक प्रकाशन किया है, किंतु सब मिला कर उसका काव्य अधिक अलंकृत नहीं है।

३. नेमिनाथमहाकाव्य : कीर्तिराज उपाध्याय

कविचक्रवर्ती कीर्तिराज उपाध्याय-कृत नेमिनाथमहाकाव्य^१ में जिनेश्वर नेमिनाथ का प्रेरक चरित्र, महाकाव्योचित विस्तार के साथ निबद्ध है। कीर्तिराज कालिदास के पश्चाद्वर्ती उन इने-गिने कवियों में हैं, जिन्होंने माघ, श्रीहर्ष आदि की कृत्रिम शैली के एकछत्र शासन से मुक्त होकर, सुरुचिपूर्ण काव्य-मार्ग ग्रहण किया है। नेमिनाथमहाकाव्य में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो काम्य सन्तुलन है, वह तत्कालीन कवियों की रचनाओं में कम मिलता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के उस युग में नेमिनाथमहाकाव्य जैसी प्रांजल कृति की रचना करना कीर्तिराज की बहुत बड़ी उपलब्धि है, यद्यपि वह भी विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से पूर्णतया अस्पृष्ट नहीं है।

नेमिनाथ काव्य का महाकाव्यत्व

प्राचीन आलंकारिकों ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निश्चित किये हैं, नेमिनाथकाव्य में उनका मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। शास्त्रीय नियम के अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर तथा शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता अपेक्षित है। नेमिनाथमहाकाव्य के उद्देश्य तथा वातावरण के परिप्रेक्ष्य में शान्त रस को इसका अंगीरस माना जाएगा, यद्यपि काव्य में इसकी अंगी रसोचित तीव्र व्यंजना नहीं हुई है। करुण, शृंगार, रौद्र, वीर आदि का गौण रूप में यथोचित परिपाक हुआ है। क्षत्रिय कुल-प्रसूत देवतुल्य नेमिनाथ इसके धीर प्रशान्त नायक हैं। इसकी रचना धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। धर्म का अभिप्राय यहां नैतिक उत्थान तथा मोक्ष का तात्पर्य आमुष्मिक अभ्युदय है। विषयों तथा अन्य सांसारिक आकर्षणों को तृणवत् त्याग कर मानव को परम पद की ओर उन्मुख करना इसकी रचना का प्रेरणा-बिन्दु है। नेमिनाथमहाकाव्य का कथानक नेमिप्रभु के लोकविख्यात चरित्र पर आश्रित है। इसका आधार मुख्यतः त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित आदि जैन पुराण हैं, यद्यपि प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवि भी इसे अपने काव्यों का विषय बना चुके थे। इसके संक्षिप्त कथानक में पाँचों नाट्यसन्धियों का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग में शिवादेवी के गर्भ से जिनेश्वर के अवतरित होने में मुख सन्धि है। इसमें काव्य के फलागम का बीज निहित है तथा

१. सम्पादक : डॉ० सत्यव्रत, अमर्य जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३२, बीकानेर,

उसके प्रति पाठक की उत्सुकता जाग्रत होती है। द्वितीय सर्ग में स्वप्न-दर्शन से लेकर तृतीय सर्ग में पुत्रजन्म तक प्रतिमुख सन्धि स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि मुख-सन्धि में जिस कथाबीज का बपन हुआ था, वह यहाँ अलक्ष्य रहकर पुत्रजन्म से लक्ष्य हो जाता है। चतुर्थ से अष्टम सर्ग तक गर्भसन्धि मानी जा सकती है। सूतिकर्म, स्नात्रोत्सव तथा जन्माभिषेक में फलागम काव्य के गर्भ में गुप्त रहता है। नवें से ग्यारहवें सर्ग तक, एक ओर, नेमिनाथ के विवाह-प्रस्ताव स्वीकार करने से मुख्य फल की प्राप्ति में बाधा आती होती है। किन्तु, दूसरी ओर, वधूगृह में वध्य पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर उनके निर्वेदग्रस्त होने तथा दीक्षा ग्रहण करने से फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यहाँ विमर्श सन्धि है। ग्यारहवें सर्ग के अन्त में नेमि के केवलज्ञान तथा बारहवें सर्ग में उनकी शिवत्व-प्राप्ति के वर्णन में निर्बहण सन्धि विद्यमान है।

महाकाव्य-परिपाटी के अनुसार नेमिनाथ-महाकाव्य में नगर, पर्वत, वन, दूत-प्रेषण, सैन्य-प्रयाण, युद्ध (प्रतीकात्मक), पुत्रजन्म, षड् ऋतु आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं, जो इसमें जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति तथा रोचकता संक्रान्त करते हैं। इसका आरम्भ नमस्कारात्मक मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें स्वयं काव्यनायक नेमिनाथ की चरणवन्दना की गयी है। इसकी भाषा में महाकाव्योचित भव्यता तथा शैली में अपेक्षित उदात्तता है। अन्तिम सर्ग के एक अंश में चित्रकाव्य की योजना करके कवि ने चमत्कृति उत्पन्न करने तथा अपना भाषाधिकार प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। काव्य के आरम्भ में सज्जन-प्रशंसा, खलनिन्दा तथा नगरवर्णन की रूढ़ियों का पालन किया गया है। छन्दप्रयोग-सम्बन्धी परम्परागत बन्धन कवि को सदा स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार नेमिनाथकाव्य में महाकाव्य के सभी अनिवार्य स्थूल तत्त्व विद्यमान हैं, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण हैं।

नेमिनाथमहाकाव्य की शास्त्रीयता

नेमिनाथमहाकाव्य पौराणिक कृति है अथवा इसकी गणना शास्त्रीय महाकाव्यों में की जानी चाहिए, इसका निश्चित निर्णय करना कठिन है। इसमें पौराणिक तत्त्वों तथा शास्त्रीय महाकाव्य के गुणों का विचित्र गठबन्धन है। नेमिनाथकाव्य का कथानक शुद्धतः पौराणिक है। पौराणिक महाकाव्यों की भाँति इसका आरम्भ जम्बूद्वीप तथा उसके अन्तर्बर्ती भारत देश के वर्णन से किया गया है। शिवादेवी के गर्भ में जिनेश्वर का अवतरण होता है जिसके फलस्वरूप उसे भावी तीर्थंकर के जन्म के सूचक चौदह परम्परागत स्वप्न दिखाई देते हैं। दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं। देवराज इन्द्र माता शिवा को अवस्थापिनी विद्या से सुलाकर शिशु को स्नात्रोत्सव के लिए मेरु पर्वत पर ले जाता

है, जहाँ पौराणिक रीति से उसका अभिषेक सम्पन्न होता है। काव्य-नायक के दीक्षा-पूर्व अभिषेक का भी अनुष्ठान इन्द्र द्वारा किया जाता है। काव्य में समाविष्ट जिनेश्वर के दो स्तोत्र तथा प्रशस्ति गान भी इसकी पौराणिकता को इंगित करते हैं। पौराणिक महाकाव्यों की परिपाटी के अनुसार इसमें नारी को जीवन-पथ की बाधा माना गया है तथा इसका पर्यवसान शान्त रस में होता है। काव्यनायक दीक्षित होकर केवलज्ञान और अन्ततः शिवत्व प्राप्त करते हैं। उनकी देशना का समावेश भी काव्य में किया गया है। सुरसंघ द्वारा समवसरण की रचना, देवांगनाओं के नृत्य-नान, पुष्पवृष्टि आदि पुराण-सुलभ तत्त्वों का भी इसमें अभाव नहीं है।

इन पौराणिक विशेषताओं के विद्यमान होने पर भी नेमिनाथकाव्य को पौराणिक महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इसमें शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षण इतने स्पष्ट तथा प्रचुर हैं कि इसकी पौराणिकता उनके सिन्धु-प्रवाह में पूर्णतया मज्जित हो जाती है। वर्ण्य वस्तु तथा अभिव्यञ्जना-शैली में वैषम्य, जो ह्रासकालीन संस्कृत-महाकाव्य की मुख्य विशेषता है, नेमिनाथमहाकाव्य में भरपूर विद्यमान है। शास्त्रीय महाकाव्यों की भाँति इसमें वस्तु-व्यापार के विविध वर्णनों की विस्तृत योजना की गयी है। वस्तुतः काव्य में इन्हीं का प्राधान्य है और इन्हीं के माध्यम से कवि-प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इसकी भाषा-शैलीगत प्रौढ़ता तथा गरिमा और चित्रकाव्य के द्वारा रचना-कौशल के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इसकी शास्त्रीयता का निश्चित उद्घोष है। इनके अतिरिक्त अलंकारों का भावपूर्ण विधान, काव्य-रुद्धियों का निष्ठापूर्वक विनियोग, तीव्र रसव्यञ्जना, सुमधुर छन्दों का प्रयोग, प्रकृति तथा मानव-सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण आदि शास्त्रीय काव्यों की ऐसी विशेषताएँ इस काव्य में हैं कि इसकी शास्त्रीयता में सन्देह नहीं रह जाता। अतः इसका विवेचन शास्त्रीय महाकाव्यों के अन्तर्गत किया जा रहा है।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

अधिकांश जैन काव्यों की रचना-पद्धति के विपरीत नेमिनाथमहाकाव्य में प्रान्त-प्रशस्ति का अभाव है। काव्य में भी कीर्तिराज के जीवन अथवा स्थितिकाल का कोई संकेत नहीं मिलता। अन्य ऐतिहासिक लेखों के आधार पर उनके जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। उनके अनुसार कीर्तिराज अपने समय के प्रख्यात तथा प्रभावशाली खरतरगच्छीय आचार्य थे। वे संखवाल गोत्रीय शाह कोचर के वंशज दीपा के कनिष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सम्बत् १४४६ में दीपा की पत्नी देवलदे की कुक्षि से हुआ था। उनका जन्म का नाम देल्हाकुंवर था। देल्हाकुंवर ने चौदह वर्ष की अल्पावस्था में, सम्बत् १४६३ की आषाढ़ कृष्ण एकादशी को, आचार्य जिनवर्धनसूरि से दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने नवदीक्षित कुमार

का नाम कीर्तिराज रखा। कीर्तिराज के साहित्य-गुरु भी जिनवर्द्धनसूरि ही थे। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर जिनवर्द्धनसूरि ने उन्हें सम्वत् १४७० में वाचनाचार्य पद पर और दस वर्ष पश्चात् जिनभद्रसूरि ने उन्हें, मेह्वे में, उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया। पूर्व-देशों का विहार करते समय जब कीर्तिराज का जैसलमेर में आगमन हुआ तो गच्छनायक जिनभद्रसूरि ने उन्हें सम्वत् १४६७ में आचार्य पद प्रदान किया। तत्पश्चात् वे कीर्तिरत्नसूरि नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने पच्चीस दिन की अनशन-आराधना के पश्चात् सम्वत् १५२५ में, ७६ वर्ष की प्रौढ़ावस्था में, धीरमपुर में देहोत्सर्ग किया। संघ ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया, जो अब भी विद्यमान है। जयकीर्ति तथा अभयविलासकृत गीतों से ज्ञात होता है कि सम्वत् १८७६ में गड़ाले (बीकानेर का समीपवर्ती ग्राम नाल) में उनका प्रासाद बनवाया गया था। नेमिनाथ काव्य के अतिरिक्त उनके कतिपय स्तवनादि भी उपलब्ध हैं।^२

नेमिनाथमहाकाव्य उपाध्याय कीर्तिराज की रचना है। कीर्तिराज को उपाध्याय पद सम्वत् १४८० में प्राप्त हुआ था और सं० १४६७ में वे आचार्य पद पर आसीन होकर कीर्तिरत्न सूरि बन चुके थे। नेमिनाथकाव्य स्पष्टतः सं० १४८० तथा १४६७ के मध्य लिखा गया होगा। सम्वत् १४६५ में लिखित इसकी प्राचीनतम प्रति के आधार पर नेमिनाथकाव्य को उक्त सम्वत् की रचना मानने की कल्पना की गई है।^३ यह हस्तप्रति काव्य का प्रथम आदर्श प्रतीत होता है, अतः उक्त कल्पना तथ्य के बहुत निकट है।

कथानक

नेमिनाथमहाकाव्य के बारह सर्गों में तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित निबद्ध करने का उपक्रम है। कवि ने जिस परिवेश में जिन-चरित प्रस्तुत किया है, उसमें उसकी कतिपय प्रमुख घटनाओं का ही निरूपण हो सका है।

प्रथम सर्ग में यादवराज समुद्रविजय की पत्नी शिवादेवी के गर्भ में जिनेश्वर के अवतरण का वर्णन है। अलंकारों की विवेकपूर्ण योजना तथा विम्बवैविध्य के द्वारा कवि राजधानी सूर्यपुर तथा समुद्रविजय के विविध गुणों का रोचक कवित्वपूर्ण चित्र अंकित कर में सफल हुआ है। द्वितीय सर्ग में शिवदेवी परम्परागत चौदह स्वप्न देखती है। समुद्रविजय स्वप्नफल बतलाते हैं कि इन स्वप्नों के दर्शन से तुम्हें प्रतापी पुत्र प्राप्त होगा, जो अपने भुजबल से चारों दिशाओं को जीतकर चौदह भुवनों का अधि-

२. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—सर्वश्री अगरचन्द नाहटा तथा भंवरलाल नाहटा द्वारा संपादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह', पृ० ३६-४०.

३. जिनरत्नकोश, विभाग, १ पृ० २१७.

पति बनेगा । प्रभात वर्णन नामक इस सर्ग के शेषांश में प्रभात का मार्मिक वर्णन है । तृतीय सर्ग में ज्योतिषी उक्त स्वप्नफल की पुष्टि करते हैं । समय पर शिवा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । चतुर्थ सर्ग में दिक्कुमारियां नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं । पंचम सर्ग में इन्द्र शिशु को जन्माभिषेक के लिए मेरु पर्वत पर ले जाता है । इस प्रसंग में मेरु का प्रौढ़ वर्णन किया गया है । छठे सर्ग में शिशु के स्नात्रोत्सव का अनुष्ठान किया जाता है । सातवें सर्ग में चेटियों से पुत्र-जन्म का समाचार पाकर समुद्रविजय आनन्दविभोर हो जाता है । शिशु का नाम अरिष्टनेमि रखा गया । आठवें सर्ग में अरिष्टनेमि के शारीरिक सौन्दर्य एवं शक्तिमत्ता का तथा परम्परागत छह ऋतुओं का हृदयग्राही वर्णन है । एक दिन नेमिनाथ ने पांचजन्य को कौतुकवश इस वेग से फूँका कि तीनों लोक भय से कम्पित हो गये । नवें सर्ग में नेमिनाथ के माता-पिता के आग्रह से श्रीकृष्ण की पत्नियां नाना युक्तियां देकर उन्हें वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने का प्रयास करती हैं । मोक्ष का लक्ष्य सुख-प्राप्ति है, किन्तु यदि वह विषयों के भोग से ही मिल जाये, तो कष्टदायक तप की क्या आवश्यकता ? नेमिनाथ उनकी युक्तियों का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हैं । उनके लिए मोक्ष-जन्य आनन्द तथा विषय-सुख में उतना ही अन्तर है जितना गाय तथा स्तुही के दूध में । किन्तु माता-पिता के अत्यधिक आग्रह से वे, केवल उनकी इच्छापूर्ति के लिए, गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करना स्वीकार कर लेते हैं । उग्रसेन की लावण्यवती पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित होता है । दशवें सर्ग में नेमिनाथ वधूगृह को प्रस्थान करते हैं । यहीं उन्हें देखने को लालायित पुरसुन्दरियों के सम्भ्रम तथा तज्जन्य चेष्टाओं का रोचक वर्णन है । वधूगृह में बारात के भोजन के लिए बंधे हुए, मरणासन्न निरीह पशुओं का चीत्कार सुनकर, उन्हें आत्मग्लानि होती है, और वे विवाह को बीच में ही छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं । ग्यारहवें सर्ग के पूर्वार्द्ध में अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से अपमानित राजीमती का करुण विलाप है । मोह-संथम-युद्ध-वर्णन नामक इस सर्ग के उत्तरार्द्ध में मोह और संथम के प्रतीकात्मक युद्ध का अतीव रोचक वर्णन है । पराजित होकर मोह नेमिनाथ के हृदय-दुर्ग को छोड़ देता है जिससे उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है । बारहवें सर्ग में श्रीकृष्ण आदि यादव केवलज्ञानी प्रभु की वन्दना के लिये उज्जयन्त पर्वत पर जाते हैं । जिनेश्वर की देशना के प्रभाव से उनमें से कुछ दीक्षा ग्रहण करते हैं और कुछ श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं । जिनेन्द्र राजीमती को चरित्र-रथ पर बैठाकर मोक्षपुरी भेज देते हैं और कुछ समय पश्चात् अपनी प्राणप्रिया से मिलने के लिए स्वयं भी परम पद को प्रस्थान करते हैं ।

कथानक के निर्वाह की दृष्टि से नेमिनाथमहाकाव्य को निर्दोष नहीं कहा जा सकता । कीर्तिराज का कथानक अत्यल्प है, किन्तु कवि ने उसे विविध वस्तु-वर्णनों,

से मांसल बनाकर बारह सर्गों का रूप दे दिया है । यह विस्तार महाकाव्य की कलेवर-पूर्ति के लिये भले ही उपयुक्त हो, इससे कथाप्रवाह की सहजता नष्ट हो गयी है । समूचा काव्य सूर्यपुर, प्रभात, जन्माग्निषेक, मेरु, षड्भुज, पौर नारियों की चेष्टाओं, प्रतीकात्मक युद्ध, वन आदि की लम्बी शृंखला है । इन सेतुओं से टकराती हुई कथावस्तु की धारा रुक-रुक कर मन्द गति से आगे बढ़ती है । कथानक की गत्यात्मकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि तृतीय सर्ग में हुए पुत्र-जन्म की सूचना समुद्रविजय को, सातवें सर्ग में मिलती है । मध्यवर्ती तीन सर्ग शिशु के सूतिकर्म, स्नातोत्सव आदि के वर्णनों पर खपा दिए गए हैं । तुलनात्मक दृष्टि से यहां यह जानना रोचक होगा कि रघुवंश में, द्वितीय सर्ग में जन्म लेकर रघु, चतुर्थ सर्ग में, दिग्विजय से लौट भी आता है । काव्य के अधिकांश का मूल कथावस्तु के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध है । इसलिए काव्य का कथानक लंगड़ाता हुआ ही चलता है । किन्तु यह स्मरणीय है कि तत्कालीन महाकाव्य-परिपाटी ही ऐसी थी कि मूलकथा के सफल विनियोग की अपेक्षा विषयान्तरों को पल्लवित करने में ही काव्यकला को सार्थकता मानी जाती थी । अतः कीर्तिराज को इसका सारा दोष देना न्याय्य नहीं । वस्तुतः, उन्होंने इन वर्णनों को अपनी बहुश्रुतता का क्रीडांगन न बनाकर तत्कालीन काव्यरुढ़ि के लौहपाश से बचने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है ।

नेमिनाथमहाकाव्य के आधारस्रोत

नेमिचरित का आधारभूत प्राचीनतम आप्त ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र है । इसमें निरूपित नेमिचरित में रथनेमि तथा राजीमती के प्रसंग की प्रधानता है जिससे नेमिनाथ के जीवन की कतिपय प्रमुख रेखाएँ ही प्रस्फुटित हो सकी हैं । उत्तराध्ययन के अतिरिक्त जैन साहित्य में नेमिप्रभु के जीवनवृत्त के तीन मुख्य स्रोत हैं—जिनसेन प्रथम का हरिवंश पुराण (७८३ ई०), गुणभद्र का उत्तरपुराण (८९७ ई०) तथा हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (बारहवीं शताब्दी) । इन उपजीव्य ग्रन्थों में नेमिचरित की प्रमुख रेखाओं के आधार पर, भिन्न-भिन्न शैली में, उनके जीवनचित्र का निर्माण किया गया है । हरिवंश में यह प्रकरण बहुत विस्तृत है । जिनसेन ने नौ विंशाल सर्गों में जितेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है । कवि की धीर-गम्भीर शैली, अलंकृत एवं प्रौढ़ भाषा तथा समर्थ कल्पना के कारण यह पौराणिक प्रसंग महाकाव्य का आभास देता है और उसकी भाँति तीव्र रसवत्ता का आस्वादन कराता है । उत्तरपुराण में नेमिचरित का सरसरा-सा वर्णन है । जिस प्रकार गुणभद्र ने उसका प्रतिपादन किया है, उससे नेमिनाथ का विवाह और प्रव्रज्या,

४. उत्तराध्ययनसूत्र, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७,

श्रीकृष्ण के कपटपूर्ण षड्यन्त्र के परिणाम प्रतीत होते हैं। माधव नेमि से अपना राज्य सुरक्षित रखने के लिए पहले विवाह द्वारा उनका तेज जर्जर करने का प्रयत्न करते हैं और फिर वध्य पशुओं के हृदयद्रावक चीत्कार से उनके वैराग्य को दीप्त कर उन्हें संसार से विरक्त कर देते हैं (७१।१४३-१४४, १५३-१६८)। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में नेमिचरित को सम्पूर्ण आठवें पर्व का विषय बनाने का उपक्रम किया गया है किन्तु उसका अधिकांश श्रीकृष्ण तथा उनके अभिन्न सखा पाण्डवों के इतिवृत्त ने ह्रुष लिया है जिसके फलस्वरूप मूल कथानक दो सगों (१,६) में सिमट कर रह गया है और यह पर्व त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का हरिवंश बन गया है।

नेमिप्रभु के चरित के आधार पर जैन-संस्कृत-साहित्य में दो महाकाव्यों की रचना हुई है। कीर्तिराज के प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त वाग्भट का नेमिनिर्वाण (१२ वीं शताब्दी) इस विषय पर आधारित एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। दोनों काव्यों में प्रमुख घटनाएँ समान हैं, किन्तु उनके प्रस्तुतीकरण तथा अलंकरण में बहुत अन्तर है। वाग्भट ने कथावस्तु के स्वरूप और पल्लवन में बहुधा हरिवंशपुराण का अनुगमन किया है। नेमिनिर्वाण में वर्णित जिन-जन्म से पूर्व समुद्रविजय के भवन में रत्न-वृष्टि, नेमिनाथ की पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, केवलज्ञान प्राप्ति, धर्मोपदेश तथा निर्वाणप्राप्ति आदि घटनाएँ जिनसेन के विवरण पर आधारित हैं। नेमिनाथ महाकाव्य का आधार-स्रोत हेमचन्द्राचार्य का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित है। कीर्तिराज ने त्रि० श० पु० चरित के अकाव्योचित प्रसंगों को छोड़कर उसमें वर्णित नेमिचरित को यथावत् ग्रहण किया है। दोनों में शिवा के स्वप्नों की संख्या (१४) तथा क्रम समान है।^१ अपराजित विमान से च्युत होकर जिनेश्वर, दोनों काव्यों के अनुसार कात्तिक कृष्ण द्वादशी को माता के गर्भ में अवतरित होते हैं। जिन-माता को अस्वापिनी विद्या से सुलाने का उल्लेख हेमचन्द्र के काव्य में उपलब्ध नहीं है। अपने कथानक को पुराण-कथा की भाँति विस्तृत होने से बचाने के लिये कीर्तिराज ने नेमिप्रभु के पूर्वभवों के अनुपातहीन नीरस वर्णनों को काव्य में स्थान नहीं दिया। उनके तप, समवसरण तथा धर्मोपदेश का भी चलता-सा उल्लेख किया है जिससे उसका कथानक नेमिनिर्वाण जैसे विस्तृत वर्णनों से मुक्त है। नेमिनाथ के विवाह से विमुख होने तथा राजीमती के तज्जन्य करुण विलाप का मार्मिक प्रकरण भी हेमचंद्र

५. नेमिनाथमहाकाव्य, २.१-१४, १.६०-६१, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), गायकवाड ओरियेंटल सोरीज, संख्या १३६, जिल्द ५, पृ० १६४

के काव्य पर आधारित है।^१ किन्तु नेमिचरित का एक प्रसंग ऐसा है, जिसमें बाग्भट तथा कीर्तिराज दोनों ने परम्परागत कथा-रूप में नयी उद्भावना की है। पौराणिक स्रोतों के अनुसार श्रीकृष्ण यह जानकर कि मेरी पत्नियों के साथ जलविहार करते समय नेमिकुमार के हृदय में काम का अंकुर फूट चुका है, उनका सम्बन्ध भोजसुता राजीमती से निश्चित कर देते हैं। किन्तु नेमि भावी हिंसा से उद्विग्न होकर विवाह को अघर में छोड़ देते हैं और परमार्थसिद्धि की साधना में लीन हो जाते हैं।^२ नेमिनाथ वीतराग होकर भी अपनी मातृतुल्या भाभी के प्रति आकृष्ट हों, यह क्षुद्र आचरण उनके लिये असम्भाव्य है। इस विसंगति को दूर करने के लिये बाग्भट ने प्रस्तुत सन्दर्भ को नया रूप दिया है, जो पौराणिक प्रसंग की अपेक्षा अधिक संगत है। उनके काव्य में (१-१-१०) स्वयं राजीमती रेवतक पर्वत पर युवा नेमिकुमार को देखकर, उनके रूप पर मोहित हो जाती है और उसमें पूर्वराग का उदय होता है। उधर श्रीकृष्ण नेमिकुमार के माता-पिता के अनुरोध से ही अग्रसेन से विवाह-प्रस्ताव करते हैं। कीर्तिराज इस परिवर्तन से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्हें राजीमती जैसी सती का साधारण नायिका की भाँति नायक को देखकर कामाकुल होना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता। फलतः नेमिनाथमहाकाव्य में कृष्ण की पत्नियाँ विविध तर्कों तथा प्रलोभनों से नेमि को कामोन्मुख करने की चेष्टा करती हैं। उनके विफल होने पर माता शिवा उन्हें विवाह के लिए प्रेरित करती हैं, जिनके आग्रह को नेमिनाथ अस्वीकार नहीं कर सके (६-४-४१)। नेमि की स्वीकृति से उनके विवाह का प्रबन्ध करना निस्सन्देह अधिक विचारपूर्ण तथा उनके उदात्त चरित्र की गरिमा के अनुकूल है। इससे राजीमती के शील पर भी आँच नहीं आती। कीर्तिराज ने प्रस्तुत सन्दर्भ के गठन में अवश्य ही अधिक कौशल का परिचय दिया है।^३

६. नेमिनाथमहाकाव्य, १०.२८-३७, ११.१-१६, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (पूर्वोक्त), पृ० २६१-२६२

तुलना कीजिए—सो ऊण रायकक्षा पश्वज्जं सा जिणस्स उ ।

नीहासा य निराणन्दा सोणेण उ समुत्थया ॥

उत्तराध्ययनसूत्र, २२.२८

७. हरिवंशपुराण, ५५.७१-७२, ८४-१००, उत्तरपुराण, ७१.१४३-१७०

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में श्री कृष्णपत्नियों तथा नेमिकुमार की जलक्रीडा का वर्णन है, किन्तु उसमें नेमि, श्रीकृष्ण की पत्नियों के अनुनय से, विवाह की स्वीकृति देते हैं। पूर्वोक्त अंग्रेजी अनुवाद, पृ. २५३-२५४

८. नेमिनाथमहाकाव्य के आधार स्रोतों के बिस्तृत विवेचन के लिये देखिए काव्य के हमारे संस्करण की भूमिका, पृ. ३३-३८

नेमिनाथ महाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय काव्यरूढ़ियाँ

संस्कृत महाकाव्यों की रचना एक निश्चित ढर्रे पर हुई है जिससे उनमें अनेक शिल्पगत समानताएँ दृष्टिगम्य होती हैं। शास्त्रीय मानदण्डों के निर्वाह के अतिरिक्त उनमें कतिपय काव्यरूढ़ियों का तत्परता से पालन किया गया है। यहाँ नेमिनाथ महाकाव्य में प्रयुक्त दो रूढ़ियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि काव्य में इनका विशिष्ट स्थान है तथा ये इन रूढ़ियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये रोचक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। प्रथम रूढ़ि का संबंध प्रभात-वर्णन से है। प्रभात-वर्णन की परम्परा कालिदास तथा उनके परवर्ती अनेक महाकाव्यों में उपलब्ध है। कालिदास का प्रभात-वर्णन (रघुवंश, ५-६६-७५), आकार में छोटा होता हुआ भी, मार्मिकता में बेजोड़ है। माघ का प्रभात-वर्णन बहुत विस्तृत है, यद्यपि प्रातःकाल का इस कोटि का अलंकृत वर्णन समूचे साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य काव्यों में प्रभात-वर्णन के नाम पर पिष्टपेषण अधिक हुआ है। कीर्तिराज का यह वर्णन कुछ लम्बा अवश्य है, किन्तु वह यथार्थता तथा सरसता से परिपूर्ण है। माघ की भांति उसने न तो दूर की कौड़ी फेंकी है और न वह ज्ञान-प्रदर्शन के फेर में पड़ा है। उसने कुशल चित्रकार की भांति, अपनी प्रांजल शैली में, प्रातःकालीन प्रकृति के मनोरम चित्र अंकित करके तत्कालीन वातावरण को उजागर कर दिया है।^१ मागधों द्वारा राजस्तुति, हाथी के जाग कर भी, मस्ती के कारण, आँखें न खोलने तथा करबट बदल कर शृंखला-रक् करने^२ और छोड़ों द्वारा नमक चाटने की रूढ़ि का भी, इस प्रसंग में, प्रयोग किया गया है। अपनी स्वाभाविकता तथा मार्मिकता के कारण कीर्तिराज का यह वर्णन उत्तम प्रभात-वर्णनों से होड़ कर सकता है।

नायक को देखने को उत्सुक और युवतियों की आकुलता तथा तज्जन्य चेष्टाओं का वर्णन करना संस्कृत-महाकाव्यों की एक अन्य बहु-प्रचलित रूढ़ि है, जिसका प्रयोग नेमिनाथ महाकाव्य में भी हुआ है। बौद्ध कवि अश्वघोष से आरम्भ होकर कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई यह रूढ़ि कतिपय जैन महाकाव्यों का अनिवार्य-सा अंग बन गया है। अश्वघोष और कालिदास का यह वर्णन अपने सहज लावण्य से अमूल्य है। परवर्ती कवियों के वर्णनों में इन्हीं के भावों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। माघ के वर्णन में, उनके अन्य अधिकांश वर्णनों के समान, विलासिता की प्रधानता है। कीर्तिराज का सम्भ्रम-चित्रण यथार्थता से ओत-प्रोत है, जिससे पाठक के

१. ध्याने मनः स्वं मुनिर्बिलम्बितं विलम्बितं कर्कशरोचिषा तमः ।

मुष्पाप यस्मिन् कुमुदं प्रभासितं प्रभासितं पंकजबान्धवोपलैः ॥

नेमिनाथकाव्य, २.४१.

हृदय में पुरसुन्दरियों की त्वरा सहसा प्रतिबिम्बित हो जाती है। नारी के नीवी-स्खलन अथवा अधोवस्त्र के गिरने का वर्णन, इस सन्दर्भ में, प्रायः सभी कवियों ने किया है। कालिदास ने अधीरता को नीवी-स्खलन का कारण बता कर मर्यादा की रक्षा की है।^{११} भाघ ने इसका कोई कारण नहीं दिया जिससे उसका विलासी रूप अधिक मुखर हो गया है।^{१२} नग्न नारी को जनसमूह में प्रदर्शित करना जैन यति की पवित्रतावादी वृत्ति के प्रतिकूल था। अतः उसने इस रूढ़ि को काव्य में स्थान नहीं दिया। इसके विपरीत काव्य में उत्तरीय के गिरने का वर्णन किया गया है। शुद्ध नैतिकतावादी दृष्टि से तो शायद यह भी औचित्यपूर्ण नहीं है किन्तु नीवी-स्खलन की तुलना में यह अवश्य क्षम्य है और कवि ने इसका जो कारण दिया है उससे तो पुरसुन्दरी पर कामुकता का दोष आरोपित ही नहीं किया जा सकता। कीर्तिराज की नायिका हाथ के आर्द्र प्रसाधन के मिटने के भय से, गिरते उत्तरीय को नहीं पकड़ती और उसी अवस्था में वह गवाक्ष की ओर दौड़ जाती है।^{१३}

प्रकृति-चित्रण

नेमिनाथ-महाकाव्य की भावसमृद्धि तथा काव्यमत्ता का प्रमुख कारण इसका मनोरम प्रकृति-चित्रण है, जिसके अन्तर्गत कवि की काव्य-प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है। कीर्तिराज का प्रकृति-वर्णन प्राकृतिक तथ्यों का कोरा आकलन नहीं अपितु सरसता से ओत-प्रोत तथा कविकल्पना से उद्भासित काव्यांश है। महाकाव्य के अन्य पक्षों की भाँति कवि ने प्रकृति-चित्रण में भी अपनी सुरुचि का परिचय दिया है। कालिदासोत्तर महाकाव्य में प्रकृति के उद्दीपन पक्ष की पार्श्वभूमि में, उक्तिवैचित्र्य के द्वारा नायक-नायिकाओं के विलासितापूर्ण चित्र अंकित करने की परिपाटी है। प्रकृति के आलम्बन-पक्ष के प्रति उत्तरवर्ती कवियों का अनुराग नहीं है। कीर्तिराज ने भी प्रकृति-चित्रण में वक्रोक्ति का आश्रय लिया है और पूर्ववर्ती कवियों की तरह श्रुत-वर्णन आदि प्रसंगों में यमक का मुक्तता से प्रयोग किया है, किन्तु प्रकृति के स्वाभाविक रूप का अंकन करने में उसका मन अधिक रमा है और इसमें ही उसकी काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। उसके उन वर्णनों में भी, जिन्हें आलंकारिक कहा जा सकता है, प्रकृति के स्वाभाविक रूप का चित्रण किया गया है।

११. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्ना न बबन्ध नीवीम् । रघुवंश, ७.६.

१२. अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः कररुद्धनीवीगलदंशुकाः स्त्रियः । शिशुपालवध, १३.३१

१३. काचित्कराद्रप्रतिकर्मसंगमयेन हित्वा पततुत्तरीयम् ।

मंजीरवाचालपदारविन्दा द्रुतं गवाक्षाभिमुखं चचाल ॥ नेमिनाथमहाकाव्य, १०.१३

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण कीर्तिराज के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का द्योतक है। वर्षा विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करने के पश्चात् अंकित किये गये ये चित्र सजीवता से स्पन्दित हैं। अपने वर्णन को हृदयंगम तथा कल्पना से तरलित बनाने के लिए कवि ने विविध अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग किया है, परन्तु अलंकृति का यह भीना आवरण प्रकृति के सहज रूप का गोपन नहीं कर सकता। द्वितीय सर्ग के प्रभात-वर्णन के लिए यह उक्ति विशेष सार्थक है।^{१४} हेमन्त में दिन क्रमशः छोटे होते जाते हैं और कुहासा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सुपरिचित तथा सुरुचिपूर्ण उपमानों से कवि ने इस हेमन्तकालीन तथ्य का ऐसा मार्मिक निरूपण किया है कि उपमित विषय तुरन्त प्रस्फुटित हो गया है।

उपययौ शनकैरिह लाघवं दिनगणो खलराग इवानिशम् ।

ववृधरे च तुषारसम्प्लवोऽनुसमयं मुजनप्रणया इव ॥८.४८

पावस में दामिनी की दमक, वर्षा की अविराम फुहार तथा शीतल बयार मादक वातावरण की सृष्टि करती हैं। पवन-भूकोरे खाकर मेघमाला मधुर-मन्द्र गर्जना करती हुई गगनांगन में घूमती फिरती है। कवि ने वर्षाकाल के इस सहज दृश्य को पुनः उपमा के द्वारा अंकित किया है, जिससे अभिव्यक्ति को स्पष्टता तथा सम्पन्नता मिली है।

भरदधञ्जला कलगजिता सचपला अपलानिलनोदिता ।

विवि चचाल नवासुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपतेः ॥८.३८

कवि की इस निरीक्षण शक्ति तथा ग्रहणशीलता के कारण प्रस्तुत पद्य में शरत् के समूचे प्रमुख गुण साकार हो गये हैं।

आपः प्रसेदुः कलमा विपेचुहंसाश्चुकूजुर्जहसुः कजानि ।

सम्भूय सानन्दमिवावलेहः शरदगुणाः सर्वजलाशयेषु ॥८.८२

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का सर्वोत्तम चित्रण बारहवें सर्ग में, वन-वर्णन के अन्तर्गत, हुआ है। पक्षियों के कलरव से गुंजित तथा विविध फल-फूलों से लदी वन-राजि^{१५}, गीत की मधुर तान से मोहित मृगों के अपनी प्रियाशों के साथ चौकड़ी भरने^{१६} तथा फलभार से झुके धान के खेतों की पक्षियों से रखवाली करने वाले भोले किसानों का स्वभावोक्ति द्वारा अनलंकृत वर्णन कवि के प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है। इन

१४. ब्रष्टव्यः : यत्रेन्दुरस्ताखलवूलिकाश्रयी बभूव यावद् गलदंशुमण्डलः ।

स्नानना तावदभूत्कुमुदवती कुलांगनानां चरितं ह्यवः स्फुटम् ॥

वही, २.३२ तथा २.३४, ४०, ४१, ४३, ४७.

१५. वही, १२.४

१६. वही, १२.११

स्वभावोक्तियों में कीर्तिराज का सच्चा कवित्व प्रकट हुआ है ।

शुकशारिकाद्विकपिकादिपक्षितः परिरक्ष्यमाणमभितः कृषीवलः ।

प्रसमीक्ष्यतां स्वफलभारभंगुरं परिपक्वशालि वनमायतेक्षणि ॥१२.८

ह्लासकालीन महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुसार कीर्तिराज ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी पल्लवन किया है । उद्दीपन रूप में प्रकृति मानव की भावनाओं एवं मनोरोगों को भक्तभोर कर उसे अधीर बना देती है ! ऋतु-वर्णन में प्रकृति के उद्दीपन पक्ष के अनेक मनोहर चित्र अंकित हुए हैं । वसन्त के मोहक वातावरण में कामी जनों की विलासपूर्ण चेष्टाएं देखकर विरही पथिकों के संयम का बांध टूट जाता है और वे अपनी प्रियाओं से मिलने को आतुर हो जाते हैं^{१३} । हेमन्त का शीत बीतराग योगियों के मन को भी विचलित कर देता है^{१४} । प्रस्तुत पंक्तियों में स्मरपटह के सदृश घनगर्जना विलासी जनों की कामाग्नि को प्रज्वलित कर रही है जिससे वे रणझूर, कामरण में पराजित होकर, प्राणवल्लभाओं की मनुहार करने को विवश हो जाते हैं ।

स्मरपतेः पटहानिव वारिदान् नितदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।

समदना न्यपतन्मवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥८.३७

उद्दीपन पक्ष के इस वर्णन में प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गयी है और प्रेमी युगलों का भोग-विलास प्रमुख हो गया है, किंतु इसकी गणना उद्दीपन के अन्तर्गत ही की जाएगी ।

प्रियकरः कठिनस्तनकुम्भयोः प्रियकरः सरसार्वपल्लवैः ।

प्रियतमां समवीज्यदाकुलां नवरतां वरतान्तलतागृहे ॥८.२३

नेमिनाथ महाकाव्य में प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है । प्रकृति पर मानवीय भावनाओं तथा कार्यकलापों का आरोप करने से उसमें प्राणों का स्पन्दन होता है और वह मानव की तरह आचरण करने लगती है । प्रकृति के मानवीकरण से कीर्तिराज ने मानव तथा प्रकृति के सहज साहचर्य को रेखांकित किया है । प्रातःकाल, सूर्य के उदित होते ही, कमलिनी विकसित हो जाती है और औरि उसका रसपान करने लगते हैं । कवि ने इसका चित्रण सूर्य पर नायक और भ्रमरों पर परपुरुष का आरोप करके किया है । अपनी प्रेयसी को परपुरुषों से चुम्बित देखकर सूर्य (पति) क्रोध से लाल हो गया है और कठोर पादप्रहार से उस व्यभिचारिणी को दण्डित कर रहा है ।

१७. वही, ८.२०

१८. वही, ८.५२

यत्र स्रग्भक्षमराननामबेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पयिनीम् ।

स्वप्रेयसी लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपार्श्वनिजघन तापनः ॥२.४२

निम्नोक्त पद्य में लताओं को प्रगल्भा नायिकाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो पुष्पवती होती हुई तरुणों के साथ बाह्य रति में लीन हैं ।

कोमलांग्योऽपि लताकास्ताः प्रवृत्ता यस्य कानने ।

पुष्पवत्योऽप्यहो चित्रं तरुणालिगनं व्यधुः ॥१.४१

काव्य में प्रकृति का अलंकृत चित्रण कवि-कल्पना से दीपित है । विविध अलंकारों का आश्रय लेकर कीर्तिराज ने प्रकृति का जो वर्णन किया है वह उसकी काव्य-प्रतिभा का परिचायक है । इस कल्पनाशीलता के कारण सामान्य प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन भी काव्य-सुषमा के उच्च धरातल का स्पर्श करता है । मेरु की उपत्यका का श्यामल वन ऐसा प्रतीत होता है मानो कटिप्रदेश से गिरा उसका नील परिधान हो (५.२६) । सरोवरों में खिले कमलों की पंक्तियाँ, जिन पर भौरे बैठे थे, ऐसी शोभित हुई मानो जलदेवता ने शरत् के नवीन सौन्दर्य देखने के लिये नाना प्रकार से अपनी आँखें उधाड़ी हों ।

समधुपाः स्मितपंकजपंक्तयो दहचिरे रुचिरेषु सरःस्वथ ।

नवशरच्छिद्यमीक्षितुमातनोदिव दशः शतधा जलदेवता ॥८.४१

अलंकृत वर्णन के अन्तर्गत कीर्तिराज ने कहीं-कहीं दूर की कौड़ी फेंकी है । मेरुपर्वत को खलिहान के मध्यवर्ती खूटे का रूप देने की आकुरता के कारण, रूपक की पूर्ति के लिये, ज्योतिश्चक्र, अन्धकार तथा आकाश पर क्रमशः बेलों, अन्न तथा खलिहान का आरोप करना दूरारूढ़ कल्पना है ।

ज्योतिष्कचक्रोऽक्षकदम्बकेन विने रजन्यां ज विगाह्यमाने ।

तमोऽन्नभृद्व्योमखले विशाले बधाति यश्चान्तरकीलकत्वम् ॥५.४६

इस प्रकार कीर्तिराज ने प्रकृति के विविध रूपों का विविध शैलियों में वर्णन किया है । पूर्ववर्ती संस्कृत महाकाव्यकारों की भाँति उसने प्रकृतिचित्रण में यमक की व्यापक योजना की है, किन्तु उसका यमक न केवल दुरुहता से मुक्त है अपितु इससे प्रकृति-वर्णन की प्रभावशालिता में वृद्धि हुई है ।

सौन्दर्य-चित्रण

नेमिनाथ-महाकाव्य में कतिपय पात्रों के कायिक सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण किया गया है, किन्तु कवि की कला की विभूति राजीमती तथा देवांगनाओं के चित्रों को ही मिली है । चिर-प्रतिष्ठित परम्परा के अनुरूप कीर्तिराज ने नखशिखविधि से अपने पात्रों के अंगों-प्रत्यंगों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है । वर्णन-प्रणाली की भाँति उसके अधिकतर उपमान भी चिरपरिचित तथा रूढ़ हैं, किन्तु उसकी काव्य-

प्रतिभा के कारण उसके सभी सौन्दर्य-वर्णनों में बराबर रोचकता बनी रहती है। नवीन उपमान उसकी काव्यकला को हृदयंगम बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। निम्नोक्त पद्य में देवांगनाओं की जघनस्थली की तुलना कामदेव की आसनगद्दी से की गयी है, जिससे उसकी पुष्टता तथा विस्तार का तुरन्त भान हो जाता है।

वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलम्बकाचीगुणजात्यरत्ना ।

विभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगद्दिकेव ॥६.४७

इसी प्रकार राजीमती की जंघाओं को कदलीस्तम्भ तथा कामगज के आलान के रूप में चित्रित करके एक ओर उनकी मुडौलता तथा शीतलता को व्यक्त किया गया है, दूसरी ओर उनकी बशीकरण-क्षमता का संकेत कर दिया गया है।

बभ्रावुरुगुगं यस्याः कदलीस्तम्भकोमलम् ।

आलान इव दुर्वन्त-मीनकेतन-हस्तिनः ॥ ६.४४

नेमिनाथ महाकाव्य में उपमान की अपेक्षा उपमेय अंगों का वैशिष्ट्य बता कर व्यतिरेक के द्वारा पात्रों का सौन्दर्य चित्रित करने की विधि भी अपनायी गयी है। नवयौवना राजीमती के लोकोत्तर सुख-सौन्दर्य को कवि ने इसी पद्धति से संकेतित किया है। उसकी मुख-माधुरी से परास्त होकर लावण्यनिधि चन्द्रमा मुंह छिपाने के लिये आकाश में मारा-मारा फिर रहा है।

यस्या बक्त्रजितः शंके लाघवं प्राप्य चन्द्रमाः ।

तूलबद् वायुनोत्क्षिप्तो बभ्रमीति नभस्तले ॥ ६.४२

रसयोजना

परिवर्तनशील मनोरमों का यथातथ्य चित्रण करने में कीर्तिराज की सिद्धि-हस्तता निर्विवाद है। उसकी तूलिका का स्पर्श पाकर साधारण से साधारण प्रसंग भी रससिक्त हो गया है। कवि के इस कौशल के कारण, घासिक वृत्त पर आधारित होता हुआ भी, नेमिनाथमहाकाव्य पाठक को तीव्र रसानुभूति कराता है। शास्त्रीय नियम तथा काव्य के उद्देश्य एवं प्रकृति के अनुरूप इसमें शान्तरस की प्रधानता मानना न्यायोचित होगा, यद्यपि इसमें अंगीरस-सुलभ तीव्रता का अभाव है। करुण, शृंगार, रौद्र आदि का भी काव्य में यथोचित परिपाक हुआ है। अधिकांश जैन काव्यों की भाँति नेमिनाथमहाकाव्य का पर्यवसान शान्त रस में होता है। शान्तरस का आधार-भूत तत्त्व (स्थायी भाव) निर्वेद है, जो काव्य-नायक के जीवन में आद्यन्त अनुस्यूत है। और अन्ततः वे केवलज्ञान के सोपान से ही परम पद की अट्टालिका में प्रवेश करते हैं। वधूगृह के ग्लानिपूर्ण हिसक दृश्य को देखकर तथा कृष्ण-पत्नियों की कामुकतापूर्ण युक्तियाँ सुनकर उनकी वैराग्यशीलता का प्रबल होना स्वाभाविक था। इन प्रसंगों में शान्त रस की यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है। नेमिप्रभु की देशना का प्रस्तुत अंश

भनुष्य को विषय-आकर्षणों तथा सम्बन्धों की क्षणिकता का भान करा कर उसे मोक्ष की ओर उन्मुख करता है।

दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वरं सुकृतं विना न च भवेत्तथा सुखम् ।
तदवश्यमेव विबुषा सुखाधिना सुकृतं सर्वेय करणीयमावरात् ॥ १२.४४
विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभक्तोऽपि च ।
विघटते नहि केवलमात्मनः सुकृतमत्र परत्र च संचितम् ॥ १२.४७

नेमिनाथमहाकाव्य के कथानक की मूल प्रकृति शृंगार रस से असम्पृक्त है। वह आमूल-चूल निर्वेद से अनुप्राणित है। काव्य के केवल एक-दो प्रसंगों में शृंगार की आभा दिखाई देती है। देवांगनाओं तथा राजीमती के सौन्दर्य-वर्णन में शृंगार के आलम्बन विभाव की प्रतिष्ठा है। श्रीकृष्ण की पत्नियों की प्रलोभनकारी उक्तियों में नारी को संसार का सार तथा जीवन की सार्थकता के लिये उसका भोग आवश्यक माना गया है^{११}। श्रुतु-वर्णन के अन्तर्गत शृंगार के अनेक रमणीक चित्र अंकित हुए हैं। प्रकृति के उद्दीपन रूप से विचलित होकर प्रेमी युगलों के कामकेलियों में प्रवृत्त होने का संकेत प्रकृति-चित्रण के प्रकरण में किया गया है। वसन्त-वर्णन के निम्नलिखित पद्य में शृंगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उपवन के मादक वातावरण में कामाकुल नायिका नए छैल पर रीझ गयी है। उसने उसे पुष्पचयन से विमुख कर तत्काल अपने मोहजाल में बांध लिया है।

उपवने पवनेरितपावये नवतरं बत रंतुमनाः परा ।

सकरुणा करुणावचये प्रियं प्रियतमा यतमानमवारयत् ॥ ८.२२

नेमिनाथमहाकाव्य में गौण रसों में, शृंगार के पश्चात् करुणरस का स्थान है। अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से शोकतप्त राजीमती के विलाप में करुण रस की सृष्टि हुई है। कुमारसम्भव के रतिविलाप की भांति यद्यपि इसमें उपालम्भ तथा क्रन्दन अधिक है तथापि यह हृदय की गहराई को छूने में समर्थ है।

अथ भोजनरेन्द्र पुत्रिका प्रविपुक्ता प्रभुणा तपस्विनी ।

व्यलपद् गलवधूलोचना शिथिलांगा लुठिता भहीतले ॥ ११.१

मयि कोऽयमधीश ! निष्ठूरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल !

विरहव्य निजाः स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहंगमा अपि ॥ ११.२

अपराधमते बिहाय मां यदि तामाद्रियसे व्रतस्त्रियम् ।

बहुभिः पुरुषैः पुरा धृतां नहि तस्मात्तु ! कुलोचितं तव ॥ ११.४

रीद्र रस का परिपाक पांचवें सर्ग में, इन्द्र के क्रोध के वर्णन में, हुआ है।

१६ कलं यौवनवृक्षस्य द्राम् गुहाण विचक्षण । वही, ६.११

संसार सारभूतो यः किलायं प्रमवाजनः । वही, ६.१५

सहसा सिंहासन हिलने से देवराज क्रोध से उन्मत्त हो जाता है। उसकी कोप-जन्म चेष्टाओं में रौद्ररस के अनुभावों की भव्य अभिव्यक्ति हुई है। क्रोध से उसके मांभ पर तेवड़ पड़ जाते हैं, भौंहें सांप-सी भीषण हो जाती हैं, आंखें आग बरसाने लगती हैं और दाँत किटकिटा उठते हैं।

तलाटपट्टं भ्रुकुटीभयानकं भ्रुवौ भुजंगाविव वारुणाकृती ।

दृशः करालाः ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डार्यमाभं मुखमादधेऽसौ ॥

दवंश दन्तं रुषया हरिनिजौ रसेन शय्या अधराविवाधरौ ।

प्रस्फोरयामास करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योत्पन्नपल्लवाविव ॥ ५-३-४.

प्रतीकात्मक सन्नट मोह के दूत तथा संयमराज के नीतिनिपुण मन्त्री विवेक की उक्तियों में ग्यारहवें सर्ग में, वीर रस की कमनीय भाँकी देखने को मिलती है।

यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभोः प्रतिगृह्णतु तदा तु ताम्यपि ।

परमेव विलोलजिह्वा कपटी भाषयते जगज्जनम् ॥ ११-४४

चरित्रचित्रण

नेमिनाथमहाकाव्य के संक्षिप्त कथानक में पात्रों की संख्या भी सीमित है। कथानायक नेमिनाथ के अतिरिक्त उनके पिता समुद्रविजय, माता शिवादेवी, राजीमती, उग्रसेन, प्रतीकात्मक सन्नट मोह तथा संयम और दूत कैतव एवं मन्त्री विवेक काव्य के पात्र हैं। परन्तु इन सब की चरित्रगत विशेषताओं का निरूपण करने में कवि को समान सफलता नहीं मिली है।

नेमिनाथ

जिनेश्वर नेमिनाथ काव्य के नायक हैं। उनका चरित्र मूल पौराणिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। वे देवोचित विभूति तथा शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके घरा पर अवतीर्ण होने से ही समुद्रविजय के समस्त शत्रु निस्तेज हो जाते हैं। दिक्कुमारियों उनका सूतिकर्म करती हैं तथा उनके जन्माभिषेक के लिये स्वयं सुरपति इन्द्र जिनगूढ़ में आता है। पाँचजन्य को फूँकना तथा शक्तिपरीक्षा में षोडशकला सम्पन्न श्रीकृष्ण को पराजित करना उनकी दिव्य शक्तिमत्ता के प्रमाण हैं।

नेमिनाथ का समूचा चरित्र विरक्ति के केन्द्रबिन्दु के चारों ओर घूमता है। वे वीतराग नायक हैं। जीवन की भादक अवस्था में भी वैषयिक सुख उन्हें अभिभूत नहीं कर पाते। कृष्ण-पत्नियौ नाना प्रलोभन तथा तर्क देकर उन्हें विवाह करने को प्रेरित करती हैं, किन्तु वे हिमालय की भाँति अडिग तथा अडोल रहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि वैषयिक सुख परमार्थ के शत्रु हैं। उनसे आत्मा उसी प्रकार तृप्त नहीं होती जैसे जलराशि से सागर और काठ से अग्नि। उनके विचार में कामा-सुर मूढ़ ही धमौषधि को छोड़ कर नारी रूपी औषध का सेवन करता है। वास्तविक

सुख ब्रह्मलोक में विद्यमान है ।

हितं धर्मोपधं हित्वा भूढाः कामज्वरादिताः ।

मुखप्रियमपप्यन्तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥ ६.२४

माता-पिता के प्रेम ने, उन्हें उस सुख की प्राप्ति के मार्ग से एक पग ही हटाया था कि उनकी वैराग्यशीलता तुरन्त फुफकार उठती है । बधूगृह में भोजनार्थ वध्य पशुओं का आर्त श्रन्दन सुनकर उनका निर्वेद प्रबल हो जाता है और वे विवाह को बीच में ही छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं । उनकी साधना की परिणति शिवत्व-प्राप्ति में होती है । अदम्य काम को पराजित करना उनकी धीरप्रशान्तता की प्रतिष्ठा है ।

समुद्रविजय

यदुपति समुद्रविजय कथानायक के पिता हैं । उनमें समूचे राजोचित गुण विद्यमान हैं । वे रूपवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न तथा प्रखर मेधावी हैं । उनके गुण अलंकरणमात्र नहीं हैं । वे व्यावहारिक जीवन में उनका उपयोग करते हैं । (शक्तेरनुगुणाः क्रियाः १.३६) । समुद्रविजय तेजस्वी शासक हैं । उनके बन्दी के शब्दों में अग्नि तथा सूर्य का तेज भले ही शान्त हो जाए, उनका पराक्रम अप्रतिहत है (७.२५) । उनके सिंहासनारूढ होते ही उनके शत्रु म्लान हो जाते हैं । फलतः शत्रु-लक्ष्मी ने उनका इस प्रकार वरण किया जैसे नवयौवना बाला विवाहवेला में पति का । उनका राज्य पाशविक बल पर आश्रित नहीं है । वे केवल क्षमा को नपुंसकता और निर्बाध प्रचण्डता को अखिवेक मान कर, इन दोनों के समन्वय के आधार पर ही राज्य का संचालन करते हैं (१.४३) । 'न खरो न भूयसा मृदुः' उनकी नीति का मूल मन्त्र है । प्रशासन के चारु संचालन के लिये उन्होंने न्यायप्रिय तथा शास्त्र-वेत्ता मन्त्री नियुक्त किये हैं (१.४७) । उनके स्मितकान्त ओष्ठ मिश्रों के लिये अक्षय कोश जुटाते हैं, तो उनकी भ्रूभंगिमा शत्रुओं पर वज्रपात करती है । (१.५२) । प्रजाप्रेम समुद्रविजय के चरित्र का विशिष्ट गुण है । यथोचित करव्यवस्था से उसने सहज ही प्रजा का विश्वास प्राप्त कर लिया (आकाराय ललो लोकाद् भागधेय न तृणया—१.४५)

समुद्रविजय पुत्रवत्सल पिता हैं । पुत्रजन्म का समाचार सुनकर उनकी बाछें खिल जाती हैं । पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य में वे मुक्तहस्त से धन वितरित करते हैं, बन्धियों को मुक्त कर देते हैं तथा जन्मोत्सव का ठाटदार आयोजन करते हैं, जो निरन्तर बारह दिन चलता है । समुद्रविजय अन्तस् से धार्मिक व्यक्ति हैं । उनका धर्म सर्वोपरि है । आर्हत धर्म उन्हें पुत्र, पत्नी, राज्य तथा प्राणों से भी अधिक प्रिय है (१.४२) ।

इस प्रकार समुद्रविजय त्रिवर्गसाधन में रत हैं । सुव्यवस्था तथा न्यायपरा-

मृणता के कारण उनके राज्य में समय पर वर्षा होती है, पृथ्वी रत्न उपजाती है और प्रजा चिरजीवी है। और वे स्वयं राज्य को इस प्रकार निश्चिन्त होकर भोगते हैं जैसे कामी कामिनी की कंचन-काया को।

समृद्धमभजद्वाज्यं स समस्तनयामलम् ।

कामीव कामिनिकायं ससम-स्तन-यामलम् ॥ १.५४

राजीमती

राजमती काव्य की दृढनिश्चयी सती नायिका है। वह शील-सम्पन्न तथा भुल रूपवती है। उसे नेमिनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था, किंतु क्रूर विधि ने, पलक झपकते ही, उसकी नवोदित आशाओं पर पानी फेर दिया। विवाह में भावी व्यापक हिंसा से उद्विग्न होकर नेमिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इस अकारण निराकरण से राजीमती स्तब्ध रह जाती है। बन्धुजनों के समझाने बुझाने से उसके तप्त हृदय को सान्त्वना तो मिलती है, किन्तु उसका जीवन कोश रीत ख़ा है। वह मन से नेमिनाथ को सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी, अतः उसे संसार में अन्य कुछ भी ग्राह्य नहीं। जीवन की सुख-सुविधाओं तथा प्रलोभनों का तृणवत् परित्याग कर वह तप का कंटीला मार्ग ग्रहण करती है और केवलज्ञानी नेमिप्रभु से पूर्व परम पद पाकर अद्भुत सौभाग्य प्राप्त करती है।

उग्रसेन

भोजपुत्र उग्रसेन का चरित्र मानवीय गुणों से भूषित है। वह उच्चकुल-प्रसूत तथा नीतिकुशल शासक है। वह शरणागतवत्सल, गुणरत्नों की निधि तथा कीर्तिलता का कानन है। लक्ष्मी तथा सरस्वती, अपना परस्परगत बँर छोड़ कर, उसके पास एक-साथ रहती हैं। विपक्षी नृपगण उसके तेज से भीत होकर कन्याओं के उपहारों से उसका रोष शान्त करते हैं।

अन्य पात्र

शिवादेवी नेमिनाथ की माता है। काव्य में उसके चरित्र का विकास नहीं हुआ है। प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा संयम राजनीतिकुशल शासकों की भाँति आचरण करते हैं। मोहराज दूत कैतव को भेज कर संयम-नृपति को नेमिनाथ का हृदय-दुर्ग छोड़ने का आदेश देता है। दूत पूर्ण निपुणता से अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है। संयमराज का मन्त्री विवेक दूत की उक्तियों का मुँह तोड़ उत्तर देता है।

भाषा

नेमिनाथमहाकाव्य की सफलता का अधिकांश श्रेय इसकी प्रसादपूर्ण तथा प्राजल भाषा को है। उक्तिवैचित्र्य, अलंकरणप्रियता आदि समकालीन प्रवृत्तियों के

प्रबल आकर्षण के समक्ष आत्म-समर्पण न करना कीर्तिराज की भाषात्मक सुलचि का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित गरिमा तथा प्राणवत्ता से मण्डित है। कवि का भाषा पर यथेष्ट अधिकार है किन्तु अनावश्यक अलंकरण की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है। इसीलिये उसके काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का मनोरम समन्वय है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा की मुख्य विशेषता उसका सन्तुलन है। वह प्रत्येक भाव अथवा परिस्थिति को तदनुकूल शब्दावली में व्यक्त करने में समर्थ है किन्तु प्रांजलता की अन्तर्धारा उसमें सर्वत्र प्रवाहित है। श्लेष तथा यमक जैसे शब्दालंकार भी उसकी प्रांजलता को आहत नहीं कर सके। भावानुकूल शब्दों के विवेकपूर्ण चयन तथा कुशल गुम्फन से ध्वनिसौन्दर्य की सृष्टि करने में कवि सिद्ध-हस्त है। अनुप्रास तथा यमक के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य में मधुर भ्रंश्रुति का समावेश हो गया है। प्रस्तुत पद्य में यह विशेषता देखी जा सकती है।

गुहणा च यत्र तद्वणाऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा ।

कमनानुरैति रमणैकमना रमणी सुरस्य शुचिहारमणी ॥ ५.५१

यद्यपि समूचा काव्य प्रसाद-गुण की माधुरी से ओत-प्रोत है, किन्तु सातवें तथा नवें सर्ग में प्रसाद का सर्वोत्तम रूप दीख पड़ता है। इनमें जिस सहज, सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग हुआ है, उस पर साहित्यदर्पणकार की यह उक्ति 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं सुक्लेन्धनमिवानलः' अक्षरशः चरितार्थ होती है। कोमल भावों के चित्रण में वैदर्भी का उदात्त रूप विद्यमान है जिसमें माधुर्यव्यंजक समासहीन अथवा अल्पसमास युक्त पदावली का प्रयोग विहित है। नेमिनाथकाव्य के शृंगार आदि प्रसंग वस्तुतः अल्पसमास वाली पदावली में निबद्ध हैं। युवा नेमिनाथ को विषय भोगों की ओर आकृष्ट करने के लिये भाषा की सरलता के साथ कोमलता भी आव-श्यक थी।

विवाह्य कुमारैन्द्र ! बालार्थचंचललोचनाः ।

भुंक्ष्व भोगान् समं तामिरप्सरोभिरिबामरः ॥ ६.१२

हेमाजगभंगोरागौ मृगाक्षीं कुलबालिकाम् ।

ये नोपभृजते लोका वेधसा वंचिता हि ते ॥ ६.१४

कठोर प्रसंगों की भाषा ओज से परिपूर्ण है। ओजव्यंजक शब्दों के द्वारा यथेष्ट वातावरण का निर्माण करके कवि ने भावव्यंजना को अतीव समर्थ बनाया है। पांचवे सर्ग में, इन्द्र के क्रोध-वर्णन में, जिस पदावली की योजना की गयी है, वह अपने वेग तथा नाद से हृदय में स्फूर्ति का संचार करती है। इस दृष्टि से यह पद्य विशेष दर्शनीय है।

विपक्षपक्षक्षयबद्धकक्षः विद्युत्स्ततानामिव संचयं तत् ।

स्फुरत्स्फुरिणं कुलिशं करालं ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म ॥ ५.६

कीर्तिराज की भाषा में बिम्ब-निर्माण की पूर्ण क्षमता है। सम्भ्रम के चित्रण की भाषा त्वरा तथा वेग से पूर्ण है। अपने इस कौशल के कारण कवि, दसवें सर्ग में, पौर स्त्रियों की अधीरता तथा नायक को देखने की उत्सुकता को मूर्त रूप देने में समर्थ हुआ है। देवसभा के इस वर्णन में, इन्द्र के सहसा प्रयाण से उत्पन्न सभासदों की आकुलता, उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग से, साकार हो गयी है।

दृष्टि ददाना सकलामु विक्षु किमेतदित्याकुलितं ब्रूवाणा ।

उत्थानतो देवपतेरकस्मात् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा । ५.१८

नेमिनाथमहाकाव्य सूक्तियों और लोकोक्तियों का विशाल कोश है। ये कवि के लोक ज्ञान की द्योतक हैं तथा काव्य की प्रभावकारिता में वृद्धि करती हैं। कतिपय रोचक सूक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं।

१. ही प्रेम तद्यद्वशवर्त्तित्तः प्रेत्यति दुःखं सुखरूपमेव । २.४३

२. उच्चैः स्थितिर्वा वव भवेज्जडानाम् । ६.१३

३. काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधीः । ८.४६

४. शुद्धिर्न तपो विनात्मनः । ११. २३

५. सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते । १२.७

इन गुणों से भूषित होती हुई भी नेमिनाथकाव्य की भाषा में कतिपय दोष हैं, जिनकी ओर संकेत न करना अन्यायपूर्ण होगा। काव्य में कतिपय ऐसे स्थलों पर विकट समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जहां उसका कोई औचित्य नहीं है। युद्धादि के वर्णन में तो समास-बहुला भाषा अभीष्ट वातावरण के निर्माण में सहायक होती है, किन्तु मेरु-वर्णन के प्रसंग में क्या सार्थकता है (५.५२)? इसके अतिरिक्त कवि ने यत्र-तत्र छन्द पूर्ति के लिए अतिरिक्त पद ठूस दिये हैं, 'स्वकान्त-रक्ताः' के पश्चात् 'पतिव्रता' का (२.३७), 'शुक' के साथ 'वि' का (२.५८), 'मराल' के साथ 'खग' का (२.५६), 'विशारद' के साथ 'विशेष्यजन' का (११.१६) तथा 'वदन्ति' के साथ 'वाचम्, का (३.१८) का प्रयोग सर्वथा आवश्यक नहीं है। इनसे एक ओर, इन स्थलों पर, छन्दप्रयोग में कवि की असमर्थता प्रकट होती है, दूसरी ओर यहां वह काव्य दोष आ गया है, जो साहित्यशास्त्र में 'अधिक' नाम से ख्यात है। उदग्रसाधनम् (२.३८) में अश्लीलता व्यंग्य है। वारिजलाशये (८.३१), प्रमदवारिवारिधिः (६.६५) तथा ठवनिनादवाचाल (१०.४६) में व्यंग्य का शब्द द्वारा कथन किया गया है। 'अथ यत्तव रोचतेतराम्' (११.३६) में षष्ठी के व्याकरण विरुद्ध होने से च्युतिसंस्कृति दोष है। १२-३५ में उपमेय के बहुवचन तथा उपमान के एकवचन में होने से भग्नप्रक्रमता दोष से दूषित है।

विद्वता-प्रदर्शन

नेमिनाथकाव्य की भाषा का दूसरा पक्ष उन कलाबाजियों में दृष्टिगत होता

है, जो भारवि से आरम्भ होकर उत्तरवर्ती कवियों द्वारा सोत्साह ग्रहण की गयी है। शैली में अधिकतर कालिदास के पदचिह्नों पर चलते हुए भी कीर्तिराज ने, अन्तिम सर्ग में, चित्रकाव्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने तथा अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा करने का साग्रह प्रयत्न किया है। सौभाग्यवश ऐसे पदों की संख्या अधिक नहीं है। सम्भवतः, वे इनके द्वारा सूचित कर देना चाहते हैं कि मैं समवर्ती काव्यशैली से अनभिज्ञ अथवा चित्रकाव्य-रचना में असमर्थ नहीं हूँ किन्तु सुसूचित के कारण वह मुझे ग्राह्य नहीं है। आश्चर्य यह है कि नेमिनाथ महाकाव्य में इस शाब्दिक क्रीड़ा की योजना केवलज्ञानी नेमिप्रभु की वन्दना के अन्तर्गत की गयी है। इस साहित्यिक आदुर्गरी में अपनी निपुणता का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने भाषा का निर्मम उत्पीड़न किया है, जिससे इस प्रसंग में वह दुरूहता से आक्रान्त हो गयी है।

कीर्तिराज का चित्रकाव्य बहुधा पादयमक की नींव पर आधारित है, जिसमें समुच्चै चरण की आवृत्ति की है; यद्यपि उसके अन्य रूपों का समावेश करने के प्रलोभन का भी वह संवरण नहीं कर सका। प्रस्तुत जिनस्तुति का आधार पादयमक है।

पुण्य ! कोपक्षयवं न तावकं पुण्यकोपक्षयवं न तावकम् ।

दर्शनं जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेव गवदुःस्थिताविकम् ॥ १२.३३

निमोक्त पद्य में एकाक्षरानुप्रास है। इसकी रचना केवल एक व्यंजन 'त' पर आश्रित है, यद्यपि इसमें तीन स्वर भी प्रयुक्त हुए हैं।

अतीतान्तेत एतां ते तन्तन्तु ततताततिम् ।

ऋततां तां तु सोतोत्तू तातोऽततां ततोऽन्ततुत् ॥ ११.३७

प्रस्तुत पद्य की रचना अर्ध प्रतिलोमविधि से हुई है। अतः इसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को, आरम्भ तथा अन्त से एक समान पढ़ा जा सकता है।

तुद मे ततवन्मत्थं त्वं भवन्तमेव तु ।

रक्ष तात ! विशामीश ! शमीशावितताक्षर ॥ १२.३८

इन दो पद्यों की पदावली में पूर्ण साम्य है, किन्तु पद योजना तथा विग्रह के वैभिन्न्य के आधार पर इनसे दो स्वतन्त्र अर्थ निकलते हैं। साहित्यशास्त्र की शब्दावली में इसे महायमक कहा जायेगा।

महामदं मवारगहर्हरि बिग्रहहारिणम् ।

प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥

महाम दम्भवारगहर्हरि बिग्रहहारिणम् ।

प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥ १२.४१-४२

इस कोटि के पद्य कवि के पाण्डित्य, रचना-कौशल तथा भाषाधिकार को

सूचित अवश्य करते हैं, किन्तु इनसे रसचर्वणा में अवाञ्छनीय बाधा आती है। टीका के बिना इनका वास्तविक अर्थ समझना प्रायः असम्भव है। संतोष यह है माध, वस्तुपात्र आदि की भांति, इन प्रहेलिकाओं का पूरे सर्ग में सन्निवेश न करके, कीर्तिराज ने अपने पाठकों को बौद्धिक व्यायाम से बचा लिया है।

अलंकारविधान

प्रकृति-चित्रण आदि के समान अलंकारों के प्रयोग में भी कीर्तिराज ने सुशुचि तथा सुसूक्ष्म का परिचय दिया है। अलंकार भावाभिव्यक्ति में कितने सहायक हो सकते हैं, नेमिनाथकाव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कीर्तिराज की इस सफलता का रहस्य यह है कि उसने अलंकारों का सन्निवेश अपने ज्ञान-प्रदर्शन अथवा काव्य को अलंकृत करने के लिए नहीं अपितु भावों को सम्पन्नता प्रदान करने के लिए किया है। उसे ज्ञात है कि अनावश्यक अलंकरण काव्यरस में अवाञ्छनीय बाधा उत्पन्न करता है—(अतिभूषणाद् भवति नीरसो यतः १२.१०)। नेमिनाथ-महाकाव्य के अलंकारों का सौन्दर्य इसके अप्रस्तुतों पर आधारित है। उपयुक्त अप्रस्तुतों का चयन कवि की पैनी दृष्टि, अनुभव, मानव-प्रकृति के ज्ञान, संवेदन-शीलता तथा सजगता पर निर्भर है। कीर्तिराज ने जीवन के विविध पक्षों से उपमान ग्रहण किये हैं। उसके अप्रस्तुत अधिकतर उपमा तथा उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुए हैं। उनसे वर्णित भाव तथा विषय किस प्रकार स्पष्ट तथा समृद्ध हुए हैं, इसके दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक हैं।

प्रभु के दर्शन से इन्द्र का क्रोध ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृतपान से ज्वरपीड़ा और वर्षा से दावाग्नि (५.१४)। जहाँ ज्वराग्नि और दावाग्नि देवराज के क्रोध की प्रचण्डता का बोध कराती हैं वहाँ अमृतपान तथा वर्षा उपमानों से उसके सहसा शान्त होने का भाव स्पष्ट हो गया है। नेमिप्रभु ने अपनी सुधा-शीतल बाणी से यादवों को इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे चन्द्रमा कुमुदों को विकसित करता है (१०.३५)। कुमुदों को खिलते देख कर भलीभांति अनुमान किया जा सकता है कि यादवों को कैसे बोध मिला होगा ! नेमि को अचानक वधूगृह से लौटते देखकर यादव उनके पीछे ऐसे दौड़े जैसे व्याध से भीत हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते हैं (१०.३४)। अस्त हरिणों के उपमान से यादवों की चिन्ता, आकुलता आदि तुरन्त व्यक्त हो जाती है। काव्य में इस प्रकार की मार्मिक उपमाओं की भरमार है।

भावाभिव्यक्ति के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों का समान सफलता से प्रयोग किया है। राजा ने जिस-जिस पर कृपा-दृष्टि डाली उसका हर्षलक्ष्मी ने ऐसे आलिंगन किया जैसे कामातुर युवती अपने प्रेमी का

(३.६) । यहाँ कवि ने अमूर्त भाव की अभिव्यक्ति के लिये मूर्त उपमान का आश्रय लिया है। निम्नांकित पद्य में मूर्त रथ की तुलना अमूर्त मन से की गयी है। नेमि के आदेश से सूत ने वधूगृह से रथ इस प्रकार मोड़ लिया जैसे योगी ज्ञान के बल से अपना मन बुरे विचार से हटा लेता है।

सूतो रथं स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात् ।

यथा गुदज्ञानबलेन मंशु दुर्वानतो योगिजनो मनः स्वम् ॥ १०.३३

उत्प्रेक्षा के प्रयोग में भी कवि का यही कौशल दृष्टिगोचर होता है। भावपूर्ण सटीक अप्रस्तुतों से कवि के वर्णन चमत्कृत हैं। छठे सर्ग में देवांगनाओं के तथा नवें सर्ग में राजमती के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में अनेक अनूठी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग हुआ है। राजीमती के नबोदित स्तन ऐसे लगते थे मानो उसके वक्ष को भेद कर निकले हुए काम के दो कन्द हों -

सलाक्ष्मणरसौ यस्याः स्तनकुम्भौ स्म राजतः ।

वक्षःस्थलं समुद्भिद्य कामकन्दाविबोत्थितौ ॥ ६.५४

प्रभात का निम्नोक्त वर्णन रूपक का परिधान पहन कर आया है। यहाँ रात्रि, तिमिर, दिशाओं तथा किरणों पर क्रमशः स्त्री, अंजन, पुत्री तथा जल का आरोप किया गया है।

रात्रिस्त्रिया भुञ्जतया तमोऽजनेर्द्विग्यानि काष्ठातनयामुत्थान्यथ ।

प्रक्षालयत्पूषमयूखपायसा देव्या बिभातं वदुशे स्वतातवत् ॥ २.३०

समुद्रविजय के सौर्य-वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पंक्तियों में शत्रुओं के वध का प्रकारान्तर से निरूपण किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

रणराशौ महीनाथ चन्द्रहासो विलोक्यते ।

विद्युज्यते स्वकान्ताभ्यश्चक्रवाकैरिवारिभिः ॥ ७.२७

जिनेश्वर की लोकोत्तर विलक्षणता का चित्रण करते समय कवि की कल्पना अतिशयोक्ति के रूप में प्रकट हुई है। यहाँ 'यदि' शब्द के बल से असम्भव अर्थ की कल्पना की गयी है।

यद्यर्कदुग्धं शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्यं च विषं सुधायाः ।

देवान्तरं देव ! तवा स्वदीयां तुल्यां दद्याति त्रिजगत्प्रदीप ॥ ६.३५

नेमिनाथ के स्तात्रोत्सव के निम्नोक्त पद्य के कारण तथा कार्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर होने के कारण असंगति अलंकार है।

यन्धसार-धनसार-विलेपं कन्यका विविधरे तदंगे ।

कौतुकं महद्विषं यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु तापः ॥ ४.४४

नेमिनाथमहाकाव्य में कुछ हृदयग्राही स्वभावोक्तियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं।

कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं है, किन्तु अन्य अधिकतर साहित्यशास्त्रियों ने इसे अलंकार के पद पर प्रतिष्ठित किया है। बारहवें सर्ग में वन-वर्णन के अन्तर्गत प्रयुक्त कीर्तिराज की स्वभावोक्तियों का संकेत पहले किया जा चुका है। द्वितीय सर्ग में गज-प्रकृति का चित्रण स्वभावोक्ति के द्वारा किया गया है। हाथी का यह स्वभाव है कि वह रात भर गहरी नींद सोता है। प्रातःकाल जागकर भी वह अलसाई आँखों को मूंदे पड़ा रहता है, किन्तु बार-बार करवटें बदल कर पाँव की बेड़ी से शब्द करता है जिससे उसके जागने की सूचना गजपालों को मिल जाती है।

निद्रासुखं समनुभूय घिराय रात्रावुद्रु तभृत्सलारवं परिवश्यं पार्श्वम् ।

प्राप्य प्रबोधनपि देव ! गजेन्द्र एष नोष्मीलयस्थलसनेत्रयुगं मदान्धः ॥ २.५४
प्रभात-वर्णन के प्रस्तुत पद्य में भ्रमर, पद्मिनी तथा सूर्य पर क्रमशः पर-पुरुष, व्यभिचारिणी तथा पति के व्यवहार का आरोप किया गया है। अतः यह समासोक्ति है।

यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम् ।

स्वप्नेयसीं लोहितभूतिमावहन् कठोरपार्दनिजघान तापनः ॥ २.४२

शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक के अतिरिक्त श्लेष के प्रति कवि का विशेष मोह है। नेमिनाथमहाकाव्य में अनुप्रास का स्वर, किसी-न-किसी रूप में, सर्वत्र ध्वनित है। यमक के प्रायः सभी भेद काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। पादयमक तथा महा-यमक का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। इन्हें छोड़कर कीर्तिराज ने यमक की ऐसी सुखिपूर्ण योजना की है कि उसमें क्लिष्टता नहीं आने पाई। ऋतु-वर्णन वाला अष्टम सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है। श्लेष कवि को इतना प्रिय है कि उसने श्लिष्ट काव्य के प्रणेता को मुनिवत् वन्दनीय माना है^{१०}। काव्य में श्लेष का व्यापक प्रयोग किया गया है। नेमिनाथमहाकाव्य में स्वतन्त्र प्रयोग के अतिरिक्त उपमा, विरोध, परिसंख्या, आदि अन्य अलंकार भी श्लेष की भित्ति पर आधारित हैं^{११}।

२०. नानाश्लेषरसप्रौढां ह्रिस्वा कान्तां मुनीश्वराः ।

ये चाहस्तावृशीं वाचं वन्दनीयाः कथं न ते । बहो. १.३.

२१. श्लेषोपमा—बाणभाषितगोभर्ता यो वशेप्सितवर्शनः ।

रंगकुशलताहारी चण्डयण्ड इवावमी ॥ बहो, १.३७

विरोध—मन्दाक्षसंवृतांगोऽपि न मन्दाक्षकरूपभाक् ।

सदापीडोऽपि यत्रासीद् विपीडो भानिनीजनः । बहो, १.१६

परिसंख्या—न मन्दोऽपि जनः कोऽपि परं मन्दो यदि ग्रहः ।

विधोगो नापि दम्पत्योर्विधोगस्तु परं बने ॥ बहो, १.१७

समुद्रविजय तथा शिवा के इस वार्तालाप में वृषभ, गौ, वृषांक तथा शंकर की भिन्नार्थ में योजना करने से वक्रोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

देवः प्रिये ! को वृषभोऽयि ! किं गौ ! नैव वृषांकः ! किमु शंकरो, न ।

जिनो नु चक्रोति वधूवराभ्यां यो वक्रमुक्तः स मुदे जिनेन्द्रः ॥ ३.१२

इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सन्देह, विरोधाभास, व्यतिरेक, विभावना, काव्यलिङ्ग, निदर्शना, सहोक्ति, विषम आदि अलंकार भी नेमिनाथकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

छन्दयोजना

नेमिनाथमहाकाव्य में छन्दों के विधान में शास्त्र का आंशिक पालन किया गया है। इसके बारह में से पांच सर्गों की रचना विविध छन्दों में हुई है। शेष सात सर्गों में एक छन्द की प्रधानता है तथा सर्गान्त में छन्द बदल जाता है। नेमिनाथकाव्य में पच्चीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, मालिनी, उपगीति, नन्दिनी, बैतालीय, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवंशा, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शालिनी, स्वागता, रयोद्धता, उपजाति (वंशस्थ—इन्द्रवंशा), प्रमिताक्षरा, शार्दूलविक्रीडित, विभावरी, लोटक, वियोगिनी, उपेन्द्रवज्रा, आर्या, औपच्छन्दसिक तथा स्रग्धरा। इनमें उपजाति का प्रयोग सबसे अधिक है।

नेमिनाथमहाकाव्य की रचना कालिदास की परम्परा में हुई है। धार्मिक कथानक चुन कर भी कीर्तिराज ने अपनी कवित्वशक्ति, सुरुचि तथा सन्तुलित दृष्टिकोण के कारण साहित्य को ऐसा रोचक महाकाव्य दिया है, जिसका संस्कृत-महानकाव्यों में सम्मानित स्थान है।

४. यदुसुन्दरमहाकाव्य : पद्मसुन्दर

तपागच्छ के सुविज्ञात आचार्य तथा सम्राट् अवबर के आध्यात्मिक मित्र, उपाध्याय पद्मसुन्दर का यदुसुन्दरमहाकाव्य अनूठी रचना है। विवेच्य अताब्दियों में कालिदास, माघ आदि प्राचीन अग्रगण्य कवियों के अनुकरण पर अथवा उनकी समस्या पूर्ति के रूप में तो कुछ काव्य लिखे गये पर यदुसुन्दर एक मात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमें संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा की महानता एवं तुच्छता के समन्वित प्रतीक, श्रीहर्ष के नैषध चरित को रूपान्तरित (एडेप्ट) करने का दुस्साध्य कार्य किया गया है। रूपान्तरण बिष के समान है, जिससे आहत मौलिकता को पाण्डित्यपूर्ण क्रीडाओं की संजीवनी से भी पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता। पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष की दृष्ट बहृश्रुता, कृत्रिम भाषा तथा जटिल शैली के कारण वज्रवत् दुर्भेद्य नैषधचरित का उपयोगी रूपान्तर प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय कार्य किया है किन्तु उसे अनेकशः अपनी असाह्यता अथवा नैषध के दुर्धर्ष आकर्षण के कारण काव्य का संक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा है जिससे यदुसुन्दर कहीं-कहीं रूपान्तर की अपेक्षा नैषधचरित के लघु संस्करण का आभास देता है। यदुसुन्दर की दूसरी विशेषता यह है कि हम्पीरमहा-काव्य के अतिरिक्त यही ऐसा जैन काव्य है जिसे साहित्येतर उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया है। इसकी रचना विशुद्ध साहित्यिक भावना से प्रेरित है। इसमें मथुराधिपति यदुराज समुद्रविजय के अनुज वसुदेव तथा विद्याधर-सुन्दरी कनका के विवाह तथा विवाहोत्तर केलियों का वर्णन है, जो प्रायः सर्वत्र श्रीहर्ष का अनुगामी है।

यदुसुन्दरमहाकाव्य अभी तक अमुद्रित है। बारह सगों के इस महत्त्वपूर्ण काव्य की एकमात्र उपलब्ध हस्तलिखित प्रति (संख्या २८५८, पुण्य), लालपतभाई दलपत-भाई भारतीविद्या संस्थान, अहमदाबाद में सुरक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन ५४ पत्रों के इस हस्तलेख की प्रतिलिपि पर आधारित है, जो मैने स्वयं सावधानी से तैयार की थी। संस्थान के तत्कालीन निदेशक, पण्डित दलमुख भाई मलवणिया हार्दिक कृतज्ञता के पात्र हैं, जिन्होंने यह दुर्लभ प्रति भेज कर अद्भुत साहित्यनिष्ठा तथा उदारता का परिचय दिया।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

यदुसुन्दरमहाकाव्य के प्रणेता उपाध्याय पद्मसुन्दर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अंशभूत तपागच्छ के विश्रुत विद्वान् थे। यदुसुन्दर की पुष्पिका में उन्हें 'पण्डितेश'

विवेचन से अभिहित किया गया है। पद्मसुन्दर वस्तुतः तपागच्छ की नागपुरीय (नागोरी) शाखा के अनुयायी थे^१। पार्श्वनाथकाव्य और रायमल्लाम्बुदय से तथा यदुसुन्दर और सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव की पुष्पिकाओं से विदित होता है कि उन्हें विद्वत्-शिरोमणि पद्ममेरु का शिष्य होने का गौरव प्राप्त था। उनके प्रगुरु आनन्दमेरु आनन्दरूपी उदयाचल के साक्षात् सूर्य थे^२। पद्मसुन्दर उन जैन साधुओं में अग्रणी थे, जिनका मुगल सम्राट् अकबर से घनिष्ठ सम्बन्ध था। धर्मगोष्ठी के समय सम्राट् अकबर ने अपने पुस्तकालय का एक विशिष्ट ग्रन्थसंग्रह आचार्य हीरविजय को भेंट देने का प्रस्ताव किया था। हीरसूरि के उसका प्राप्तिस्रोत पृष्ठने पर अकबर ने सूचित किया था कि यह ग्रन्थराशि तपागच्छीय विद्वान् पद्मसुन्दर की है जो ज्योतिष, वैद्यक तथा सिद्धान्तशास्त्र के कुशल पण्डित थे। उनके दिवंगत होने पर हमने उसे सुरक्षित रखा है^३। पद्मसुन्दर के परवर्ती कवि देवबिमलगणि ने अपने हीरसौभाग्य में इस घटना तथा उक्त ग्रन्थराशि में सम्मिलित प्रस्तुत यदुसुन्दर सहित नाना ग्रन्थों का शब्दरपूर्वक उल्लेख किया है^४। हीरविजय अकबर से सम्बन्ध १६३६ में, फतेहपुर

१. इति श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छनमोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुशिष्यपण्डितश्री पद्मसुन्दरविरचिते । सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव की पुष्पिका ।

इति श्रीमत्तपागच्छनमोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुविनेयपण्डितेश्रीपद्मसुन्दर विरचिते यदुसुन्दरनाम्नि महाकाव्ये.....द्वितीयः सर्गः ।

२. पार्श्वनाथकाव्य, पुष्पिका तथा ७ । ६४

आनन्दोदयपर्वतकतरणेरानन्दमेरुगुरोः

शिष्यः पण्डितमौलिमण्डनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः ।

तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः श्रीरायमल्लोदयं

काव्यं नव्यमिदं अकार सकलार्हवृत्तभग्याकितम् ॥

रायमल्लाम्बुदय, अन्तिम प्रशस्ति, १००

३. सूर्यशब्द अने सम्राट्, पृ० १२०, "जैन साहित्य और इतिहास" में उद्धृत, पृ. ३६६, पृ० ३

४. (अ) पुराभवत्प्रीतिपदं वयस्यवद्विशारदेन्नुर्मम पद्मसुन्दरः ।

ने देन सेहेज्जुह्मामिवावलीं हिमर्तुना पण्डितराजगविताम् ॥

हीरसौभाग्य १४.६१

अगाम स स्वर्गिन्मृगीदृशां दृशामथातिथेयीं परिणामतो विष्टेः ।

मुहुर्मयाशोचि स बालपातितान्जिरप्रच्छाभरसालवद्विभो ॥ वही, १४.६२

इदं तदासमस्तपुस्तकं मुनीश्वरा मामनुगृह्य शिष्यवत् ।

यदत्र पात्रप्रतिपादनं नृणां भवाम्बुराशौ कलशोमुतीयते ॥ वही, १४.६६

सीकरी में, मिले थे। निश्चय ही पद्मसुन्दर का निधन इससे पूर्व हो चुका होगा। पद्मसुन्दर का प्रमाणसुन्दर शायद सम्बत् १६३२ की रचना है। इसी आधार पर पण्डित नाथूराम प्रेमी ने उनकी मृत्यु सम्बत् १६३२ तथा १६३६ के बीच मानी है^५। परन्तु यदुसुन्दर की प्रौढ़ता को देखते हुए यह पद्मसुन्दर की अन्तिम कृति प्रतीत होती है। हीरसौभाग्य में जिस मार्मिकता से सम्राट् के भावोच्छ्वास का निरूपण किया है उससे भी संकेत मिलता है कि पद्मसुन्दर का निधन एक-दो वर्ष पूर्व अर्थात् सम्बत् १६३७-३८ (सन् १५८०-१५८१) के आसपास हुआ था।

अकबर तथा पद्मसुन्दर की मैत्री की पुष्टि जैन कवि के अन्य ग्रन्थों से भी होती है। अकबरशाहि-शृंगारदर्पण से पता चलता है कि अकबर की सभा में पद्मसुन्दर को उसी प्रकार प्रतिष्ठित पद प्राप्त था, जैसे जयराज बाबर को मान्य था और आनन्दराय (सम्भवतः आनन्दमेरु) द्वमाकं को^६। हर्षकीर्तिरचित धातुपाठवृत्ति—धातुतरंगिणी—की प्रशस्ति से संकेत मिलता है कि पद्मसुन्दर न केवल अकबर की सभा में समादृत थे अपितु उन्हें जोधपुरनरेश मालदेव से भी यथेष्ट सम्मान प्राप्त था^७। अकबर की राजसभा में किसी महापण्डित को पराजित करने के उपलक्ष्य में पद्मसुन्दर को सम्राट् द्वारा कम्बल, ग्राम तथा पालकी से पुरस्कृत करने का भी प्रशस्ति में उल्लेख किया गया है।

साहे: संसदि पद्मसुन्दरगणिजित्वा महापण्डितं

क्षीम-ग्राम-सुखासनाद्यकबरसाहितो लब्धवान्।

हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मन्यो वदान्योऽधिकं

श्रीमद्भयोधपुरे सुरेणितवच्चाः पद्माह्वयः पाठकः ॥१०॥

संवत् १६२५ में, तपागच्छीय बुद्धिसागर से, खरतर साधुकीर्ति की, सम्राट् अकबर की सभा में, पौषध की चर्चा हुई थी, जिसमें साधुकीर्ति विजयी हुए थे। उस

(आ) हीरसौभाग्य, १४। ६६, स्वोपज्ञटीकाकाव्यानि रघुवंश-मेघवृत्त-कुमार-सम्भव-किरात-माघ-नैषध-चम्पू-कावम्बरी-पद्मनन्द-यदुसुन्दराद्यानि।

५. नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६६

६. शृंगारदर्पण, प्रशस्ति, २.

७. यह वही मालदेव (सन् १५३६-६२) है, जो अपनी असीम महत्वाकांक्षा, अधिनायकवादी वृत्ति तथा धोखेबाजी के कारण कुख्यात था और जिसने सन् १५३६ में बीकानेर के शासक जैतसिंह का वध किया था। Herman Goetz: Art and Architecture of Bikaner State. Oxford, 1950, P. 39-40.

समय पद्मसुन्दर आगरा में ही थे, यह जड़तपदेवलि से स्पष्ट है^६।

यदुसुन्दर में इसके रचनाकाल का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है। कवि के अन्य कतिपय ग्रन्थों के विपरीत इसमें प्रान्तप्रशस्ति का भी अभाव है। अभी तक सम्बत् १६३२ में रचित प्रमाणसुन्दर को पद्मसुन्दर की अन्तिम रचना माना जाता रहा है। परन्तु यदुसुन्दर की प्रौढ़ता से इसके कवि की अन्तिम कृति होने में सन्देह नहीं रह जाता। यदि पूर्वोक्त युक्ति से पद्मसुन्दर का देहान्त सम्बत् १६३७-३८ में माना जाए तो यदुसुन्दर को १६३२ तथा १६३८ के मध्यवर्ती काल की रचना मानना न्यायोचित होगा।

उपाध्याय पद्मसुन्दर बहुमुखी विद्वान् तथा आशुकवि थे। उन्होंने सम्बत् १६१४ की कार्तिक शुक्ला पंचमी को भविष्यदत्तचरित की रचना सम्पन्न की, सम्बत् १६१५ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को रायमल्लाम्बुदय का निर्माण हुआ और उसी वर्ष मार्गशीर्ष की कृष्णा चतुर्दशी को पार्श्वनाथकाव्य पूर्ण हुआ^७ अर्थात् लगभग एक वर्ष में ही उन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना करके अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया। ये तीनों ग्रन्थ रायमल्ल की प्रेरणा तथा अभ्यर्थना से लिखे गये^८। पद्मसुन्दर का साहित्य उनके रचिवैविध्य का द्योतक है। उन्होंने काव्य, ज्योतिष, दर्शन, कोश आदि ग्रन्थों से साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। यदुसुन्दर तथा पार्श्वनाथकाव्य "उनके दो महाकाव्य हैं। रायमल्लाम्बुदय में चौबीस तीर्थंकरों का वृत्त निरूपित है। ज्योतिष-ग्रन्थ हायनसुन्दर, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादसुन्दरद्वात्रिंशिका, वरसंगलमालिकास्तोत्र तथा राजप्रश्नीयनाट्यपदभञ्जिका की हस्तप्रतियाँ, स्टेट लायब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित हैं। षट्भाषागभित नेमिस्तवगाथा की रचना छह भाषाओं में हुई है। इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में उपलब्ध है।

८ श्री अगरचन्द नाहुटा द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' में प्रकाशित, पृ. १४०.

९. अब्दे विक्रमराज्यतः शरकलामृतर्कसंमिमे (?)।

मार्गे मास्यसिते चतुर्दशदिने सरसोभ्यवारांकिते ॥ पार्श्वनाथकाव्य, ७/४४
तथा जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३६६-३६७.

१०. शुभ्रयुस्तदकारयस्मुकवितः श्रीपार्श्वनाथाह्वयं।

काव्यं नवपमिदं भुतिप्रमदयं श्रीरायमल्लाह्वयः ॥ पार्श्वनाथकाव्य, १/३

काव्यं कारितवानपूर्वसवद्यो रायमल्लोदयं

जीवावारविचित्रतारकमयं श्रीरायमल्लाह्वयः ॥ रायमल्लाम्बुदय, ४०.

११. पार्श्वनाथकाव्य का विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव कोशग्रन्थ है। इसमें पांच तरंगों तथा २६६८ पद्य हैं।^{११} जम्बूस्वामिचरित (प्राकृत), भारती स्तोत्र, अकबरसाहिभृंगारदर्पण तथा कर्ति-पय स्तोत्र आदि उनकी अन्य ज्ञात रचनाएँ हैं। देवविमल ने स्वोपज्ञ टीका में भारती स्तवन के अतिरिक्त पद्मसुन्दर के 'मासवरागजिनध्रुवपद' से उद्धरण दिए हैं।^{१२} शृंगार-दर्पण के अतिरिक्त उनकी प्रायः अन्य सभी कृतियाँ अप्रकाशित हैं।

कथानक

यदुसुन्दर की कथावस्तु यदुवंशीय वसुदेव तथा विद्याधर राजकुमारी कनका के विवाह तथा विवाहोपरान्त क्रीडाओं के दुर्बल आधार तन्तु पर अवलम्बित है। प्रथम सर्ग का आरम्भ यदुकुल की राजधानी मथुरा के वर्णन से होता है, जिसमें उसे स्वर्ग से श्रेष्ठ प्रमाणित करने का गम्भीर प्रयत्न किया गया है। यादवकुल के प्रवर्तक यदु के उत्तराधिकारियों में कंस साक्षात् राक्षस था।^{१३} नगरवासी, पौरांगनाओं के प्रति वसुदेव के उच्छृंखल व्यवहार की शिकायत उसके अग्रज समुद्रविजय से करते हैं (पुरांगनाशीलपरासनोद्धतस्तावानुजः संप्रति साम्प्रतं न तत्—१.४५)। अग्रज की भर्त्सना से रुष्ट होकर वसुदेव देश छोड़कर विद्याधरों की नगरी में शरण लेता है। द्वितीय सर्ग में एक हंस, कनका के महल में आकर 'यदुकुल के गगन के सूर्य' वसुदेव के गुणों का बखान करता है। 'वसुदेव पुरुषों में नाहर है, तू युवतियों का शृंगार; अतः तुम्हारा युगल अनुपम होगा' (२.६५)। वसुदेव का चित्र देखकर कनका अधीर हो जाती है। हंस उसकी मनोरञ्जनी का वचन देकर उड़ जाता है। विरह-व्याकुल कनका को, सच्चिदानन्द से सान्द्र ब्रह्म के अद्वैत रूप की तरह सर्वत्र वसुदेव दिखाई देता है। वसुदेव भी कनका की अनुरक्ति का समाचार पाकर पुलकित हो जाता है। तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक तेतीस पद्यों में कनका के विप्रलम्भ का वर्णन है। काम के स्वर्णकार ने उसे वियोग की कसौटी पर इस निर्ममता से रगड़ा कि बह सोने की रेखा के समान क्षीण बन गई। वसुदेव नगर द्वार पर आकर निकटवर्ती उद्यान का वर्णन करता है। तभी धनपति कुबेर वहाँ आकर वसुदेव को कनका के पास, उसका प्रणयनिवेदन करने के लिए दूत बनकर जाने को प्रेरित करता है। वसुदेव असमंजस में पड़ जाता है। 'जो मेरे में अनुरक्त है, उस कनका को यह मेरे द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है। जिसका स्मरण मात्र मुझे उद्भ्रान्त और मूर्च्छित कर देता है, उसके सामने भावों को छिपाना कैसे सम्भव होगा?' कुबेर के प्रभाव

१२. अनेकान्त, वर्ष ४, अंक ८.

१३. हीरसौभाग्य, ११.१३५, टीका- 'जिनवचनपद्धतिरुक्तिचंगिममालिनी' इति पद्य-सुन्दरकृतमालवरागजिनध्रुवपदे।

१४. स्ववंशविध्वंसनृशंसकौणपः। यदुसुन्दर १.३२

से वह, अदृश्य रूप में, बेरोक अन्तःपुर में पहुंच जाता है (भवतु तनुः परैरलक्ष्या— ३.७२)। वहाँ वह वास्तविक रूप में प्रकट होकर कुबेर के पूर्वराग की वेदना का हृदयस्पर्शी वर्णन करता है और कनका को उसका वरण करने के लिए प्रेरित करता है (श्रीदं पति ननु वृणुष्व पतिवरे त्वम्—३.१४७)। वह उसके वामछल से खिन्न हो जाती है जिससे उसने अपना परिचय न देकर धनपति के दौत्य का निर्वाह किया है। कनका की मल्ली दूत को बताती है कि इसे वसुदेव के सिवाय कोई पुरुष पसन्द नहीं है, भले ही वह देवराज इन्द्र हो।^{१५} दूत उसे देवों की शक्ति तथा स्वर्ग के सुखों का सालाच देकर, कुबेर की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करता है। कनका अडिग रहती है। दूत धनाधिराज को छोड़ कर साधारण पुरुष का वरण करने के उसके निश्चय की बालिशता की कड़ी भर्त्सना करता है। कनका व्यथित होकर अपने भाग्य को धिक्कारती है और रोने लग जाती है। उसकी अविचल निष्ठा^{१६} और कर्णालाप से दूत द्रवित हो जाता है और वह दौत्य को भूल कर सम्भ्रमवश अपना यथार्थ परिचय दे देता है। भ्रम मिटने पर उसे पश्चात्ताप अवश्य होता है पर उसे अपने हृदय की शुद्धता पर विश्वास है। पति को साक्षात् देखकर कनका 'लज्जा के सिन्धु' में डूब गयी। वसुदेव वापिस आकर कुबेर को वास्तविकता से अवगत कर देता है। चतुर्थ सर्ग में देवता, विभिन्न द्वीपों के अधिपति और पृथ्वी के दूत एवं प्रतापी शासक कनका के स्वयंवर में आते हैं। कुबेर की अंगूठी पहनने से वसुदेव भी कुबेर के समान प्रतीत होने लगा और सभा को दो कुबेरों का भ्रम हो गया। वेत्रधारिणी कनका को सर्वप्रथम देवताओं की सभा में ले गई, किन्तु वह उन्हें छोड़ कर तत्काल आगे बढ़ गई। सर्ग के शेष भाग तथा पंचम सर्ग में वेत्रधारिणी दस आगन्तुक राजाओं का क्रमिक परिचय देती हैं जिसमें उनके गुणों और पराक्रम को अधिक महत्त्व दिया गया है। छठे सर्ग में वास्तविक कुबेर तथा कुबेर रूपधारी वसुदेव का वर्णन है। रूपसाम्य के कारण कनका उलझन में पड़ जाती है। अंगूठी उतारने से वसुदेव का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कनका माला डाल कर उसका वरण करती है। सप्तम सर्ग में क्रमशः कनका तथा वसुदेव की विवाहपूर्व सज्जा का वर्णन है। वसुदेव सूर्य की तरह अश्व पर बैठकर वधूगृह को प्रस्थान करता है। यहीं नौ पद्यों में (७४—८२) उसे देखने को लालायित पौराण्य-ताओं के सम्भ्रम का चित्रण है। कनका का पाणिग्रहण, विवाहोत्तर भोज तथा नववधू की विदाई अष्टम सर्ग का विषय है। षड्भक्तु वर्णन पर आधारित नवम

१५. एषा नृदेव वसुदेवपतिं विनान्यं नाशंसते हि मघवंतमपि प्रतीहि। वही, ३.१५६.

१६. सौरेऽवधूय सकलं तव पादपद्मकोशेऽलिनीव कृपणा किल तस्थुषीयम्। वही,

३.१८२.

सर्ग चित्रकाव्य के चमत्कार से परिपूर्ण है जिससे प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गयी है। दसवें सर्ग में अरिष्टपुर की राजकुमारी रोहिणी स्वयंवर में अन्य राजाओं को छोड़कर, विद्याबल से प्रचलन्त वसुदेव का वरण करती है जिससे उनमें युद्ध ठन जाता है। प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की पराजय के बाद मगधराज की प्रेरणा से समुद्रविजय, गुप्त वसुदेव को ललकारता है पर उसे भी मुंह की खानी पड़ती है। बन्दी से वसुदेव की वास्तविकता जानकर समुद्रविजय के आनन्द का ओर-छोर नहीं रहता। ग्यारहवें सर्ग में नवदम्पती के मथुरा में आगमन तथा सम्भोग-क्रीडा का वर्णन है। बारहवें सर्ग में सन्ध्या, चन्द्रोदय तथा प्रभात के परम्परागत वर्णन के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

यदुसुन्दर की रचना यद्यपि नैषध का संक्षिप्त रूपान्तरण करने के लिए की गयी है तथापि घटनाओं के संयोजन में पद्मसुन्दर अपनी सीमाओं और उद्देश्य दोनों को भूल गए हैं। उनकी दृष्टि में स्वयंवर काव्य की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। काव्य के चौथाई भाग का स्वयंवर-वर्णन पर क्षय करने का यही कारण हो सकता है। निस्सन्देह यह उसके आदर्शभूत नैषधचरित के अत्यधिक प्रभाव का फल है। पांच सर्गों का स्वयंवर-वर्णन (१०-१४) नैषध के विराट् कलेवर में फिर भी किसी प्रकार खप जाता है। यदुसुन्दर में, चार सर्गों (४-६, १०) में, स्वयंवर का अनुपातहीन वर्णन कवि की कथाविमुखता की परिकाष्ठा है। अन्तिम सर्ग को नवदम्पती की कामकेलियों का उद्दीपन भी मान लिया जाए, नवें सर्ग का ऋतु-वर्णन काव्यशास्त्रीय नियमों की खानापूर्ति के लिए किया गया प्रतीत होता है। दसवें सर्ग में रोहिणी के स्वयंवर का चित्रण सर्वथा अनावश्यक है। यह वसुदेव के रणशौर्य को उजागर करने की दृष्टि से किया गया है, जो महाकाव्य के नायक के लिए आवश्यक है। ये सभी सर्ग कथानक के स्वाभाविक अवयव न होकर बलात् चिपकाये गए प्रतीत होते हैं। इन्होंने काव्य का आधा भाग हड़प लिया है। यदुसुन्दर का मूल कथानक शेष छह सर्गों तक सीमित है।

पद्मसुन्दर को प्राप्त श्रीहर्ष का दाय : यदुसुन्दर तथा नैषधचरित

नैषधचरित की पाण्डित्यपूर्ण जटिलता तथा शैली की क्लिष्टता के कारण उत्तरवर्ती कवि उसकी ओर उस तरह प्रवृत्त नहीं हुए जैसे उन्होंने कालिदास अथवा माघ के दाय को ग्रहण किया है। पद्मसुन्दर नैषधचरित के गुणों (?) पर मुग्ध थे पर उसका विशाल आकार उनके लिये दुस्साध्य था। अतः उन्होंने यदुसुन्दर में नैषध का स्वतन्त्र अल्पाकार संस्करण प्रस्तुत करने का गम्भीर उद्योग किया है। कथानक की परिकल्पना और विनियोग में पद्मसुन्दर श्रीहर्ष के इतने अधिक ऋणी है कि यदुसुन्दर को, भिन्न पात्रों से युक्त, नैषध की प्रतिच्छाया कहना अनुचित न

होगा ।

यदुसुन्दर के प्रथम सर्ग में यदुवंश की राजधानी, मथुरा, का वर्णन नैषध-चरित के द्वितीय सर्ग में विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर के वर्णन से प्रेरित है। श्रीहर्ष ने नगर वर्णन के द्वारा काव्यशास्त्रीय नियमों को उदाहृत किया है; मथुरा के सामान्य वर्णन में उसकी स्वर्ण से श्रेष्ठता प्रमाणित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। अग्रज समुद्रविजय की भर्त्सना के फलस्वरूप वसुदेव का मथुरा छोड़कर विद्याधरनगरी में शरण लेना (१४५-७०) नैषध के प्रथम सर्ग में नल के उपवन-विहार (१.७६-११६) का समानान्तर माना जा सकता है, यद्यपि दोनों के उद्देश्य तथा कारण भिन्न हैं। द्वितीय सर्ग में नैषधचरित के दो सर्गों (३,७) को रूपान्तरित किया गया है। कनका का सौन्दर्य चित्रण स्पष्टतः दमयन्ती के नख-शिख वर्णन (सप्तम सर्ग) पर आधारित तथा उससे अत्यधिक प्रभावित है। श्रीहर्ष की भांति पद्मसुन्दर ने भी राजकुमारी के विभिन्न अंगों का एकाधिक पद्यों में वर्णन करने की पद्धति ग्रहण की है परन्तु उसका वर्णन संक्षिप्त तथा क्रमबद्ध से दूषित है हालाँकि यह नैषध की शब्दावली से भरपूर है। सर्ग के उत्तरार्द्ध में हंस का दौत्य नैषध के तृतीय सर्ग के समानान्तर प्रसंग का अनुगामी है। दोनों काव्यों में हंस को, नायिका को नायक के प्रति अनुरक्त करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी गयी है जिसके फल-स्वरूप वह अपने प्रेमी के सान्निध्य के लिये अधीर हो जाती है। दोनों काव्यों में हंसों के तर्क समान हैं तथा वे अन्ततः नायकों को दौत्य की सफलता से अवगत करते हैं। तृतीय सर्ग में पद्मसुन्दर ने नैषधचरित के पूरे पांच विशालकाय सर्गों को संक्षिप्त करने का घनघोर परिश्रम किया है। कनका के पूर्वराग के चित्रण पर दमयन्ती के विप्रलम्भ-वर्णन (चतुर्थ सर्ग) का इतना गहरा प्रभाव है कि इसमें श्रीहर्ष के भावों की लगभग उसी की शब्दावली में, आवृत्ति करके सन्तोष कर लिया गया है। श्रीहर्ष ने काव्याचार्यों द्वारा निर्धारित विभिन्न शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विरह-दशाओं का वर्णन किया है। पद्मसुन्दर का वर्णन इस प्रवृत्ति से मुक्त है तथा वह केवल ४७ पद्यों तक सीमित है। श्रीहर्ष के इस मोटिफ का परवर्ती साहित्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है। यदुसुन्दर में नारद आदि दिव्य व्यक्तित्व के लिये स्थान नहीं है। यहां कुबेर स्वयं आकर वसुदेव को दौत्य के लिये भेजता है। दूतकर्म स्वीकार करने से पूर्व वसुदेव को वही आशंकाएं मथित करती हैं (३.५७-७०) जिनसे नल पीडित है (नैषध० ५.६६-१३७)। दूत का महल में, अदृश्य रूप में, प्रवेश तथा वहां उसका आचरण दोनों काव्यों में समान रूप से वर्णित है^{१०}। श्रीहर्ष ने छठे सर्ग का अधिकतर भाग दमयन्ती के सभागृह, दूती की उक्तियों तथा दमयन्ती के समर्थ प्रत्युत्तर

(६.५८-११०) पर व्यय कर दिया है; पद्मसुन्दर ने समान प्रभाव तथा अधिक स्पष्टता के साथ उसे मात्र चौबीस पद्यों में निबद्ध किया है। अगले ४७ पद्यों से परिवेष्टित तृतीय सर्ग का अंश नैषध के आठवें सर्ग का प्रतिरूप है। दूत का आगमन, कनका द्वारा उसकी स्तुति, अपने परिचय के विषय में उसका वाग्छल तथा उसका राजकुमारी को कुबेर का वरण करने को प्रेरित करना नैषध का अनुगामी है। कुबेर के पूर्वराग का वर्णन (३.१२२-४१) नैषध के आठवें सर्ग में दिक्पालों की विरह वेदना की प्रतिध्वनि मात्र है (८.६४-१०८)। अन्तिम साठ पद नैषध के नवम सर्ग का लघु संस्करण प्रस्तुत करते हैं। उनमें विषयवस्तु की भिन्नता नहीं है और भाषा तथा शैली में पर्याप्त साम्य है। दूत का अपना भेद सुरक्षित रखने का प्रयत्न, नायिका का उसका नाम-धाम जानने का आग्रह तथा दूत के प्रस्ताव को ठुकराना, नायिका के कर्ण विलाप से द्रवित होकर दूत का आत्म-परिचय देना— ये समूची घटनाएं दोनों काव्यों में पढ़ी जा सकती हैं। श्रीहर्ष को इस संवाद की प्रेरणा कुमारसम्भव के पंचम सर्ग से मिली होगी। वहां भी शिव भेस बदल कर आते हैं और अन्त में अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हैं। नैषधचरित तथा यदुसुन्दर में दमयन्ती और कनका दूत की उक्तियों का मुंह-तोड़ जवाब देती हैं^{१५} जबकि पार्वती के पास बटु के तर्कों का समर्थ उत्तर केवल यही है—न कामवृत्ति-वैजनीयमीक्षते (कुमार० ५.८२)। कालिदास के उभा-बटु-संवाद में मनोवैज्ञानिक मार्मिकता है। श्रीहर्ष और पद्मसुन्दर इस कोमल प्रसंग में भी चित्रकाव्य के गोरख-घन्धे में फंसे रहते हैं। उन्हें रोती हुई दमयन्ती तथा कनका ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे वे आसू गिरा कर 'संसार' को 'ससार' तथा 'दांत' को 'दात' बनाती हुई बिन्दुच्युतक काव्य की रचना कर रही हों^{१६}। पद्मसुन्दर के स्वयम्बर-वर्णन पर नैषध का प्रभाव स्पष्ट है। श्रीहर्ष का स्वयम्बर-वर्णन अलौकिकता की पतों में दबा हुआ है। उसमें पृथ्वीतल के शासकों के अतिरिक्त देवों, नागों, यक्षों, गन्धर्वों आदि का विशाल जमघट है। आगन्तुक प्रत्याशियों का विवरण देने के लिये वहां वाग्देवी की नियुक्ति वर्णन की काल्पनिकता का संकेत है। श्रीहर्ष ने पूरे पांच सर्गों (१०-१४) में जमकर स्वयंवर का वर्णन किया है। यदुसुन्दर का वर्णन भी इसके समान ही कथानक के प्रवाह में अवरोध पैदा करता है। पद्मसुन्दर ने नैषध में वर्णित बारह राजाओं में से दस को यथावत् ग्रहण किया है, पर वह नैषध की भाँति अतिमानवीय

१५. यदुसुन्दर, ३.१५०-१५७; नैषधचरित, ६.२७-३२।

१६. ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः। नैषध०, ६-१०४।

तद्विन्दुच्युतकमभुजबिन्दुपातान्मां दातमेव किमु दातमलं करोषि।

यदुसुन्दर, ३.१६०।

कर्म नहीं है यद्यपि उसमें भी देवों, गन्वर्षों आदि का निभ्रन्ति संकेत मिलता है। वर्णन की लौकिक प्रकृति के अनुरूप पद्मसुन्दर ने अभ्यागत राजाओं का परिचय देवे का कार्य कनका की सखी को सौंपा है, जो कालिदास की सुनन्दा के अधिक निकट है। श्रीहर्ष ने रघुवंश के छठे सर्ग के इन्दुमती-स्वयम्बर की सजीवता को विकृत बना कर उसे एक रूढ़ि का रूप दे दिया है। सातवें सर्ग में वरवधू का विवाह पूर्व आहार्य-प्रसाधन नैषध के पन्द्रहवें सर्ग का, भाव, भाषा तथा घटनाक्रम में, इतना ऋणी है कि उसे श्रीहर्ष के प्रासंगिक वर्णन की प्रतिमूर्ति कहना सर्वथा उचित होगा। कहना न होगा, नैषध का यह वर्णन स्वयं कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग पर आधारित है जहाँ इसी प्रकार वरवधू को सजाया जा रहा है। विवाह-संस्कार तथा विवाहोत्तर सहभोज के वर्णन (अष्टम सर्ग) में पद्मसुन्दर ने अपने शब्दों में नैषध के सोलहवें सर्ग की आवृत्ति मात्र कर दी है। नैषध के समान इसमें भी बारातियों और परिवेषिकाओं का हास-परिहास बहुधा अमर्यादित है। खेद है, पद्मसुन्दर ने अपनी पवित्रतावादी वृत्ति को भूल कर इन अश्लीलताओं को भी काव्य में स्थान दिया है। अगले दो सर्ग नैषध से स्वतन्त्र हैं। अन्तिम दो सर्ग, जिनमें क्रमशः रति-क्रीडा और सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि के वर्णन हैं, नैषध के अत्यधिक ऋणी हैं। कालिदास, कुमारदास तथा श्रीहर्ष के अतिरिक्त पद्मसुन्दर ही ऐसा कवि है जिसने वरवधू के प्रथम समागम का वर्णन किया है। स्वयं श्रीहर्ष का वर्णन कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से प्रभावित है। श्रीहर्ष ने कालिदास के भावों को ही नहीं, रथोद्धता छन्द को भी ग्रहण किया है। यदुसुन्दर के ग्यारहवें सर्ग में भी यही छन्द प्रयुक्त किया गया है। बारहवें सर्ग का चन्द्रोदय आदि का वर्णन, नैषध की तरह (सर्ग २१) नवदम्पती के सम्भोग के लिये समुचित वातावरण निर्मित करता है। इसमें भी श्रीहर्ष के भावों तथा शब्दावली की कमी नहीं है। वस्तुतः काव्य में मौलिकता के नाम पर भाषा है, यद्यपि उसमें भी श्रीहर्ष की भाषा का गहरा पुट है।

पद्मसुन्दर की काव्यप्रतिभा

नैषधचरित के इस सर्वव्यापी प्रभाव के कारण पद्मसुन्दर को मौलिकता का श्रेय देना अन्याय होगा। यदुसुन्दर में जो कुछ है, वह प्रायः सब श्रीहर्ष की पूंजी है। फिर भी इसे सामान्यतः पद्मसुन्दर की 'मौलिक' रचना मान कर कवि की काव्यप्रतिभा का मूल्याङ्कन किया जा सकता है।

पद्मसुन्दर के पाषाणनाथकाव्य में प्रचारवादी स्वर मुखर है पर यदुसुन्दर में कवि का जो बिम्ब उभरता है, वह चमत्कारवादी आलंकारिक का बिम्ब है। यह स्पष्टतः नैषध के अतिशय प्रभाव का परिणाम है। पद्मसुन्दर का उद्देश्य 'ग्रन्थ ग्रन्थ' से काव्य को जटिल बनाना नहीं है परन्तु उसका काव्य नैषध की मूलवृत्ति

तथा काव्यरुद्धियों से शून्य नहीं है। पद्मसुन्दर को श्रीहर्ष की तरह शृंगारकला का कवि मानना तो उचित नहीं है, न ही वह कामशास्त्र का अध्ययन करने के बाद काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ है पर जिस मुक्तता से उसने विवाहोत्तर भोज में बारतियों के हास-परिहास और नवदम्पती की सम्भोगकेल का वर्णन किया है, वह उसकी रतिविशारदता का निश्चित संकेत है। कनका का नख-शिख-वर्णन (२-१-४७) भी उसकी कामशास्त्र में प्रवीणता को बिम्बित करता है। अष्टम सर्ग का ज्यौनार-वर्णन तो खुल्लमखुल्ला मर्यादा का उल्लंघन है। उसके अन्तर्गत बारतियों और परिवेषिकाओं की कुछ चेष्टाएँ बहुत फूहड़ और अश्लील हैं।^{१०} श्रीहर्ष के समान इन अश्लीलताओं को पद्मसुन्दर की विलासिता का द्योतक मानना तो शायद उचित नहीं पर ये उसकी पवित्रतावादी धार्मिक वृत्ति पर करारा व्यंग्य है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

रसचित्रण

आदर्शभूत नैषधचरित की मूर्ति यदुसुन्दर का अंगी रस शृंगार है। पद्मसुन्दर को नव रसों का परम्परागत विधान मान्य है (नवरसनिलयः को नु सौहित्यमेति—२-८३) पर वह शृंगार की सर्वोच्चता पर भुग्ध है। उसकी परिभाषा में शृंगार की तुलना में अन्य रस तुच्छ हैं (अन्यरसातिशायी शृंगारः ६-५३)। शान्त रस को तो उसने जड़ता का जनक मानकर उसकी खिल्ली उड़ायी है (शान्त-रसैकमन्दघीः ४-४१)। यदुसुन्दर में यद्यपि शृंगार के संयोग तथा विप्रयोग दोनों पक्षों का व्यापक चित्रण मिलता है किन्तु कथानक की प्रकृति के अनुरूप इसमें विप्रलम्भ को अधिक महत्त्व दिया गया है। तृतीय सर्ग में कनका और कुबेर के पूर्वराग का वर्णन है, जो क्रमशः नैषध के चतुर्थ तथा अष्टम सर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। निराश कनका की विप्रलम्भोक्तियाँ भी इसी सर्ग में समाहित हैं। इस प्रकार यद्यपि यदुसुन्दर में विप्रयोग शृंगार का कई स्थलों पर चित्रण है किन्तु कवि ने, श्रीहर्ष के पञ्चचिह्नों पर चल कर उस पर कल्पनाशीलता की इतनी मोटी

१०. अन्यः स्फुटस्फटिकचत्वरसंस्थितायास्तन्व्या वरांगमनुबिम्बितमीक्षमाणः।

सामाजिकेषु नयनांचलसूत्रेण साहासिनं स्फुटमचोकरदच्छासः ॥

यदुसुन्दर, ८.३७

वृत्तं निधाय निजभोजनेऽसौ (?) सन्भोदकद्वयमतीव पुरःस्थितायाः।

संधाय वक्षसि दृशं करमर्दनानि चक्रे त्रपानतमुखी मुमुखी बभूव ॥ वही, ८.५२

प्रागर्थयन्निद्रुत एष विलासवत्या तत्संमुखं विटपतिः स भुजिक्रियायाम्।

क्षिप्वांगुलीः स्वबदने ननु मार्जिताबलेहापदेशत इयं परितोऽनुनीता ॥

वही, ८.५४

पते चढ़ा दी है कि विप्रलम्भ की वेदना का आभास तक नहीं होता। समूचा विप्रलम्भ-वर्णन ऊहोक्तियों का संकलन-सा प्रतीत होता है। ऐसे कोमल प्रसंगों में कालिदास तीव्र भावोद्रेक करता है पर पद्मसुन्दर संवेदना से शुन्य प्रतीत होता है। उस पर अपनी नायिका की विरह वेदना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे रोती कनका आंसू गिरा कर 'दान्त' को 'दात' बनाती तथा प्रेम काव्य की रचना करती प्रतीत होती है।^{२१} निस्सन्देह यह नैषध का रूपांतरण करने की विवशता का परिणाम है पर इन क्लिष्ट कल्पनाओं और हृदयकण्ठों के कारण ही उसका विप्रलम्भ-चित्रण निष्प्राण तथा प्रभावशून्य बना है। उसमें सद्बुद्ध भावुक के मानस को छूने की क्षमता नहीं है, भले ही कनका क्रन्दन करती रहे या अपने भाग्य को कोसती रहे। एक-दो उदाहरणों से पद्मसुन्दर के विप्रलम्भ-चित्रण की पद्धति का आभास मिल सकेगा।

कनका की विरहज्वर क्षीणता का वर्णन करने के लिये कवि ने कई कल्पनाएँ की हैं पर वे इतनी दूरारूढ तथा नीरस हैं कि पाठक को उसकी व्यथा का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। शिल्पी काम ने कनका के शरीर को प्रिय-वियोग की कसौटी पर तीव्र व्यथा से ऐसे रगड़ा कि वह सोने की क्षीण रेखा बन गयी है। रूपक और उत्प्रेक्षा के जाल में फँस कर वर्ण्य भाव अदृश्य-सा हो गया है।

विषमबाणकलादकलावता प्रियवियोगकषस्फुटसालिणी ।

कनकराजिरियं कनकास्तनुः किमुवपावि महाधिनिघर्षणैः ॥ ३-२

उस सुन्दरी के शरीर की तगरी अनेक शासकों के अधिकार में है। काम, यौवन और वसुदेव सब उस पर राज्य कर रहे हैं। वे सभी कर वसुलने में कठोर हैं। बेचारी कनका ने अंगलावण्य देकर राजकीय विधान की पालना की है। फलतः उसकी अपनी पूँजी बहुत कम रह गयी है। वह कुशोदरी और कुश बन गयी।

भवनयौवनवृष्णिजशासनां बहुनृपां सुतनोर्नु तनूपुरीम् ।

तनुह्वा करदानतया जह्वः किमजनिष्ट कृशा नु कुशोदरी ॥ ३-२२.

कुछ कल्पनाएँ बहुत अजीब हैं। यदि शरीर में छोटा-सा बाल भी चुभ जाए, उससे भी पीड़ा होती है। कनका की वेदना का अनुमान करना कठिन है क्योंकि उसके कोमल हृदय में छोटा-मोटा बाल नहीं, विशालकाय पहाड़ (भूभृत् — राजा-वसुदेव) घुस गया है। इस कल्पना का सारा सौन्दर्य श्लेष पर आधारित है। पद्मसुन्दर की यह कल्पना नैषध के एक पद्य^{२२} की प्रतिच्छाया है। पर पद्मसुन्दर ने

२१. यदुसुन्दर, क्रमशः ३.१६० तथा १७४

२२. निवशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्ययाम् ।

मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिमृत् प्रविश्य हृदि स्थितः ॥ नैषध०, ४.११

‘सूभृत्’ को समस्त पद में डालकर कल्पना के सौन्दर्य और काव्यात्मक प्रभाव को नष्ट कर दिया है। अतः मूल की भाँति यह नायिका की व्यथा की व्यंजना नहीं करा सकती।

तनुतनूरुहजव्यधतो व्यथा भवति तत्र विलासवतीहृदि ।

यदुजसूभृदसौ स्थितिमाश्रयद्युत बाधत एव किमद्भुतम् ॥३.१२

नैषधचरित में विरहतप्त दमयन्ती मलयानिल से प्रार्थना करती है कि तू मेरे मरने के बाद मेरी भस्म उस दिशा में बिखेर देना जहाँ मेरा प्रियतम रहता है। मलयानिल भी संताप देने के कारण उसकी शत्रु है पर सारा वर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। वैसे भी वह सम्म है क्योंकि वह दक्षिण दिशा से बह कर आ रही है।^{१४} पद्मसुन्दर ने इस कल्पना को भी अपने साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है पर पूर्वोद्धृत पद्य की तरह इसका भी प्रभाव समाप्त हो गया है।

प्राणा वियोगदहनज्वलद्रूषरेऽस्मिन्मान्मानसे धृतिरहो प्रतिभाति किं वः ।

अप्राणनाथविशमप्यनिला भवन्तः संश्लिष्य तन्मम जनुः फलिनं

विधवध्वम् ॥३.१७८

अरी मेरी प्राणवायु ! तुम विरहाग्नि से संतप्त मेरे मानस के ऊसर में क्यों दुःख भेज रही हो। यदि तुम उस दिशा को छू सको, जहाँ मेरा प्रियतम रहता है तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी। प्रिय के वियोग में जीने की अपेक्षा मौत कहीं अच्छी है।

निम्नोक्त पद्य कनका के विरह की तीव्रता को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। वह हृदय में घघकती विरह की ज्वाला को शान्त करने के लिये वक्ष पर सरस कमल रखना चाहती है, पर इससे पूर्व कि वह कमल उसके अंगों का स्पर्श करे, उसकी गर्म आहों से जलकर बीच में ही राख हो जाता और वह उसे परे फेंक देती है। कल्पना सचमुच बहुत मनोरम है। यह असाहयता की पराकाष्ठा है। कहना न होगा, यह कल्पना भी नैषधचरित से ली गयी है।^{१५}

२३. न काकुवाक्यैरतिवाममंगलं द्विषत्सु याचे पवनं तु वक्षिषम् ।

विशापि मद्भस्म किरत्वयं तथा प्रियो यथा वैरविधिर्बध्नावधिः ॥ बही, ६.६३

तुलना कीजिये : यह तन जारों छार हूँ, कहौं कि पवन उड़ाय।

मकु तेहि मारग उडि परै, कंत धरै जेहि पाय ॥ पद्मावत

२४. स्मरवृताशनवीपितया तथा बहु मुहुः सरसं सरसीरहम् ।

अयितुमर्थपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्जितम् ॥ नैषध, ४.२६

विरहवाहयामाय गृहाण निजकरेण सरोजमुरोजयोः ।

ब्रूतमपि श्वसितोष्मसमीरणवजसि मुष्मुर इत्यजहात्ततः ॥३.२१

यदुसुन्दर के ग्यारहवें सर्ग में सम्भोग शृंगार का मधुर चित्र दिखाई देता है। यद्यपि यह वर्णन कालिदास तथा श्रीहर्ष के प्रासंगिक वर्णनों से प्रेरित है, पर इसमें उन्हीं की भाँति सम्भोगश्रीड़ा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। लजीली नववधू समय बीतने के साथ-साथ रतिकेलि में कैसे अनुकूल बनती जाती है, पद्म-सुन्दर ने इसका हृदयग्राही अंकन किया है। भावसन्धि का यह चित्र नवोढा के लज्जा तथा काम के द्वन्द्व की सशक्त अभिव्यक्ति है।

स्थातुमेनमनिरोक्ष्य नादवात्सुभ्रुवो रतिपतिर्न च त्रया ।

वीक्षितुं वरयितव्यं नारतं तद्दृशौ विदधतुर्गतागतम् ॥ ११.४५

निम्नोक्त पद्य रतिकेलि का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत करता है। प्रातःकाल वसुदेव के अक्षर पर दन्तचिह्न देखकर नवोढा कनका हंस पड़ी। हंसी का कारण पूछने पर उसने पति के सामने दर्पण रख दिया। इस तरह चुप रह कर भी उसने रात का सारा दृश्य उजागर कर दिया।

तं च कोकनदचुम्बिषट्पदश्रीघरं तदघरं विलोक्य सा ।

सिस्मिये स्मितनिबानपृच्छकं प्रत्युवाच मुकुरापंगात्करे ॥ ११.७५

काव्य में अन्यत्र सात्त्विक भावों (६.६३-६६) तथा पशु-पक्षियों की कास-श्रीड़ाओं (६.८.११) का भी निरूपण है। पशु-पक्षियों की शृंगार-चेष्टाएँ रसाभास की कोटि में आती हैं।

यदुसुन्दर में वीररस की भी कई स्थलों पर निष्पत्ति हुई है। दसवें सर्ग का युद्ध-वर्णन दो कोड़ी का है। यह वीररसचित्रण में कवि की कुशलता की अपेक्षा उसके चित्रकाव्यप्रेम को अधिक व्यक्त करता है। माघ आदि से संकेत पाकर उसने चित्र-काव्य का ऐसा चक्रव्यूह खड़ा किया है कि वीररस का योद्धा उसमें फँस कर खेत रह गया है। वैसे भी इस वर्णन में वीररस के नाम पर वीररसात्मक रुढ़ियों का निरूपण किया गया है, जो तब तक साहित्य में गहरी जम चुकी थीं। इसमें द्वन्द्वयुद्धों, सिंहगर्जनाओं तथा कबन्धों के भयजनक नृत्यों, स्वर्ग से पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिनाद आदि को (१०.३५.३८, ५८ आदि) ही वीररस का स्थानापन्न मान लिया गया है। इन रुढ़ियों की अपनी परम्परा है पर ये युद्ध के स्थूल, लगभग उपेक्षणीय, अंग हैं। ये योद्धाओं के पराक्रम की मार्मिक व्यंजना करने में असमर्थ हैं, जो वीररस का प्राण है। चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में अम्यागत राजाओं के पराक्रम के वर्णन में वीररस के कुछ चित्र सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। वे बहुधा श्रीहर्ष के वर्णनों पर आधारित हैं। श्रीहर्ष की तरह पद्मसुन्दर का वीररस दरबारी कवियों का 'टिपिकल वीररस' है।

जिसमें अतिशयोक्ति और शब्दजुष्ट का आडम्बर दिखाई देता है। हालांकि पद्य-सुन्दर स्वयं दरबारी कवि नहीं थे किन्तु वे सम्भवतः राजदरबारों से सम्पर्क के कारण उस रुढ़ि के प्रभाव से नहीं बच सके। साकेतनरेश की वीरता के वर्णन वाले इस पद्य में वीररस की यही प्रवृत्ति मिलती है।

एतद्बोर्बण्डचण्डद्युतिकरनिकरत्रासितारास्तिराज-

स्तस्थौ यावद्विशंको द्रुमकुसुमलताकुंजपुंजे मिलीय ।

वीक्ष्ये तन्नामधेयांकितनिशितशरध्वस्तपञ्चामनास्थो-

द्भूताशंकं करकं व्रजतु विषाक्षीः कां विशं कांक्षीकः ॥४.६२

इसी प्रसंग का निम्नांकित पद्य नैषधचरित्र पर आधारित है, परन्तु उपयुक्त रूपक के प्रभाव के कारण इसमें मूल की मार्मिकता सुरक्षित नहीं रह सकी। इसमें साकेतराज की कीर्ति को गंगा माना गया है, जो गंगा और यक्ष की उज्ज्वलता की दृष्टि से उपयुक्त है। किन्तु तलवार को यमुना का प्रतिनिधि मानना विचित्र-सा लगता है। दोनों में यद्यपि वर्णसाम्य है पर इससे अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती। श्रीहर्ष की भांति शत्रु की अकीर्ति पर यमुना का आरोप करना काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक विवेकपूर्ण होता। गंगा और यमुना के इस संगम में स्नान करके (मरकर) शत्रु उसी प्रकार स्वर्ग में सुरांगनाओं का भोग करते हैं जैसे पुण्यात्मा संगम-स्नान के फलस्वरूप स्वर्गिक सुख प्राप्त करते हैं। यहां साकेतनरेश की वीरता के संधारी रूप में राजन्यवीरों का देवांगनाओं के साथ सुरतक्रीडा का शृंगारी चित्र प्रयुक्त हुआ है।

एतद्दोर्द्वयकीर्तिदेवसरिताधारा जलश्यामला

कार्त्तिकदीकरवालिका समगमद्वेणीत्रये तत्र च ।

दीनद्वेविसरस्वतीमिलितया राजन्यवीरव्रजैः

स्तात्वाकारि सुरांगनासुरतक्रीडारसोद्वेलनम् ॥ ४.६१

हास्यरस के एक-दो उदाहरण अष्टम सर्ग में बारातियों के हास-परिहास में मिलते हैं। विद्याधरराज ने बारातियों से ठिठोली करने के लिए उनके आगे कुछ नकली रत्न रखे। एक बाराती के स्फूर्ति से उन्हें उठाते ही दर्शकों की हंसी का फव्वारा छूट गया।

सन्धेतराणि पृथगप्युपवाकृतानि रत्नानि सांतु गदित्वा इति कूकुदेन ।

ते तैष्वर्थेक इह कूटमणिग्रहीता पश्यंरहस्यत स इत्यहहास्य बाक्ष्यम् ॥ ८.६४.

प्रकृतिचित्रण

यदुसुन्दर में मुख्यतः दो स्थलों पर प्रकृति का चित्रण किया गया है। बारहवें सर्ग का सन्ध्या एवं चन्द्रोदय और प्रभात का वर्णन नैषधचरित के क्रमशः बाईसवें

तथा उन्नीसवें सर्गों से इतना प्रभावित है कि इसे श्रीहर्ष के पूर्वोक्त सर्गों का सार कहा जा सकता है। नवें सर्ग का षड्भुसुवर्णन नैषध से स्वतंत्र है पर इस पर माघ का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। पद्मसुन्दर की प्रकृति, नैषध की तरह, वियोग या संयोग की उद्दीपनशत प्रकृति है। तृतीय सर्ग का उपवन-वर्णन (३५-४४), जो नैषध के प्रथम सर्ग के उपवनचित्रण (७६-११६) का समानान्तर है, वसुदेव की विरहवेदना को भड़काता है। विरही वसुदेव को चम्पे की कलियाँ काम की सेना की दीपिकाएँ दिखाई पड़ती हैं (३.३६)। आम का विशाल वृक्ष, मंजरी की अंगुली से तर्जना करता हुआ, भ्रमरों की हुंकार से उसे धमकाता है (३.३६)। केतकी वियोगियों के हृदयों को चीरने वाली आरी है (३.४१) और उसे पलाश काम के अर्द्धचन्द्राकार बाण प्रतीत होते हैं, जो विरहीजनों का खून पीकर लाल हो गए हैं (३.४२)।

नवें तथा बारहवें सर्ग के प्रकृति-वर्णन संयोग के उद्दीपन का काम देते हैं। ये सर्ग क्रमशः वसुदेव तथा रोहिणी और कनका की सम्भोग-क्रीडाओं के लिए समुचित पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। नवें सर्ग में ऋतुवर्णन के द्वारा शास्त्रीय नियमों की खानापूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। यह पद्मसुन्दर के सहज प्रकृतिप्रेम का द्योतक नहीं है। चित्रकाव्य से भरपूर होने के कारण इस वर्णन में प्रकृति गौण हो गई है। इसमें कवि ने विभिन्न यमकभेदों तथा चित्रकाव्य की रचना में अपना कौशल प्रदर्शित किया है।^{१५} स्पष्टतः यह माघ के प्रकृति वर्णन से प्रेरित तथा प्रभावित है, जो प्रकृतिवर्णन के नाम पर इसी प्रकार चित्रकाव्य के जाल में फँस कर रह गए हैं। चित्रकाव्य पर समूचा ध्यान केन्द्रित होने के कारण पद्मसुन्दर प्रकृति का बिम्बचित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुए। शरद् और शिशिर के कुछ चित्र सुन्दर बन पड़े हैं, भले ही ये पूर्ववर्ती कवियों से लिए गए हों। शरद् ऋतु का यह मानवी रूप, साहित्य में सुविज्ञात होता हुआ भी, आकर्षक है। अपने वैभव के कारण शरत् साम्राज्ञी प्रतीत होती है। पूर्ण चन्द्रमण्डल उसका छत्र है, उस पर काश को मात करने वाली चंवरियाँ डुलाई जा रही हैं और वह शुभ्र आकाश का परिधान पहन कर राजसी ठाट से कमल के सिंहासन पर विराजमान है (६.५४)। घान की बालियाँ चौंच में लेकर उपवन की वीथियों में बैठी शुकराजि इन्द्रधनुष की रचना करती है (६.५५)। यह वर्णन शिशिरकालीन दृश्य का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, यद्यपि ऐसे चित्र अत्यन्त विरले हैं।

इह नहि मिहिकाशुर्दश्यते छाबितेऽस्मिन्नम्भसि मिहिकयाभ्रभ्रान्तिबाधां दधत्या ।

अहनि मिहिरबिम्बोदामधामापि लुप्तं भज निजभुजबन्धं शिशिरा वान्ति वाताः ॥

६.६७

२५. भुसुन्दर, ६. १५, २६, ४६, ५८, ६५ आदि.

उपजीव्य नैषध के समान यदुसुन्दर के बारहवें सर्ग का प्रकृति-वर्णन दूरारूढ़ कल्पनाओं और अप्रस्तुतों के दुर्वह बोझ से आक्रांत है। श्रीहर्ष के काव्य में पाण्डित्य-पूर्ण उडान की कमी नहीं है पर प्रकृति-वर्णन के उम्मीसवें और बाईसवें सर्गों में वह सब सीमाओं को लांघ गया है। इन वर्णनों में उसने ऐसी विकट कल्पनाएँ की हैं जो वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसे धूमिल कर देती हैं। स्थानाभाव के कारण यदुसुन्दर में उन सबको आरोपित करना सम्भव नहीं था, फिर भी पद्मसुन्दर ने श्री हर्ष के अप्रस्तुतों को उदारता से ग्रहण किया है। ये अप्रस्तुत नाना स्रोतों से लिये गये हैं। 'सन्ध्या के समय लालिमा धीरे-धीरे मिटती जाती है और तारे आकाश में छिटक जाते हैं;' इस दृश्य के चित्रण में पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष के कई भावों की आवृत्ति की है। उसने पहले रूपक द्वारा इसका वर्णन किया है। सन्ध्या की सिंही ने दिन के हाथी को अपने नखों से फाड़ दिया है। उसकी विशाल काया से बहता रक्त, सान्ध्य राग के रूप में, आकाश में फैल गया है और उसके विदीर्ण मस्तक से भरते मोती तारे बन कर छिटक गये हैं (१२.६)। श्रीहर्ष ने आकाश को मूर्ख के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसने सूर्य का स्वर्णपिण्ड बेच कर बदले में, कौड़ियां खरीद ली हैं। पद्मसुन्दर ने इसके विपरीत अस्ताचल को व्यवहारकुशल क्रैता का रूप दिया है। उसने सन्ध्या की आग में शुद्ध सूर्य रूपी स्वर्णपिण्ड हथिया लिया है और उसके बदले में आकाश को निरर्थक कौड़ियां (तारे) बेच दी हैं।^{१६} सूर्य के अस्त होने पर चारों ओर अंधेरा घिरने लगा है। कवि की कल्पना है कि काजल बनाने के लिये सूर्य रूपी दीपक पर आकाश का सिकोरा औंधा रखा गया था। काजल इतना भारी हो गया है कि वह विशाल सिकोरा भी उसके भार से दब कर नीचे गिर गया है। उसने दीपक (सूर्य) को बुझा दिया है। वह स्वयं अंधकार बन कर चारों तरफ बिखर गया है।^{१७} चन्द्रमा की उदयकालीन लालिमा ऐसी लगती है मानो वह अग्रज ऐरावत द्वारा उसे अपने सिन्दूर से लाल मस्तक पर उठाने से लज गयी हो अथवा देवांगनाओं ने उसे अपने अधरों के चुम्बनों से लाल बना दिया हो (१२.३३)। प्रभातवर्णन में और भी दूर की कौड़ी फेंकी गयी है। प्रातः काल तारे अस्त हो जाते

२६. अस्ताचलेऽस्मिन्निकषोपलामे सन्ध्याकषोत्लेखपरीक्षितो यः ।

विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमावित छौः ॥ नैषध २२.१३

निकषमिषतां बिभ्रत्यस्ताचलस्तु शिलातले द्रुतकनकजं पिण्डं क्रीत्वा विकर्त्तन-
मण्डलम् ।

जलनिधिरये दत्ते साक्षात्परीक्ष्य पितृप्रसूतभुजि नभोहस्ते तारावराटकोदिताम् ॥

यदु. १२.८

२७. यदुसुन्दर, १२. १५, नैषधचरित, २२.३२.

हैं, कवि की कल्पना है कि सूर्य ने अपनी भूकरियों के भाड़ू से देवदम्पतियों की विलासशय्याओं से गिरे मोतियों को एकबारगी बहार दिया है (१२.६५)। श्रीहर्ष के अनुकरण पर पद्मसुन्दर ने सूर्य को बाज का रूप देकर सन्तुलन की सब सीमाओं को लांघ दिया है। प्रभात के बहेलिये ने आकाश में सूर्य का बाज छोड़ दिया है। अपने आश्रित शश को बाज के भपट्टे से बचाने के लिये चन्द्रमा ने समुद्र की शरण ली है। अंधकार के कब्जे पहले ही भाग चुके हैं। तारागण रूपी कबूतर उसके घातक पंजों से बचने के लिये नाना प्रकार की कलाबाजियों कर रहे हैं (१२.७४)। इन क्लिष्ट कल्पनाओं ने पद्मसुन्दर के प्रकृतिवर्णन को ऊहात्मक बना बना दिया है।

चरित्रचित्रण

यदुसुन्दर में वसुदेव तथा कनका दो ही मुख्य पात्र हैं। वे क्रमशः नैषध के नल और दमयन्ती के प्रतिरूप हैं।

मथुराधिपति समुद्रविजय का अनुज वसुदेव यदुसुन्दर का नायक है। वह विविध बहुमूल्य गुणों का भण्डार है। उसके अधिकतर गुण उसकी कुलीनता से प्रसूत हैं। उसमें गम्भीरता, उदारता तथा वाक्पटुता का समन्वय है। उसका वाक्कौशल बृहस्पति की मात करता है, गम्भीरता में समुद्र उसके सम्मुख तुच्छ है और इतिहास प्रसिद्ध कर्ण आदि भी उदारता में उसकी तुलना नहीं कर सकते (३.११३)। वसुदेव के सौन्दर्य से ऐसा आभास होता था मानों काम उसके रूप में पुनः जीवित हो गया हो (पुनर्नव इवास मनोभवस्त्वम्-३.१११)। वह अपने ऐश्वर्य तथा पराक्रम से इन्द्र की श्रेष्ठता को भी मन्द करता है (३.११५)। सिंहसंहनन (३.१०५) विशेषण उसकी शारीरिक पुष्टता तथा निर्भीकता का संकेत देता है। इन प्रशंसनीय गुणों के विपरीत उसके चरित्र का एक वह पक्ष है, जिससे यौवन के आरम्भ में, पौरांगनाओं के प्रति दुर्व्यवहार के कारण उसे अपने अग्रज के कोप का भाजन बनना पड़ता है। यह स्वयं स्वीकृत देशनिष्कासन उसकी जीवनधारा के परिवर्तन की प्रस्तावना है। अग्रज की भर्त्सना से अपमानित होकर स्वयं देश छोड़कर चला जाना उसके स्वाभिमान और दृढ़ निश्चय का द्योतक है। वैसे अपनी विनम्रता, सौहार्दपूर्ण प्रीति तथा गुणग्राहिता के कारण वह पृथ्वी का आभूषण है (१०.६७)। इसीलिये कनका हंस से उसके गुण सुनने मात्र से उस पर अनुरक्त हो जाती है।

वसुदेव अत्यन्त व्यवहारकुशल व्यक्ति है। कुबेर के दौत्य का आग्रह उसकी पात्रता को प्रकट करता है। उसके कारण जो आशंकाएँ उसे सालती हैं, वे उस द्वन्द्व से प्रसूत हैं, जो ऐसी स्थिति में प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को मथता है। परन्तु दौत्य स्वीकारने के बाद वह उसे पूर्ण निष्ठा से निभाता है। राजमहल में कनका की स्थूल विज्ञप्तिओं को बुत्ता देकर वह उसे पूरी तत्परता से कुबेर को पति रूप में स्वीकार

करने को प्रेरित करता है। कनका के उस प्रस्ताव को अस्वीकार करने पर, उसकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होता हुआ भी, वह उसे उसकी तथाकथित विवेकहीनता के कारण धमकाने से भी नहीं चूकता (३.१६३)। किन्तु उसके इस रुझान के पीछे कोमल हृदय छिपा हुआ है। कनका के क्रन्दन से उसका हृदय पसीज जाता है और वह अपने कर्म की गोपनीयता को भूलकर अपना परिचय दे बैठता है। कुबेर को स्थिति से अवगत करने में भी उसे संकोच नहीं। उसके इन गुणों के कारण ही कनका स्वयम्बर में देवताओं, गन्धर्वों आदि को छोड़कर उसका वरण करती है। रोहिणी का उसे वरण करना वसुदेव के गुणों की दोहरी स्वीकृति है। वह समर्पित प्रेमी है और प्रिया की प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता समझता है (३.१६१)।

काव्यनायक का प्रमुख गुण वीरता वसुदेव के चरित्र की विशेषता है। वस्तुतः दसवें सर्ग का युद्धवर्णन उसके पराक्रम और युद्धकौशल को उजागर करने के लिये ही आयोजित किया गया है। वह, प्रच्छन्न रूप में, न केवल स्वयम्बर में अस्वीकृत राजाओं की सामूहिक सेना को पछाड़ देता है, उसके सामने समुद्रविजय के भी छक्के छूट जाते हैं। उसके बन्दी की यह उक्ति कि 'वसुदेव अपनी मुजाओं की अरणियों से उद्भूत प्रतापाग्नि से शत्रु की स्त्रियों के हृदय-कानन को क्षण भर में भस्म कर देता है' कवित्वपूर्ण होती हुई भी केवल प्रशंति नहीं है।

इन गुणों से वसुदेव विश्व के मुकुट का रत्न बन गया है (विश्वविजयन-मौलिकिरीटरत्नम्-३.११४)। उसका चरित सर्वातिशायी है (सर्वातिशायि चरित तव चारुमूर्ते-३.११३)।

कनका

यदुमुन्दर के नायक के समान नायिका कनका भी अनेक गुणों की खान है। विद्याधरी होने के नाते वह सौन्दर्य की चरम सीमा है (सुरूप-सीमा कनकेति विश्रुता-२.१)। उसके अनवद्य रूप को देख कर ऐसा लगता है कि उसका निर्माण शांतरस से जड़बुद्धि ब्रह्मा ने नहीं बल्कि कामदेव ने अपने शिल्प के समस्त कौशल से किया है। इसीलिये वह शृंगारमुखा की सरिता से किसी प्रकार कम नहीं है (४.४१)। कवि की शब्दावली में, उसने सौन्दर्य में मेनका को, स्वरमाधुर्य में वीणा को, मुख-कान्ति से चन्द्रमा को और स्मिति से कमलिनी को जीत कर तीन लोकों में विजय-ध्वजा फहराई है (४.४३)। अपने रूप की समग्रता में वह काम की वृक्षवाटिका है (२.२६)। कनका सौन्दर्य में रति है तो बुद्धि में सरस्वती है (बभूव धिया रुचा वा ननु भारती रति-२.४७)। वह प्रमाण-शास्त्र में सुपठित, गद्य-पद्य की तत्त्वज्ञ, वस्तुतः समस्त विद्याओं की विदुषी है। राजकुमारी होने के कारण वह अत्यन्त शिष्ट तथा सुसंस्कृत है। वह दूत का परिचय पूछने में जिस पदावली का प्रयोग करती है, उसके

एक-एक अक्षर से मधुर शिष्टता टपकती है। वह राजदरबारों में व्यवहृत भाषा की मृदुता तथा स्निग्धता से परिपूर्ण है (३.१०४-१०५)। विधाता ने उसकी वाणी को सुधावर्षी बनाया है (३.११६)।

कुबेर उसके इन गुणों पर मुग्ध है। वह वसुदेव को पहले ही परोक्ष में हृदय समर्पित कर चुकी है। कुबेर दूत के द्वारा प्रणय-निवेदन करता है और दूत उसे नाचा प्रलोभन देकर धनपति का वरण करने का औचित्य रेखांकित करता है (मद्वाचमंच न च मुंच-३.११७)। 'देवों के साहचर्य से मर्त्य भी देव बन जाता है' (३.१६६) और देवता को छोड़ कर एक साधारण मर्त्य को पति चुनना विवेकहीनता है (३.१६४)। दूत के इन तर्कों तथा इस घमकी का कि अस्वीकार करने पर कुबेर स्वयम्बर को तहस-नहस कर देगा (३.१७०), उस पर कोई असर नहीं पड़ता। वह दूत को स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि मेरे शरीर को वसुदेव और सूर्य के अतिरिक्त कोई नहीं छू सकता (३.१६०)। एक स्त्री का देवता के साथ दाम्पत्य न सम्भव है न उपयुक्त (३.१५५)। उसकी अविचल निष्ठा के कारण ही दूत अपना भेद प्रकट करता है। वैभवशाली तथा पराक्रमी सम्राटों और देवताओं को छोड़ कर वसुदेव का वरण करना उसकी निष्ठा तथा प्रेम की सत्यता का प्रमाण है। वसुदेव उस गुणवती युवती को पाकर ऐसे उल्लसित हुआ जैसे पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा, नलिनी से मिल कर सूर्य, अन्नमु को पाकर ऐरावत तथा प्रफुल्ल पुष्प पर बैठ कर अमर (६.६८)।

भाषा भावि

पहले संकेत किया गया है कि पद्मसुन्दर की भाषा पर भी श्रीहर्ष का गहरा प्रभाव है। जहाँ उसने उपजीव्य काव्य का स्वतंत्र रूपान्तर किया है, वहाँ उसकी भाषा, उसके पार्श्वनाथ काव्य की भांति, विशद तथा सरल है; परन्तु जहाँ उसे नैषध का लगभग उसी की पदावली में पुनराख्यान करने की विवश होना पड़ा है, वहाँ उसकी भाषा में प्रौढ़ता संक्रान्त हो गयी है, यद्यपि वहाँ भी वह उसे क्लिष्टता से बचाने के लिये प्रयत्नशील है। अन्तिम सर्ग के प्रकृति वर्णन तथा स्वयम्बर-वर्णन के कुछ भागों में भाषा का यह गुण लक्षित होता है। स्वयम्बर के प्रतिभागी राजाओं के पराक्रम के वर्णन की भाषा दीर्घ समासावली से युक्त है। पद्मसुन्दर को इस बात का श्रेय देना होगा कि नैषध से प्रेरित होने पर भी उसने भाषा को, अपनी बहुज्ञता का अस्वादा बना कर दुरूह अथवा कष्टसाध्य नहीं बनने दिया है। एक उदाहरण देखिये जिसमें महेन्द्राधिपति की वीरता से प्रसूत कीर्ति का वर्णन है। समासबहुल होता हुआ भी यह क्लिष्टता से मुक्त है।

एतत्संयुगसांयुगीनविलसद्दोर्बल्लभत्ताहत-
द्वेषिस्त्रीकरकम्बुकंकणविसृष्टेवाशनकम्पुहा ।

अस्यामित्रकलत्रनेत्ररविताम्भोनिर्धरे खेलति

क्षोणीमण्डलमण्डनं किल यशोहंसातिरिङ्गुज्ज्वला ॥ ५.१८

नैषध की पदावली से बच कर पद्मसुन्दर ने नैषध के जिन भावों को अपनी भाषा में व्यक्त किया है, वह अपनी सुबोधता से भावों की अभिव्यक्ति में सहायक बनी है। दूत के प्रति कनका की यह प्रशंसा तथा काव्य में अन्य कतिपय स्थल, नैषध की भाषा का विरोधी ध्रुव प्रस्तुत करते हैं। अपनी सहजता के कारण यह उस गुण से व्याप्त है, जिसे साहित्यशास्त्र में 'प्रसाद' कहा गया है।

तत्सिंहसंहनन मे चरितार्थयेवं सिंहासनं निजपदाम्बुजविश्रमेण ।

नो द्रुयते तव मनो नलिनम्रदिम्नो विद्वेषिणः पदयुगस्य विहारचारः ॥ ३.१०५

निःश्रीकेमेव कृतवान् कतमं व्यतीत्य देशं पुरस्य यद्विहाभरणीबभूव ।

कामं स्वनाम मयि च प्रकृते निवेशं प्रायो हि नामपदमेव मुञ्चं क्रियासु ॥ ३.१०६

सामान्यतः यदुसुन्दर की भाषा को सुबोध कहा जायेगा पर काव्य में, नैषध के प्रभाव से मुक्त दो ऐसे स्थल हैं, जिनमें पद्मसुन्दर अपने उद्देश्य से भटक कर, चित्रकाव्य में अपना रचनाकौशल प्रदर्शित करने के फेर में फंस गये हैं। इन सर्गों में यदुसुन्दर का कर्ता स्पष्टतः माध के आकर्षण से अभिभूत है, जिसने इसी प्रकार ऋतुओं तथा युद्ध के वर्णनों को बौद्धिक व्यायाम का अखाड़ा बनाया है। पद्मसुन्दर का षड्ऋतु वर्णन वाला सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है। इसमें पद, पाद, अर्द्ध तथा महायमक आदि यमक भेदों के अतिरिक्त कवि ने अनुलोम-प्रतिलोम, षोडशदलकमल, गोमूत्रिकाबन्ध आदि साहित्यिक हथकण्डों पर हाथ चलाया है। शिशु-पालवध की तरह पद्मसुन्दर का युद्धवर्णन एकव्यंजनात्मक, द्व्यक्षरात्मक तथा वर्ण, मात्रा, बिन्दुव्युत्क आदि चित्रकाव्य से जटिल तथा बोझिल है, यद्यपि ऋतुवर्णन की अपेक्षा इसकी मात्रा यहाँ कम है। इनसे कवि के पाण्डित्य का संकेत अवश्य मिलता है पर ये इन स्थलों पर काव्य की ग्राह्यता में बाधक हैं, इसमें सन्देह नहीं। निम्नांकित महायमक से कवि के यमक की करालता का अनुमान किया जा सकता है।

सारं गता तरलतारतरंगसारा सारंगता तरलतारतरंगसारा ।

सारं गता तरलतारतरंगसारा सारं गता तरलतारतरंग सारा ॥ ६.२६

शरद्वर्णन का यह पद्य आरम्भ तथा अन्त से एकसमान पढ़ा जा सकता है। शरत् के इस अधम वर्णन से कितने पाठक ऋतु-सौन्दर्य का रस ले सकते हैं ?

सारसारवसारा सा रचा तानवकारिका ।

कारिकाबन्धता चास्सारा सा वरसारसा ॥ ६.५८

चित्रकाव्य का विकटतम रूप प्रस्तुत पद्य में मिलता है। इसमें केवल एक व्यंजन — क — के आधार पर रचना के द्वारा कवि ने अपना पाण्डित्य बघारा है।

कुः कां ककंक कांका किकाककु कंकिका ।

कां कां कककका काक ककाकुः कंकका कका ॥ १०.४४

श्रीहर्ष ने यद्यपि अपनी रीति को वैदर्भी कहा है, किन्तु उसमें पांचाली और गौड़ी का घना मिश्रण है। पद्मसुन्दर की भाषा में समासबाहुल्य की कमी नहीं है पर उसकी सरलता को देखते हुए उसे वैदर्भी-प्रधान कहना उचित होगा। वैदर्भी की सुबोधता पद्मसुन्दर की भाषा की विशेषता है। अपनी क्लिष्टता के बावजूद नैषध की भाषा पदलालित्य से इतनी विभूषित है कि 'नैषधे पदलालित्यम्' उक्ति साहित्य में श्रीहर्ष के भाषागुण की परिचायक बन गयी। यदुसुन्दर के अधिकतर पद्यों में पदलालित्य मिलेगा जो उसकी भाषा को नयी आभा देता है। कहना न होगा, पदलालित्य अनुप्रास पर आधारित है, जिसका काव्य में व्यापक प्रयोग किया गया है। पदलालित्य ने किस प्रकार भाषा की मधुरता को वृद्धिगत किया है, यह प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट होगा।

एतस्योद्धुरसिन्धुरंरपि मृधे क्रान्ता पुनर्जंगमे—

जनिानो धरणीधरः स्म धरणीं धीरः पृथुः पार्ष्विधः ।

एतत्संगरसंगतामरसमञ्जसमध्यमध्यासितो

सूयो भूधरभूरिमारहरणे मेघां विघत्तेतराम् ॥५.१४

नैषधचरित वक्रोक्ति-प्रधान काव्य है। यदुसुन्दर भी नैषध की इस विशेषता से अप्रभावित नहीं है। उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, समासोक्ति का स्वतन्त्र अथवा मिश्रित प्रयोग यदुसुन्दर की वक्रोक्ति का आधार है। सापह्नुवोत्प्रेक्षा तथा सापह्नुवातिशयोक्ति के प्रति पद्मसुन्दर का प्रेम नैषध से प्रेरित है। कनका के विरहवर्णन के प्रसंग में, इस पद्य में, मलयानिल में वायव्यास्त्र की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा है और वक्ष पर स्थित बिस का अपह्नुव कर नागास्त्र की स्थापना किये जाने से अपह्नुति है।

मलयजैरनिलैरनिलास्त्रतामिष किमु प्रजिघाय मनोमथः ।

हृदि कृतेनू बितैरियमप्यहो पवनमुषप्रतिशस्त्रमुपादधे ॥ ३.२५

पांचवें सर्ग में राजाओं के पराक्रम आदि गुणों के बखान में कई स्थलों पर पद्मसुन्दर ने सटीक अतिशयोक्तियों का प्रयोग किया है (५.१६, १८, ४४, ६१, ३५) है। वसुदेव तथा कनका की सम्भोगोत्तर स्थिति के चित्रण का आधार अतिशयोक्ति है।

विद्रुमस्य ललितैर्नू विद्रुतं संवितं मलयमंदमाहूतैः ।

कोकिलस्य किल काकलीरघैर्भुवितं समभवद्रतं हि तत् ॥ ११.५७

अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, पर्यायोक्त आदि वक्रोक्ति के पोषक अन्य अलंकार हैं, जिनका पद्मसुन्दर ने रुचिपूर्वक प्रयोग किया है। तृतीय सर्ग में अर्थान्तरन्यास को सबसे अधिक स्थान मिला है (३.११, ८४, ११७, १३६, १५३, १५५, १५६, २०१)। विषयों के बीच वसुदेव की निष्पापता के प्रतिपादक इस पद्य में पूर्वाद्ध के विशेष कथन का उत्तरार्द्ध की सामान्य उक्ति से समर्थन करने के कारण अर्थान्तरन्यास है।

तां रिरंसुरथ सोऽप्यर्हनिशं पापमाप किमु तत्त्ववित् क्वचित् ।

ज्ञानिनां किल कलंकपंकता लिम्पते न विषयस्फुरामपि ॥ ११.३०

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त से ही वे मधुर सूक्तियाँ उद्भूत हैं, जो काव्य की निधि है।^{१८}

काव्य में प्रयुक्त उपमाएँ कवि की कुशलता की परिचायक हैं। पद्मसुन्दर ने अन्य अलंकारों के संकर के रूप में भी उपमा का प्रयोग किया है (३.१६५, ४७ आदि)। पद्मसुन्दर के उपमान अनेक क्षेत्रों से लिये गये हैं। कुछ अप्रस्तुत शास्त्रीय (१०.६६) अथवा दार्शनिक (१०.२०) हैं। स्वयम्बर वर्णन में प्रयुक्त उपमान बहुत मार्मिक हैं। शिविकाधारी कनका को मिथिलापति से हटा कर 'घनदयुग्म' के पास ले गये जैसे सूर्य की किरणें चक्रवाकमिथुन के पास प्रसन्नता ले जाते हैं।

तां निन्यरे घनदयुग्ममिवावशिष्टं प्रीति रथांगमिथुनं हरिबन्धपादाः । ६.१
रूपक, परिसंख्या, व्याजोक्ति, व्यतिरेक, विरोधाभास, सार, एकावली, काव्यलिङ्ग, असंगति, अनुमान, उल्लेख, उदात्त, पद्मसुन्दर के अन्य मुख्य अलंकार हैं। नैषध के समान यदुसुन्दर में स्वभावोक्ति के लिये स्थान नहीं है। काव्य में इनी-गिनी स्वभावोक्तियाँ मिलेंगी। दूत के अन्तःपुर में प्रवेश की यह स्वभावोक्ति उसकी चेष्टाओं का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करती है।

दौवारिकस्य परविप्रतिषेधवाचा त्वं कोऽस्यरेऽपसर सोऽपि विशंकमानः ।

ग्रीवां विभुज्य चकितः क्षणमित्यपास्तशंकः परामथ विवेश निशान्तकक्षाम् ॥ ३.७६

२८. कुछ सूक्तियों बहुत रोचक हैं—

(i) वृणाग्रनीरैः सम्मथेति किं वृषा । १.३४

(ii) औचित्यं निकृतिपरेषु वक्तव्यम् । ३.६१

(iii) प्राप्यो हि नामपवमेव मुखं क्रियासु । ३.१०६

(iv) दुःस्थे चेतस्यशेषमविषह्यम् । ३.१२७

(v) न मानमान्द्यं गणयन्त्यमीप्सवः । ४.६

(vi) गरीयसितरा नियतेः समीहा । ४.७२

(vii) समयवशाः स्युः संपदोऽसंपदः । ६.६१

यदुसुन्दर में चौबीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, शालिनी, प्रहर्षिणी, हरिणी, भस्मयूरी, पुष्पताम्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रांता, रुचिरा, जल-घरमाला, स्वागता, तोटक, मञ्जुभाषिणी, प्रमिताक्षरा, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवंशा और अनुष्टुप्। छह पद्यों के छन्द ज्ञात नहीं हो सके (४.८१, ६.३२, ३४, ३८-४०)। प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ सर्गों का प्रश्न छन्द 'वंशस्थ' है। पांचवें, छठे तथा नवें सर्गों में छन्दों का बाहुल्य है। इन सर्गों में बार-बार छंद बदलता है। पंचम सर्ग में नौ तथा नवें सर्ग में बारह छन्द प्रयुक्त हुए हैं। दसवें सर्ग के प्रथम चालीस पद्य स्वागता छंद में निबद्ध हैं। शेष इक्कीस पद्यों में अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा रचना के आधार बने हैं।

यदुसुन्दर का समूचा महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसमें नवीन पात्रों के माध्यम से नैषधचरित का संक्षिप्त ल्यान्तर प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता के अभाव के कारण यदुसुन्दर ख्याति प्राप्त नहीं कर सका। सम्भवतः यही कारण है कि इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

हीरसौभाग्य : देवविमलगणि

माघ कालिदासोत्तर काव्यसाहित्य का सार्वभौम सम्राट् है। उसने जिस अलंकृत शैली का चरम विकास किया तथा जिन काव्यरूढ़ियों को सायास प्रतिष्ठित किया, उनसे संस्कृत-महाकाव्य दूर तक प्रभावित हुआ है। माघ की तुलना में श्रीहर्ष का साहित्य पर अल्प प्रभाव पड़ा है। इसका मुख्य कारण उनकी 'ग्रन्थग्रन्थि' की विवेकहीन वृत्ति है। जिन परवर्ती महाकाव्यों की रचना नैषधचरित के अनुकरण पर हुई है, उनमें देवविमलगणि का हीरसौभाग्य, अपने विविध गुणों के कारण, अत्युच्च पद अधिकारी है। सतरह सगों के इस विशाल काव्य में तपागच्छ के प्रख्यात आचार्य, हीरविजयसूरि का उदात्त चरित वर्णित है। अकबर तथा हीरविजयसूरि की आध्यात्मिक गोष्ठी, मुगल-सम्राट् के हृदय में अपूर्व परिवर्तन का सूत्रपात करती है जिससे उसका दृष्ट वैभव संयमघन साधु की निरीहता के समक्ष नत हो जाता है। यही मर्मस्पर्शी प्रसंग देवविमल के काव्य का हृदयस्थल है। तत्कालीन प्रणाली के अनुरूप, हीरसौभाग्य में जैनाचार्य का चरित काव्य-शैली में निरूपित किया गया है। कवि की निष्पक्षता के कारण यह हीरसूरि के जीवन का प्रामाणिक स्रोत भी है और देवविमल की काव्यप्रतिभा, कवित्व की दृष्टि से भी इसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। हीरसौभाग्य पर, एक ओर, सिद्धिचन्द्र की यह उक्ति—यथार्थमेव यज्जातं तत्तथैव निगद्यते—अक्षरशः चरितार्थ होती है; दूसरी ओर श्रीहर्ष की परम्परा के सम्यक् पालन के कारण इसे न्यायपूर्वक जैन साहित्य का नैषध कहा जा सकता है।

हीरसौभाग्य का स्वरूप

चरित के तथ्यात्मक निरूपण के कारण हीरसौभाग्य ऐतिहासिक काव्य का आभास देता है। आधुनिक शब्दावली में इसे चरितात्मक (बायब्रेफिक) भी कह सकते हैं, पर इसका शास्त्रीय स्वरूप सर्वोपरि है। शास्त्रीय शैली के महाकाव्य की रचना-विधि के अनुरूप हीरसौभाग्य का प्रतिपाद्य आधार मात्र है, जिस पर कवि ने अपनी अभिव्यंजना शैली के द्वारा काव्य का विशाल प्रासाद खड़ा किया है। काव्य का शिल्प शास्त्रीय महाकाव्य की प्रकृति का पोषक है। वैदुष्यपूर्ण भाषा,

१. काव्य माला, गुच्छक ६७, बम्बई, सन् १९००

२. भानुचन्द्रचरित्र, तिघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १.२

गम्भीर शैली, काव्यरुद्धिओं के परिपालन की तत्परता, प्रौढोक्ति के प्रति पक्षपात आदि तत्त्व काव्य की शास्त्रीयता की निर्णायक विशेषताएँ हैं। वस्तुतः देवविमल का उद्देश्य ऐसे महाकाव्य की रचना करना था, जो महाकाव्य की तत्कालीन समृद्ध परम्परा को, उसके गुण-दोषों के साथ, समग्रता से बिम्बित कर सके। इसके कथानक में नाट्य सन्धियों का विनियोग भी इसी दृष्टि से प्रेरित है।

हीरसौभाग्य में पौराणिक महाकाव्यों के भी कतिपय तत्त्व विकीर्ण हैं। पौराणिक रचना की भाँति इसमें यक्षस्वी पुत्रों की प्राप्ति माताओं के स्वप्नदर्शन का फल है। काव्य में देशनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विजयदान सूरि के धर्मोपदेशों से प्रेरित होकर ही हीर तथा जयसिंह प्रब्रज्या ग्रहण करते हैं। आर्हत धर्म का गौरवगान^१ पौराणिक प्रवृत्ति का सूचक है। वस्तुतः यदि काव्य का आवरण हटा कर देखा जाये, काव्य का प्रमुख प्रयोजन जैनधर्म का उन्नयन करना है, जिसके बिना जीवन उसी तरह निरर्थक है, जैसे फल से शून्य वृक्ष—अपार्थक्यमुद्ब्रूते परं जनुविना फलोद्यैरवकेशिनामिव (हीरसौभाग्य, १४.१८)। हीरसौभाग्य में पौराणिक काव्यों के समान स्तोत्रों तथा माहात्म्यों की भरमार तो नहीं है, किन्तु शत्रुजय का विस्तृत वर्णन, उसके माहात्म्य का निष्ठापूर्वक प्रतिपादन, स्वतन्त्र ऋषभ-स्तोत्र का समावेश तथा अन्तिम सर्ग में विविध व्रतों, नियमों तथा धार्मिक क्रियाओं का निरूपण काव्य की पौराणिकता को मुखर करते हैं। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि हीरसौभाग्य की शास्त्रीय शैली के सागर में ये पौराणिक तत्त्व बिन्दु के समान हैं। वास्तव में, ये तथाकथित पौराणिक विशेषताएँ अधिकतर जैन काव्यों के अनिवार्य-से अंग हैं, चाहे उनमें किसी शैली की प्रधानता हो।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

हीरसौभाग्य के रचयिता देवविमल के व्यक्तिगत जीवन के विषय में, सर्गान्त के पद्य से, केवल इतना ज्ञात होता है कि उनके पिता शिवा घनवान् व्यापारी थे (साधु मधवा) और उनकी माता का नाम सौभाग्यदेवी था। काव्य की प्रान्त-प्रशस्ति उनकी गुरु-परम्परा का विश्वसनीय स्रोत है। उससे पता चलता है कि देवविमल को महान् संयमी तथा मनीषी आचार्यों की परम्परा की थाती मिली थी। उनके प्रगुरु जगर्षि तपागच्छ के उदात्तचरित प्रभावक आचार्य थे। उन्होंने तमोगुण-तुल्य लुम्पाकवर्षा से आक्रान्त सौराष्ट्र जनपद को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित किया था।^२ जगर्षि के विद्वान् तथा वाग्मी शिष्य सीहविमल देवविमल के गुरु थे। सीहविमल ने बादिराज वीरतम को वाक्कला में सभा के समक्ष उसी तरह पराजित

१. धर्ममार्हतमतो जनिमन्तो धानपाश्रमिव संप्रहयध्वम्। हीरसौभाग्य ५.१६

४. प्रशस्ति सूत्र, ७-८

किया था जैसे देवसूरि ने दिगम्बर कुमुदचन्द्र को ।^१ उनके चरण-कमल का मृग देवविमल प्रस्तुत काव्य का प्रणेता है । देवविमल ने मूलकाव्य की रचना के क्षाद उस पर 'सुखावबोध' टीका भी लिखी थी । काव्य का संशोधन उनके मेधावी शिष्य कल्याणविजय तथा घनविजय ने बहुत मनोयोग से किया था ।^१

मूलकाव्य, इसकी वृत्ति तथा प्रशस्ति में हीरसौभाग्य के रचनाकाल का कोई संकेत नहीं है । अन्य ग्रन्थों से कुछ प्रकाश मिलता है । धर्मसागरगणि की मराठी गुरुपरिवाड़ी, संस्कृत वृत्ति सहित पट्टावलीसमुच्चय 'श्रीतपागच्छपट्टावलीसूत्रम्' नाम से प्रकाशित हुई है । वृत्ति से विदित होता है कि मूल कृति (गुरुपरिवाड़ी) का संशोधन सम्वत् १६४८ में किया गया था तथा उससे पूर्व इसके कई आदर्श हो चुके थे । अतः इसका सम्वत् १६४८ से पूर्व रचित होना निश्चित है । वृत्ति में ग्रन्थकार ने महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है कि हीरविजयसूरि के जीवनवृत्ति की जानकारी के लिये हीरसौभाग्य आदि काव्यों का अवलोकन करना चाहिये । इससे स्पष्ट है कि हीर-सौभाग्य के अधिकतर भाग की रचना उक्त संवत् (१६४८) से पूर्व हो चुकी थी । किन्तु वर्तमान काव्य में हीरसूरि के देहोत्सर्ग का वर्णन होने से स्पष्ट है कि इसकी पूर्ति सम्वत् १६५२ के उपरान्त हुई थी । हीरविजय के स्वर्गारोहण का यही वर्ष है ।^२

मुद्रित हीरसौभाग्य का सम्पूर्ण चतुर्थ सर्ग, पट्टावलीसमुच्चय (भाग १, पृ० १२०-१३७) में 'श्रीमन्महावीर पट्ट परम्परा' नाम से उद्धृत किया गया है । इसके सम्पादक दर्शनविजयजी ने, इसकी स्वरचित टिप्पणी में, हीरसौभाग्य की प्रशस्ति का समदर्भ देते हुए मत व्यक्त किया है कि काव्य का आरम्भ सं० १६३६ में किया गया था और स्वोपज्ञ वृत्ति सहित प्रस्तुत हीरसौभाग्य सम्वत् १६७१ में समाप्त हुआ था । परन्तु काव्य की वर्तमान प्रशस्ति में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है ।^३ क्या प्रशस्ति का कुछ अंश नष्ट हो गया है अथवा यह सम्पादक का भ्रम है ?

पट्टावली समुच्चय के प्रथम भाग के हिन्दी उपक्रम के अनुसार हीरसौभाग्य की विशेषता यह है कि इसकी रचना सम्वत् १६३६ में प्रारंभ हुई थी और पूर्ति सम्वत् १६५६ में हुई क्योंकि धर्मसागर की पूर्वोक्त परिवाड़ी में इसका उल्लेख हुआ है तथा सम्वत् १६५६ की कतिपय घटनाएं इसमें समाविष्ट हैं ।

५. वही, १२-१३

६. वही, १६-२१

७. हीरसौभाग्य, १७.१५७, जन्नतपुर शिलालेख, पंक्ति १

८. हीरालाल कापडिया : हीरसौभाग्यनं रेखा दर्शन, जैन सत्य प्रकाश, वर्ष १७, अंक ७, पृ० १३६

इस प्रकार मूल काव्य का रचनाकाल विक्रम सम्वत् १६३६ से १६५६ (सन् १५८२-१५९९) तक माना जा सकता है। स्पष्ट है, हीरसौभाग्य की रचना में पन्द्रह-सौलह वर्ष लगे थे। स्वोपज्ञ टीका सं० १६७१ में पूरी हुई थी।

हीरसौभाग्य का पूर्वभाव

हीरसौभाग्य के मीमांसकों का विचार है कि प्रस्तुत काव्य ने वर्तमान रूप प्राप्त करने के लिये कम से कम एक करवट अवश्य ली है। देवविमल ने पहले हीर-सुन्दर काव्य की रचना की थी, जिसके एक-दो सर्ग जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं। श्री आत्मकमल लब्धिसूरीश्वर शास्त्र संग्रह, ईडर में इसके एक सर्ग की हस्तलिखित प्रति विद्यमान है। सम्भवतः यह काव्य पूरा नहीं हुआ था। कुछ समय पश्चात् कवि ने उसका कायाकल्प कर नवीन काव्य की रचना की, जो अब हीरसौभाग्य नाम से ख्यात है।^{१०}

कथानक

हीरसौभाग्य सतरह सर्गों का बहुत बड़ा काव्य है। इसके अधिकतर सर्गों में शताधिक पद्य हैं। चौदहवें सर्ग में यह संख्या तीन सौ तक पहुँच गयी है। इसमें विविध छन्दों में रचित पूरे २७८६ पद्य हैं, जो काव्य की विशालता के द्योतक हैं।

हीरसौभाग्य का आरम्भ जम्बूद्वीप, भारत वर्ष, गुर्जर देश तथा काव्य नायक के जन्म स्थान प्रह्लादनपुर के क्रमिक विस्तृत वर्णन से होता है, जो आद्यन्त कवि प्रतिमा से आर्द्र है। द्वितीय सर्ग में प्रह्लादनपुर के घनाढ्य वणिक् कुरां की रूपवती पत्नी नाथी के अनवद्य सौन्दर्य का नखशिख वर्णन तथा नवदम्पती की यौवन सुलभ केलियों का निरूपण है। 'शृंगारनट की गतिशील रंगशाला' (२.१६) नाथी स्वप्न में गजदर्शन को जयन्त तथा भरत-तुल्य पुत्र के जन्म का पूर्वसूचक जानकर हर्ष से पुलकित हो जाती है। सर्ग के शेष भाग में भरत की दिग्विजय, निशान्त तथा प्रभात का रोचक वर्णन है। तृतीय सर्ग में नाथी सम्वत् १५८३ की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी को एक शिशु को जन्म देती है। तीनों लोकों के भुक्त के रत्न के समान उसका नाम हीर रखा गया। माता-पिता के निम्न के पश्चात् पुत्र हीर अपनी बहिन विमला के पास पाटण चला जाता है। चतुर्थ सर्ग में महावीर से लेकर विजयदान सूरि तक पूर्वाचार्यों की परम्परा का रोचक कविस्व-पूर्ण वर्णन है। पंचम सर्ग में कुमार हीर, संसार, यौवन तथा लक्ष्मी की अनित्यता

६. वही, वर्ष १७, अंक ८-९, पृ० १६२

१०. दर्शनविजय : हीरसौभाग्य महाकाव्यमो पूर्वभाव, जैन सत्यप्रकाश, वर्ष १५, अंक १, पृ० २३

मे उद्विग्न होकर, कार्तिक कृष्णा द्वितीया सम्बत् १५६६ को विजयदान सूरि से, पाटण में, प्रव्रज्या ग्रहण करता है। छठे सर्ग में शासनदेवता के आदेश से विजयदान उसे सम्बत् १६१०, पौष शुक्ला पंचमी को, शिवपुरी (सिरोही) में सूरि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। हीरक की भाँति प्रिय होने तथा विद्वन्मण्डलियों में उसकी भावी विजय से आश्वस्त होने के कारण उसका नाम हीरविजय रखा गया। उनके सूरि पद के तन्दि-उत्सव का आयोजन यवनराज सेरखान के नीति कुशल मन्त्री, समर्थ भणशाली ने पाटण में किया। विजयदान सूरि अपने नव दीक्षित शिष्य जयसिंह को उन्हें सौंप देते हैं और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त अपने यश को देवलोक में पहुंचाने के लिये स्वयं, वटपल्लिका (वडली) में, स्वयं सिधार जाते हैं। सातवां तथा आठवां सर्ग क्रमशः वर्षा, शरत्, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि तथा शासन देवता के अंगों-प्रत्यंगों के विस्तृत वर्णन से परिपूर्ण है। नवें सर्ग में हीरविजय, शासन देवी के आदेश से अपने मेधावी शिष्य जयविमल (जयसिंह) को अहमदाबाद में क्रमशः उपाध्याय तथा सूरि पद प्रदान करते हैं, जैसे अग्नि अपना तेज दीपक को देती है (६.६५)। दसवें सर्ग में मुगल सम्राट् अकबर के समदर्शी तथा निस्पृह साधु के विषय में पूछने पर (१०.६५-६६), उसके सभासद् जैनाचार्य हीरविजय की आध्यात्मिक तथा चारित्रिक उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक बखान करते हैं (१०.६६-१३०)। ग्यारहवें सर्ग में, गुजरात के गवर्नर साहिबखान के द्वारा अकबर का निमन्त्रण पाकर हीरविजय यह सोच कर कि सम्राट् के मिलने से धर्म-वृद्धि होगी, फतेहपुर सीकरी को प्रस्थान करते हैं। बारहवें सर्ग में आबू पर्वत तथा वहाँ के प्रसिद्ध भन्दिरों का वर्णन है। लम्बा मार्ग तय करने के बाद, तेरहवें सर्ग में, जैनाचार्य सीकरी पहुंचते हैं, जहाँ उनका भव्य राजसी स्वागत किया गया। फतेहपुर में हीरविजय की प्रथम धर्मगोष्ठी, अकबर के आध्यात्मिक मित्र तथा इस्लाम-दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित अब्दुल फ़जल के साथ हुई, जिसमें विद्वान् मन्त्री ने इस्लाम के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आचार्य से गम्भीर चर्चा की। इस दार्शनिक विचार-विनिमय के पश्चात् अब्दुल फ़जल जैन साधु को अकबर की सभा में ले गया, जैसे सिद्धिदायक मन्त्र इष्टदेव को साधक के पास ले आता है (१३.१५५)। हीरविजय की कठोर संयमपूर्ण चर्चा सुनकर, जिसके कारण वे सुदूर गन्धार बन्दर से सीकरी तक पैदल आये थे, सम्राट् का हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। चौदहवें सर्ग में हीरविजय की अकबर के साथ धर्म-चर्चा होती है, जिसमें वे सम्राट् को धर्म, गुरु तथा देव के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं। अकबर हीरसूरि की निरीहता, सच्चरित्रता तथा करुणा से बहुत प्रभावित हुंछ। अगारा में पावस के चार मास व्यतीत करने के पश्चात् हीरविजय की अकबर से दूसरी गोष्ठी हुई, जिसमें आचार्य ने सदसत् की विस्तृत मीमांसा करते

हुए आर्हत धर्म की सर्वोत्कृष्टता का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया। अकबर ने उन्हें बहुमूल्य राजसी उपहार देने का प्रस्ताव किया परन्तु आचार्य ने उन्हें यह कहकर शिष्टतापूर्वक अस्वीकार कर दिया कि जैन साधु के लिये शारीरिक सुख भोग की वस्तु लेना नितान्त वर्जित है। अकबर के अधिक आग्रह करने पर उस तपस्वी ने सम्राट् से राज्य के समस्त बन्दि्यों को मुक्त करने तथा पर्युषण पर्व के आठ दिन, समूचे राज्य में जीववध पर प्रतिबन्ध लगाने का अनुरोध किया। सम्राट् ने इसे सहर्ष स्वीकार किया तथा इस आशय के छह फरमान हीरसूरि को दिये। आचार्य की धार्मिक उपलब्धियों तथा सच्चरित्रता के उपलक्ष्य में सम्राट् ने उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया। कालान्तर में अकबर ने अमानुषिक जजिया कर भी समाप्त कर दिया और हीरविजय को शत्रुंजय का स्वामित्व प्रदान किया। पन्द्रहवें सर्ग में हीरविजय संघ के साथ, शत्रुंजय की यात्रा के लिये प्रस्थान करते हैं। इस सर्ग के अधिकांश में तथा अगले सर्ग में शत्रुंजय का माहात्म्य वर्णित है। सतरहवें सर्ग में, उन्नतपुर में हीरविजय के देहावसान का वर्णन है। जिस आम्र वृक्ष के निकट उनकी अन्त्येष्टि की गयी थी, वह रातों-रात फलों से भर गया है। विजयसेन के करुण विलाप के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

पहले कहा गया है, देवविमल का उद्देश्य ऐसे काव्य की रचना करना था, जिसमें सुप्रतिष्ठित महाकाव्य-परम्परा का, उसकी समस्त विशेषताओं और रुढ़ियों के साथ, समाहार किया जा सके। इस उद्देश्य ने जहाँ उसे अत्यन्त विस्तृत फलक दिया है वहाँ काव्य को सन्तुलित रखने की उसकी क्षमता का अपहरण भी किया है। इसके अतिरिक्त वह श्रीहर्ष के नैषधचरित से इतना प्रभावित तथा मोहित है कि उसने नैषध का समानान्तर प्रस्तुत करने में ही अपनी प्रतिभा तथा काव्यशक्ति की सार्थकता मानी है। काव्य का मूल कथानक तथा उससे सम्बन्धित प्रसंग यद्यपि अल्प नहीं हैं, किन्तु देवविमल की दृष्टि में प्रबन्धात्मकता का निर्वाह करना महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। पूर्वप्रचलित रुढ़ियों का समावेश करने की आतुरता के कारण उसने हीरसौभाग्य में नख-शिख चित्रण, पौर ललनाओं का सम्भ्रम, सैन्यप्रयाण, दिग्विजय, अश्वचेष्टा आदि कतिपय ऐसे वर्णन भी चिपका दिये हैं, जो उसकी निवृत्तिवादी प्रकृति से मेल नहीं खाते। द्वितीय सर्ग के अपराद्ध में वर्णित भरतचरित, चतुर्थ सर्ग की पूर्वाचार्य-परम्परा, प्रकृति वर्णन वाले सातवें सर्ग तथा दसवें सर्ग के पूर्वाद्ध का मूल कथानक से चेतन सम्बन्ध नहीं है। आबू तथा शत्रुंजय के वर्णन एवं माहात्म्य वाले सर्ग (१२, १५, १६) भी कथा वस्तु के साथ अतीव सूक्ष्म तन्तु से बंधे हुए हैं। वस्तुतः यही तीन सर्ग ऐसे हैं जो काव्य की गरिमा आहत करते हैं, यद्यपि धार्मिक दृष्टि से उनका महत्व निर्विवाद है

और कवित्व की दृष्टि से भी वे उपेक्षणीय नहीं हैं। अस्मिन् तीन सर्गों के प्रतिपाद्य को केवल एक सर्ग में सफलतापूर्वक समेटा जा सकता था किन्तु नैषध के सप्तदश सर्गों के दार्शनिक विवेचन से स्पर्धा करने के लिए कवि ने इन तीन सर्गों का पल्लवम किया है पर वह जैन धर्म के विविध व्रतों, क्रियाओं तथा नियमों की तालिका ही दे सका है। नैषध की तरह ही यहाँ प्रबन्धात्मकता का अभाव है और प्रासंगिक-अप्रासंगिक वर्णनों का बाहुल्य है। संतोष यह है कि देवविमल में समर्थ काव्य प्रतिभा है जिसके कारण उसके सभी वर्णन कवित्व से तरलित हैं।

देवविमल को प्राप्त श्रीहर्ष का वाय

हीरसौभाग्य की रचना में कवि का आदर्श नैषधचरित है। कथानक में विराट् अन्तर तथा अनुकरण की सम्भावना कम होने पर भी देवविमल वर्ण्य विषयों के उपस्थापन, रूढ़ियों के परिपालन, भाषा तथा शैली के कुछ पक्षों में श्रीहर्ष के इतने श्रेणी हैं कि उनके कतिपय प्रसंग नैषधचरित की शब्दावली तथा भावतति से परिपूर्ण हैं। हीरसौभाग्य के प्रथम सर्ग में प्रह्लादनपुर का वर्णन नैषध के द्वितीय सर्ग के कुण्डिनपुर-वर्णन पर आधारित तथा उससे प्रभावित है। काव्यनायक का जन्मस्थान होने के नाते प्रह्लादनपुर का काव्य में विशेष महत्त्व है, फलतः श्रीहर्ष के इकतीस पद्यों (२.७४-१०५) के विपरीत हीरसौभाग्य के प्रथम सर्ग के अधिकतर भाग में उसका तत्परता से वर्णन किया गया है (१.६६-१२७)। श्रीहर्ष की भ्रांति देवविमल भी काव्याचार्यों द्वारा निश्चित नगरवर्णन के विविध तत्त्वों को उदाहृत करने की बलवती भावना से प्रेरित है। इसीलिए दोनों काव्यों में नगर के अंगरूप में उद्यान, क्रीडावापी, परिखा, परकोटा, हाट, प्रासाद तथा नर-नारियों का वर्णन किया गया है। श्रीहर्ष को नगरवर्णन में भी दार्शनिक पाण्डित्य बघारने अथवा दूर की कौड़ी फेंकने में हिचक नहीं। देवविमल ने प्रह्लादनपुर का उत्तम वर्णन किया है, जो भाषा-माधुर्य तथा अप्रस्तुतों के विवेकपूर्ण प्रयोग के कारण उल्लेखनीय है। इन एदम्भरागत तत्त्वों की समानता के अतिरिक्त देवविमल ने, इस प्रसंग में, श्रीहर्ष के कतिपय भाव भी ग्रहण किए हैं^{११}, जिनमें से कुछ ने रूढ़ि का रूप धारण कर लिया है।

श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य का चित्रण काव्य में कई स्थानों पर किया है। उनमें दो स्थान उल्लेखनीय हैं। द्वितीय सर्ग में हंस के माध्यम से दमयन्ती के ११. उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः।

पिकालिकेलिहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः ॥ काव्यकल्पलतावृत्तिः, १. ५. ६८

१२. नैषध २.६३-६४, हीर० १.७१, नैषध २.७६, हीर० १.७२, नैषध २.८७, हीर० १.११८; नैषध २.८३, हीर० १.११८ आदि आदि.

शारीरिक सौन्दर्य का सरसरा वर्णन किया गया है (२.२०-४०)। सप्तम सर्ग में, ठेठ परंपरागत शैली में, उसका विस्तृत नखशिख वर्णन है। श्रीहर्ष की सौन्दर्यचित्रण की इस विधि से प्रेरित होकर देवविमल ने भी अपने काव्य में, दो स्थानों पर, नारी-सौन्दर्य का चित्रण किया है, जो श्रीहर्ष के ऋण की स्पष्ट स्वीकृति है। हीरसौभाग्य के द्वितीय सर्ग में नाथी का नख-शिख वर्णन अत्यन्त रोचक तथा कवित्वपूर्ण है। इसकी तुलना में नैषध के द्वितीय सर्ग का दमयन्ती-वर्णन नीरस तथा ऊहात्मक है। श्रीहर्ष के पगचिह्नों पर चलते हुए देवविमल ने अष्टम सर्ग में शासनदेवता के सौन्दर्य का निरूपण किया है, जो दमयन्ती के सौन्दर्य-चित्रण (सप्तम सर्ग) की भांति बहुत लम्बा तथा नखशिख कोटि का है। श्रीहर्ष से स्पर्धा की आतुरता में देवविमल ने शासनदेवी के धार्मिक स्वरूप को भूल कर उसे ठेठ मानवी रूप में प्रस्तुत किया है जिससे वह उसके अंगों-प्रत्यंगों का सविस्तार चित्रण करके सप्तम सर्ग की दमयन्ती का समानान्तर प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। श्रीहर्ष के सप्तम सर्ग के सौन्दर्य-चित्रण का प्रभाव हीरसौभाग्य के दोनों वर्णनों पर इतना गहरा पड़ा है कि उनमें भावों तथा भाषा का अत्यधिक साम्य दिखाई देता है।^{१३} परन्तु नैषध तथा हीरसौभाग्य के दोनों वर्णनों में विशेष अन्तर है। श्रीहर्ष दर्शन, व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों की बारीकियों में उलझकर ऊहात्मक शैली के गोरखधन्वे में इस तरह फँस गए हैं कि उनके अप्रस्तुत अपनी दूरारूढ़ता के कारण प्रस्तुत को अधिकतर धूमिल कर देते हैं ! देवविमल के भी कुछ अप्रस्तुत दूरारूढ़ता के कलंक से मुक्त नहीं हैं किन्तु वे, समग्र रूप में, भावों को विशदता प्रदान करते हैं। फलतः देवविमल का सौन्दर्यचित्रण श्रीहर्ष की अपेक्षा अधिक सन्तुलित, आकर्षक तथा कवित्वपूर्ण है।

हीरसौभाग्य का पंचम सर्ग, प्रतिपाद्य की भिन्नता होने पर भी, नैषधचरित के पन्द्रहवें सर्ग से अत्यधिक प्रभावित है तथा शब्दसाम्य एवं भावसाम्य से इतना परिपूर्ण है कि उसे श्रीहर्ष के उक्त सर्ग का स्वतंत्र संस्करण कहना सर्वथा उपयुक्त होगा। नैषध में स्वयंस्वर के पश्चात् ज्योतिषी दमयन्ती से पाणिग्रहण का मुहूर्त निश्चित करते हैं। हीरसौभाग्य में भी हीरकुमार अपनी दीक्षा का समुचित मुहूर्त निश्चित करने के लिए दैवज्ञों को आमन्त्रित करता है।^{१४} कुमार हीर का दीक्षापूर्व अलंकरण दमयन्ती तथा नल की विवाहपूर्व सज्जा पर आधारित है। देवविमल

१३. नैषध ७.२३, ६४, ७७, १०१, ८७, ६०, २७; हीर० क्रमशः २.१८, २४, ४१, ८.२८, ५१, १३०, १३५ आदि आदि.

१४. निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशंस मौहूर्तिसकसंवशकम्। नैषध, १५.८.

आबुहाव गणकान्स मुवाणीन्। हीरसौभाग्य ५.६१.

नैषध के इस वर्णन से इस तरह अभिभूत है कि उसने इस प्रसंग का, अपनी शब्दावली में, पुनराख्यान कर दिया है।^{१५} नैषध का ऋणी होता हुआ भी देवविमल का यह वर्णन श्रीहर्ष की दूरारूढ़ वायवीयता से मुक्त होने के कारण अधिक रोचक तथा प्रभावशाली है।

प्रव्रज्या के लिए जाते समय कुमार हीर को देखने को उत्सुक पौरांगनाओं के सम्भ्रमचित्रण (५.१५८-१७६) की प्रेरणा देवविमल को नैषधचरित के पन्द्रहवें सर्ग से मिली होगी, जहां नल को देखने को लालायित पुरनारियों का ऐसा ही चित्रण किया गया है (१५.७४-९२)। देवविमल ने भावों की अपेक्षा नैषध से यह काव्यरूढ़ि ग्रहण की है। देवविमल श्रीहर्ष के कुछ भावों का भी ऋणी है। दोनों में अध-उधड़े स्तन की मंगलघट के रूप में कल्पना की गयी है और हार के बिखरते मोतियों को लाजा के रूप में अंकित किया गया है।^{१६}

दमयन्ती के विवाह के अवसर पर कुण्डिनपुर की अद्भुत सजावट की जाती है तथा मांगलिक वाद्यनाद किया जाता है (१५.१३-१८)। इसी प्रकार कुमार हीर के दीक्षार्थ जाते समय अणहिलपत्तन को सजाया जाता है तथा तूर्यनाद से हर्ष की अभिव्यक्ति की जाती है (५.१४८-१५७)। हीरकुमार तथा भगिनी विमला के संवाद (५.३६-६०) पर नैषध के तृतीय सर्ग में हंस तथा दमयन्ती के वार्त्तालाप का प्रभाव है। दोनों में हंस तथा हीर तर्कबल से अपने पक्ष का समर्थन करते हैं तथा अन्ततः उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। नैषध के प्रथम सर्ग में, दमयन्ती के पूर्वरंग से व्यथित नल, घोड़े पर सवार होकर, अन्य अश्वारोहियों के साथ, उपवन में मनोविनोद के लिए जाता है (१.५७-७३)। अपने मित्रों के साथ, घोड़े पर बैठकर हीरकुमार के नगर के निकटवर्ती उद्यान में जाने का वर्णन (५.१३२-१४७), नैषध के उक्त प्रकरण से प्रेरित है। दोनों में कहीं-कहीं भावों की समानता भी दिखाई देती है।^{१७}

१५. (i) तदा तदंगस्य विभक्ति विभ्रमं विलेपनाभोदमुचः स्फुरद्बुचः।

दरस्फुटत्कांचनकंतकोदलात् सुवर्णमभ्यस्यति सौरभं यदि ॥ नैषध, १५.२५
सौरभं सुमनसां समुदायोऽध्यापयेद् यदि महारजतस्य।

अंगरागललितार्भकमूर्तस्तलभेत तुलनां कलयापि ॥ हीरसौभाग्य, ५-१०१.

(ii) धृतंतया हाटकपट्टिकाऽलिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा ॥ नैषध, १५.३२

विभ्रमेण विह्वराम्बुधराणां ह्लादिनीव निकटे विलुठन्ती। हीरसौभाग्य, ५.१०७
आदि आदि

१६. नैषध, १५-७४—हीर० ५.१७०; नैषध, १५-७५, हीर० ५.१७३.

१७. नैषध, १.५७, हीर० ५.१३२; नैषध १.६४, हीर० ५.१४०.

काव्यशास्त्रीय विधान का पालन करते हुए श्रीहर्ष तथा देवविमल दोनों ने अपने काव्यों में प्रकृतिचित्रण को पर्याप्त स्थान दिया है। नैषध के उन्नीसवें सर्ग में प्रभात का वर्णन है जो शास्त्रीयता तथा प्रौढोक्ति के भार से दब कर अदृश्य-सा हो गया है। हीरसौभाग्य के द्वितीय तथा नवम सर्ग में देवविमल ने निशावसान तथा सूर्योदय का चित्रण किया है। द्वितीय सर्ग का रात्र्यन्त का चित्रण अधिक कविस्व-पूर्ण तथा चित्ताकर्षक है। इसी प्रकार दोनों कवियों ने रात्रि तथा चन्द्रोदय का वर्णन किया है। नैषध के बाइसवें सर्ग में चन्द्रोदय का विस्तृत वर्णन नल-दमयन्ती की केलियों की मादक भूमिका निमित्त करता है। देवविमल ने सप्तम सर्ग में इसे स्थान दिया है, जो शासनदेवी के आविर्भाव की पृष्ठभूमि माना जा सकता है। प्रकृति-चित्रण के इन प्रसंगों में दोनों काव्यों में अत्यल्प साम्य है। अप्रस्तुतों के सन्तुलित तथा विवेकपूर्ण प्रयोग के कारण हीरसौभाग्य का प्रकृतिचित्रण नैषध की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा रोचक है।

नैषधचरित तथा हीरसौभाग्य दोनों अप्रस्तुतों के असह्य भार से आक्रान्त हैं। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत शास्त्रीय तथा दूरारूढ़ हैं। अतः वे प्रस्तुत विषय के विशदी-करण में सहायक नहीं हैं। देवविमल के अप्रस्तुतों को सामान्यतः संयत कहा जा सकता है।

देवविमल के लिए नैषधचरित धर्मग्रन्थ से कम पूजनीय नहीं है। उसने न केवल उपर्युक्त प्रसंगों में श्रीहर्ष के भावों/पदावली को ग्रहण किया है अपितु उसके विशिष्ट भाषात्मक प्रयोगों को काव्य में समाविष्ट किया है और स्वोपज्ञ टीका में इस ऋण को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

रसयोजना

समस्त काव्यगुणों तथा अन्य विशेषताओं के बावजूद हीरसौभाग्य का उद्देश्य, संयमधन आचार्य हीरसूरि के निःस्पृह चरित के द्वारा, संसार की अपरिहार्य दुःखमयता के विरोधी ध्रुव के रूप में मोक्ष की सुखमयता की स्थापना करना है। इस उदात्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए काव्य में, कई स्थलों पर, जीवन की मंगुरता, भोगों की विरसता तथा संयम और अपरिग्रह के गौरव का तत्परता से प्रतिपादन किया गया है। फलतः हीरसौभाग्य में शान्तरस की प्रधानता है। देवविमल ने स्वयं प्रकारान्तर से काव्य में शान्तरस की परिपूर्णता का संकेत किया है—प्रशान्ते रसैः पूरितः पूर्णकामो भवान् (११.६४)। हीरसौभाग्य में, चौदहवें सर्ग में सम्राट् अकबर तथा हीरविजयसूरि की धर्मचर्चा के अन्तर्गत और दसवें तथा सतरहवें सर्ग में शान्तरस के आलम्बन विभावों का चित्रण हुआ है। शान्तरस के इन आधारभूत भावों का सशक्त निरूपण पंचम सर्ग में विजयदानसूरि की देशनाट्य में दिखाई देता है, जहां

संसार की निस्सारता तथा दुर्गमता, धनवैभव की चंचलता, सम्बन्धों की अस्थिरता और मनुष्य की स्वार्थ-परायणता का हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है।^{१८} परन्तु काव्य में शान्तरस की सबसे समर्थ अभिव्यक्ति, हीरसूरि की निरीहता के वर्णन के प्रसंग में, प्रस्तुत पद्य में हुई है। आत्मतोषी तपस्वी का वैभव ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् से किसी प्रकार कम नहीं है।

विश्वे वेशमनि तारमौक्तिकनभश्चन्द्रोदयभ्राजनि

ज्योतिस्तेलभृतौषधीप्रियतमे स्नेहप्रियोद्भासिनि ।

आश्लिष्योपशमश्चिद्यं निजमुज्जगण्डोपधानांकिते

पर्यंके जगतीतले सुखममी भूमोशवच्छेरते^{१९} ॥ १३.२०८

शान्तरस के अतिरिक्त हीरसौभाग्य में वीर, श्रृंगार, वात्सल्य, अद्भुत तथा करुण की, अंग रूप में, निष्पत्ति हुई है, जो मुख्य रस के साथ मिलकर काव्य में तीव्र रसात्मकता की सृष्टि करते हैं। दसवें सर्ग में अकबर की दिग्विजय का वर्णन यद्यपि काल्पनिक है तथापि उससे मुगलसम्राट् के पराक्रम एवं युद्धकौशल का यथेष्ट परिचय मिलता है। देवविमल के शब्दों में वीररस का मूर्त रूप योद्धा है—सांगा इव क्वचन वीररसाश्व घोराः (६.६१)। श्रीहर्ष की भांति देवविमल के वीररस को 'टिपिकल दरबारी' कहना तो उचित नहीं किन्तु वह, कई स्थलों पर, इसी प्रवृत्ति का आभास देता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

यत्कीर्तिविद्विषदकीर्तिहतप्रतीपा-

सुष्पंक्तिजह्नुतरणिबुहिणांगजाभिः ।

जन्धावनीयदवनीशशिनस्त्रिवेणी-

संगः किमाविरभवत्त्रिदिवाभिकानाम् ॥^{२०} १०.२७

दिग्विजय से अकबर को कीर्ति प्राप्त हुई। शत्रु को अकीर्ति मिली

१८. हीरसौभाग्य, ५.१५, २२, २४, २५.

१९. तुलना कीजिए—मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता

वित्तानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।

स्फुरद्दोपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुबितः

सुखं शान्तशेषे मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

भर्तृहरि, वैराग्यशतक, ७३.

२०. तुलना कीजिए—द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलमुतथा नद्यास्य यद्गोद्वयी

कीर्तिश्रेणीमयी समागममगाब्धं गंगा रणप्रांगणे ।

तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहुजमटंरारम्भि ररुभापरी-

रम्भानिन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥ नैषध, १२.१२

रश्मिभूमि में मृत विपक्षी योद्धाओं के रक्त की धारा प्रवाहित हो गयी। कीर्ति निर्मल बंशा है। शत्रु के अपयश की कालिमा कृष्णवर्णा यमुना है। रक्त की धारा सरस्वती की प्रतिनिधि है। तीनों पवित्र नदियों के संगम के कारण युद्धस्थल प्रयाग बन गया है। वीर योद्धा समरांगण की उस त्रिवेणी में स्नान कर—मरकर—स्वर्ग को प्राप्त हुए जैसे प्रयाग में स्नान करने से पुण्यात्मा व्यक्ति स्वर्ग का सुख भोगता है।

हीरसौभाग्य में शृंगार के चित्रण के लिए अधिक अवकाश नहीं है। वैसे भी शृंगार शान्त का विरोधी है, जो काव्य का अंगी रस है। हीरसौभाग्य में विप्रलम्भ का नितान्त अभाव है। काव्यनायक के माता-पिता नाथी तथा कुरां की यौवनसुलभ कामकेलियों में सम्भोग शृंगार का मधुर चित्र दिखाई देता है। रति और काम की तरह वह मदिर दम्पती यौवन को पोर-पोर भोगने को आतुर है।

अथो मिथः प्रीतिपरीतदम्पती इमौ कलाकेलिविलासशीलिनौ ।

विलेसतुः केलिसरःसरिद्वनीगिरीन्द्रभूमौषु रतिस्मराविव ॥ २.५६

प्रफुल्लकंकलिरसालमल्लिकाकदम्बजम्बू निकुरम्बधुम्बिते ।

अलीव साकं सुदृशा स निष्कुटे कदापि रेमे श्वितसूनशीलनः ॥ २.६१

शृंगार का फल वात्सल्य है। हीरसौभाग्य में, कुमार हीर के शंशव के वर्णन में, वात्सल्य रस की मनोरम अभिव्यक्ति मिली है। धात्री द्वारा बोलने का अभ्यास कराने पर वह सुग्गे की भांति तुतलाला हुआ तथा उसकी अंगुली पकड़ कर ठुमक-ठुमक कर चलता हुआ, माता-पिता का मन मोहित करता है।

धात्र्योदितां प्रथमतः पृथुकप्रकाण्डः

कीरस्य शाव इव चारुमुवाच वाचम् ।

तस्याः पुनः समवलम्ब्य करांगुलीः स

लीलायितं बितनुते स्म गतो स्विकायाम् ॥ ३.७१.

कथानक की कुछ घटनाएं अद्भुत रस की सृष्टि करती हैं। सतरहवें सर्ग में, शासनदेवी पद्मावती समुद्र से प्रकट होकर सार्धवाह सागर को आत्महत्या करने से रोकती है। समुद्रतल से प्राप्त जित-बिम्ब के प्रभाव से समुद्र का समूचा उत्पात शान्त हो जाता है। इस प्रसंग में अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है।

कृष्टेव तद्भाग्यभरैस्तद्विभूयाश्रमार्गोऽब्धिगभीररावा ।

पद्मावती वाचमिमांमुवाच मा वत्स कार्ष्णिह साहसं त्वम् ॥ १७.४०.

अणाददृशोऽभवद्विन्द्रजालमिवोपसर्गोऽथ प्रभोः प्रभावात् ।

जमरकृतस्तत्प्रबिलोक्य वेदामभ्यर्च्य भोगादि पुरो व्यधत् ॥ १७.४६.

करुणरस का प्रसंग काव्य के अन्तिम सर्ग में है। गुरु हीरविजय के स्वर्ग-

रोहण पर विजयसेनसूरि का विलाप हृदय को कष्टार्द्र करने में समर्थ है। किन्तु देवविमल का कष्टरस भाषिकता से रहित है। वह अधिकतर क्रन्दन तथा गुण-स्मरण तक सीमित है। प्रस्तुत पद्य में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

उच्छिन्नः सुरभूखोऽप्यपगता 'स्वर्धामधेनुः पुन—

भंगः कामघटो भणिः सुमनसां चूर्णविभूष क्षणात् ।

दग्धा चित्रलता गतः शकलतां ह्य दक्षिणावर्तमृत,

कम्बुः स्वर्गिगृहं गते त्वयि गुरौ श्रीहीरसूरीश्वरे ॥१७.२०३

प्रकृतिचित्रण

हीरसौभाग्य के विराट् फलक पर प्रकृति का सविस्तार चित्रण हुआ है। मुख्यतः सप्तम तथा नवम सर्ग में, गौणतः अन्यत्र, देवविमल की तूलिका ने नगर, उपवन, षड्भूत, सूर्यास्त, अन्धकार, रात्रि, चन्द्रोदय, रात्र्यन्त, प्रभात, सूर्योदय, नदी, पर्वत आदि के अभिराम चित्र अंकित किए हैं। स्थान-स्थान पर प्रकृति का यह चित्रण चरित-परक काव्य के विवरण में रोचकता का संचार करता है। हीरसौभाग्य के इस व्यापक प्रकृति-वर्णन को कवि के प्रकृति-प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है, किन्तु देवविमल का वास्तविक उद्देश्य श्रीहर्ष के पगचिह्नों पर चलते हुए, काव्यशास्त्रीय विधान की खानापूर्ति करना है। इसीलिए नैषध की भोंति हीरसौभाग्य में सन्ध्या-चन्द्रोदय तथा निशावसान-सूर्योदय को प्रमुखता प्राप्त है।

श्रीहर्ष की भोंति प्रकृतिचित्रण में देवविमल का आग्रह अधिकतर उक्ति-वैचित्र्य की ओर है। उसका यह उक्ति-वैचित्र्य काव्य में प्रायः अप्रस्तुत-विधान का परिधान पहन कर आया है, जो स्वयं बहुधा उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुआ है, यद्यपि उसमें श्लेष, अर्थान्तरन्यास आदि भी अनुस्यूत रहते हैं। अप्रस्तुतविधान की कुशल योजना के कारण हीरसौभाग्य का प्रकृतिचित्रण अद्भुत सौन्दर्य तथा दीप्ति से तरलित है। जहाँ श्रीहर्ष ने अपनी बहुविध विद्वत्ता तथा कल्पनाशीलता के कारण अपने अप्रस्तुतों को इतना वायवीय बना दिया है कि वे बहुधा अलंकार्य के सौन्दर्य को ध्वस्त कर देते हैं, वहाँ देवविमल के अप्रस्तुत प्रस्तुत को विशदता प्रदान करते हैं। देवविमल के अप्रस्तुतों के स्रोतों का संकेत आगे यथास्थान किया जाएगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि वह एक प्रस्तुत के लिए आसानी से अनेक अप्रस्तुत जुटा सकता है, जो उसकी कल्पनाशीलता का प्रबल प्रमाण है। सातवें सर्ग में सान्ध्य राग तथा चन्द्रोदय का और नवें सर्ग में प्रभात का वर्णन करते समय तो उसने अपनी कल्पना का कोश लुटा दिया है।

सूर्य अस्त हो गया है। आकाश में सन्ध्या की गाड़ी लालिमा फैल गयी है। कवि की कल्पना है कि विश्वविजयी काम ने, उचित अवसर जानकर, गगनांगन में

अपने शिविर के लाल खेमे गाड़ दिए हैं (७.३५), अथवा रात्रि रूपी नायिका ने अपने पति चन्द्रमा का स्वागत करने के लिए आकाश में कुंकुम के मांगलिक थापे लगाए हैं (७.३६), अथवा अपने स्वामी सूर्य की सायंकालीन दुर्दशा देखकर दिशाओं की वधुओं ने दुःखवश मुह का पान आकाश में थूक दिया है (७.४१)। सान्ध्यराग तथा नवोदित अंधकार का अंतर्मिलन ऐसा प्रतीत होता है मानो समुद्र में प्रवाललता पर कृष्णबल्लरी के अंकुर फूट गए हों (७.४३), अथवा रक्तमल पर मकरन्द पान करने के लिए भ्रमर बैठे हों (७.४४) अथवा देवताओं ने अभ्रमार्ग पर कुंकुम तथा कस्तूरी का मिश्रित द्रव छिड़क दिया हो (७.४५)। तारों तथा चन्द्रमा के उदय के वर्णन में भी अप्रस्तुतों का यही वैभव दिखाई देता है। आकाश में फिलमिलाते तारे, रात्रि द्वारा प्रियतम चन्द्रमा के स्वागत में बिखरे पुष्प प्रतीत होते हैं (७.५५), अथवा पृथ्वी और आकाश में व्याप्त गहन अंधकार को लीलने को कटिबद्ध चंद्रमा की सेना तारों के रूप में गगन में फैल गई हो (७.५६), अथवा वे दिननायक के साथ चिरकाल तक रमण करती हुई आकाशलक्ष्मी के स्वेदकण हों (७.५७)। सम्पूर्ण चद्रमण्डल कवि की कल्पना में ऐसा पूर्ण विकसित श्वेतकमल है, जिसके बीच मधुपान के लिए आतुर भ्रमर बैठा हो (७.७२), अथवा वह व्रतिराज हीरविजय की सच्चरित्रता से विस्मित ब्रह्मा के हाथ से गिरा हुआ कमण्डल हो (७.७३)।

नवें सर्ग में निशावसान तथा प्रभात का वर्णन भी अप्रस्तुतों की मार्मिकता से परिपूर्ण है। चन्द्रमा पश्चिमी सागर में डूब गया है। कवि को लगता है कि उसने अपने शाश्वत शत्रु राहु को बांधने के लिए पाश की खोज में, जलदेवता वरुण से मित्रता कर ली है (६.३७)। प्रातःकाल तारे अस्त हो गए हैं। कवि की कल्पना है कि प्रभात के भूखे पक्षी ने तारों के चावल चुग लिए हैं। (७.४३) सान्ध्यराग की भौंति प्रातःकालीन लालिमा के वर्णन में भी असीव सटीक उपमान प्रयुक्त किए गए हैं। अपनी प्रिया, प्राची दिशा, को भोगकर स्वर्ग में जाते हुए इन्द्र ने आकाश में पान थूक दिया है। उसी की लालिमा उषाराग के रूप में फैल गयी है (७.५६) अथवा देवताओं की विलासशय्याओं से गिरे कमलदलों ने आकाश को लाल बना दिया है (७.६०)। प्रातःकालीन नवोदित सूर्य पूर्व दिशा का कुण्डल प्रतीत होता है, जो उसके कपोल के कुंकुम से भीषण गया है (७.६१), अथवा ऐरावत ने मदवश वप्रक्रीड़ा करते-करते गैरिक पर्वत की एक शिला आकाश में उछाल दी है (७.६३)।

प्रकृति-चित्रण में देवविमल के दूसरे अप्रस्तुत वे हैं, जिन्हें हम दूरारूढ कह सकते हैं। श्रीहर्ष की तुलना में तो उन्हें भी सहज कहा जाएगा किन्तु स्वयं देवविमल के अन्य अप्रस्तुतों की अपेक्षा उनमें ऊहात्मकता अधिक है। उसने इतनी दूर की कौड़ी तो नहीं फंकी कि सूर्य की किरणें उसे स्वरित के ऋजु चिह्न अथवा कव्चतारों की घुटर

घूँ व्याकरण की घु संज्ञा प्रतीत हो पर उसकी कुछ कल्पनाएं अटपटी-सी हैं। सूर्य के अर्द्धमण्डल को चण्डी के सालरुक्त पादप्रहार से लाल, शंकर की चंद्रकला के रूप में कल्पित करना (७.२२), गाढान्वकार को विरही चक्रवाक बुगलों के विषाद की घूम-रेखा मानना (७.५१), तारों की मुण्डमाला से तुलना करना (७.६०) तथा सूर्य की प्रभा को हरि (सिंह, भानु) द्वारा मारे गए अंधकार रूपी हाथियों के गण्डस्थलों से प्रवाहित रक्त की वारा मानना (६.६८) निस्सन्देह सहज नहीं हैं।

प्रकृति-चित्रण में देवविमल ने जिस विवेक से अकूठे अप्रस्तुतों की कल्पना की है, वही कौशल उसने प्रकृति को मानवी रूप देने में प्रदर्शित किया है। सप्तम सर्ग में प्रकृति के मानवीकरण की झड़ी-सी लग गयी है। इस दृष्टि से सूर्यास्त का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रसंग में सूर्य को पिता का रूप दिया है। मरणासन्न पिता जैसे अपने हृदयहीन पुत्रों की उदासीनता के कारण अपनी असहायता पर क्रोध से झुंझला उठता है, उसी प्रकार विपत्ति में सन्तान-तुल्य किरणों को साथ छोड़ता देख कर सूर्य क्रोध से लाल हो गया है।^{१८} अन्यत्र उस पर लम्पट के आचरण का आरोप किया गया है, जो अपनी पतिव्रता पत्नी को छोड़कर, अन्य किसी स्त्री के पास चला जाता है (७.१७)। इसी प्रकरण में कमलिनी तथा भ्रमरों को पद्मिनी नायिका तथा मदमाते युवकों की चेष्टाओं में रत अंकित किया गया है। जिस प्रकार युवक किसी कामिनी को भोग कर छोड़ देते हैं, उसी तरह संध्या के समय भ्रमर कमलिनी के कोशकुचों का मर्दन तथा पत्राधर का रसपान करके रतिकलांत कमलिनी को छोड़ कर भाग रहे हैं।

सरोजिनी कोशकुचो निपीडघाघरच्छदे पीतरसः स्ववातात् ।

मीलन्मुखी कम्पमिषान्निषेवध्री जहे महेलेव युवबद्धिरेकः ॥७.२६

रात्र्यंत के मनोरम वर्णन में पूर्वदिशा को गभिणी के रूप में चित्रित किया गया है। जैसे गर्भभार से थलथ स्त्री आभूषण आदि उतार देती है और उसका मुंह पीला पड़ जाता है, उसी प्रकार पूर्वदिशा, नवोदित सूर्य को गर्भ में धारण किए हुए है, उसने नक्षत्र रूपी भूषण त्याग दिये हैं और उसके मुखमण्डल पर पीतिमा छा गयी है।

प्रपूर्णपाथेरुहबन्धुगभिणी तन्मूभवस्तारकतारभूषणा ।

हरेर्हरिस्पाण्डुरिमाणमानने विभर्त्ति मत्तेभगतेव मुस्थिते ॥ २.११२

प्रस्तुत पंक्तियों में पृथ्वी पर प्रेयसी का अध्यारोप किया गया है, जो चिर-प्रवास से लौटे प्रियतम पावस को देखकर रोमांचित हो गयी है तथा पपीहे के मधुर

२२. विधेनिधोगेन निजास्तपश्यन्पुत्रानिवोत्संगमुषः स्वरश्मीन् ।

वृष्ट्वा मियासूस्तदुद्धीतकोषाविवाहणीभूतमवाहणेन ॥हीरसौभाग्य, ७.१४४

शब्द से उसकी चाटुता करती हुई मयूरों के नृत्य के रूप में आनन्द से झूम उठी है ।

प्राप्ते प्रियेऽब्जेऽजनि भूजनीयं वप्सोहरावैः कृतचाटुकेव ।

प्रोद्भून्नकन्दैः पुलकांकितेवारब्धहारेव कलापिलास्यैः ॥१३.१०५

देवविमल की प्रकृति यद्यपि श्रीहर्ष की भांति संयोग-वियोग की उद्दीपनगत प्रकृति नहीं है, किन्तु पावस के वर्णन में प्रकृति के उद्दीपक पक्ष के एक-दो उदाहरण मिलते हैं । वहां मेघगर्जना को काम को पुनर्जीवित कर पक्षियों के हृदय का मन्यम करते हुए तथा बिजली की चमक को विरहिणियों के शरीर को भस्मीभूत करने वाले आग्नेय अस्त्र के रूप में चित्रित किया गया है ।

प्रवासिहृद्धारिध्रिमाथमन्थाचलोपसं वारिधरो जगज्ज । १३.१०१

काशनिर्बंशस्त्रमिव प्रयुक्तं व्यलीलसद् व्योम्नीव तडिद्वितानम् ॥ १३.१०३

अपने प्रकृति-प्रेम के कारण देवविमल ने प्रकृति को उपमान के रूप में भी ग्रहण किया है । दोहूदोदय के कारण पहले क्षीण हुई, फिर दोहूदपूति से पुष्ट शरीर वाली नाथी की तुलना फाल्गुन में पत्ररहित किन्तु चैत्र में पुष्पों, पत्रों तथा फलों से भरी वनस्थली से की गयी है । इस मार्मिक उपमान से गर्मिणी नाथी के शरीर की शिथिलता तथा स्थूलता अनायास बिम्बित हो जाती है (३.१२) ।

सौन्दर्यचित्रण

हीरसीभाग्य का सौन्दर्य चित्रण भी अप्रस्तुतों की नींव पर आधारित है । देवविमल ने श्रीहर्ष का अनुकरण करते हुए दो सर्गों (द्वितीय तथा अष्टम) में नारी सौन्दर्य का नखशिख वर्णन किया है । पहले कहा गया है कि देवविमल का उद्देश्य इस वर्णन के द्वारा दमयन्ती के नखशिख चित्रण का समानान्तर प्रस्तुत करना है । शासन देवी के देवत्व को भूलकर उसे शुद्ध मानवी रूप में चित्रित करने में यही भावना सक्रिय है । द्वितीय सर्ग में इम्यपत्नी नाथी के सौन्दर्य का चित्रण अधिक विस्तृत नहीं है । किन्तु अष्टम सर्ग में देवविमल ने शासन की अधिष्ठात्री देवी का सौन्दर्य उसी प्रकार जमकर ठेठ काव्यशैली में वर्णित किया है^१ जैसे श्रीहर्ष ने दमयन्ती का आपादमस्तक चित्रण किया है । देवविमल के ये दोनों वर्णन नैषध के सप्तम सर्ग से अत्यधिक प्रभावित हैं तथा दोनों में शब्दगत एवं भावगत साम्य का प्राचुर्य है; परन्तु देवविमल का वर्णन मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता और न वह नैषध के सौन्दर्यचित्रण की भांति क्लिष्ट कल्पनाओं अथवा दूरारूढ़ अप्रस्तुतों से आक्रांत है । श्रीहर्ष दमयन्ती के मुख नारी अंग को भी नहीं भूले, देवविमल शासनदेवी के पेड़ तक पहुंच कर रुक गये । कवित्व की दृष्टि से दमयन्ती का सौन्दर्यवर्णन दो कौड़ी

२३. नखरशिखरावारभ्येति क्कनाच्छिक्कुरावधि ।

प्रयित्तुवमामाक्षिष्यन्ती पुरः शुशुभे प्रभोः ॥ हीरसीमान्ध, द. १७०

का है। अप्रस्तुतों की विवेकपूर्ण योजना के कारण हीरसौभाग्य का वर्णन अतीव रोचक तथा कवित्वपूर्ण है। देवविमल के भी कुछ अप्रस्तुत क्लिष्टता से मुक्त नहीं हैं किन्तु वे वायवीय नहीं हैं। एक-एक वर्ण्य अंश के लिये अनेक अप्रस्तुत जुटाने का देवविमल का कौशल सौन्दर्यचित्रण में भी दिखाई देता है। इसी कौशल के कारण नाथी शृंगार-नट की जंगम रंगशाला (२.१६) तथा शासनदेवी काम की आयुध-शाला (८.१६७) प्रतीत होती है।

देवविमल के अधिकतर अप्रस्तुत बहुत उपयुक्त तथा मार्मिक हैं। उनसे वर्णनीय अंगों का सौन्दर्य तत्काल प्रस्फुटित हो जाता है। कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे। नाथी के ललाट पर लहराती अलक, विकसित कमल के भ्रम से उस पर बैठा भौरा है (२.१८)। उसकी नासिका के ऊपर शोभायमान भ्रूयुग्म विश्वविजय के बाद काम द्वारा उसकी शारीरिक कान्ति के सागर में स्थापित यशः स्तम्भ है जिस पर ध्वजा फहरा रही है (२.२२)। उसकी स्वर्णाकार पीठ, जिसमें पुष्प-लघ्वित केशराशि प्रबिम्बित है, ऐसी प्रतीत होती है मानो सुमेरु पर्वत की शिला हो जिसमें ग्रहांकित गगन वीथि की छाया पड़ रही है (२.३८)। शासनदेवी के चरणों की लालिसा पादवन्दना करते समय देवांगनाओं की मांग से भरता सिन्दूर है (८.१६)। उसका जघन (पेड़), रति का इस भय से निर्मित गुह्य गृह है कि कहीं शम्भु काम की भांति मुझे भी भस्म कर दे (८.४३)। उसकी नाभि उसके अनुपम लावण्य के जलाशय में विकसित कमलिनी है, जो सघन कान्ति के मकरन्द से सान्द्र है तथा जिस पर रसिकों की कामुक दृष्टि थिरक रही है (६.५१)। उसकी कटि (मध्य भाग) अपने शत्रु शंकर को भस्म करने के लिये काम द्वारा निर्मित अल्पाकार तपोवेदी है (८.५४)। उसके कान ऐसे लगते हैं मानों ब्रह्मा ने रति और प्रीति के साथ भूलने के लिये काम के भूले बनाये हों (८.१३६)।

इनके विपरीत देवविमल ने सौन्दर्य-चित्रण में कुछ ऐसे अप्रस्तुत प्रयुक्त किये हैं, जिन्हें हम दूरारूढ़ कह सकते हैं। वे श्रीहर्ष के उपमानों की तरह भावाभिख्यक्ति में बाधक तो नहीं हैं किन्तु उनमें क्लिष्टता अवश्य है, जो कहीं-कहीं अटपटेपन की सीमा तक पहुँच जाती है। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जाएगी। देवविमल युवक हीरकुमार के लाल होठों का वर्णन कर रहे हैं। कवि का विश्वास है कि कुमार का नासिका रूपी शुक उसके कर्णपाश में फँस कर छटपटा रहा है। उसकी चोंच से बिम्ब फल सहसा छूट गया है। कुमार के मुख तक पहुँच कर वही उसका होंठ बन

२४. यस्य प्रशस्ययशसः श्रुतिपाशमध्यनिष्पातितकशुकर्षचपुटात्कथञ्चित् ।

बिम्बीफलं विगलितं स्वलितं च वक्षत्रपयोदरे किमु रवच्छदनोदभूय ॥ वही, ३.६४

गया है। उसकी भुजाएं बंचल लक्ष्मी को बांधने के पास हैं (३.१०७)। उसके दाँतों की राजहंसी से तुलना करना (३.८७) भी कम हास्यास्पद नहीं है। शासन देवी के कान नी के अंक के समान इसलिये प्रतीत होते हैं क्योंकि उसने सौन्दर्य में अठारह (६ × २) द्वीपों की महिलाओं को पछाड़ दिया है (८.१४२)। उसकी भौंहों के वर्णन की यह कल्पना भी कम चमत्कारजनक नहीं है। यतिराज हीरविजय से जूझते-जूझते कामदेव का शरीर जर्जर हो गया है। चलते समय उसे सहारा देने के लिए विधि ने शासन देवता की भौंहों की लाठी बना दी है (८.१४८)।

अत्यधिक विस्तार के कारण देवविमल के सौन्दर्य वर्णन में पिष्ट-वेषण भी हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह ज्यों-ज्यों अपने पात्रों के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण करता गया, उसकी कल्पनाशीलता चुकती गयी। इसीलिये उसने अष्टम सर्ग में कई पूर्ववर्ती भावों की आवृत्ति की है^{१५०}। कुमार हीर का दीक्षा-पूर्व अलंकरण दमयन्ती की विवाह-पूर्व सज्जा से अत्यधिक प्रभावित तथा प्रेरित है, इसका संकेत पहले किया जा चुका है।

हीरसौभाग्य का अप्रस्तुतविधान

उपर्युक्त दोनों प्रकरणों से अप्रस्तुतविधान में देवविमल की निपुणता का पर्याप्त परिचय मिलता है। हीरसौभाग्य वक्रोक्ति प्रधान काव्य है। देवविमल के पास अप्रस्तुतों का अक्षय भण्डार है, जो उसकी उत्कृष्ट कल्पनाशीलता का द्योतक है। देवविमल की ये कल्पनाएँ अधिकतर उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुई हैं^{१५१} यद्यपि अतिशयोक्ति, श्लेष, उपमा, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि भी उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं। कालिदास के पश्चाद्बर्ती कवियों में स्वभावोक्ति से जो विमुखता दिखाई देती है, उसकी चरम परिणति नैषध में हुई है। हीरसौभाग्य नैषधचरित की परम्परा की अन्तिम समर्थ कड़ी है। अप्रस्तुतविधान की कुशलता के कारण ही देवविमल को संस्कृत कवियों में सम्मानित पद प्राप्त है। देवविमल के अप्रस्तुत तीन मुख्य वर्गों में बांटे जा सकते हैं - शास्त्रीय कल्पनाएँ, परम्परागत अप्रस्तुत तथा लोकजीवन से गृहीत कल्पनाएँ !

देवविमल के शास्त्रीय अप्रस्तुत दर्शन-शास्त्र के अतिरिक्त पुराणों तथा ज्योतिष से लिये गये हैं। हीरसौभाग्य के कुछ शास्त्रीय अप्रस्तुत श्रमसाध्य हैं, यद्यपि उनमें श्रीहर्ष के शास्त्रीय उपमानों की क्लिष्टता नहीं है। 'नश्यन्निवान्यजनहृत्परमाणुमव्ये' (१०.१०६) का मर्म तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक यह २४a. देखिये—८.४४-८.४७; २.२५-८.६७; २.४८-८.४०; ३.११०-८.५०;

३.११४-८.७६ आदि-आदि।

२५. इहाखिलेऽपि काव्ये केवलमुत्प्रेक्षेव। टीका, १.६६.

ज्ञात न हो कि न्याय दर्शन में मन को परमाणु माना गया है। शिखु हीर में सामुद्रिक लक्षणों का पूर्ण सामञ्जस्य था अर्थात् उनमें परस्पर विरोध नहीं था जैसे नैयायिक सदुपमान (सब प्रकार से योग्य उपमान) में व्यभिचारि-भाव स्वीकार नहीं करते (३.८०)। अकबर का आदेश था कि हीरविजय सूरि को गुजरात से आते समय लेश भ्रम भी कष्ट न हो जैसे ब्रह्म में लीन होने पर आत्मा को तनिक भी दुःख प्राप्त नहीं होता^{११}। यह उपमान जैन दर्शन पर आधारित है। सीकरी जाते हुए हीरविजय ने शाखापुर में निवास किया जैसे चरम शरीरी जीव केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये पहले क्षपक श्रेणी का आश्रय लेता है (१३.६३)। 'महानन्दयुक्ताश्च मुक्तात्मवत्' (११.३२) में मुक्तात्मा की अखण्ड आनन्द की स्थिति का संकेत है। ज्योतिष पर आधारित उपमान कवि को विशेष प्रिय हैं। आचार्य हीरविजय ने वर्षाकाल के पश्चात् उग्रसेनपुर (आगरा) से आकर फतेहपुर सीकरी को पुनः ऐसे विभूषित किया जैसे बृहस्पति मिथुन राशि से उच्चताप्रद कर्क राशि में प्रवेश करता है (१४.६३)। हीरसूरि के आगमन की सूचना देने के लिये स्थानसिंह शेख अबुल फ़जल के पास आया जिस प्रकार बुध सूर्य के समीप आता है (१३.१२१)। इस उपमा का महत्त्व तभी समझा जा सकता जब यह विदित हो कि ज्योतिष शास्त्र में बुध सूर्य का मित्र माना गया है। चन्द्रमा अमावस्या को सूर्य के पास जाकर उससे तेज प्राप्त करता है। इस ज्योतिष के सिद्धान्त का संकेत दो बार किया गया है (५.२५, १३.११८)। दिल्ली ने अपने वैभव से पाताल लोक को ऐसे अभिभूत किया जैसे काली ने महिषासुर को पराजित करके उसके सिर पर पाद-प्रहार किया था (१०.६)।

देवविमल के दूसरे अप्रस्तुत वे हैं, जो यद्यपि शास्त्रीय नहीं हैं किन्तु इनमें कवि ने दूर की कौड़ी फेंकी है। कामदेव ने शंकर से पूर्व वर का बदला लेने का निश्चय किया है। उसने शम्भु के पांच मुखों पर प्रहार करने के लिये नाथी के हाथ रूपी तरकश में अंगुलियों के पांच तीर सुरक्षित रख दिये हैं (२.३७)। परन्तु उसने शीघ्र अनुभव किया कि शंकर को उन तीरों अथवा अम्य अस्त्रों से पराजित करना सम्भव नहीं है। अतः उसने नाथी तथा शासन देवी के नितम्ब के रूप में एक अमोघ चक्र का निर्माण किया है (२.४७, ८.१४)। चन्द्रखण्ड मेरे साथ होड़ करने की धृष्टता करता है, इससे क्रुद्ध होकर शासन देवता के ललाट ने उससे लड़ने के लिये भौंहों की तलवार उठा ली है। भौंह के लिये 'करवाल' उपमान नवीन होने पर भी अटपटा है। आकाश में छिटके तारे ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो २६. असातस्य लेशोऽपि तेनैकपक्षां यथावाप्यते नात्मना ब्रह्मणीव। हीर सौभाग्य,

देवताओं द्वारा अमृत समाप्त कर देने पर क्षीरसागर का पुनः मन्थन किया जा रहा हो। उसके जलकण तारे बन कर फैल गये हैं (८.६५)।

लोकव्यवहार पर आधारित अप्रस्तुत बहुत रोचक हैं। उनसे वर्ण्य भावों को वाणी मिली है। सान्ध्यराग ऐसा प्रतीत होता है मानों आकाशलक्ष्मी ने अपने प्रियतम चन्द्रमा के भावी आगमन की प्रसन्नता से शरीर पर कुंकुम का लेप कर लिया हो (७.३८)। अथवा देवांगनाओं के चरणों का मण्डन करती हुई प्रसाधिका के हाथ से गिर कर अलक्तकरस आकाश में फैल गया हो (७.४०)। तारों के वर्णन में कवि ने हृदयग्राही कल्पनाएँ की हैं। तारे ऐसे लगते हैं मानों रात्रि के दुर्व्यवहार से पीड़ित दिन के योगी ने उसे शाप देकर चावल बिखेर दिये हों (७.६१)। अथवा स्वर्गमा के तट पर, वियुक्त चक्रवर्तों के अश्रुकण गिरे हों (७.६४)। सम्पूर्ण चन्द्र-मण्डल इन्द्र द्वारा अपनी प्रिया - पूर्वदिशा - को भेंटा गया विकसित श्वेत कमल है (७.७२)। धान से भरा खेत पृथ्वी का मणिजटित नील निचोल (लहंगा) प्रतीत होता है (१.५६)। सिन्दूर से भरी मांग से युक्त, शासनदेवी की केशराशि ऐसी लगती है मानों जलपूर्ण मेघमाला में बिजली चमक रही हो (८.१६४)।

चरित्र-चित्रण

हीरसौभाग्य में पात्रों का रोचक वैविध्य है। धनवान् व्यापारी, रूपवती नारियाँ, वीतराग तपस्वी, पराक्रमी सम्राट् तथा दार्शनिक-मन्त्री, सभी एक साथ कन्धा मिलाते दिखाई देते हैं। प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है। उनका चित्रण परम्परागत ढर्रे पर नहीं हुआ। पात्रों के व्यक्तित्व का यह निजी वैशिष्ट्य हीर-सौभाग्य की विभूति है।

हीरविजय

त्याग, कष्ट, निस्पृहता आदि दुर्लभ मानवीय गुणों के कारण काव्य-नायक हीरविजय का व्यक्तित्व अत्युच्च भूमि पर प्रतिष्ठित है। राजसी वैभव तथा दार्शनिक पाण्डित्य भी उसकी आभा को मन्द करने में असमर्थ हैं। तापसव्रत की रेखा उसके जीवन को दो भागों में विभक्त करती है। वह विविध गुणों की खान है। उसमें सूर्य के तेज, बृहस्पति की प्रतिभा, योद्धा की कर्तव्यनिष्ठा तथा राम की विनम्रता का स्पृहणीय सांभ्रंजस्य है (६.५)। उसका सौन्दर्य हृदय में गुदगुदी पैदा करता है। हीरविजय विनीत तथा कुशाग्रबुद्धि युक्त है। उसने अपनी प्रत्युत्पन्न मति से, थोड़े दिनों में ही, समस्त शास्त्रों में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली। उसकी प्रतिभा तथा नम्रता के कारण गुरु के समूचे प्रयत्न इस प्रकार सफल हो गये जैसे उर्वर भूमि में बोया गया किसान का बीज (३.७६)। अपनी बहुश्रुतता के कारण वह वाग्देवी का साक्षात् अवतार प्रतीत होता है।

घनाढ्य पिता का पुत्र होने के नाते उसने सुख-सुविधाएं देखी हैं तथा वैभव भोगा है, किन्तु वह उनकी बाढ़ में बहा नहीं है। जीवन की अनित्यता तथा विषयों की निस्सारता से विश्वस्त होकर वह उस युवति का आंचल पकड़ता है, जो वैराग्यवान् से अधिक अनुराग करती है तथा पुरुष की शाश्वत सहचरी है। प्रलोभन पर निष्ठा की विजय हुई। प्रग्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् हीरविजय के जीवन का गौरवशाली अध्याय आरम्भ होता है। अब उसका जीवन धर्म की धुरी पर घूमता है। अपनी चर्या, साधना तथा गुणों के कारण वह शीघ्र आचार्य का गौरवमय पद प्राप्त करता है। शासनदेवी भी उसकी पात्रता घोषित करती है। हीरविजय आर्हत धर्म के सिद्धान्तों तथा मर्यादाओं का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं जिससे वे शरीरधारी साधु-धर्म प्रतीत होते हैं (११.१६)। काव्य में उनकी समतनुबुद्धि, वीतरागता तथा लोकोपकारी गुणों की लम्बी तालिका दी गयी है (१०.१००-११५)। इन दो लघु पद्यों में तो कवि ने उनका समग्र व्यक्तित्व समाहित कर दिया है।

धिरागो नानुरागो च तोषे दोषे न सूचिभो ।

मुक्ती न मुञ्चुवां मुक्ती चेतश्चिन्वन्त्यमो क्वचित् ॥१२.२११

मूलोके भोगिलोके च त्वल्लोके स न कश्चन ।

आवाभ्यामुपमीयते योगिनां मोलिनामुना ॥१३.२१२

आचार्य हीरविजय दर्शनशास्त्र के सुधी विद्वान् हैं। जैन दर्शन ही नहीं, अन्य दर्शनों में भी उनकी गहरी पैठ है (दर्शनेषु सर्वेषु शेखर इव, १०.८८)। शेखर अबुल फ़जल जैसा दार्शनिक भी उनकी तार्किक बुद्धि तथा दार्शनिक पाण्डित्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। अकबर के साथ धर्म-चर्चा करते समय वे जैन दर्शन का इस कुशलता तथा सूक्ष्मता से प्रतिपादन करते हैं कि सम्राट्, लगभग सार्व-जनिक रूप से, उनकी इन शब्दों में प्रशंसा करता है।

मया विशेषात्परदर्शनस्पृशो गवेधिताः शेख न तेषु कश्चन ।

व्यल्लोकि वाचंयमचक्रिणः सदृङ् मृगेषु कोऽप्यस्ति मृगेन्द्रसंनिभः ॥१४.७१

हीर विजय के चरित्र की प्रमुख विशेषता, जिससे उनका सारा व्यक्तित्व कुन्दन की भाँति चमक उठता है, उनकी निस्पृहता तथा परदुःखकातरता है। उन्हें जीवन में एक तृण भी ग्राह्य नहीं है। वे अकबर के ग्रन्थसंग्रह जैसे सात्त्विक उपहार को भी स्वीकार नहीं करते। अकबर के बार-बार आग्रह करने पर वे सम्राट् को जीवहत्या का निषेध, कर-समाप्ति आदि लोकोपयोगी कार्य करने को प्रेरित करते हैं। अकबर उनकी निरीहता तथा कष्टना से गद्गद् हो जाता है। सचमुच यह त्यागवृत्ति की पराकाष्ठा है। मुगल सम्राट् उन्हें 'जगद्गुरु' की महुनीय उपाधि देकर उनकी चारित्रिक एवं धार्मिक उपलब्धियों का अभिनन्दन करता है। सत्ता के मद में चूर

अकबर के हृदय में दया तथा अहिंसा का उद्रेक करना केवल हीरविजय जैसे तपस्वी के लिये सम्भव था (१४.१९६)।

अकबर

बाबर का वंशधर तथा हुमाऊँ का पुत्र अकबर इतिहास का पराक्रमी सम्राट् है। काव्य में वर्णित उसकी दिग्विजय काल्पनिक होती हुई भी उसके शौर्य को रेखांकित करने में समर्थ है। कवि के शब्दों में उसमें ईश्वर के ऐश्वर्य, इन्द्र के प्रभुत्व, सूर्य के तेज, निधिपति की उदारता तथा शेषनाग की सहिष्णुता (पृथ्वी के पालन की क्षमता) का पूँजीभूत समन्वय है (१०.५७)। सूर्य उसके प्रताप का पुनराख्यान है, वडवानल उसका प्रतिनिधि है, वज्र उसका प्रतिबिम्ब है, अग्नि उसके शरीर का प्रतिरूप है (१०.५६)। वह अपने मित्रों के लिये अमृतलता है किन्तु शत्रुओं के लिये विषवृक्ष है (१४.११०)।

उसकी इतिहास-प्रसिद्ध सहिष्णुता काव्य में भी बिम्बित है। वस्तुतः काव्य में उसका धार्मिक स्वर अधिक मुखर है। वह धर्म के मर्म का परम जिज्ञासु है। वह अपनी धर्म-जिज्ञासा की पूर्ति के लिये, समय-समय पर विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों तथा साधुओं से गम्भीर विमर्श करता है। इसी बलवती जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह सुदूर गन्धार बन्दर से हीरविजय सूरि को बुलाता है। वह धर्म का वास्तविक स्वरूप जानने को सदैव लालायित है। इसी कारण वह आजीवन धर्म का तत्त्व सभी धर्मों में टटोलता रहता है। वह अनेकान्तवाद का सच्चा अनुयायी है।

विद्वानों तथा तपस्वियों के प्रति उसके मन में अथाह श्रद्धा है। वह हीरविजय की निस्पृहता, सच्चरित्रता तथा धर्मनिष्ठा के समक्ष नतमस्तक हो जाता है और उनकी इच्छा के अनुसार, राज्य के समस्त बन्धियों को मुक्त तथा जजिया आदि करों को समाप्त कर देता है, यद्यपि यह उसके राज्य की सुरक्षा तथा आय के अहित में था। उनके प्रभाव से ही वह आहत मत को सर्वोत्तम मानने लगता है। हीरविजय से सम्राट् का सम्पर्क धीरे-धीरे मैत्री में परिवर्तित हो गया। उनके निधन से अकबर को जो बैदना हुई, वह जैन साधु के प्रति उसकी श्रद्धा की सूचक है।

अबुलफ़जल

शेख अबुलफ़जल अकबर का आध्यात्मिक मित्र तथा नीतिकुशल मन्त्री है। वह बहुत बाद में काव्य के मञ्च पर आता है। इसीलिये उसके चरित्र का काव्य में अधिक विकास नहीं हुआ है। वह इस्लाम दर्शन का पारगाभी विद्वान् है। आचार्य हीरविजय के साथ वह इस्लाम दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर गम्भीर विचार करता है। सम्राट् अकबर तथा हीर सूरि की द्वितीय धर्मगोष्ठी शेख की अध्यक्षता में होती है। वही सर्वप्रथम जैनाचार्य को सम्राट् को सभा में ले जाता है। यह

उनकी मित्रता तथा विश्वास की प्रगाढता का प्रतीक है। वस्तुतः वह सम्राट की तीसरी आंख है (१३.१२०)।

अन्य पात्र

काव्य नायक हीरविजय का पिता कुरां प्रह्लादनपुर का धनी व्यापारी है। लक्ष्मी विष्णु की भांति उसकी शाश्वत सहचरी है (२.१३)। वह उदार तथा दान-शील व्यक्ति है तथा दान में ही धन की सार्थकता मानता है। उसके पुत्र-वात्सल्य की मधुर भांकी काव्य में दिखाई देती है। उसकी रूपवती पत्नी नाथी के सौन्दर्य का सविस्तार वर्णन किया गया है।

विजयसेन आचार्य हीरविजय का पटुधर है। उसके गुणों की ख्याति सम्राट् अकबर तक पहुँचती है जिससे वह भानुचन्द्र के उपाध्याय पद की नन्दिविधि के अनुष्ठान के लिये उसे लाहौर बुलाता है तथा उसके वाक्कौशल से प्रसन्न होकर उसे 'सवाई' की उपाधि से विभूषित करता है। वह गुरुभक्त शिष्य है। गुरु की मृत्यु से उसे मर्यादक वेदना हुई।

भाषा भाव

देवविमल ने एक श्लिष्ट पद्य में अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यता का संकेत किया है। उसके अनुसार प्रसाद, कान्ति, सुवचिपूर्ण अलंकार, मनोरम पदरचना, संयत श्लेष तथा विवेकपूर्ण अप्रस्तुतविधान काव्य की उत्कृष्टता के आधार हैं।^{१५} हीरसौभाग्य में ये सभी गुण यथोचित मात्रा में विद्यमान हैं। हीरसौभाग्य की विशिष्टता का मुख्य कारण इसकी प्रासादिकता है। सुबोधता प्रसादगुण की आधार-भूमि है। हीरसौभाग्य में कोई ऐसा स्थल नहीं है, जिसे कष्टसाध्य अथवा दुर्बोध कहा जा सके। नैषध से अत्यधिक प्रभावित होने पर भी देवविमल ने उसकी भाषा की कृत्रिमता तथा शैली की ऊहात्मकता का अनुकरण नहीं किया, यह उसकी सुरुचि का प्रबल प्रमाण है। हीरसौभाग्य में नैषध के कतिपय विद्वत्तापूर्ण प्रयोग ग्रहण किये गये हैं^{१६} किन्तु कवि ने पाण्डित्य की गाँठें लगा कर काव्य को दुर्मेख नहीं बनाया है। हीरसौभाग्य में इसीलिए प्रसाद तथा कान्ति का मधुर समन्वय है। काव्य में प्रसादगुण के अनेक उदाहरण मिलेंगे। हीरविजय के ब्राह्मण गुरु का यह शब्दचित्र उल्लेखनीय है, जिसमें भाषा की प्रासादिकता तथा यथातथ्य चित्रण के

२७. प्रसादकान्ती दधती सुवर्णालंकारिणी रम्यतमक्रमा च।

संश्लेषवक्ष्णाप्रतिभोपमानश्रीः श्लोकमालेख सुरी चक्रासे ॥ बही, न. २७

२८. देखिये—१.६, १.१३१, १.३४, ३.१०५, ४.१०८, ५.७, ३५, ८.७०. ९.६६, १०.४०, १३.१५५, १४.२०, आदि आदि।

कारण कर्मकाण्डी ब्राह्मण का व्यक्तित्व साकार हो गया है ।

मृडभूर्धनिवाससौहृदान्मिलितुं जह्नुमुतामिवागताम् ।
 अलिकार्धविषुं ललाटिकां बह्मानो हरिचन्दनोद्भवाम् ॥ ६.५२
 उपवीतमुरःस्थलान्तरे कलयश्चन्दनचन्द्रचर्चितः ।
 दमनो मदनस्य भूतिमानिव बं कश्चितकुण्डलीश्वरः ॥ ६.५३
 शिववाङ्मयवाधिपारगोऽनिशषट्कर्मरतो यतान्वितः ।
 वपुरभ्युपगत्य वर्णिनामिव धर्मः प्रकटीभवन्नयम् ॥ ६.५४

नैषध की भाँति हीरसौभाग्य की मुख्य विशेषता उसकी पदशय्या की मनोरमता है । यही गुण है जो अकेला हीरसौभाग्य को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है । निस्सन्देह देवविमल की रचना में अनुप्रास का उत्कृष्ट चमत्कार है । उसके प्रायः प्रत्येक पद्य में पदलालित्य विद्यमान है, जो भाषा-प्रयोग में कवि के विवेक एवं सुशुचि को व्यक्त करता है । 'हीरसौभाग्ये पदलालित्यम्' उक्ति उतनी ही सार्थक है, जितनी 'दण्डिनः पदलालित्यम्' अथवा 'नैषधे पदलालित्यम्' । हीरसौभाग्य की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक रस तथा प्रकरण के लिए उपयुक्त पदलालित्य मिलता है । हीरविजय के संयमपूर्ण आचरण के निरूपक प्रकरण का पदलालित्य उतना ही चित्ताकर्षक तथा मधुर है, जितनी वीररसोचित पदावली की मनोरमता । क्रमिक उदाहरण देखिये :—

श्रेणीं सतामिव विमुक्तस्तमपदोषां यत्प्रभासमी विवधते सकृदेव देव ।

आराधयन्ति विधिवद्विधूतावधाना योगं विधूतवनितास्त्रिखिलानुगमम् ॥

१३.२०७

यत्प्रस्थितौ रथहयद्विपत्तिबीजा प्रोत्खातपांमुपिहिताखिलविङ्मुखेषु ।

आक्रान्ति चक्रमिथुनैरथ पांमुलाभिः प्राङ्मूलादि पल्लवितमन्तरूकलोकैः ॥

१०.१५

देवविमल के पदलालित्य का आधार अनुप्रास के अतिरिक्त उसकी वैदर्भी रीति है । वैदर्भी रीति में अत्यल्प समासान्त पद प्रयुक्त करने का विधान है । हीरसौभाग्य में लम्बे समासों का अभाव है । अकबर की दिग्विजय के प्रसंग में भी, जहाँ दीर्घ समासान्त पद ओजोगुण की सृष्टि के लिए सर्वथा न्यायोचित होते, कवि ने इस लोभ का संवरण किया है । कहने को तो श्रीहर्ष भी अपनी रीति को वैदर्भी बताते हैं परन्तु नैषध में गौडी और पांचाली की अधिकता है । उत्तरवर्ती कवियों में केवल पण्डितराज जगन्नाथ में देवविमल जैसा पदलालित्य मिलता है ।

नैषध की पाण्डित्यपूर्ण भाषा तथा क्लिष्ट शैली के प्रति देवविमल की रुचि नहीं है । परन्तु व्याकरण में उसकी गहरी पठ है और उसने अपने काव्य में अनेक

विद्वत्तापूर्ण प्रयोगों के द्वारा अपने व्याकरण ज्ञान का संकेत किया है। उसे कर्मणि लिट् तथा लुङ्, नामधातु^{१०} तथा वचसु-प्रत्यान्त^{११} प्रयोग विशेष रुचिकर हैं। परंतु उसे यह भली भाँति ज्ञात है कि भाषा के सौन्दर्य का आधार पाण्डित्य नहीं, सहजता है। अतः समर्थ होते हुए भी उसने भाषा को अधिक अलंकृत नहीं किया है।

हीरसौभाग्य की भाषा में कुछ दोष भी दिखाई देते हैं। जम्भनिशुम्भ-कुम्भिनम् (२.६६), शचीकान्तहरिन्महीधरे (२.७१), शिवशैवनिनीवरोद्धोपय-मार्थम् (६.११८), जलधिभवनजम्भारातिसारंगचक्षुर्दिग्वनिधरमूर्धालम्बिबिम्बी दिनादौ (१५.८), अन्विनेमीतमीशः (११.१), गिरं श्रोत्रवर्तमध्वनीनां प्रणीय (११.१३), करिकदनकपर्दकोडलीलायमानत्रिदिवसदनपाथोनाथपद्याननेव (१५.४४) आदि क्लिष्ट प्रयोगों की हीरसौभाग्य में कमी नहीं है। देवविमल के कुछ प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य हैं। परोलक्षान् (६.१२३), अमारिरेषां न च रोचते (१४.१६६), तस्याभितोऽभूत् (१७.१६६) निश्चित रूप से अशुद्ध हैं।

यवन पात्रों से सम्बन्धित होने के कारण हीरसौभाग्य में शेख, फते, खुदा, गाज़ी, स्फुर-मान (फरमान), मिस्ति (बहिश्त, स्वर्ग), दोयकि (दोजख) आदि फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

देवविमल सुखविभूषण अलंकारों के समर्थक हैं। अलंकारों का जो प्रयोग काव्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में बाधक हो, वह उन्हें ग्राह्य नहीं। अलंकार-प्रयोग में देवविमल का खास ध्यान अप्रस्तुत विधान पर रहा है। पहले कहा गया है, हीर-सौभाग्य में ऐसे अप्रस्तुत बहुत कम हैं, जो प्रस्तुत विषय/भाव के विमदीकरण में विघ्न डालते हों। देवविमल ने अनूठे अप्रस्तुतों से किस प्रकार भावाभिव्यक्ति को समर्थ बनाया है, इसका सविस्तार विवेचन पहले किया जा चुका है। उसके अप्रस्तुत अधिकतर उत्प्रेक्षा के बाने में प्रकट हुए हैं, इसकी आकृति करना भी आवश्यक नहीं है। अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास आदि भी उसके अप्रस्तुतविधान के माध्यम हैं। देवविमल की उपमाएं उसकी उदात्त कल्पनाशीलता की साक्षी हैं। हीरसौभाग्य में उपमाओं का रोचक वैविध्य है। उसकी उपमाओं के अप्रस्तुत दर्शन, पुराण, प्रकृति, लोक व्यवहार आदि जीवन के विभिन्न पक्षों से ग्रहण किए गये हैं। बालक हीर ने लिपिज्ञान से शास्त्र में ऐसे प्रवेश किया जैसे यात्री गोपुर से नगर में प्रविष्ट होता है (३.७५)। अकबर आचार्य के आगमन की उसी तरह अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था

२६. कंचिचमुदानर्ति तमोज्यर्कति प्रावर्ति पुण्ये कुमथान्यर्कति । वही, १३.७५

३०. यस्त्रियामादयिते कलंकति द्विपेन्द्रति क्षोरधिसुनुबोरुधि ।

शम्भरविन्दे सुहिनोयवृन्वति व्रताम्बुल्लेख्यपि गन्धवाहति ॥ वही, १४.४८

३१. सुखं स्वकीये सद्मे निवेदुषी मुखं महास्वप्नजुषं प्रवेदुषी । वही, २.८८

जिस तरह नर कोकिल वसन्त के लिये आतुर रहता है (११.७६) । अहमदाबाद में गुरु के आगमन का समाचार तत्काल सर्वत्र फैल गया जैसे चन्दन की सुगन्ध मलयाचल की तलहटी में व्याप्त हो जाती है (११.११५) । इनके अतिरिक्त समासोक्ति,^{१३} अर्थान्तर-न्यास,^{१४} अतिशयोक्ति,^{१५} अनुप्रास, परिसंख्या^{१६} कवि के प्रिय अलंकार हैं । हीरसौभाग्य में जो श्लेष है, वह बहुधा सरल है । 'संश्लेषदक्षा' विशेषण इसी रूप में सार्थक है । हीरसौभाग्य मुख्यतः उत्प्रेक्षा और उपमा का भण्डार है ।

देवविमल छन्दशास्त्र का कुशल विद्वान् है । काव्य में वसन्ततिलका, मालिनी, पृथ्वी जैसे लम्बे छन्दों का विभिन्न सगों के मुख्य छन्द के रूप में प्रयोग उसके छन्दशास्त्रीय पाण्डित्य का परिचायक है । चौदहवें सग में सबसे अधिक चौबीस छन्द प्रयुक्त किये गये हैं । इसमें वातोर्मी, उपस्थित, चन्द्रवर्त्म, कुसुमविचित्रा, भ्रमरबिलसित आदि कुछ ऐसे छन्द हैं, जिनका अन्यत्र बहुत कम प्रयोग हुआ है । हीरसौभाग्य में व्यवहृत इकतीस छन्द इस प्रकार हैं—उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, मन्दक्रान्ता, हरिणी, वसन्ततिलका, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, इन्द्रवज्रा, रघोद्धता, इन्द्रवंशा, शिखरिणी, अनुष्टुप्, स्रग्धरा, स्वागता, वियोगिनी, वंशस्थ, भुजंगप्रयात, आर्या, पुष्पिताग्रा, तोटक, स्रग्विणी, पृथ्वी, भ्रमरबिलसित, वातोर्मी, उपस्थित, चन्द्रवर्त्म, कुसुमविचित्रा, गीति, दोषक, तथा औपच्छन्दसिक । उपजाति कवि का प्रिय छन्द है । हीरसौभाग्य का यही मुख्य आधार है ।

समाजचित्रण

हीरसौभाग्य के दर्पण में समसामयिक समाज के कतिपय विश्वासों तथा मान्यताओं का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । तत्कालीन समाज की ज्योतिष में दृढ़ आस्था थी जिसके कारण लोगों में कुछ तर्कहीन विश्वास प्रचलित थे । ये जनसामान्य तक सीमित हों, ऐसी बात नहीं । समाज का अभिजात तथा विद्वान् वर्ग भी इन बन्धविश्वासों के चंगुल में फंसा हुआ था । मुहूर्तों तथा शकुनों के फल पर समाज पूरा विश्वास करता था । इसीलिये प्रत्येक कार्य मुहूर्त तथा शकुनों का विचार करके किया जाता था^{१७} ।

तत्कालीन शिक्षा अथवा पाठ्य-प्रणाली के सम्बन्ध में हीरसौभाग्य से प्रत्यक्ष जानकारी तो नहीं मिलती, किन्तु यदि हीरविजय द्वारा अधीत विविध विद्याओं को उस समय का सामान्य पाठ्यक्रम माना जाये, तो स्वीकार करना होगा कि तत्कालीन शिक्षा स्तर समुन्नत तथा सर्वांगीण था । उस पाठ्यक्रम में दर्शन के अतिरिक्त गणित, ज्योतिष, व्याकरण, साहित्य तथा काव्यशास्त्र आदि विद्याएं सम्मिलित थीं ।

३२-३५ क्रमशः १.६७, ७.४६, ८.१३८, १३.२११

३६. वही, ६.१०२, ११.४८ तथा १४.१७०

काव्य की स्वोपज्ञ टीका में कवि ने इन विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी है। विद्यालयों में अवकाश की क्या व्यवस्था थी, इसका भी काव्य से संकेत नहीं मिलता। प्रतिपदा को न केवल अवकाश रहता था अपितु उस दिन अध्ययन करना नितान्त वर्जित था क्योंकि प्रतिपदा को विद्यानाशिनी माना जाता था^{१७}।

दर्शन

आचार्य हीरविजय, शेष अबुल फ़जल तथा सम्राट् अकबर की धर्म चर्चा के अन्तर्गत जैन तथा इस्लाम दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का रोचक प्रतिपादन हुआ है।

इस्लाम दर्शन के अनुसार मृत यवन का शव प्रलयपर्यन्त भूमि के गर्भ में पड़ा रहता है। प्रलय के दिन खुदा स्वयं प्रकट होकर, उनके पुण्य-पाप के अनुरूप, उन्हें यथोचित फल देता है। वह पुण्यवान् व्यक्तियों को स्वर्ग भेजता है, जहाँ वे नाना सुख भोगते हैं। पापियों को वह दोजख में धकेल देता है, जहाँ उन्हें, कुम्भकार के पात्रों की भांति अनिर्वचनीय यातनाएँ सहनी पड़ती हैं^{१८}।

इस महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में जैन दर्शन का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। जैन दर्शन में बांभ के पुत्र की भांति ईश्वर नामक कोई चीज़ नहीं है। संसार अपने कर्म से जन्मता है। इसका न कोई कर्त्ता है, न कोई हर्त्ता। ईश्वर को मानव के सुख-दुःख का निर्माता तथा जगत् का स्रष्टा मानना अज्ञा के गलस्तन से दूध दोहने के समान है। अतः मानव के भाग्य का निर्णय प्रलय के दिन नहीं होता। उसके कर्म उसका निर्धारण करते हैं^{१९}।

हीरसौभाग्य में देव, गुरु तथा धर्म के स्वरूप का भी सुन्दर विवेचन हुआ है। वास्तविक गुरु वह है, जिसके दर्पण के समान निर्मल ज्ञान में तीनों लोक प्रतिभासित होते हैं। गुरु संसार के समस्त परिग्रहों को इस प्रकार छोड़ देता है, जैसे हंस कलुषित जल को। वह कृपारस से परिपूर्ण हृदय में प्रबोध का रोपण करता है। जिन के मुख-कमल से निःसृत धर्म ही यथार्थ धर्म है। कल्पवृक्ष के अंकुर की तरह वह सब दुःखों का क्षय करता है। ये तीनों मनुष्य को जन्म-मरण के कुचक्र से छुटकारा दिलाकर उस चरम लक्ष्य तक पहुँचाते हैं, जिसे 'अपुनर्भाव' कहते हैं^{२०}।

इसके अतिरिक्त हीरसौभाग्य में ताकिकों की उपमानविधि की अभ्यभिचारिता (३.८०), जैमिनीय दर्शन में देवों के शरीर की अमान्यता (५.७३) तथा बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद (५.२१) का भी उल्लेख है।

हीरसौभाग्य के विवरण की प्रामाणिकता

हीरसौभाग्य में वर्णित हीरविजय के जीवन की प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं की पुष्टि उनके मरणस्थल उन्नतपुर (ऊना) में उत्कीर्ण शिलालेख से होती है। अन्य

३७. वही ६.६२-६५, ४।२१ और उसकी टीका 'प्रतिपत्पठनाशिनी' इत्युक्तेः।

३८-४०. क्रमशः वही, १३.१३७-१४२, १३.१४५-१५०, १४.३५

सम्बन्धित प्रसंगों के सत्यासत्य के परीक्षण के लिये आईने अकबरी तथा अल-बदाऊनी जैसे ख्यातिप्राप्त ग्रन्थों से अमूल्य सहायता मिलती है ।

सिद्धिचन्द्र के अनुसार जिन सामन्तों ने अकबर को हीरविजय सूरि के सच्चारित्र्य तथा अन्य गुणों से अवगत किया था, वे गुजरात के ही सामन्त थे ।^{१४} उन्हें जैनाचार्य की नैतिक तथा धार्मिक उपलब्धियों का प्रत्यक्ष ज्ञान रहा होगा । यह घटना अकबर के काबुल से लौटने के पश्चात्, सन् १५८२ की है ।^{१५} अकबर ने जिन दूतों को साहिबखान के पास भेजा था, आईने अकबरी के अनुसार वे मेवात के हजारों दूतों में से थे, जो अपनी शीघ्रगामिता तथा साधनसम्पन्नता के कारण सुविख्यात थे । वे उत्तम गुप्तचर थे ।^{१६} आईने अकबरी में साहिब खान का भी वर्णन है । वह अकबर की धात्री का सम्बन्धी तथा मित्र था । वह मालव का राज्यपाल तथा सन् १५६६ में अकबर का वित्तमन्त्री रह चुका था । सन् १५७७ तक वह गुजरात का बाईसराय भी रहा था ।^{१७} हीरविजय को जगद्गुरु की उपाधि प्रथम आषाढ़, सम्बत् १६४१ (जून १५८४) को प्रदान की गयी थी ।^{१८} मेवात मण्डल में हीरविजय ने अन्तिम चातुर्मास १५८६ ई० में किया था । इससे स्पष्ट है कि वे चार वर्ष तक आगरा के निकटवर्ती प्रदेश में विहार करते रहे । हीरविजय के अनुरोध पर बन्धियों को मुक्त करने, प्राणिवध पर प्रतिबन्ध लगाने आदि का वर्णन भानुचन्द्र चरित्र में भी पढ़ा जा सकता है । अल बदाऊनी का विवरण भी इसकी पुष्टि करता है ।^{१९} सम्राट् अकबर से हीरविजय को जो ग्रंथ-संग्रह प्राप्त हुआ था, भानुचन्द्र चरित्र के अनुसार जैनाचार्य ने उससे एक पुस्तकालय की स्थापना की थी ।^{२०} भानुचन्द्र के प्रयत्नों से भानुजय का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् हीरविजय ने १५९२ ई० में संघसहित उस तीर्थ की यात्रा की थी ।^{२१} आचार्य श्री का निधन ऊना में भाद्रपद एकादशी, सम्बत् १६५२ तदनुसार १८ सितम्बर, सन् १५९५ को हुआ था ।

इतिवृत्त की तथ्यात्मकता तथा काव्य गुणों की दृष्टि से हीरसौभाग्य महत्त्व-

४१. पत्रच्छ गूर्जरयाप्तान् सामन्तानिति सादरम् । भानुचन्द्रचरित्र, १.७८]

४२. मोहनलाल दलीचन्द देशाई : भानुचन्द्र चरित्र, भूमिका, पृ. ५

४३. आईने अकबरी, भाग १ पृ० २५२

४४. वही, पृ० ३३२

४५. भानुचन्द्रचरित्र, भूमिका, पृ० ७

४६. अलबदाऊनी, पृ० ३२१

४७. भानुचन्द्रचरित्र, १.११९-१२०

४८. वही, ३.७०-७१.

पूर्ण रचना है । देवविमल का आदर्श नैषधचरित है, किन्तु जहां श्रीहर्ष ने अपने काव्य को शास्त्रीय वैदुष्य से आक्रान्त कर शास्त्रवत् दुर्बोध बना दिया है, वहां देवविमल ने अपनी सुशुचि से काव्य को विद्वत्ता-प्रदर्शना का आखाड़ा नहीं बनाया है । फलतः वह साहित्य को एक ऐसा प्रौढ़ काव्य देने में सफल हुआ है, जो महाकाव्य-परम्परा के अध्ययन के लिए अनिवार्य है तथा केवल कवित्व की दृष्टि से भी वह संस्कृत के उत्तम महाकाव्यों में प्रतिष्ठित है ।

परिशिष्ट

उन्नतपुर प्रशस्ति

“स्वस्ति श्री सम्बत् १६५२ वर्षे कार्तिक वदी ५ बुधे तेषां जगद्गुरुणां संवे-
गवराग्यसौभाग्यादिगुणध्वजांतश्चमत्कृतैर्महाराजाधिराजपातिशाहि श्री अकबरा-
भिधानैः गुर्जरदेशात् दिल्लीमण्डले सबहुमानमाकार्य धर्मोपदेशाकर्णनपूर्वकं पुस्तक-
कोशससर्पणं, डाबराभिधानमहासरोमत्स्यवधनिवारणं, प्रतिवर्ष षाण्मासिकामारि-
प्रवर्तनं, सर्वदा श्रीशत्रुंजयतीर्थमुंडकाभिधानकरनिवर्तनं, जीजियाभिधानकरकर्तनं,
निजसकलदेशदाण-मृतस्वमोचनं, सर्वैव बन्दीयकृष्णनिवारणमित्यादिधर्मकृत्यानि प्रव-
र्तितानि तेषां श्रीशत्रुंजये सकलदेशसंयुतसकलतयात्राणां आद्रपदशुक्लैकाशीदिने
जातनिर्वाणां (पानां) शरीरसंस्कारस्थानासन्नफलितसहकाराणां श्रीहीरविजय-
सूरीश्वराणां प्रतिदिनं दिव्यरायनावश्रवणदीपदर्शनादिकैर्जातप्रभावाः स्तूपसंहिताः
पादुकाः कारिताः पं० (परिच्छ) मेघेन भार्यालाङ्कीप्रमुखकुटुम्बयुतेन, प्रतिष्ठिताश्च
तपागच्छाधिराजैः भट्टारक श्री विजयसेनसूरिभिः उ० श्री विमलहर्षगणि उ० श्री
कल्याणविजयगणि उ० श्री सोमविजयगणिभिः प्रणताः भव्यजनैः पूज्यमानाश्चिचरं
नन्दतु (न्तु) । लिखिता प्रशस्तिः पद्मानन्दगणिना श्री उन्नतनगरे शुभं भवतु ॥

भरतबाहुबलिसहाकाव्य : पुण्यकुशल

कविवर पुण्यकुशल का भरतबाहुबलिसहाकाव्य (भ० बा० महाकाव्य) अपने बहुविध गुणों, स्निग्ध शैली तथा माधोत्तर इतिवृत्त-परम्परा की अनुपालना के कारण समग्र काव्यसाहित्य की गौरवपूर्ण रचना है। भ० बा० महाकाव्य की पंजिकायुक्त एक पूर्ण प्रति तेरापन्थ संघ के संग्रह में थी। उस प्रति का जो भाग आज उपलब्ध है, वह ग्यारहवें सर्ग के मध्य में ही समाप्त हो जाता है। द्वितीय सर्ग का उत्तरार्द्ध तथा समूचा तृतीय सर्ग भी प्रति में प्राप्य नहीं है। इस काव्य की एक वृद्धि प्रति, श्वेताम्बर भण्डार, विजयधर्मलक्ष्मी ज्ञानमन्दिर, आगरा में उपलब्ध है। इस प्रति की लिपि दुर्बोध तथा पाठ बहुधा क्षणिक तथा भ्रष्ट है। भ० बा० महाकाव्य को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान्, मुनि नथमल जी (अब युवाचार्य महाप्रज्ञ) को है, जिन्होंने संघीय प्रति तथा आगरा भण्डार की उक्त प्रति की दो प्रतिलिपियों के आधार पर, सम्बत् २००२ में, इस रोचक काव्य का उद्धार किया था।^१ मुनिजी की स्वलिखित २८ पत्रों की प्रति ही भरतबाहुबलिसहाकाव्य की रक्षा तथा प्रकाशन का आधार बनी है।^२

अठारहवें सर्गों के इस ललित-मधुर काव्य में आदि चक्रवर्ती भरत तथा उनके प्रतापी अनुज बाहुबल के जीवन के एक प्रसंग—युद्ध तथा कैवल्यप्राप्ति—को काव्योचित अलंकरण के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह वर्णनात्मकता प्रबन्धत्व का पर्याय नहीं है, पर भ० बा० महाकाव्य का समूचा सौन्दर्य एवं महत्त्व इन्हीं वर्णनों पर आश्रित है। ये वर्णन काव्यप्रतिभा के उन्मेष हैं जिससे सारा काव्य अद्भुत सरसता से सिक्त है।

भ० बा० महाकाव्य का महाकाव्यत्व

शास्त्रीय लक्षणों के संदर्भ में भ० बा० महाकाव्य की सफलता असन्दिग्ध है। कुमारमभव, क्षिणुपालवध आदि प्राचीन काव्यों की भांति इसका आरम्भ वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से हुआ है। काव्य का प्रथम पद्य, किसी पृष्ठभूमि अथवा

१. मुनिनथमल: प्रतिमिमां लिपीकृतयान् द्विसहस्राब्दे द्वयुत्तरे। पुरकं च लिखितं

२००६ काल्युग मत्से पूर्णिमायां होलीदिने लूणकणसरे। —अन्त्य दिप्पणी।

२. जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान), १९७४ ई०

औपचारिकता के बिना, सीधा कथावस्तु का प्रवर्तन करता है। पुण्यकुशल ने भरत तथा बाहुबलि के जिस प्रकरण को काव्य का आधार बनाया है, वह, अपने उदात्त पर्यवसान के कारण, जैन साहित्य में अतीव समादृत है और इसी कारण, प्रारम्भ से, कवियों का उपजीव्य रहा है। वसुदेवहिण्डी के प्राचीनतम निरूपण के अतिरिक्त जैन धर्म की दोनों धाराओं के प्रतिनिधि ग्रन्थों—आदिपुराण तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुष-धरित—में इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इतिव्रत की प्रकृति तथा उद्देश्य के अनुरूप भ० बा० महाकाव्य का अंगीरस वीर है। काव्य की रसवत्ता को घनत्व प्रदान करने के लिये शृंगार, रौद्र तथा शान्त रस का प्रगाढ़ पल्लवन किया गया है। काव्य में शृंगार रस की तो इतनी तीव्र व्यंजना है कि इसे न्यायपूर्वक अंगीरस का समकक्ष माना जा सकता है। विविध गुणों से सम्पन्न चक्रवर्ती भरत काव्य के निर्विवाद नायक हैं, परन्तु बाहुबलि भी कथावस्तु के ताने-बाने में इस प्रकार अनुस्यूत हैं तथा उनका व्यक्तित्व नायकोचित गुणों से ऐसे युक्त है कि उन्हें किसी भी तरह नायक के पद से वंचित नहीं किया जा सकता। एकाधिक पात्रों को नायक मानने की साहित्य में प्राचीन परम्परा है। भ० बा० महाकाव्य की रचना जैन दर्शन के मूलभूत आदर्श “वैयक्तिक स्वतन्त्रता” की प्रतिष्ठा के महान् उद्देश्य से की गयी है। बाहुबलि राजपाट, भोगाकांक्षा आदि सब कुछ छोड़ देता है किन्तु पराधीनता उसे कदापि सह्य नहीं है। पारिभाषिक शब्दावली में यह अर्थ पर धर्म की विजय है। महाकाव्य की बद्धमूल परिपाटी के अनुरूप भ० बा० महाकाव्य में दूत-प्रेषण, संन्यग्रथाण, युद्ध, वनविहार, जलक्रीड़ा, सूर्यास्त, प्रभात, षड्भक्त आदि वस्तु-व्यापार के विस्तृत एवं अलंकृत वर्णन पाये जाते हैं। इसकी भाषा में जो लालित्य, सौष्ठव तथा प्रसाद है, वह अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः भ० बा० महाकाव्य की एक उल्लेखनीय विशेषता इसकी प्रसादपूर्ण प्रांजल भाषा है। भाषा की इस प्रांजलता ने इसकी शैली में प्रशंसनीय चारुता तथा महाकाव्योचित भव्यता का संचार किया है। काव्य का शीर्षक मुख्य पात्रों पर आधारित है, जो कथावस्तु में उनके समान महत्त्व तथा गौरव का द्योतक है। सर्गों के नामकरण, छन्दों के विधान आदि स्थूल तत्त्वों में भी पुण्यकुशल शास्त्र का अनुगामी है।

भ० बा० महाकाव्य में, कथा-रेखाओं को समन्वित करने के लिये नाट्य-सन्धियों का यत्किञ्चित् विनियोग हुआ है। प्रथम दो सर्गों में दूतप्रेषण तथा दूत के

३. विमृश्य दूतं प्रजिघाय बामिनं ततो जसे तक्षशिलां महीभुजे । भ० बा० महाकाव्य,

१.१.

४. सम्बत् १२४१ में लिखित शालिभद्रसूरि का भरतेश्वरबाहुबलिरास, इस विषय पर आधारित प्राचीनतम राजस्थानी काव्य है।

द्वारा बाहुबलि को भरत का प्रभुत्व स्वीकार करने का सन्देश देने में मुख्यसन्धि है। कथावस्तु की जो परिणति क्रमशः बाहुबलि और भरत की कैवल्य-प्राप्ति में हुई है, उसका बीज यहीं निहित है। तृतीय से पंचम सर्ग तक बाहुबलि द्वारा प्रस्ताव को अस्वीकार करने, भरत के पश्चात्ताप, सेनापति के उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने तथा सेना के प्रस्थान में, मुख्यसन्धि में जिस बीज का वपन हुआ था, उसका कुछ विकास हुआ है। अतः यहाँ प्रतिमुख सन्धि स्वीकार की जा सकती है। ग्यारहवें सर्ग में बाहुबलि के मन्त्री द्वारा उसे अग्रज की आज्ञा मानने किन्तु विद्याधर अनिलबेग द्वारा उसे राज्यलोलुप भरत का दृढतापूर्वक मुकाबला करने की प्रेरणा के द्वन्द्व में गर्भसन्धि विद्यमान है। बारहवें सर्ग में भरत को विजय-प्राप्ति में सन्देह होने से लेकर पन्द्रहवें सर्ग में उसकी सेना के पराजित होने के वर्णन में फलप्राप्ति के प्रति कुछ संशय उद्भूत होता है। यहाँ विमर्श सन्धि मानी जा सकती है। अठारहवें सर्ग में पहले बाहुबलि और तत्पश्चात् भरत के केवलज्ञान प्राप्त करने में निर्बन्धन सन्धि है। यही काव्य का फलागम है।

इस प्रकार भ० बा० महाकाव्य में वे समूची विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो किसी महाकाव्य को महान् तथा प्राणवान् बनाने के लिये शास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक हैं।

भ० बा० महाकाव्य का स्वरूप

भ० बा० महाकाव्य का समूचा वातावरण, प्रकृति तथा भावना शास्त्रीय काव्य के अनुकूल है। पौराणिक रचनाओं की भाँति इसमें न भवान्तरों का तीरस वर्णन है, न अवान्तर कथाओं का जाल, न कर्मवाद की सायास प्रतिष्ठा, न अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन और न चित्र-विचित्र घटनाओं की भरमार। काव्य को शास्त्रीय रूप देना ही कवि को अभीष्ट है। संक्षिप्त-से कथानक को अठारह सर्गों का कलेवर प्रदान कर देना उसकी शास्त्रीयता का सूचक है। वनविहार आदि के अन्तर्गत भरत के सैनिकों की विलासपूर्ण चेष्टाएँ तथा अन्य शृंगारिक वर्णन शास्त्रीय काव्य के ही अवयव हो सकते हैं। विविध रसों की सशक्त व्यञ्जना, प्रकृति का व्यापक एवं अभिराम चित्रण, उत्कृष्ट काव्य-कला, भाषा-शैलीगत उदात्तता, मनोरम भावों की अभिव्यक्ति आदि भी इसकी शास्त्रीयता को पोषित करते हैं।

अहाँ तक इसकी पौराणिकता का प्रश्न है, इसमें कतिपय अतिप्राकृतिक घटनाओं का समावेश हुआ है। भरत का पुरोहित तथा बाहुबलि का पुत्र चन्द्रयशः युद्ध में मृत अपने-अपने पक्ष के वीरों को मन्त्रबल से पुनर्जीवित कर देते हैं। देवगण, प्रत्येक द्वन्द्वयुद्ध में बाहुबलि की विजय का अभिनन्दन, पुष्पवृष्टि से करते हैं तथा उसे चक्र पर मुष्टिप्रहार करने से रोकते हैं। बाहुबलि की कैवल्य-प्राप्ति का समाचार भरत को

देवताओं से ही मिलता है। पौराणिक काव्य की भांति इसके दसवें सर्ग में आदिदेव के एक स्तोत्र का समावेश किया गया है तथा अन्यत्र भी जिनधर्म की प्रशंसा की गयी है^१। परन्तु पौराणिकता के नाम पर उपलब्ध इन तत्त्वों के कारण भ० बा० महाकाव्य को पौराणिक रचना नहीं माना जा सकता। शास्त्रीय काव्य में भी अद्भुत की सृष्टि के लिये अलौकिक तथा अतिप्राकृतिक घटनाओं का समावेश करना सिद्धान्त में मान्य है।

कवि तथा रचनाकाल

भ० बा० महाकाव्य की पुष्पिका में अथवा अन्यत्र इसके रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में प्रयुक्त 'पुण्योदय' शब्द से कवि ने अपने जिस नाम को इंगित किया है^२, वह पंजिका की पुष्पिका के अनुसार पुण्यकुशल है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि पुण्यकुशलगणि तपागच्छ के प्रख्यात आचार्य विजयसेन सूरि के प्रशिष्य और पण्डित सोमकुशलगणि के शिष्य थे। भ० बा० महाकाव्य की रचना इन्हीं विजयसेनसूरि के धर्मशासन में अर्थात् सम्वत् १६५२-१६५६ (सन् १५६५-१६०२ ई०) के बीच हुई थी^३। कनककुशलगणि पुण्यकुशल के गुरु भाई थे। उनके अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका रचनाकाल वि.सं. १६४१ (सन् १५८४ ई०) से प्रारम्भ होता है और वि. सं. १६६७ (सन् १६१० ई०) तक उनकी लिखी रचनाएं प्राप्त होती हैं^४। विजयधर्मसूरि ज्ञानमन्दिर, आगरा में उपलब्ध प्रस्तुत काव्य की पूर्वोक्त प्रति का लिपिकाल वि. सं. १६५६ (सन् १६०२ ई०) है। यह भ० बा० महाकाव्य के रचनाकाल की अधोवर्ती सीमारेखा है तथा इससे पंजिका की पुष्पिका में संकेतित काव्य की रचनावधि की पुष्टि होती है।

कथानक

षट्स्रण्ड विजय के फलस्वरूप भरत चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है। भरत को ज्ञात होता है कि उसके अनुज तक्षशिलानरेश बाहुबलि ने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया है। इसीलिये चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया है। वह ब्रूत के द्वारा बाहुबलि को प्रणिपात करने का आदेश देता है। यही से भ० बा० महाकाव्य

५. संसारतापातुरमानवानां जिनेन्द्रबाबा अमृतावहा हि । भ० बा० महाकाव्य, १०।६०

सुखीमनेत् स एवात्र हि यो जिनाचकः । वही, १३।५७

६. उदाहरणार्थ — क्षितिपतिमबलम्यात्यन्तपुण्योदयाद्यम् । १।७६

७. 'इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीविजयसेनसूरेश्वरराज्ये पं० श्रीसोमकुशलगणि शिष्य-पुण्यकुशलगणिविरचिते भरतबाहुबलिमहाकाव्ये' ।

८. जैन साहित्य का कृद्-इतिहास, भाग ६, वाराणसी, १९७३, पृ. २६१-२६२

प्रारम्भ होता है।

प्रथम सर्ग में दिग्विजयी भरत बाहुबलि के पास एक वाक्पटु दूत भेजता है। वह मार्ग में बहली प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा को निहारता हुआ तथा सर्वत्र बाहुबलि एवं उसके योद्धाओं के अद्वितीय पराक्रम की रोचक गाथाएं सुनता हुआ राजधानी तक्षशिला पहुंचता है। तक्षशिला-नरेश के दाहक तेज को देखकर दूत की घिम्मी बंध जाती है। द्वितीय सर्ग में बाल्यकालीन चपलताओं का स्मरण करके बाहुबलि का हृदय भ्रातृस्नेह में छलक उठता है। उसकी कामना है कि उनके बन्धुत्व का दीपक खेद की हवा-बतास से सुरक्षित रहे। दूत, भरत की पद्मखण्डविजय के संक्षिप्त विवरण के द्वारा उसके प्रताप को रेखांकित करता हुआ, बाहुबलि को अग्रज का प्रभुत्व स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। तृतीय सर्ग में बाहुबलि दूत की दुश्चेष्टा से क्रुद्ध होकर अपनी अनुपम वीरता तथा भरत की लोलुपता का बखान करता है। उसका विश्वास है कि उसे पराजित किये बिना भरत की दिग्विजय अधूरी है। वह दूत के प्रस्ताव को घृणापूर्वक अस्वीकार कर देता है। अयोध्या में दूत के लौटने से पूर्व ही बाहुबलि का आतंक फैल चुका था। चतुर्थ सर्ग में दूत की बात सुनकर भरत के हृदय में भ्रातृप्रेम उदित होता है। वह बाहुबलि के पराक्रम को याद करके दूत भेजने का भीषचात्ताप करने लगता है जिसके फलस्वरूप वह अपने निर्मल वंश को भ्रातृवध के जघन्य पाप से कलुषित न करने का निर्णय करता है। सेनापति सुषेण उसे नाना तकों से युद्ध के लिये प्रोत्साहित करता है। पांचवें सर्ग का नाम 'सेनासज्जीकरण' है, किन्तु इसके अधिकांश में यमक द्वारा शरत् तथा राजमहिषियों के अलंकरण का चित्रण किया गया है। छठे से आठवें सर्ग तक क्रमशः भरत की सेना के प्रयाण तथा बाह्य उद्यान में उसके प्रथम सन्निवेश, सैनिक युगलों के वन-विहार एवं जलकेल तथा सन्ध्या, चन्द्रोदय, रतिक्रीड़ा और सूर्योदय का हृदयग्रही कवित्वपूर्ण वर्णन है जिसके अन्तर्गत प्रेमी दम्पतियों के मान-मनुहार, दूतीप्रेषण, अमिसार आदि प्रणय-प्रसंगों का रोचक निरूपण हुआ है। प्रातःकाल भरत की सेना बाहुबलि के विरुद्ध प्रस्थान करती है। नवम सर्ग में सैन्य-प्रयाण के पश्चात् योद्धाओं की प्रेयसियां वियोग-विह्वल हो उठती हैं। भरत की सेना बाहुबलि की सीमा पर, गंगा के तटवर्ती कानन में, पड़ाव डालती है। सेनापति, बाहुबलि के राज्य का वृत्तान्त जानने के लिये गुप्तचार भेजता है। सैन्यबल की ख्यापक उसकी उक्तिर्या वीरोचित दर्प से परिपूर्ण हैं। सेना-निवेश के प्रसंग में, इस सर्ग में, उत्तरदिशा के कानन, आदि-देव के विहार तथा मन्दाकिनी का चारु चित्रण किया गया है। दसवें सर्ग में भरत आदिप्रभु के चैत्य में जाकर उनकी स्तुति करता है। वहीं उसकी जेट तपस्वारत विद्याधर से होती है जिसने भरत से पराजित होने के उपराक्त बैताढ्य पर्वत के

अधिपति नमि तथा विनमि के साथ भुनित्व स्वीकार कर लिया था। ग्यारहवें सर्ग में चरों से ज्ञात होता है कि बाहुबलि भरत की अधीनता स्वीकार करने को कदापि तैयार नहीं है। उसके वीरों में अपार उत्साह है। बाहुबलि का मन्त्री सुमन्त्र उसे षट्क्षण्डविजेता अग्रज को प्रणिपात करने का परामर्श देता है, परन्तु विद्याधर अनिलवेग प्रतापी सेना में दैन्य का संचार करने के लिये उसकी भर्त्सना करता है। वीरपत्नियां अपने पतियों को उत्साहपूर्वक विदा करती हैं। बाहुबलि सेना एकत्र करके युद्ध के लिये तैयार हो जाता है। बारहवें सर्ग में भरत अपनी सेना को भावी युद्ध की गुरुता का भान कराता है तथा उसकी विजय में ही अपने चक्रवर्तित्व की सार्थकता मानता है^१। सेनापति सुषेण उसे विश्वास दिलाता है कि युद्ध में हमारी विजय निश्चित है। जो प्रलयंकर भ्रंशावात पर्वतों का उन्मूलन कर सकता है, उसके सामने वृक्षों की क्या बिसात ? “धैर्यवान् ही विजय प्राप्त करते हैं”, इस तथ्य को रेखांकित करने के लिये बाहुबलि, तेरहवें सर्ग में, अपने सैनिकों को उत्साहित करता है। सिंहस्थ की सेनाध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। वीर योद्धा अधीरतापूर्वक रात्रि के बीतने की प्रतीक्षा करते हैं। यहाँ रात्रि तथा प्रभात का ललित वर्णन किया गया है। बाहुबलि हिमशिरिसदृश विशालकाय हाथी पर बैठकर युद्ध के लिये प्रस्थान करता है। चौदहवें सर्ग में दोनों सेनाएं समरांगण में उतरती हैं। स्तुतिपाठक विपक्षी सेनाओं के प्रमुख वीरों का परिचय देते हैं। पन्द्रहवें सर्ग में विपक्षी सेनाओं के तीन दिन के युद्ध का कवित्वपूर्ण वर्णन है। प्रथम दिन के युद्ध में भरत के सेनानी सुषेण ने बाहुबलि के सैनिकों को तृणवत् उच्छिन्न किया। अगले दो दिन बाहुबलि का पक्ष भारी रहता है। बाहुबलि तथा सूर्ययशः की भिड़न्त से देवता कांप उठते हैं। सोलहवें सर्ग में देवगण, भीषण रक्तपात से बचने के लिये भरत तथा बाहुबलि को द्वन्द्वयुद्ध के द्वारा बल-परीक्षा करने को प्रेरित करते हैं। एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हुए वे देवताओं का अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं। सतरहवें सर्ग में भरत और बाहुबलि युद्ध भूमि में आते हैं। एक-एक कर भरत दृष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध, मुष्टियुद्ध तथा दण्डयुद्ध में पराजित होता है, किन्तु फिर भी वह पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं। हताश होकर वह चक्र का प्रहार करता है पर चक्र बाहुबलि का स्पर्श किये बिना ही लौट आता है। बाहुबलि क्रुद्ध होकर उसे तोड़ने के लिये मुष्टि उठा कर दौड़ता है। यह सोचकर कि इसके मुष्टिप्रहार से तीनों लोक ध्वस्त हो जाएंगे, देवता उसे रोकते हैं। बाहुबलि उसी मुष्टि से केशलुंचन कर मुनि बन जाता है^२। भरत समदर्शी अनुज को प्रणिपात करता है और उसके पुत्र को अभिषिक्त कर अयोध्या

१. विश्वम्भराक्षकजयो ममापि तर्हव साफल्यमथाप्स्यतीह ! ज. बा. महाकाव्य, १२.३३

२. अपनेनुमिमांश्चिकुरानकरोब् बलमात्मकरणे स तावदयम् । वही १७.७५

सौट जाता है। इस सर्ग में युद्ध का अतीव उदात्त तथा कवित्वपूर्ण वर्णन है। अठारहवें सर्ग में छहों ऋतुएँ भरत की सेवा में उपस्थित होती हैं। देवताओं से यह ज्ञानकर कि मानत्याग से बाहुबलि को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, भरत के हृदय में वैराग्य का उद्रेक होता है और उसे, गृहस्थी में ही, कैवल्य की प्राप्ति होती है।

भ० बा० महाकाव्य वर्णनों के विशाल पुंज का दूसरा नाम है। पुण्यकुशल ने जिस कथानक को काव्य का आधारतंतु बनाया है, वह, काव्य के कलेवर को देखते हुए, बहुत छोटा है। परन्तु कवि ने इस लघु प्रसंग पर पूरे अठारह सर्ग खपा दिये हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कथापंजर वर्णनस्फीति की बाढ़ में डूब गया है और काव्य में इतिवृत्त-निर्वाहकता लगभग नष्ट हो गयी है। कथानक-निर्वाहकता की दयनीयता का अनुमान इसी तथ्य से किया जा सकता है कि पांच-पाँच सर्गों तक कथानक एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाता। काव्य का यत्किंचित् कथानक प्रथम चार तथा अन्तिम तीन सर्गों तक सीमित है। शेष भाग, माघकाव्य के समान, जो कथानक के विनियोग में पुण्यकुशल का आदर्श है, सेना के सज्जीकरण, प्रस्थान, निवेश, वन-विहार, जलकेल, सूर्यास्त, सम्भोगक्रीडा, प्रभात, उद्यान आदि के अगणित वर्णनों से भरा पड़ा है। स्वयं में रोचक तथा महत्त्वपूर्ण होते हुए भी ये वर्णन कथाप्रवाह के मार्ग में दुर्लघ्य बाधाएँ उपस्थित करते हैं। निस्सन्देह यह तत्कालीन महाकाव्य-परिपाटी तथा कवि के आदर्श के अतिशय प्रभाव का परिणाम है, परन्तु पुण्यकुशल जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि से यह आकांक्षा की जाती है कि वह परम्परा की कारा से मुक्त होकर कथानक को सुसंघटित बनाने में भी अपनी प्रतिभा का परिचय देता। इससे काव्य की गौरववृद्धि होती। वर्तमान रूप में, भ० बा० महाकाव्य रंग-बिरंगी कतरनों का विशाल वितान है। परन्तु इन कतरनों में से कुछ का सौन्दर्य सपाट पट की शालीनता की अपेक्षा कभी-कभी हृदय को अधिक आकृष्ट करता है। पुण्यकुशल के बुनकर की सफलता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ?

भ० बा० महाकाव्य के आधारस्त्रोत

द्वर्षपूर्ण पराक्रम एवं उर्ध्वगामी परिणति के कारण भरत तथा बाहुबलि के युद्ध का उदात्त वृत्त जैन सम्प्रदाय की दोनों धाराओं में समान रूप से सम्मानित तथा प्रख्यात है। जिनसेन के आदिपुराण (नवीं शताब्दी ई०) और हेमचन्द्र (बारहवीं शताब्दी ई०) के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में यह प्रसंग क्रमशः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप वर्णित है। स्त्रीतों के कथागत साम्य के कारण पुण्यकुशल ने अपने काव्य के पल्लवन में उक्त दोनों ग्रन्थों को आधार बनाया है। जहाँ उनमें तात्त्विक अन्तर है, वहाँ उसने स्वभावतः श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र के विवरण को स्वीकारा है।

पुण्यकुशल ने प्रथम सर्ग में भार्गवर्णन के कतिपय तत्त्व आदिपुराण से ग्रहण किये हैं, कुछ अन्य विशेषताएँ हेमचन्द्र के वर्णन पर आधारित हैं। आदिपुराण में तक्षशिला के पार्श्ववर्ती गोचर में विचरती गायों का स्वभावोक्ति के द्वारा मनोरम चित्र अंकित किया गया है (३५.३८)। पुण्यकुशल ने इस स्वभावोक्ति पर कल्पना का लेप चढ़ाकर गौसमुदाय को बाहुबलि के मूर्तिमान् यशःपुञ्ज के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है (१.४)। भ० बा० महाकाव्य में शालिशोपिकाओं का रेखाचित्र (१.३८) जिनसेन के प्रासंगिक वर्णन से प्रेरित है जिसमें उसने शुक्र के समान हरी चोलियों बांधकर 'छो-छो' शब्द से तोतों को उड़ाने वाली शालिशोपिकाओं का अस्तीव सजीव तथा हृदयग्राही शब्दचित्र अंकित किया है (३५.३२-३६)। त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित (त्रि. श. पु. चरित) लोकजीवन के इस मधुर प्रसंग से शून्य है। तक्षशिला के वर्णन के अन्तर्गत पुण्यकुशल ने वहाँ की हाट का रोचक चित्रण किया है; जो अपने वैभव के कारण वारवधू-सी प्रतीत होती थी (१.५६-५७)। उसके आधारग्रन्थों ने भी तक्षशिला के वर्णन की उपेक्षा नहीं की है। आदिपुराण में पुंजीभूत रत्नसम्पदा (३५.४२) तथा त्रि.श.पु.चरित में इन्द्रतुल्य वर्णनजनों के वैभव (१.५.६०) के द्वारा तक्षशिला की समृद्धि को रेखांकित किया गया है। भ० बा० महाकाव्य में बाहुबलि की सैन्यशक्ति के अंगरूप में उसकी चतुर्विध सेना तथा शस्त्राम्यासस्त्री का अलंकृत वर्णन (१.४२-४७, ५०-५१) हेमचन्द्र के समानान्तर वर्णन से प्रेरित है (१.५.५५-५७)। पुण्यकुशल ने तक्षशिलाधिपति का प्रौढ़ कवित्व-पूर्ण शब्दचित्र अंकित किया है जिसमें उसका तेज, वैभव तथा पराक्रम अनायास उजागर हो गये हैं (१.७१-७७)। इस शब्दचित्र का आधार आदिपुराण (३५.४५-५०) तथा त्रि.श.पु.चरित (१.५.६६-७६) के उन वर्णनों में खोजा जा सकता है जो विभिन्न शब्दावली में बाहुबलि के उक्त गुणों का प्रतिपादन करते हैं। उपजीव्य काव्यों के समान भ० बा० महाकाव्य में भी दूत, बाहुबलि की तेजस्विता से, भौक्त्रका रह जाता है।^{११}

द्वितीय सर्ग में वर्णित घटनाएँ लगभग पूर्णतया आधारग्रन्थों के अनुकूल हैं। इसमें भरत की घटखण्डविषय के माध्यम से उसके दुर्द्धर्ष शौर्य का वर्णन करके दूत द्वारा बाहुबलि को चक्रवर्ती अग्रज की प्रभुता स्वीकार करने को प्रेरित किया गया है। इसके अन्तर्गत अभिषेकसमारोह में अनुजों के न आने से भरत की मानसिक व्यथा, उनके प्रति दूतप्रेषण, अचीनता स्वीकार न करके उनके प्रव्रज्या ग्रहण करने,

११. चचाल प्रणिधिः किञ्चित् प्रणिधान्निधीक्षितुः। आदिपुराण, ३५.५५.

वदशं बाहुबलिनं स तत्रोद्भूतविस्मयः। त्रि.श.पु.चरित, १.५.७६.

स वरानात् क्षोणिपतेः प्रकम्पितः। भ.वा. महाकाव्य, १.७८.

उनके पद पर उनके पुत्रों को अभिषिक्त करने आदि का मनोरम वर्णन है (२.३७-६५)। यह आदिपुराण (३५.६५-८५) तथा त्रि.श.पु.चरित (१.५.८७-११६) के प्रारंभिक अंशों का भिन्न शब्दावली में पुनराख्यान है। षट्खण्डविजय का अन्यत्र सविस्तार निरूपण^{१२} होने के कारण उक्त ग्रन्थों में, प्रस्तुत प्रकरण में, इसकी आवृत्ति नहीं की गयी है; यद्यपि जिनसेन ने इसका सूक्ष्म संकेत किया है। भ० बा० महाकाव्य में षट्खण्डविजय का विवरण हेमचन्द्र के वर्णन का अनुगामी है। अपने आधारभूत ग्रन्थों के अनुकरण पर पुण्यकुशल ने भरत को, चक्रवर्तित्व के अतिरिक्त उसकी ज्येष्ठता के कारण, बाहुबलि द्वारा वन्दनीय माना है^{१३}।

अनुचित प्रस्ताव से क्रुद्ध होकर बाहुबलि के द्वारा उसे अस्वीकार करने का, तृतीय सर्ग में वर्णित, प्रसंग का आधार भी आदिपुराण तथा त्रि.श.पु.चरित में उपलब्ध है। आदिपुराण के लेखक ने राजनीति की पारिभाषिक शब्दावली में अपना पाण्डित्य बखारने का प्रयास किया है जबकि हेमचन्द्र ने तर्कबल से दूत का प्रत्याख्यान किया है। दोनों ग्रन्थों में भरत के तथाकथित निमन्त्रण को कपटपूर्ण षड्यन्त्र की संज्ञा दी गई है। जिनसेन की भाषा में वह 'खलाचार' है (३५.६४), हेमचन्द्र ने उसे उपहासपूर्वक 'बकचेष्टा' (१.५.१२८) कहा है। भ० बा० महाकाव्य में भरत की राज्यलिप्सा की तुलना वडवाग्नि से की गयी है, जो नितान्तर्वे अनुजों के राज्यों को लील कर भी तृप्त नहीं हुई है (३.१४)। दौत्य के विफल होने पर बाहुबलि के सैनिकों के युद्ध के लिये सोल्लास तैयार होने का वर्णन जिनसेन (३५.१४५-१५०) और हेमचन्द्र (१.५.१७५-१६४) के समान पुण्यकुशल ने भी किया है (३.४८-६६)।

शेष मूलकथा के निरूपण में पुण्यकुशल ने प्रायः सर्वत्र हेमचन्द्र का अनुसरण किया है। आदिपुराण में उन घटनाओं का अभाव है, जिनका प्रतिपादन भ० बा० महाकाव्य के तृतीय सर्ग के अन्तिम पद्यों में तथा समूचे चतुर्थ सर्ग में किया गया है। पुण्यकुशल के काव्य का उपर्युक्त अंश हेमचन्द्र के विवरण से प्रेरित तथा प्रभावित है। इस प्रसंग में पुण्यकुशल ने हेमचन्द्र के कतिपय भावों को यथावत् ग्रहण किया है। कहीं-कहीं शब्दसाम्य भी दिखाई देता है।^{१४} इस संदर्भ में, भ० बा० महाकाव्य में, दूत की आत्मग्लानि का संकेत नहीं किया गया है, जो वह अपने दौत्य की विफलता

१२. आदिपुराण, ३४; त्रि.श.पु.चरित, १।३४.

१३. तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्षमी। आदिपुराण, ३५.८५.

तेजसा वयसा ज्येष्ठो नृपः श्रेष्ठः स सर्वथा। त्रि.श.पु.चरित, १.५.१२.

ज्येष्ठं किल भ्रातरमेहि नन्तुम्। भ.बा. महाकाव्य, २.६५.

१४. त्रि.श.पु.चरित, १.५.२२१ तथा भ.बा. महाकाव्य, ३.२६, १०४.

के फलस्वरूप बुद्ध की अवश्यम्भाविता का कारण बनकर अनुभव करता है^{१५} ।

भरत-बाहुबलि के इतिवृत्त के दिग्गम्बर तथा श्वेताम्बर रूपान्तरों में सबसे उत्सेहनीय एवं तारिक्क भेद उनके संघर्ष की परिणति—युद्ध—से सम्बन्धित है । पञ्चद्वे सर्ग में वर्णित भरत और बाहुबलि की सेनाओं के विदिवसीय युद्ध का दोनों आधार-स्रोतों में प्रच्छन्न-संज्ञित तक नहीं है । पुण्यकुशल का ग्रह वर्णन भाषकाव्य के कृष्ण तथा शिशुपास की सेनाओं के युद्ध (सर्ग १८) पर आधारित है ।

भरत तथा बाहुबलि के द्वन्द्वयुद्ध और उसकी पूर्वकालिक घटनाओं के विवरण में जिनसेन और हेमचन्द्र के ग्रंथों में महान् अन्तर है । आदिपुराण के अनुसार दोनों पक्षों के प्रमुख मंत्री भवी जन्मक्षय से भीत होकर 'अर्धयुद्ध' (द्वन्द्वयुद्ध) की घोषणा करते हैं । भरत तथा बाहुबलि बड़ी कठिनाई से मंत्रियों का आग्रह स्वीकार करते हैं (३६.४०-४४) । त्रि.श.पु.चरित की भौति भ० बा० महाकाव्य में उन उद्धत वीरों को नरसंहार से विरत करने का श्रेय देवताओं को दिया गया है, जो विभिन्न तर्कों से उन्हें सैन्ययुद्ध के कुष्परिणामों से अन्तर्गत करते हैं (१.५.४४५-५११) और उत्तम युद्धविधि श्रेष्ठतपरीक्षा करने को प्रेरित करते हैं^{१६} । भ. बा. महाकाव्य में देवताओं के तर्क तारिक्क रूप में भिन्न न होते हुए भी त्रि.श.पु.चरित की अपेक्षा अधिक समर्थ तथा विध्वंसजनक हैं (१६.१४.४४-४५) । नक्षत्रती भरत तथा तक्षशिलानरेण बाहुबलि प्रायः हेमचन्द्र की शब्दावली में एक-दूसरे को युद्ध का बोधी मानते हैं । पुण्यकुशल ने कल्पना की मालिश चढ़ाकर उसे अधिक आकर्षक बना दिया है (१६.२६-२८) । हेमचन्द्र के अनुसार भरत के समान बाहुबलि भी, देवताओं के अनुरोध से, द्वन्द्वयुद्ध के द्वारा बलपरीक्षा का विकल्प स्वीकार कर लेता है (१.५.५१८) । इसके विपरीत भ. बा. महाकाव्य में बाहुबलि पहले तो सैन्य-युद्ध के निश्चय पर अडिग रहता है परंतु, अंततः, देवों के प्रति सम्मान के कारण, स्वयं द्वन्द्वयुद्ध का प्रस्ताव करता है (१८.५६-६१) ।

आदिपुराण में भरत तथा बाहुबलि के विविध द्वन्द्वों—जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध तथा आहुयुद्ध—का वर्णन है । बाहुबलि को विजयोत्कर्ष के उस क्षण में भ्रातृपराजय के कुकर्ष से आत्मग्लानि होती है । उसके हृदय में वैराग्य का प्रबल उद्रेक होता है और वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को अभिषिक्त करके प्रब्रज्या ग्रहण करता है । कठोर तपश्चर्या के पश्चात् उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है (३६.४५-१८५) । पुण्यकुशल ने भरतबाहुबलिचरित के इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण के निरूपण में त्रि.श.पु.चरित का अनुगमन किया

१५. त्रि.श.पु.चरित, १.५.२०८.

१६. तथापि प्रार्थ्यसे वीर प्रार्थनाकल्पपाषप ।

उत्तमेनैव युद्धेन दुष्येया माश्रमेण तु ॥ वही, १.५.५१६.

है। दोनों में द्वन्द्वयुद्धों की संख्या, क्रम तथा वर्णन में आश्चर्यजनक साम्य है। हेमचन्द्र के अनुकरण पर पुण्यकुशल ने भरत-बाहुबलि के क्रमशः दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, मुष्टियुद्ध तथा दण्डयुद्ध का वर्णन लगभग उन्हीं की शब्दावली में किया है। द्वन्द्वयुद्ध में पराजित होकर भरत के चक्रप्रहार करने का उल्लेख जिनसेन (३६.६५) और हेमचन्द्र (१.५.७१६) ने भी किया है, किन्तु उनके समान चक्र के बाहुबलि की प्रदर्शना करने का संकेत भ.बा. महाकाव्य में नहीं है यद्यपि उसके विवरण में भी वह बाहुबलि का स्पर्श किये बिना भरत के पास लौट आता है (१७.६५)। क्रुद्ध बाहुबलि के चक्र को चूर करने के लिए मुष्टि उठाकर दौड़ना किन्तु उसी मुष्टि से केशोच्छेद कर साधुत्व स्वीकार करना, भरत का अनुज को प्रणिपात करना, आदर्शगृह में मुद्रिका गिरने से विषयों की आहार्यता तथा क्षणिकता का भान होने से भरत की कैवल्य-प्राप्ति आदि घटनाएँ त्रि.श.पु.चरित के विवरण की अनुगामिनी हैं (१.५.७३०-७६८)।

भ.बा. महाकाव्य के सप्तम तथा अष्टम सर्ग सैनिक युगलों के वनविहार, जलक्रीड़ा, सम्ख्या, सम्भोगक्रीड़ा, सूर्योदय आदि काव्यसुलभ विषयान्तरों से परिपूर्ण हैं। जैन पुराणों में इन समस्त विषयों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। त्रि.श.पु.चरित में वस्तुतः इनका नितांत अभाव है, किन्तु आश्चर्य है, कट्टरतावादी दिग्गम्बर जिनसेन ने वनविहार तथा जलक्रीड़ा के अतिरिक्त रतिक्रीड़ा सहित उपर्युक्त सभी विषयों का तत्परता से वर्णन किया है (३५.१५२-२३६)। अंतर केवल यह है कि आदिपुराण में इनका सम्बन्ध बाहुबलि के योद्धाओं से है जबकि पुण्यकुशल ने इनका वर्णन भरत के सैनिकों के संदर्भ में किया है। परंतु पुण्यकुशल को इनकी प्रेरणा माघकाव्य (सर्ग, ७-११) से मिली प्रतीत होती है, जो कथानक के प्रस्तुतीकरण में उसका आदर्श है। कदाचित् यह अनुमान भी असंगत नहीं कि स्वयं जिनसेन इन वर्णनों के लिए माघ का ऋणी है। जैनपुराण में युद्धयात्रा के अन्तर्गत ऐसे स्वच्छन्द यौनाचरण की कल्पना सम्भव नहीं है।

पुण्यकुशल को प्राप्त माघ का वाद्य

भ.बा. महाकाव्य के कथानक की समीक्षा करते समय तथा उसके आधार-स्रोतों के विवेचन के प्रसंग में पुण्यकुशल के साहित्यिक ऋण का कुछ संकेत किया गया है। कथावस्तु के संयोजन, सर्गों के विभाजन तथा वर्षों विषयों के उपस्थापन में पुण्यकुशल माघ के पदचिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं। शिशुपालवध की भाँति भ.बा. महाकाव्य का प्रवर्तन उस मंगलाचरण से हुआ है, जिसे शास्त्रीय भाषा में वस्तुनिर्देशात्मक कहते हैं। शिशुपालवध श्रृंग काव्य है। पुण्यकुशल ने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'पुण्योदय' पद का प्रयोग करके एक ओर अपने नाम का

अवगुण्ठित संकेत किया है तो दूसरी ओर माघ की परम्परा का निर्वाह किया है। माघकाव्य के प्रथम सर्ग में नारद के आगमन का वर्णन है। पुण्यकुशल के काव्य का प्रारम्भ दूतप्रेषण से होता है। भ.बा. महाकाव्य का कथानक मूलतः त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित से गृहीत है, किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में पुण्यकुशल ने माघ के योजनाक्रम का अनुसरण किया है। इसीलिये माघकाव्य की तरह भ.बा. महाकाव्य में सेनाप्रयाण के अन्तर्गत उसके सज्जीकरण, पड़ाव, पुनः प्रस्थान, सैनिक-युगलों के वन-विहार, जलकेल, सुरतक्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रभात तथा सूर्योदय के वर्णन मिलते हैं। अन्तर यह है कि माघ के वर्णन परिमाण में अधिक विस्तृत तथा प्रौढ़ता से परिपूर्ण हैं। जैन कवि के पास कल्पनावों का बहू कोष कहीं, जो माघ में मिलता है? पुण्यकुशल ने सैनिक युगलों की विलास-वेष्टाओं के अन्तर्गत मुग्धा, खण्डिता, प्रौढ़ा, कलहान्तरिता आदि विभिन्न नायिका-भेदों का माघ की भाँति आग्रहपूर्वक निरूपण नहीं किया है, यद्यपि उसके वर्णन भी इस प्रवृत्ति से अस्पृष्ट नहीं हैं। उनमें भी 'अशारदा' (प्रौढ़ा) का प्रत्यक्ष^{१०} तथा कलहान्तरिता, मुग्धा और खण्डिता^{११} का प्रच्छन्न संकेत किया गया है। माघ के वर्णनों में शास्त्रीयता अधिक है, पुण्यकुशल के वर्णन स्वाभाविकता एवं सरलता के कारण उल्लेखनीय हैं। परन्तु वह माघ के इन विलासिता के वर्णनों से इतना अभिभूत है कि उसने मात्र के अनेक भावों को यथावत् ग्रहण किया है।^{१२} राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जाने वाले यदुओं की यह विलासिता माघकाव्य के वीररसप्रधान इतिवृत्त में ही पूर्णतया नहीं रम सकी है, फिर संयमधन साधु द्वारा ठेठ कामुकता का चित्रण, उस कथानक में, जिसकी परिणति भोमत्याग में होती है, कहीं तक उचित है, यह प्रश्न उपस्थित होने पर, कहना होगा कि पुण्यकुशल ने, इस प्रसंग में, माघ का आवश्यकता से अधिक अनुकरण किया है।

१७. स्वीयमंसमधिरोषिता नायिता चित्तकामममुना ह्यशारदा। भ.बा. महाकाव्य, ७.२१ तथा ७.३७, ४१-४२.

१८. कलहान्तरिता— ७.५६, खण्डिता, न. ३७-३८, आदि।

१९. तुलना कीजिए— उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिश्रमलोलुपोज्यः।

प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण त्वमिति मुग्धबधूमुदास दोर्भ्याम् ॥

शिशुपालवध, ७.४६

काचिदुन्नतमुखी प्रतिद्रुमं हस्तदुर्लभतमप्रसूनकम्।

स्वीयमंसमधिरोष्य नायिता चित्तकामममुना ह्यशारदा ॥

भ.बा. महाकाव्य, ७.२१

तथा शिशुपालवध, ७.४७, भ.बा. महाकाव्य, ७.४१-४२; शिशु., ७.४५, भ.बा. महाकाव्य, ७.३६; शिशु. ७.५२, भ.बा. ७.३१. आदि।

माघ तथा पुण्यकुशल दोनों ने नायक की सेवा में अवतीर्ण छह परम्परागत ऋतुओं का वर्णन किया है। माघ का पूरा ऋतुवर्णन (षष्ठ सर्ग) यमक से आच्छादित है, पुण्यकुशल ने केवल शरत् के वर्णन में यमक का आश्रय लिया है, वह भी षड्-ऋतु-वर्णन^{२०} से पृथक्, पंचम सर्ग में। पुण्यकुशल का यमक अर्थबोध में अधिक बाधक नहीं है। माघकाव्य के समान भ. बा. महाकाव्य के दोसर्गों में युद्ध का वर्णन किया गया है। भरत-बाहुबलि की सेनाओं के युद्ध का वर्णन पुण्यकुशल के किसी भी उपजीव्य काव्य में उपलब्ध नहीं है, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। भ. बा. महाकाव्य का यह सैन्ययुद्ध (सर्ग १५) निश्चित रूप से माघ के अठारहवें सर्ग में वर्णित श्रीकृष्ण और शिशुपाल की सेनाओं के घनघोर युद्ध से प्रेरित है। पुण्यकुशल के चौदहवें तथा द्वादहवें सर्ग चरितकाव्यों के युद्धवातावरण का आभास देते हैं। इनमें सैनिकों के तैयारी होने, योद्धाओं की वीरता का परिचय, वीरों के सिंहनाद, कबन्धों के नर्तन, हाथियों के चिंघाड़े आदि रूढ़ियों का तत्परता से पालन किया गया है। “इन रूढ़ियों की परम्परा माघकाव्य से प्रारम्भ होकर चरितकाव्यों से होती हुई हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यों (तथा संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों) तक आती दिखाई देती है”^{२१}। माघ तो उन्नीसवें सर्ग में चित्रकाव्य के व्यूह में फँस गये हैं, पुण्यकुशल ने सेनाओं के युद्ध का अतीव रोचक वर्णन किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यह सर्ग युद्ध की अपेक्षा कवि की काव्यशक्ति तथा कल्पना की कमनीयता को अधिक व्यक्त करता है। सम्भवतः इस सर्ग के द्वारा पुण्यकुशल ने माघ के चित्रकाव्य का विरोधी ध्रुव उपस्थित किया है। भरत और बाहुबलि का द्वन्द्वयुद्ध यद्यपि त्रिषष्टिशालकापुरुषचरित का अनुगामी है, किन्तु उसकी प्रेरणा पुण्यकुशल को भारवि के किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध में दर्शित द्वन्द्व-युद्धों से भी मिली होगी। छठे सर्ग का पुरसुन्दरियों का वर्णन शिशुपालवध के तेरहवें सर्ग में कृष्ण को देखने को लालायित स्त्रियों के वर्णन से प्रभावित प्रतीत होता है, यद्यपि दोनों का लक्ष्य भिन्न है। कदाचित् कालिदास के वर्णन भी कवि के अन्तर्मान में रहे हों। शिशुपालवध तथा भ. बा. महाकाव्य दोनों का केन्द्र-बिन्दु युद्ध है। फलतः दोनों काव्यों में वीररस की प्रधानता है किन्तु शृंगार का चित्रण कुछ इस प्रकार किया गया है कि वह अंगीरस पर हावी हो गया है। माघ का काव्य अपने स्वाभाविक अन्त-शिशुपाल के वध-तक पहुँच कर ही विरत हुआ है, भ. बा. महाकाव्य में युद्ध का उन्नयन होता है।

इतना होने पर भी पुण्यकुशल ने माघ की गाढ़बन्ध शैली, भाषात्मक

२०. भ. बा. महाकाव्य, १८.१-५७

२१. डॉ० श्रीलालशंकर ध्यास : संस्कृत-कवि-दर्शन, बनारस, १९५५ पृ० १७८

कृत्रिमता, अतिशय अलंकरण तथा चित्रकाव्यात्मक कलाबाजियों को ग्रहण नहीं किया। सम्भवतः उसके उद्देश्यों ने उसे इस चाकचिक्च के मोह से बचने का सम्बल दिया है। दूसरे का ऋण लेकर भी अपनी मूल पूंजी को कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है, भ. बा. महाकाव्य इसका उत्तम उदाहरण है।

रसविधान

भ. बा. महाकाव्य जैन साहित्य की उन इनी-गिनी कृतियों में है, जिनकी रचना प्रत्यक्षतः धार्मिक प्रयोजन से नहीं अपितु सहृदय को रसास्वादन कराने के लिये हुई है। इसलिये उसमें कवि का प्रचारवादी स्वर बहुत मन्द, लगभग अश्रव्य, है। पुण्यकुशल ने उपयुक्त स्थितियाँ चुन कर मानव-हृदय की भावनाओं की रसात्मक अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार की है कि उसका काव्य गहन रसानुभूति से ओतप्रोत हो गया है। संख्या की दृष्टि से तो इसमें अधिक रसों का पल्लवन नहीं हुआ है, किन्तु जिन रसों की निष्पत्ति काव्य में हुई है, उनमें इतनी तीव्रता तथा गम्भीरता है कि केवल इस दृष्टि से भी भ. बा. महाकाव्य का स्थान संस्कृत काव्यों में बहुत ऊँचा है।

युद्ध-प्रधान रचना होने के कारण इसमें वीर रस की प्रधानता मानी जाएगी। वीर रस की अभिव्यक्ति के लिये काव्य में स्थान भी कम नहीं है। पन्द्रहवें सर्ग में क्रमशः जिपक्षी सेनाओं के युद्ध और भरत एवं बाहुबलि के द्वन्द्वयुद्ध के वर्णन में वीर रस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु भ. बा. महाकाव्य में शृंगार के उभय पक्षों का चित्रण इतनी तत्परता तथा विस्तार से किया गया है कि उसके सम्मुख वीररस मन्द-सा पड़ गया है। काव्य के मध्य भाग को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह आमूलचूल शृंगार का काव्य है। सफेद सूती कपड़े के बीचों-बीच यह रंगीन रेशमी थिकली हास्यजनक है परन्तु उससे वस्त्र का आकर्षण बढ़ा है, इसमें सन्देह नहीं। पुण्यकुशल रस-योजना में भी माघकाव्य का ऋणी है। माघ के समान ही उसने शृंगाररस को अनपेक्षित महत्त्व देकर, अपने इतिवृत्त में, वीर रस का विरोधी ध्रुव प्रस्तुत किया है।

भ. बा. महाकाव्य का चौदहवाँ सर्ग सेनाओं के समरांगण में उतरने, थोड़ाओं का परिचय तथा उत्साहवर्धन आदि पूर्वरंग की साजसज्जा का संकेत करता है। पन्द्रहवें सर्ग में सेनाओं के त्रिविधसीय युद्ध के वर्णन में धनुषों की टंकार, तलवारों की टकराहट, कबन्धों के नृत्य, रक्त की नदियाँ प्रवाहित होना आदि उन वीररसात्मक रूढ़ियों का तत्परता से निर्वाह किया गया है, जो संस्कृत के चरितकाव्यों तथा हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यों का अनिवार्य अंग बन गयी थीं। चक्रवर्ती भरत तथा तक्ष-शिला-नरेक्ष बाहुबलि की सेनाओं का यह प्रलयकारी युद्ध इसी रण-शैली को चोखत

करता है जिसके फलस्वरूप समरभूमि प्रेतराज की राजधानी-सी प्रतीत होती है। भरत और बाहुबलि के द्वंद्वयुद्ध में वीररस का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से उनके युद्धयुद्ध का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। दोनों वीर पूर्ण निष्ठा से एक-दूसरे को पराजित करने को उतारू हैं।

तौ धूमिललिततनू विकीर्णकेशौ स्वेदोद्यज्जलकणराजिभालपटौ ।

रेजते रणभुवि शंशबंकलीलास्मर्ताराविध न हि बिस्मरेत् स्मृतं यत् ॥

शंबेनाचलमिव नायकः सुराणां चक्रेशो द्रद्धिमञ्जुषाडय मुष्टिना तम् ।

जण्डत्वादुरसि जघान सोऽपि अग्रे वैभ्रुयोपचितवपुस्तदीयधातात् ॥

जण्डवासानिलपरिपूर्णानसिकौऽसौ तद्घातोच्छलितरुषा करालनेत्रः ।

निःसक्तं प्रति भरतं तदा दद्याध भोगेन्द्रं गरुड इवाहितापकारी ॥१७।४१-४३

उपर्युक्त युद्धवर्णनों के अतिरिक्त नवें सर्ग में भरत को प्रोत्साहित करने वाली सेनापति सुपेण की उक्तियाँ^{२२} तथा ग्यारहवें सर्ग में वीरपत्नियों की उत्साहवर्द्धक उक्तियाँ^{२३} वीररसोचित दर्प तथा स्थानिमग्न से परिपूर्ण हैं। सेनापति की मान्यता है कि बलपूर्वक ध्वंशित शत्रु की भूमि, सुरतमन्विता कामिनी की तरह, अधिक आनन्द देती है। वीर के लिये युद्ध उत्सव के समान है जो कनकर में भी वीरता का संचार करता है।

हृदाद् रिपूणां वसुधा विशेषात् क्राप्ता मृगश्रीव सुखाम पुंक्षाम् ।

उत्तममेते समस्तेस्सवे हि किं कातरत्वं विद्यधाति क्षीरः ॥ १।६२

परन्तु जैन कवि की अहिंसावादी वृत्ति तुरंत युद्धजन्य संहार के प्रति विद्रोह कर उठती है और उसे युद्ध विष के समान त्याज्य प्रतीत होने लगता है^{२४}।

पुण्यकुशल का मन वीररस से भी अधिक शृंगाररस के वर्णन में रमता है। उसकी भाषा में शृंगार मुख्य रस है और तारी शृंगार रस का 'केलिवृह'^{२५}। भ.वा. महाकाव्य में शृंगार रस के परिपाक के लिये कई प्रसंग हैं। वनविहार तथा चंद्रोदय के वर्णन, इस दृष्टि से, बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें क्रमशः सैनिक युवकों की विज्ञासचेष्टाओं तथा सुरतक्रीड़ाओं का वर्णन किया गया है। पुण्यकुशल का

२२. भ.वा. महाकाव्य, ६.५८-६३

२३. वही, ११.२०-४०

२४. संमरो गर इवाकलनीयः। वही, १६.२१

विग्रहो न कुसुमरणि कार्यः। वही १३.३४

गोर्वाणो गरमिति संगरं तदावेत्। वही, १७.२८

कलहं तमवेहि हलाहलकम्। वही, १७.७०

२५. रसस्य पूर्वस्य च केलिसद्यभिः। वही, १.३६

शृंगार कालिदासोत्तर कवियों की कोटि का शृंगार है। वे कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक वाच्यप्रणाली का आश्रय ले लेते हैं। फलतः भारवि, माघ आदि की भांति उनका शृंगारिक चित्रण अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। “वह क्षणिक उत्तेजना भले ही पैदा कर दे, भावित प्रभाव नहीं डाल सकता।” इन वर्णनों में पुण्यकुशल माघ की तरह शृंगार का कवि न रह कर काम-कला का कवि बन गया है।

इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रसंगों में शृंगार के कई सरस चित्र मिल सकते हैं। एक नायिका फूल तोड़ने के लिए वृक्ष पर चढ़ना चाहती है। वह चढ़ने में समर्थ है किन्तु प्रिय का स्पर्श पाने की अभीरता के कारण उसने गिरने का ढोंग रचा। नायक ने तत्क्षण उसे भुजाओं में भर लिया। इस प्रक्रिया में उस कामाकुल नायिका की कंबुकी टूटकर गिर गयी। केवल अचोवस्त्र, शेष रहा। लज्जा से उसकी आँखें बन्द हो गयीं। यह स्पर्श का सुख था।

पुष्पशाखिसिखरावबद्धये शक्तुबत्यपि च काचिदिच्छति ।

मन्मथाद्वयदयितांगसंगमं पूज्वकार पतिताहमित्यगात् ॥

धारिता प्रियभुजेन सा दृढं स्कन्धलग्नलतिकेव तत्क्षणात् ।

नोवीबद्धसिचयावशेषका ह्रीनिमीलितनयना व्यराजत ॥ ७.४१-४२

कोई नायिका प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। सखी को बाहर जाने का संकेत करते हुए उसने शिकायत की, सखी ! देखो, वह कितना निष्ठुर है ? आने का नाम भी नहीं लेता। सखी उसका अभिप्राय समझकर बाहर चली गयी। ज्योंही प्रियतम ने घर में कदम रखा, नायिका ने किवाड़ बन्द कर लिये।

काचिद् वितर्क्यागममात्मभर्तुः प्रियालि ! पश्यायमुपैति नेति ।

छलादित्तीयं विजनं चकार पश्चात् प्रियाप्तौ च ददौ कपाटम् ॥ ८.२५.

किसी नायक ने जल्दी से आकर नायिका का आलिङ्गन किया। नायिका को उससे संतोष नहीं हुआ। उसने व्यंग्य करते हुए कहा—मैं जानती हूँ, तुम्हारे हृदय में कोई अन्य सुन्दरी स्थित है। उसे कष्ट न हो, इसीलिए तुम मेरा गाढालिङ्गन नहीं कर रहे हो।

ससम्भ्रमं काचिदुपेत्य कान्ता श्लिष्टा प्रियेणेति जहास कान्तम् ।

हृदि स्थिता या तुदति त्वदीये गाढं न संश्लेषमतो विधत्से ॥ ८.२६

और यह सम्भोग का खुला निमंत्रण मर्यादा की समूची सीमाओं को लांघ गया है। यह व्यभिचार की पराकाष्ठा है।

एहि एहि वर ! देहि मोहनं नेतरानु हृदयं विधेहि रे । ७.३७

ये पुण्यकुशल के ठेठ विलासी निश्रों में से हैं जिनकी तुलना भारवि तथा

माघ के घोर वासनामय वर्णनों से की जा सकती है।^{१५} स्वयं पुण्यकुशल का शृंगार-वर्णन वासना से मुक्त नहीं है। परन्तु अश्वघोष की तरह संयमधन जैन साधु को नारी शीघ्र ही विकर्षणकारी तथा तप की बाधक प्रतीत होने लगती है।^{१७}

सैनिक युगलों की भावी वियोगजन्य विकलता तथा सेना के प्रस्थान के पश्चात् योद्धाओं की पत्नियों की मानसिक वेदना में विप्रलम्भ का दंश है। उनकी विह्वलता को कवि ने सूक्ष्मता से अंकित किया है। वे डबडवायी आँखों से प्रिय के पगचिह्नों को ढूँढ़ने का प्रयास कर रही हैं। वे उस स्थान को छोड़ने को कदापि तैयार नहीं, जहाँ उनके प्रियतमों ने उनसे विदा ली थी। विरह में प्रियतम से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति यह रागात्मक आसक्ति बहुत स्वाभाविक एवं हृदय-स्पर्शी है।

वियोगतः प्राणपतेः पतन्ती विसंस्थुलं पाणिघृतापि सख्या ।

चैतन्यमापय्य च तालवृन्तानिलैरनामि स्वगृहं मृगाशी ॥

अभुञ्जती स्थानमिदं विमोहात् प्रेयःपदन्यासमनुव्रजन्ती ।

काचिद् गलद्वाष्पजलाबिलाक्षी सख्येरिताप्युत्तरभार्यकन् ॥ ६.२०-२१

भ.बा. महाकाव्य में विप्रलम्भ की तीव्रतम व्यंजना कदाचित् योद्धा के इस प्रयाणकालीन चित्रण में हुई है। प्रस्थान का समय निकट आने पर उस वीर सैनिक की प्रेयसी विरहव्यथा से भुरझा गई। प्रिया की विकलता देखकर उसके धीरज का बांध टूट गया, उसकी आँखें छलक उठीं और वह मुंह झुकाकर चुपचाप रणभूमि को चल पड़ा। 'न्यागाननः' में असीम ह्वनि है, जिसकी कल्पना सहृदय कर सकता है।

वियोगदीनाक्षमवेक्ष्य वक्त्रं तदैव कस्याश्चन संगराय ।

वाय्वाम्बुपूर्णाक्षियुगः स्वसौधान्न्यागाननः कोऽपि भटो जगाम ॥ ६.७

दूत से स्रक्वर्ती भरत का अपमानजनक सन्देश सुनकर बाहुबलि के क्रोध का ओर-छोर नहीं रहता। आवेश से उसका शरीर लाल हो जाता है और आँखों में खून उतर आता है। उसकी इन चेष्टाओं में रौद्ररस के अनुभावों की प्रबल अभिव्यक्ति है, जो अनुभाव-चित्रण में कवि की कुशलता द्योतित करती है।

क्षिपन् गुंजारणे नेत्रे बिभ्रसे इव वारिधिः ।

कोपवीचीचयोत्रेकात् स्वदोर्दण्डतटोपरि ॥

अभिमान्तमिबान्तस्तु बहिर्यातुमिबोद्धतम् ।

धरन् शौर्यकुदमन्तं ब्रुटधदंगदबन्धनः ॥

२६. किरातार्जुनीय, ८.५१, शिशुपालवध, ७.४६

२७. कामिनी हि न सुखाय सेविता । भ.बा. महाकाव्य, ७.४०

अंगारधामोस्तपसां वधूस्त्वं हित्वा । वही, १०.४४

वहन् बालातपरक्तसानुस्वर्णाविविभ्रमम् ।

वपुषा कोपताम्रेण स ततोन्मत्त्यशालिना ॥ ३.२-४

अनुभावों के निरूपण में पुण्यकुशल की यही निपुणता, बाहुबलि की ओजपूर्ण चुनौती से भयाक्रान्त दूत की स्थिति के अभिराम चित्रण में प्रकट हुई है। प्रणिपात के प्रस्ताव की घृणापूर्ण अस्वीकृति तथा बाहुबलि के शौर्य के तेजस्वी बखान से दूत की घिग्गी बंध जाती है। उसे कंपकंपी छूट जाती है, सिर से पगड़ी गिर जाती है और रोम पसीने से तर हो जाते हैं। ये भयानक रस के अनुभाव हैं।^{१८}

भ.बा. महाकाव्य का पर्यवसान शान्तरस में होता है। महाभिमानी बाहुबलि और राज्यलोभी भरत दोनों, विभिन्न मार्गों से, केवलज्ञान के एक ही बिन्दु पर पहुँचते हैं। देवताओं से यह जानकर कि मान का परित्याग करने से बाहुबलि को कैवल्य की प्राप्ति हो गयी है, भरत को भी निर्वेद उत्पन्न हो जाता है। उसकी इस मनोभूमि में उस शान्तरस का कल्पतरु प्रस्फुटित होता है, जो, कवि के शब्दों में, सचमुच सरस है—भज शान्तरसं तरसा सरसम् (१७।७४) ।

ता राजद्वारा नरकस्य कारास्ते सर्वसाराः कलुषस्य धाराः ।

शनैः शनैश्चक्रभूताश्च तेन प्रपेदिरे बान्धववृत्तवृत्त्या ॥ १८.७२

उपाधितो भ्राजति वेह एष न च स्वभावात्कथमत्र रागः ।

तत्त्वाध्वपेयैः सुखितः प्रकामं न स्वीभवेज्जीवः विचारयैतत् ॥ १८.७६

एकान्तविषयसितया प्रतीतः पिण्डोऽयमस्मादतः कात्र सिद्धिः ।

विधीयते चेत्पुच्छं न किञ्चिद् देहश्च वंशश्च कुलं मृषैतत् ॥ १८.७७

प्रकृतिचित्रण

भ. बा. महाकाव्य कवि के प्रकृति-प्रेम का निश्छल उद्गार है। षड्-ऋतु, सन्ध्या, चन्द्रोदय, रात्रि, सूर्योदय आदि के अन्तर्गत पुण्यकुशल को प्रकृति के अनेक हृदयग्राही चित्र अंकित करने का अवसर मिला है। कवि का प्रकृति के प्रति कुछ ऐसा अनुराग है कि वह कथावस्तु को भले ही भूल जाए किन्तु प्रकृति-चित्रण में सदैव तत्पर रहता है। शुद्धप्रधान काव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य का यह साग्रह वर्णन कवि के प्रकृति के गम्भीर अध्ययन तथा सहज सहानुभूति को प्रकट करता है। भ. बा. महाकाव्य में प्रकृति की विभिन्न मुद्राएं देखने को मिलती हैं। कहीं वह मानव-सुलभ कार्यकलाप में रत है, कहीं उसका रूप मानव-हृदय में गुदगुदी पैदा करता है और कहीं वह समस्त आडम्बर छोड़कर अपनी नैसर्गिक रूप-माधुरी से उसके भावुक हृदय को मोह लेती है। तत्कालीन काव्य-परम्परा के अनुरूप यद्यपि भ.बा. महाकाव्य का प्रकृति-चित्रण वक्रोक्ति पर आधारित है, किन्तु पुण्यकुशल के प्रकृति-प्रेमी कवि ने प्रकृति

के आलम्बन पक्ष की उपेक्षा नहीं की। उसकी कुशल तूलिका ने प्रकृति के सहज रूप को भी अपने स्पर्श से दीपित कर दिया है, यद्यपि ऐसे वर्णन काव्य में अधिक नहीं हैं।

वर्षाकाल की मलिनता के पश्चात् शरत् में चारों ओर स्वच्छता का सा आनन्द छा जाता है। कमल विकसित होने लगते हैं, ईश्वर से भर जाता है, मानस से लौटे हुए हंसों का मधुर कलरव सुनाई पड़ता है और ओस के कणों से युक्त शीतल पवन के झकोरों से दाँत किटकिटाने लगते हैं। काव्य में ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत शरत् के इन तत्त्वों का मनोरम चित्रण हुआ है^१।

शरद्वर्षाप्रसन्नविशुद्धिर्बिकसन्तश्चञ्चलज्वनानि चासन् ।

मरालबालैर्दधिरैः प्रसीदाः किं शारदी नः समयो हि नेदुम् ? १८.४६

बहन्नावध्यायकणान् कुशानुध्वजाधिकस्यावतनुष्वधार ।

मुहुर्मुहुर्धावितदन्तवीणः शैत्यप्रधीनः सिस्त्रिस्तुगोष्ठ्य ॥ १८.४७

भ. बा. महाकाव्य में प्रकृति के आलम्बनपक्ष की ओर भले ही अधिक ध्यान न दिया गया हो, उसके आलंकारिक वर्णन में कवि ने विशेष रुचि ली है। प्रकृति के अलंकृत वर्णन के अन्तर्गत कविगण अधिकतर दूरारुह कल्पनाएँ करते हैं अथवा यमक के जाल में फँस जाते हैं। शरद्-वर्णन में यमक का निर्बाध प्रयोग पुण्यकुशल ने भी किया है, किन्तु उसका उद्देश्य इसके द्वारा शरत् का सहज-अलंकृत चित्र अंकित करना है। इसलिये उसकी प्रकृति यमक के गोरखधन्धे में फँस कर भी बराबर काव्य की रंगभूमि में बनी रहती है। यमक के इस महीन आवरण के नीचे प्रकृति का सहज रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

अहति चित्तमुपास्यति कामिनां कमलिनीमलिनीकुलैर्सीधिताम् ।

जलदमुक्तया निशि निर्मलं सितरुचं तरुचञ्चिरुचं पुनः ॥

नृप ! तनुभवति क्रमतोऽधुना वनबलं नवलम्भितसस्यकम् ।

स्फुटदिलोकयमानतटान्तरं प्रमदयन् यवयन्नलिनीदलैः ॥ ५।१०-११

पुण्यकुशल के अन्य प्रकृति-वर्णन वे हैं, जो अप्रस्तुतों पर आधारित हैं। इस सम्बन्ध में उसने अधिकतर उत्प्रेक्षा तथा उपमा का आश्रय लिखा है^२, जिससे उसका प्रकृति-वर्णन कल्पना से तरलित हो गया है और कर्ष्य विषय में हृदयंगमता आई है। इस दृष्टि से आठवें सर्ग का रात्रिवर्णन बहुत सुन्दर है क्योंकि उसमें प्रयुक्त अप्रस्तुत बहुत मार्मिक हैं। नीले आकाश में छिटे हुए तारे ऐसे लगते हैं मानों महल की

२६. काव्य में प्रकृति के आलम्बनपक्ष के चित्रण के अन्य स्थलों के लिये देखिये,

१३:४७, १८.३६, ३६, ४३, ४४

३०. भ. बा. महाकाव्य, १८.२६, २८, २९, ३८ तथा ८.१४

इन्द्रनील मणियों की छत पर सजाए गये दीपक हों। जुगनू विरहिणियों की वियोगाग्नि के स्फुलिंग प्रतीत होते हैं। तारों के मोतियों से भरा आकाश ऐसा शोभित हुआ मानों चन्द्रमा के स्वागत के लिये रजनी-नायिका के सिर पर रखा हुआ वैडूर्यमणियों का थाल हो। सूर्यास्त के पश्चात् अन्धकार चोर की तरह दिशाओं में फैल गया।

आकाशलोचं रजनीश्वरस्य महेन्द्रनीलारमनिबद्धपीठे ।

प्रादुर्बभूवुः परितो दिगंतांस्ताराः प्रदीपा इव वासरान्ते ॥

वियोगिनीनां विरहानलस्य निःश्वासधूमावलिषूत्रघाम्नः ।

स्फुटाः स्फुलिगा इव पुस्फुरश्च खल्लोतसंघातमिषासवानाम् ॥

नमःस्थलं तात्कर्मोक्तिकाढ्यं विभावरोभीरुशिरोविराजि ।

राजागतेर्मंगलसंप्रवृत्त्यं वैडूर्यकस्थालमिव व्यभासीत् ॥

अस्तं प्रयाते किल चक्रबन्धावनुद्यते राजनि तेजसाह्वये ।

धीरैरिव ध्याहृतदृष्टिचारंस्तमोभरं ध्यानशिरे दिगंताः ॥ ८.८-११

भ. वा. महाकाव्य के प्रकृतिचित्रण की विशेषता यह है कि उसमें प्रकृति ने बहुधा मानव की भूमिका का सफल निर्वाह किया है। काव्य में मानव तथा प्रकृति का इतना घनिष्ठ सामंजस्य है कि यह कहना असम्भव हो जाता है कि कहां मानव-वर्णन समाप्त होता है और कहां प्रकृति-वर्णन प्रारम्भ होता है। पुण्यकुशल ने प्रकृति पर मानव-चेतना को इस कौशल में आरोपित किया है और वह इस सहजता से मानवीय भावनाओं से अनुप्राणित है कि पाठक क्षण भर के लिए भूल जाता है कि वह प्रकृति का वर्णन पढ़ रहा है। ऋतु-वर्णन, सूर्यास्त तथा चन्द्रोदय के अन्तर्गत तो प्रकृति में मानव-हृदय का स्पन्दन सबसे अधिक सुनाई पड़ता है।

सन्ध्या-वर्णन में दिन को स्वामिभक्त अनुचर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार निष्ठावान् सेवक को स्वामी के मरने के पश्चात् जीवन नीरस तथा आकर्षण-शून्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार सूर्य के अस्त होने पर उसका अनुयायी दिन सन्ध्या की चिता में जल कर मर गया है। अंधकार के व्याज से चिता का धुआं चारों ओर फैल रहा है।

अस्तंगते भानुसति प्रभौ स्वे सन्ध्याचिताह्वयबहे विनेन ।

धूमैरिव ध्यान्तंभरं प्रसन्ने निजं वपुर्भस्ममयं विनेने ॥ ८.७

सूर्य के छिपते ही दिन समाप्त हो जाता है और धीरे-धीरे अंधकार फैलने लगता है, यह सर्वविदित अतिसामान्य तथ्य समासोक्ति का स्पर्श पाकर कविकल्पना-जन्य रोचकता से परिपूर्ण हो गया है।

चन्द्रोदय के प्रसंग की यह समासोक्ति, चन्द्रमा पर कामी की चेष्टाओं के

आरोप पर आधारित है ! रात्रि की नीरवता में जैसे कामी अपनी प्रेयसी का अधो-
वस्त्र खोलकर उसके लावण्य को उद्घाटित कर देता है उसी प्रकार यह देखकर कि
कमलिनियां सो रही हैं और कुमुदिनियां उसकी अन्तरंग सखियां हैं, चन्द्रमा ने तुरन्त
हाथ बढ़ा कर रजनी-नायिका की काली साड़ी खींच दी है। उसका सौन्दर्य चारों
ओर छिटक गया है।

एतद्वयस्याः कुमुदिन्य एताः पश्यन्तु, सुप्ताः पुनरभ्युजिन्यः ।

विधुर्बिचार्येति निशांगनायास्तमित्त्वधासः सहसा चकष्य ॥ ८.५४

पुण्यकुशल ने प्रकृति के उद्दीपन पक्ष का भी चित्रण किया है। किन्तु यह
ज्ञातव्य है कि समवर्ती प्रकृति-वर्णन की शैली के विपरीत पुण्यकुशल ने अपनी
सुरुचि के कारण उसके प्रति अधिक उत्साह नहीं दिखाया है। इससे उसका प्रकृति-
चित्रण उस कुशचिपूर्ण शृंगारिकता से आक्रांत नहीं हुआ, जो माघ आदि के प्रकृति-
वर्णनों में मिलती है।

वसन्त में कोकिलाओं का मादक स्वर, सुरभित बयार तथा चांदनी-भरी
नीरव रातें प्रणयकुपित कामिजनों को मानस्याग के लिए विवश कर देती हैं।

युवद्वयीचित्तदरीनिवासिमानग्रहग्रन्थिभिदो विरावाः ।

पुंस्कोकिलानां प्रसभं प्रसङ्गुर्धनस्थलीषून्मिचितासु पुष्पैः ॥ १८.१३

पयोधिडिड्डीरमितान्तकान्तं पीयूषकान्तेविचक्षार तेजः ।

तेनैव चेतासि बिलासिनीनां चित्तेनिरे मानपरांश्च कामम् ॥ १८.१६

पुण्यकुशल ने पशुप्रकृति का अंकन करने में रुचि नहीं ली है। अवश्य ही
उसकी पैनी दृष्टि पशुजगत् की चेष्टाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने में समर्थ थी।
भ. बा. महाकाव्य में केवल एक स्थान पर, ग्रीष्म की दोपहरी में पानी पीने के लिये
तालाब की ओर दौड़ते हुए पशुओं का अलंकृत चित्रण हुआ है, जो कवि के सादृश्य-
विधान के नैपुण्य के कारण सौन्दर्य से चमत्कृत हो उठा है।

पुण्यकुशल प्रकृति-चित्रण की समसामयिक प्रवृत्तियों से अप्रभावित तो नहीं
रहा, परन्तु अपनी सुरुचि के कारण उसने प्रकृति-चित्रण को न अपने कामशास्त्रीय
पाण्डित्य के दर्शन का अखाड़ा बनाया है और न दूर की कोई फेंकी है, जैसा उसके
आदर्शभूत माघकाव्य में हुआ है।

चरित्रचित्रण

भ. बा. महाकाव्य में भरत और बाहुबलि केवल दो मुख्य पात्र हैं और दोनों
ही काव्य के नायक हैं। भरत के नायक होने में तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता।
उसका चक्रवर्तित्व ही उसे नायक के पद पर प्रतिष्ठित करता है। बाहुबलि, न केवल
केवलज्ञानी है, वह, परिभाषा के अनुरूप, प्रारम्भ से अन्त तक, काव्य की काया में

प्रण के समान स्थापित है। यह भी ज्ञातव्य है कि काव्य का अन्त उसकी पराजय अथवा लक्ष्य से नहीं अपितु उन्नयन से हुआ है। वह हर प्रकार से नायक के पद का अधिकारी है। यदि उसे काव्य का अंगभूत नायक माना जाए, तो उसका विस्तृत वर्णन स्वयंसे होगा, जिसकी आलोचना साहित्यशास्त्रियों ने हयग्रीववधकाव्य के प्रतिनायक के प्रसंग में की है^{११}। सम्भवतः यह कवि को अभीष्ट नहीं है।

भरत तथा बाहुबलि सगे भाई हैं—आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते भरत को, अयोध्यापति के रूप में, पिता का उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता है। बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य मिला।

भरत शीरता तथा प्रताप की साकार प्रतिमा है। वह स्वप्न में उसका अप्रतिहत मन्त्र है। वस्त्र से आहत पर्वतों को सागर की असराशि में क्षरण मिल सकती है मरुतु उसके प्रतापसे मथित विपक्षी राजाओं का त्रिलोकी में कोई व्राता नहीं^{१२} है। उसके अनुजों सहित पृथ्वीतल के समस्त राजा उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। फलतः राजलक्ष्मियां उसे स्वतः प्राप्त हो गयी हैं जैसे सरिताएं स्वयं सागर में पड़च जाती हैं^{१३}। देवता भी उसके तेज से कांपते हैं, कुछ मनुष्य का तो कहना ही क्या? स्वयं केवराज इन्द्र उसे अपने आधे सिंहासन पर बैठा कर सम्मानित करता है। मन्त्रों भ्रमरा भ्रमर्यों में उसके खरी की कल्पना करना आकाश-कुसुम की भांति असम्भव है^{१४}। अपने जन्म से वह इस प्रकार दुर्द्वर्ष बन गया है जैसे मद से हाथी, सिंह से बन, वायु से आग और तृणवानल से सागर^{१५}। संसार में केवल बाहुबलि ही ऐसा व्यक्ति है, जो उसकी अधीनता नहीं मानता, जिसके मन्त्रस्वरूप उसका चक्र आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं हुआ।

प्रतापी सम्राट् होने के नाते वह राज्यलोलुप है। वह समस्त जगत् पर उसी प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित करने को लालायित है जैसे इन्द्र का स्वर्ग पर तथा ग्रहों पर सूर्य का प्रभुत्व है^{१६}। अपनी लिप्सा की पूर्ति के लिये वह सदैव युद्ध

३१. अंगस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम्। यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य। काव्य-प्रकाश, पूर्वा, १९६५, सप्तम उल्लास, पृ. ४४१

३२. भ० बा० महाकाव्य, २.३७

३३. स्वयं तमायाति नरेन्द्रलक्ष्म्यो महीध्रकन्या इव वारिराशिम्। वही, २.३५

३४. सुरा अपि चक्रम्परे मर्त्यकीटास्ततः केऽमी। वही, ११.६३

३५. वही, २.६४

३६. मदेन हस्तीष वनप्रवेशो मृगारिणोवाग्निस्त्रिबाहुनेन।

ऊर्ध्वानलेनेव पयोधिरामाश्रयेण राजाधिकदुःप्रध्वंशः॥ वही, २.४२

३७. वही, २.७७

के लिये तैयार रहता है, चाहे वह युद्ध भाई के साथ ही सड़ना पड़े। यह बात भिन्न है कि मटखण्डविजयी इस चक्रवर्ती को बाहुबलि के साथ युद्ध में स्वयं मुंह की खाली पड़ी है। इन्द्रयुद्ध में उसकी बीरता का परिचय अवश्य मिलता है, किन्तु उसमें वही विजय प्राप्त नहीं कर सका। यदि देवगण हस्तक्षेप न करते तो उसकी स्थिति का सहज अनुमान किया जा सकता था।

राज्य लिप्ता को छोड़कर भरत-शिष्ट तथा क्षात्रीय व्यक्ति है। महात्माओं के प्रति उसे श्रद्धा है। वह युद्ध से पूर्व चैत्य में जाकर आदिप्रभु की अर्चना करता है तथा कैवल्यप्राप्ति होने पर अपने अनुज को भी प्रणिपात करता है। उसकी साम्राज्य-क्षुधा की परिणति, अन्तःशोषणा, केवलज्ञान में होती है।

बाहुबलि का स्वस्तिस्व स्वाभिमान तथा स्वाधीनता-प्रेम की असीम व्याख्या है। दर्पशाली पुरुषों में अग्रगण्य वह प्राण छोड़ सकता है, स्वाभिमान कदापि नहीं। उसे पितृव्य अग्रज की अधीनता भी मान्य नहीं है। भरत का दूत तथा उसका अपना मन्त्री, भरत की अतुलित बीरता का भय विहाकर उसे उसका प्रभुत्व स्वीकार करने को विवश करने का प्रयास करते हैं, किन्तु वह अपनी स्वतन्त्रता का समझौता करने को कदापि तैयार नहीं है। इस सम्बन्ध में वह देवताओं के अनुनय को भी ठुकरा देता है। वह उस सर्वभक्षी उद्भ्रान्तगज को अपनी मुजा के अंकुश से सही मार्ग पर लाने का संकल्प करता है^{३८}। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह हृदयहीन अथवा बन्धुत्व की भावना से शून्य है। अग्रज के दूत के आगमन से उसका हृदय अश्व की चपलताओं की सुधियों से भर जाता है और उसमें भ्रातृ-प्रेम छलक उठता है। उसकी कामना है कि स्नेह से परिपूर्ण उनके बन्धुत्व का दीप 'खेदवात' से सुरक्षित रहे^{३९}। वस्तुतः भरत उसके लिये पितृवत् पूजनीय है किन्तु उसकी प्रभुत्व-स्वीकृति की ललकार से बाहुबलि के स्वाभिमान का नाग फुफकार उठता है।

अस्रप्रसूति मे भ्राता पूज्योऽयं तातपावधत् ।

अतः परं विरोधी मे भ्राता नो तादृशो षु ॥ ३-११

उससे अधीनता स्वीकार करने की भरत की अपेक्षा सिंह से मांस छीनने के समान विवेकहीन है^{४०}।

बाहुबलि साक्षात् शौर्य है। वह सचमुच बाहुबली है। वज्रधारी इन्द्र मन से

३८. भटेर्वृत्तोऽमृन् किल मोक्ष्यते रणे न च स्मर्यं हि प्रथमोऽभिमानिनाम् । अ०

बा० महाकाव्य, १।३६

३९. मद्बोर्दण्डाकुशाघातं बिना मर्त्यं न गत्वरः । वही, ३-१५

४०. वही, २-१६

४१. मत्तः सिहादिव पलं सेवामर्थयते धृषा । वही, ३-१३

भी उसका वर्णन नहीं कर सकता (१.२३)। सुराचार्य से बड़ा कोई विद्वान् नहीं, बाहुबलि से बड़ा कोई बलवान् नहीं^{१२}। वह वैरिवंश के लिये दावाग्नि है, नीति का मण्डप है तथा पराक्रम का सिन्धु है^{१३}। उसके लिये युद्ध उत्सव के समान आनन्ददायी है (१.३०)। उसका विश्वास है कि उसे (बाहुबलि को) पराजित किये बिना भरत का चक्रवर्तित्व अधूरा है। समरांगण में उसके समक्ष आते ही भरत का षट्-खंड-विजय से उत्पन्न अहंकार क्षण भर में चूर हो जाएगा^{१४}। यह मात्र विकल्पना नहीं। द्वन्द्वयुद्ध में वस्तुतः उसके सामने भरत के छवके छूट जाते हैं। हताश होकर भरत जब अपना चक्र छोड़ता है, उसे तोड़ने के लिये वह मुष्टि तान लेता है। संसार को ध्वंस से बचाने के लिये देवगण उसे मुष्टिप्रहार से रोकते हैं।

भरताचरितं चरितं मनसा स्मर मा स्मर केलिभिर्ब्रह्मणः । १७.७३

वह देवताओं का अनुरोध तो मान लेता है और भरत के आचरण को भी भूल जाता है किन्तु उसका कर्म कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। संकल्प और कर्म के सामंजस्य का यही आधार है। वह उसी मुष्टि से केशलुंचन कर तापसयज्ञ ग्रहण करता है और कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त करता है। बाहुबलि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है। उसका व्यक्तित्व अधीनता की अस्वीकृति की सर्वोत्तम व्याख्या है।

दूत

भरत का दूत काव्य का एक अन्य उल्लेखनीय पात्र है। वह अपने कर्म में दक्ष है तथा उसमें दूतोचित शिष्टता है। बाहुबलि की सभा में वह निर्भीकतापूर्वक अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है तथा उसके शौर्य का वर्णन करता है^{१५}। यद्यपि बाहुबलि, इसे अपनी वीरता को चुनौती समझकर, उत्तेजित हो जाता है और उसे अपमानपूर्वक सभा से बाहर निकाल देता है पर वह न अपना सन्तुलन खोता है, न शिष्टता ही छोड़ता है।

स्वामिभक्ति उसके जीवन का सर्वस्व है। वह स्वामी के आदेश का निष्ठा से पालन करता है और सदैव उसका अनुगमन करना अपना कर्त्तव्य मानता है^{१६}।

४२. कः पण्डितः सुराचार्यात् को देवादधिको बली । वही, ११.७७

४३. वही १६.४२-४३

४४. षट्खण्डविजयात् तेन जिष्णुता या त्ववाप्यत ।

अपूर्वजिष्णुतामाप्तुं भक्तस्तामयमीहते ॥ वही, ३.२४

४५. भवांस्तुलां तस्य रथांगपाणेन कांचिदारोहति शौर्यसिन्धुः । वही, २.८७ तथा २.६१, ६५

४६. वयं चराः स्वामिनिदेशनिष्ठाः । वही, २.२७

उसके विचार में जो घर अपने मालिक को छोड़ा देता है अथवा अन्य की तुलना में उसे दुर्बल समझता है, वह बड़वाग्न के समान है, जो निरन्तर अपने आश्रयदाता को ही खाती है”। कर्त्तव्यपालन में ही उसके जीवन की चर्या है”।

सुषेण

भ. बा. महाकाव्य में भरत के सेनानी सुषेण की चर्चा भी हुई है पर उसका चरित्र विकसित नहीं हो सका है। वह स्वामिभक्त, व्यवहारकुशल तथा राजनीतिपटु है। बाहुबलि की चुनौती से भरत के विचलित होने पर सुषेण उसे युद्ध के लिये प्रोत्साहित करता है। उसके तर्कों में व्यावहारिकता तथा वीरता का समन्वय है। उसके विचार में भरत की उपेक्षा के कारण तथा ऋषभ का पुत्र होने के नाते बाहुबलि के पराक्रम की रूपाति हो गयी है। राजा के लिये बन्धुप्रेम आदि की भावुकता निरर्थक है। ‘नृपतिर्न सत्ता’ यह राजा का आदर्शवाक्य है। विजयश्री की प्राप्ति युद्ध में ही होती है”। बाहुबलि के राज्य का वृत्तान्त जानने के लिये गुप्तचर भेजना उसकी राजनीतिक कुशलता का द्योतक है।

भाषा-शैली

भाषात्मक दृष्टि से भ. बा. महाकाव्य संयम तथा सन्तुलन की कृति है। अन्य बातों में भाषाकाव्य से प्रेरित होकर भी पुण्यकुशल ने उसकी गाढ़बन्ध भाषा तथा कृत्रिम शैली को ग्रहण नहीं किया, यह उसकी भाषात्मक सुशिक्षा का परिचायक है। उसके पदविन्यास का माधुर्य उसके प्रत्येक वर्णन तथा प्रसंग को नई आभा प्रदान करता है। लालित्य की अन्तर्धारा उसमें सर्वत्र प्रवाहित है। यह भावानुकूलता तथा प्राञ्जलता भाषा के वे गुण हैं, जो किसी रचना को महान् बनाते हैं। केवल भावात्मक सौष्ठव की दृष्टि से भी भ. बा. महाकाव्य उत्तम काव्यों से होंड़ ले सकता है।

भ. बा. महाकाव्य में भावों तथा उनकी अनुगामी स्थितियों की विविधता का बाहुल्य है। घटना-बहुल इतिवृत्त को नामा प्रसङ्गों से सजा-संवार कर विशाल आकार में प्रस्तुत करने का यह स्वाभाविक परिणाम था। भावों के अनुसार ध्वनियों को सजाने में पुण्यकुशल दक्ष है। परन्तु सहजता तथा कोमलता उसकी भाषा की दो ऐसी विशेषताएँ हैं, जो प्रत्येक भाव अथवा प्रसंग के चित्रण में बराबर बनी रहती हैं। संस्कृत काव्यों में युद्ध का सजीव एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने के लिये

४७. स योस्त्रिबल्लिसमाभतां गच्छति संयचारिः । वही, २.२७

४८. वृत्तत्वं भरतेरास्य कृतं बाहुबलेः पुरः ।

सम कीर्तिश्चरं स्वधुरित्वा मोक्षमुवाह तः ॥ वही, ३.४६

४९. वही, ४.४६, ५५, ५८, ७३

प्रायः ओजपूर्ण समासबहुला पदावली प्रयुक्त की जाती है। जैसा पहले संकेत किया गया है, भ. बा. महाकाव्य के युद्ध-वर्णन भाषा के ओज अथवा प्रौढ़ता की अपेक्षा उसकी मधुरता एवं कोमलता और कविकल्पना की मनोरमता को अधिक ध्येय करते हैं। कठोर प्रसंगों में भी पुण्यकुशल अपनी भाषा को क्लिष्टता से बचाने के लिये कितने प्रयत्नशील हैं, यह वर्णन इसका उत्तम निदर्शन है। भरत तथा बाहुबलि के द्धम्युद्ध में भाषा की उपर्युक्त विशेषताओं का कुछ आभास मिलता है, यद्यपि यहां भी प्रौढ़ता की बजाय समास-बाहुल्य पर अधिक बल है।

संघट्टस्फुरदनलस्फुलिगनश्यत्यौलोमीसिचयविभूतनातितीर्थः ।

आकाशश्वसनरयंविनीतखेदस्वेदाम्भःकणपरिमुक्तवीरवक्त्रम् ॥

षट्छण्डाधिपतिरयं क्रुधा करालो दण्डेन समयमित्र मौलिमाभ्रज्जल ।

तच्छीर्षाधिवसनकल्पितस्थिरत्वं निःशंकं बहलिपतेरुदग्रबाहोः ॥ १७.५४-५५

भरत के सैन्य-प्रयाण के वर्णनों में भी भाषा का लालित्य तथा सौष्ठव दृष्टि गोचर होता है। युद्ध-चित्रण की भांति ये प्रसंग भी कविकल्पना से तरलित हैं। भरत के विजय-प्रयाण के समय चारों दिशाएं सेना द्वारा उड़ायी गयी धूल से ढक जाती हैं। कवि की कल्पना है कि दिशाओं की वधुओं ने प्रभुतासम्पन्न पति से अपना उधड़ा मुंह छिपाने के लिये काला धूँट निकाल लिया है।

अनामृतं पश्यतु मा मुखाम्भसं पतिनः प्रभृतोपपन्नः ।

इतीव रेणुच्छलतो हरिदिग्भः समाददे नीलपटी समन्तात् ॥ २.४१

समरांगण में जाते हुए योद्धाओं को प्रोत्साहित करने वाली वीरपत्नियों की उक्तियों क्षत्रियोचित दर्प से परिपूर्ण हैं। यहां जो प्रांजल समासरहित भाषा प्रयुक्त हुई है, वह सैनिकों को कर्तव्य बोध कराने के लिये बहुत उपयुक्त है। ईदर्भी रीति अपने पूर्ण वैभव के साथ वीरांगनाओं की इन उक्तियों में प्रकट हुई है।

मां बिहाय यथा यासि प्रभमास्त्वं रणांगणे ।

न तथा वीरतां श्लिवागम्यं भवता गृहे ॥ ११.३०

वीरसूजननी तेजस्तु पिता वीरः पुनस्तव ।

त्वमेव साधप्रतं धीर ! वीरपत्नी प्रविश्याहम् ॥ ११.३६

पश्चात्ताप-पीडित भरत को निराशा की तन्त्रा से अजाकर युद्धार्थे प्रेरित करने के लिये सेनापति सुषेण के तर्कों भी वीरोचित दर्प से स्पन्दित हैं किन्तु उनके व्याज से कवि ने राजा के लिये आवश्यक नीति-सिद्धांतों का प्रसिमादन किया है। उनकी भाषा प्रसंगानुकूल सुबोधता के कारण स्पृहणीय है।

प्रणयस्य वशंवदो नृपः स्वहृत्तं कुर्वन्मित्रं विप्रहन्तरे ।

निबसन्नपि विप्रहन्तरे विकृतो व्याधिरत्नं गुणान्निकम् ॥ ५.५७

अनुनीतिमतां वरः क्वचित् क्वचिदीर्घ्यानुसौ क्षितीश्वरः ।

अनुनीतिरपेक्षयाञ्जिता प्रतिपक्षेषु यदायतौ श्रिये ॥ ४.६६

युद्धवर्णन में जहाँ अपेक्षाकृत समासगर्भित शैली की प्रधानता है, वहाँ शृंगार के चित्रण में उसकी सहजता उल्लेखनीय है। पुण्यकुशल ने संयोग तथा विप्रलम्भ की पदावली में भी, पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप, विवेक करने का प्रयत्न किया है। विप्रलम्भ की भाषा विचित्र दैन्य तथा असहायता से अनुप्राणित है, जो विरही हृदय की वेदना को बिम्बित करती है^{१०}। इसके विपरीत सम्भोग शृंगार के निरूपण में प्रयुक्त पदशय्या आह्लाद तथा यौवनमुल्लस उल्लास से ओतप्रोत है। सातवें सर्ग में वनविहार तथा जलक्रीड़ा के अन्तर्गत प्रेमी युगलों की शृंगारिक चेष्टाओं को जिस भाषा में व्यक्त किया गया है, वह रसराज की सृष्टि के लिये यथोचित वातावरण निर्मित करती है^{११}।

अवसरानुकूल भाषा उद्देश्यपूर्ति में सहायक होती है, पुण्यकुशल इस मनो-वैज्ञानिक तथ्य से सुपरिचित है। देवगण बाहुबलि को मुष्टिप्रहार से विरत करने के लिये कलह के दुष्परिणाम, आत्मसंयम तथा मर्यादापालन की जो युक्तियाँ देते हैं, अनुप्रास की माधुरी तथा प्रांजलता ने उनकी प्रभावशालिता को दूना कर दिया है। निम्नोक्त पदावली में असीम कोमलता तथा मधुरता है।

अयि बाहुबले कलहाय बलं भवतो भवदायतिचार किमु ।

प्रजिघांसुरसि त्वमपि स्वपुरुं यदि तद्गुरुशासनकृत् क इह ॥

कलहं तमवेहि हलाहलकं यमिता यमिनोऽप्ययमा नियमात् ।

भवती जगती जगतोऽशसुतं नयते नरकं तदलं कलहैः ॥ १७.६६-७०

पुण्यकुशल की तूलिका शब्दचित्र अंकित करने में निपुण है। उसके शब्दचित्र वर्ण्य विषय के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करके प्रस्तुत किए गये हैं। फलतः उनके अध्ययन से विषय अथवा व्यक्ति के समूचे गुण तथा व्यक्तित्व की समग्रता सहसा मानस पर अंकित हो जाती है। बाहुबलि हो अथवा आदिदेव का चैत्य, तक्षशिला का निकटवर्ती कानन हो अथवा सीमावर्ती मन्दाकिनी, पुण्यकुशल की प्रतिभा के स्पर्श से सभी विषय दीपित हो गये हैं। सिंहासनासीन बाहुबलि के प्रस्तुत चित्र में उसकी तेजस्विता भूर्त हो उठी है।

५०. जहीहि मोनं रचयात्मकृत्यं सखीजने वेहि दशं मुगासि ।

ब्रह्मासि किं घलकुमुदशां संबोध्य नीतेसि च कश्चिवात्म्य ॥ वही, ६.२८

५१. सोनमेवमनयापुदीरिता यावदाजितवती त्यधोमुखी ।

तावदेव सहसा लतान्तराच्छिन्नलघे प्रणयिनाऽथ मानिनी ॥ वही, ७.६३

अपूर्वपूर्वाग्निभिर्बाधुमालिनं महामृगेन्द्रासनमप्यधिष्ठितम् ।

महोभिरुद्दीपितसर्वदिग्मुखैर्बपुर्दुरालोकमलं च विभ्रतम् ॥ १.७३

मृजद्वयोशीर्यंमिवाक्षिणोच्चरं चरो महोत्साहमिवागिनं पुनः ।

चकार साक्षादिष मानमुन्नतं बलुन्दरेशं क्षुब्धध्वजांगजम् ॥ १.७४

इस प्रकार भ. बा. महाकाव्य की भाषा की विभिन्नता, कृत्रिमता अथवा क्लिष्टता और प्राञ्जलता वाली विविधता नहीं बल्कि सौष्ठवपूर्ण सुबोधता तथा कम सुबोधता के बीच की भिन्नता है। अपने आदर्शभूत माघकाव्य के विपरीत जाकर पुण्यकुशल ने भाषायी सहजता का कीर्तिमान स्थापित करने का दलाघ्य प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने पर भी भ. बा. महाकाव्य की भाषा कुछ विचित्र त्रुटियों से दूषित है। इसमें अनेक ऐसे दोष दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी काव्य-शास्त्रियों ने निन्दा की है। 'यत्तदोनिस्सम्बन्धः' का पालन करते हुए ६।४८ में 'सः' की तुलना में 'यः' का दो बार प्रयोग अक्षम्य है। साहित्यशास्त्र में यह दोष 'अधिक' नाम से ख्यात है। नीतोऽहमिन्द्रत्वमहं त्विदानीम् (२-२०), में 'अहं', 'त्वत्प्रतापदहने त्वदरीणाम्' (६.४५), में 'त्वत्', जलस्थपालिस्थितपद्मिनीभिः (८.३) में 'स्थित', स्वस्वार्थचिन्ताविधिमाततान (११.१२) में 'स्व' पद अधिक है। भ. बा. महाकाव्य में कहीं-कहीं अर्थहीन पादपूरक निपातों का उदारता से प्रयोग किया गया है। 'तु' कवि का प्रिय निपात प्रतीत होता है। १.३१ में दो बार तथा १.३२, ४.४४ ४.५३, १७.६७, १७.६८ में इसका एक-एक बार प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है। कतिपय धातुओं तथा शब्दों को पुण्यकुशल ने ऐसे अर्थों में प्रयुक्त किया है, जिनमें उनका विधान नहीं है। अवति (३.१०६), चकते (४.६०) तथा अनुनयनम् (५.४८) क्रमशः जनयति, बिभेति तथा प्रसाधन के वाचक नहीं है। 'नैदिभया त्रस्तमही-धराणाम्' (२.३७), तत्रातंककृदातंकः (३.७६), बाणघातभीत्येव भीतः (६.४६), तीक्ष्णांशुतप्या परितप्यमानाः (६.४५) में पुनरुक्तता है। काव्य में कुछ शब्द ऐसे अप्रचलित अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें यद्यपि उनका प्रयोग विहित है किन्तु उनमें उन अर्थों के बोध की शक्ति नहीं है। हंस (सूर्य), वडवामुल (पाताल), जराभीरु (काम), मदन (मोम) इस कोटि के शब्द हैं^{११}। शास्त्रीय भाषा में यहाँ 'असमर्थ' दोष है। 'रक्ताक्षवजभगिनीतरंगमुल्लाम्' (१६.१५) में यमुना अर्थ की प्रतिपत्ति में व्यवधान होने के कारण 'क्लिष्टता' दोष है। अस्मद्वृद्धिपरिवर्धके रवी मेष कुप्यतु (७.८) तथा किलासनेहेष्वचिशय्य (१८.५६) में सप्तमी अपाणिनीय है।

अर्थान्तरन्यास का व्यापक प्रयोग होने के कारण भ० ब० महाकाव्य सूक्तियों

का विशाल भण्डार बन गया है। अर्थान्तरम्यास के अतिरिक्त इन सूक्तियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, काव्यालिंग आदि का परिधान भी धारण किया है। ये सूक्तियाँ कवि के जीवन के विविध पक्षों के अध्ययन, संवेदनशीलता तथा व्यावहारिक ज्ञान की परिचायक हैं। कतिपय रोचक सूक्तियाँ यहां पाठकों के विनोदार्थ उद्धृत की जाती हैं।

कर्म न लुम्पन्ति हि सत्तमाः क्वचित् । १.१४

सतां हि बृत्तं सततं प्रवृत्त्यै । २.३६

अहंकारो हि दुस्त्यजः । ३. ७०

अभयः भिर्वा पद्मम् । ४.६०

पापेऽधिके किं सुखमुत्तमानाम् । ८.१३

भाविनी हि गरीयसी । ११.११

बोध एव परमं नयनम् । १६.१

तोष एव सुखबो भुवि । १६.५५

अलंकार-विधान

भाषा के पश्चात् अलंकृति कलापक्ष की समृद्धि का दूसरा मूलभूत तत्त्व है। संस्कृत काव्यों में इसका साग्रह निवेश अलंकृति की महत्ता की स्वीकृति है। भ० बा० महाकाव्य में भी अलंकारों की व्यापक योजना हुई है किन्तु वे भाव-व्यंजना में कुछ इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि वे काव्यकला के शाश्वत सहचर प्रतीत होते हैं। अनावश्यक अलंकार-भार से काव्य को आच्छादित करने का पुण्यकुशल का आग्रह नहीं है।

भ० बा० महाकाव्य में उपमा भावाभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। अप्रस्तुतों की खोज में पुण्यकुशल ने जीवन के प्रायः सभी पक्षों का अन्वेषण किया है। साभिप्राय तथा मार्मिक उपमान जुटाने में वह इतना सिद्धहस्त है कि 'उपमा पुण्य-कुशलस्य' कहना अत्युक्ति न होगा ! उपमान-विधान के इसी कौशल के कारण उसके वर्णन सौन्दर्य से दीप्त हैं तथा भावव्यंजना में ऐसी प्रेषणीयता आयी है कि वर्ण्य भाव अथवा विषय तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है। भावानुकूल अमूर्त उपमान संचित करने में कवि को अनुपम दक्षता प्राप्त है। विविध स्रोतों से गृहीत अन्य उपमानों के साथ ये उपमान उसके व्यापक जीवन-अनुभव तथा प्रकृति की सहज अभिज्ञता के सूचक हैं। पुण्यकुशल की उपमाओं की मार्मिकता के दिग्दर्शन के लिए कतिपय उदाहरण आवश्यक हैं।

पताकिनी श्रीभरतेश्वरस्य सीमान्तरं तक्षशिलाधिपस्य ।

साशंकमाना मुहुरासस्ताव बधूनबोद्धेव विलासगेहम् ॥ १०.१.

लोकजीवन से गृहीत यह उपमा कितनी भावपूर्ण है ! प्रथम बार शयनगृह में जाती हुई नववधू के संकोच को देखते हुए तक्षशिला-नरेश की सीमा का उल्लंघन करने वाली भरत की सेना की आशंका का सहज ही भान हो जाता है ।

अयं ह्यनशतभ्रातृराज्यादानेन तृप्तिभाक् ।

वडव्वाग्निरिवाम्भोभिर्वसन् रत्नाकरेऽपि हि ॥ ३.१४.

मिथिक जगत् से संचित उपमान पर आधारित यह उपमा अतीव साभिप्राय है । निरन्तर समुद्रजल का शोषण करने वाली काल्पनिक वडवाग्नि से भरत की राज्यक्षुधा की तुलना करके उसकी लोलुपता की असौमता का संकेत किया गया है ।

मन्त्री आदि प्रजाजन तेजस्वी राजा से उसी प्रकार डरते हैं जैसे हाथी घषकती दावाग्नि से ।^{१३} शक्तिसंपन्न राजा की प्रचण्डता को रेखांकित करने के लिए दावानल उपमान कितना उपयुक्त है ! स्वामी के पराक्रम के अतिरेक से (भावी) विजय का भान हो जाता है जैसे बाला के स्तनों के उभार से उसके यौवन के आगमन की सूचना मिल जाती है ।^{१४} पराक्रम की प्रचण्डता के समक्ष 'स्तनोत्थान' भले ही कोमल प्रतीत हो किन्तु व्यंजक के रूप में यह बहुत भावपूर्ण है । रणभूमि से कुछ सैनिक ऐसे भाग गए जैसे कंचुली से साँप निकल भागता है । कुछ ने वीरता को उसी तरह छोड़ दिया जैसे कजूस उदारता को छोड़ देता है ।^{१५} मूर्त तथा अमूर्त उपमानों के एक साथ प्रयोग से वर्ण्य विषय चमत्कृत हो उठा है !

अमूर्त उपमानों पर आधारित पुण्यकुशल की उपमाएं बहुत अकूठी हैं । बा० बा० महाकाव्य में इनका प्राचुर्य है । भरत का चक्र आयुधशाला में इस प्रकार प्रविष्ट नहीं हुआ जैसे साँप के हृदय में ऋजुता ।^{१६} प्रस्थान करती हुई सेना से ताकेत के राजप्रासाद का शिखर ऐसे अदृश्य होता गया जैसे कामार्त व्यक्ति से अतिशुद्ध चैतन्य^{१७} । रथों, हाथियों तथा घोड़ों से खचाखच भरे हुए तक्षशिला के पुरद्वार में दूत को बड़ी कठिनाई से प्रवेश मिला जैसे योगी के हृदय में सहसा आवेश को स्थान नहीं मिलता ।^{१८} अमूर्त उपमानों के प्रति कवि की कुछ ऐसी रुचि है कि उसने अपनी मालोपमाओं का आधार भी इन्हीं को बनाया है । एकाधिक अप्रस्तुतों से उपमित होने के कारण वर्ण्य प्रसंग अविलम्ब व्यक्त हो जाता है । योद्धा ने विपक्षी की प्रत्यंचा को

५३. बा० बा० महाकाव्य, ४.५८

५४. वही, ११.५४

५५. वही, १५.८६

५६. वही, १६.२८

५७. वही, ६.३५

५८. वही, १.५४

ऐसे तोड़ दिया जैसे क्रोधी सौजन्य को तथा पुण्यवान् पाप को नष्ट कर देता है ।

अतृप्तुद्वं गुणं कश्चिच्छापदोष्णोधिरोधिनः ।

मन्थुमानिष सौजन्यमजन्यमिव पुण्यवान् ॥ १५.३३†

भ० बा० महाकाव्य में उपमा के पश्चात् अर्थान्तरन्यास का व्यापक प्रयोग हुआ है । अर्थान्तरन्यास कवि के चिरसंचित ज्ञान तथा विस्तृत अनुभव का प्रतीक है । अग्रज के दूत के आगमन से बाहुबलि की विशेष उक्ति की पुष्टि, प्रस्तुत पद्य में, उत्तरार्ध के सामान्य कथन से की गई है ।

नितान्ततृष्णातुरमस्मदीयं बन्धुप्रवृत्त्या सुखयाध चित्तम् ।

दूरेऽस्तु वारिषरवारिधारा सारंगमानन्वति गर्जरेव ॥ २.४

बाहुबलि की वीरता की अभिव्यक्ति, निम्नोक्त पद्य में, अप्रस्तुतप्रसंसा के द्वारा की गई है । यहां अप्रस्तुत राहु तथा सूर्य से क्रमशः भरत और बाहुबलि व्यंग्य है ।

सिंहिकासुतमेवैकं स्तुमस्तं करवर्जितम् ।

ग्रहणामीश्वरं योऽत्र सहस्रकरमस्ति हि ॥ ३.१२.

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त भ० बा० महाकाव्य में उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, काव्यलिङ्ग, सहोक्ति, यथासंख्य, समुच्चय, प्रतिवस्तूपमा, असंगति तथा विशेषोक्ति भी अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं । उपमा कवि का खास अलंकार है ।

छन्दयोजना

भ० बा० महाकाव्य का कवि विविध छन्दों के प्रयोग में सिद्धहस्त है । काव्य में छन्दों की योजना शास्त्र के अनुकूल है । सम्पूर्ण काव्य के निबन्धन में उन्नीस छन्दों का आश्रय लिया गया है, जो इस प्रकार हैं— वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, वियोगिनी, द्रुतबिलम्बित, स्वागता, रथोद्धता, त्रोटक, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, हरिणी, पुष्पिताग्रा, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, प्रह्विणी, शालिनी तथा पृथ्वी । उपजाति कवि का प्रिय छन्द है । तत्पश्चात् क्रमशः अनुष्टुप् और वंशस्थ का स्थान है ।

भ० बा० महाकाव्य में एक साथ कालिदास और माघ की परम्पराओं का निर्वाह हुआ है । कथानक की परिकल्पना, घटनाओं के संयोजन तथा रूढ़ियों के पालन में पुण्यकुशल ने माघकाव्य का अनुसरण किया है । माघकाव्य के समान इसमें इतिवृत्ति-निर्वाहकता नाम मात्र की है । भावपक्ष के निर्माण में कवि का प्रेरणा-स्रोत

† कतिपय अन्य मालोपमाओं के लिए देखिए—६.७३, ११.६०, १५.३२, ४३, ११६, १७.३३, १८.२६

कालिदास है। इसका सुखद फल यह हुआ है कि भ० बा० महाकाव्य में अलंकृति तथा सहजता का मनोरम समन्वय है। माघ को आदर्श मानते हुए भी पुण्यकुशल ने अपनी कोकिला की तरह पंचम स्वर में गान नहीं किया है।^{११} समूचा काव्य कवित्व की आभा से तरलित है। भाषा की प्राञ्जलता तथा कवित्व की कमनीयता की दृष्टि से भ० बा० महाकाव्य का संस्कृत के उत्तम काव्यों में निश्चित स्थान है।

स्थूलभद्रगुणमालाचरित्र : सूरचन्द्र

सूरचन्द्र का स्थूलभद्रगुणमालाचरित्र संस्कृत-महाकाव्य के अन्तिम युग की प्रतिनिधि रचना है। इसमें वर्णनों की आचारभित्ति पर काव्य की अट्टालिका का निर्माण करने का भगीरथ परिश्रम किया गया है। स्थूलभद्रगुणमाला के सतरह सर्गों (अधिकारों) में मन्दराज के महामन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र तथा पाटलि-पुत्र की मोहिनी वेश्या कोश्या के अनन्य प्रथम की कोमल पृष्ठभूमि में मन्त्रिपुत्र की प्रव्रज्या तथा कोश्या के प्रतिबोध का सविस्तार निरूपण करना कवि का अभीष्ट है। परन्तु जिस प्रकार कथानक को प्रस्तुत किया गया है, उसमें वह अन्तहीन वर्णनों की परतों में दब कर अदृश्य हो गया है।

स्थूलभद्रगुणमाला की एक हस्तप्रति (संख्या २७) केसरियानाथ जी का मन्दिर, जोधपुर में स्थित ज्ञानभण्डार में विद्यमान है। दुर्भाग्यवश यह प्रति अधूरी है। इसमें न केवल प्रथम दो पत्र अप्राप्त हैं, अन्तिम से पूर्ववर्ती तीन पत्र भी नष्ट हो चुके हैं। लिपिकार ने पत्रसंख्या देने में प्रमाद किया है। छठे के पश्चाद्वर्ती पत्र की संख्या आठ दी गयी है, यद्यपि पत्रों के अनुक्रम में कोई विच्छेद नहीं है। प्रस्तुत प्रति में १०३" × ४८" आकार के सत्ताईस पत्र हैं। प्रत्येक पत्र पर आईस पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ३३ अक्षर हैं। प्रति का आरम्भ सत्ताईसवें पत्र से होता है। पत्र के आकार को देखते हुए यह अनुमान सहज किया जा सकता है कि अनुपलब्ध दो पत्रों में १२६ पत्र थे। यह हस्तप्रति तथा इसकी फोटो प्रति हमें क्रमशः महोपाध्याय विनयसागर तथा श्रीयुत अजरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।

स्थूलभद्रगुणमाला की पूर्ण प्रति धागेराव भण्डार में उपलब्ध है। इस प्रति का महत्त्व इसकी पूर्णता में निहित है अथवा यह, जैसा इसकी प्रतिलिपि से प्रतीत होता है, अशुद्धियों से भरपूर है और इसका पाठ बहुधा भ्रामक है। इसकी तुलना में, जोधपुर की प्रति अधिक प्रामाणिक है, हालांकि वह भी त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त नहीं है। धागेराव भण्डार की प्रति हमें प्राप्त नहीं हो सकी। श्री अजरचन्द नाहटा ने इसकी प्रतिलिपि कई वर्षों के अथक परिश्रम से प्राप्त की है। प्रस्तुत विवेचन इन्हीं प्रतियों/प्रतिलिपियों पर आधारित है।

स्थूलभद्रगुणमाला का महाकाव्यत्व

स्थूलभद्रगुणमाला का लक्ष्य विषय-भोग में मग्न स्थूलभद्र तथा उसकी

प्रणयिनी के सच्चारिष्य अंगीकार करने के वर्णन के द्वारा, प्रकारान्तर से, जैन धर्म की महिमा की प्रतिष्ठा करना है। पर इसमें महाकाव्य के स्वरूपविधायक आन्तरिक तत्त्वों का भी अनुवर्तन किया गया है। प्रस्तुत काव्य काम की तुलना में धर्म की शाश्वत महत्ता की स्वीकृति है। इसकी कथावस्तु के स्रोत जैन आगम तथा अन्य उपजीव्य प्रबन्ध हैं। यह पूर्ववर्ती कवियों के फुटकर गीतों, छन्दों का विषय बन चुकी थी। अतः काव्य का कथानक निस्संकोच 'प्रख्यात' माना जा सकता है। स्थूलभद्र-गुणमाला का अंगीरस शृंगार है। शृंगार में भी चित्रलम्भ की प्रधानता है। शृंगार का पर्यवसान शान्तरस में हुआ है। स्थूलभद्र धीरोदात्त कोटि का नायक है किन्तु पितृवध के पश्चात् उसकी संवेगोत्पत्ति तथा प्रव्रज्या उसकी धीरप्रशान्तता को रेषांकित करती है। शियलता तथा च्युतसंस्कृति के कारण स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा को उदात्त अथवा प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता किन्तु वह प्राञ्जलता से शुभ्य नहीं है। काव्य तथा सगों का नामकरण, वस्तुव्यापारवर्णन, मंगलाचरण आदि भी शास्त्र के अनुकूल हैं। छन्दों के प्रयोग में सूरचन्द्र ने पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है। इसमें, आदि से अन्त तक, केवल अनुष्टुप् का प्रयोग किया गया है।

स्थूलभद्रगुणमाला का स्वरूप

स्थूलभद्रगुणमाला के कथानक की परिणति क्षान्तस में हुई है जिसके फलस्वरूप पतिता वेश्या भी आधिका का संयमपूर्ण जीवन स्वीकार करती है। स्थूलभद्र के संवेग तथा तज्जन्य गुणावली का तो काव्य में विस्तृत निरूपण किया गया है। ये पौराणिक काव्य की विशेषताएं हैं परन्तु काव्य में इनका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्थूलभद्रगुणमाला का आतावरण तथा प्रकृति पौराणिक रचना के अनुकूल नहीं है। इसमें प्रासंगिक, अधिकतर अप्रासंगिक, वर्णनों का ऐसा जाल बिछा है कि कथा का तन्तु यदा-कदा ही दिखाई देता है। जिस प्रकार कथावस्तु की निरूपित किया गया है उससे स्पष्ट है कि स्थूलभद्रगुणमाला में वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार अधिक महत्त्वशाली है। यह शास्त्रीय काव्य की प्रबल प्रवृत्ति है। अप्रस्तुतों का अंजल विधान, मनोरागों का सरस चित्रण, चरित्रगत नवीनता, प्रकृतिचित्रण का कौशल—ये कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों में ही दृष्टिगत होती हैं।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

स्थूलभद्रगुणमाला की घाणेराव-प्रति के अन्तिम सर्ग तथा विभिन्न सगों की पुष्पिका में सूरचन्द्र का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। जैन तत्त्वसार में सूरचन्द्र ने

१. वर्णकरागमे बद्धः प्रबन्धे च महात्मनाम् ।

गीतछन्दकवित्वादी क्रियमाणस्तु दृश्यते ॥ स्थूलभद्रगुणमाला, १७.१८१

अपना शास्त्रारूप सम्बन्ध यद्यपि जिनभद्रसूरि से स्थापित किया है, किन्तु अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि वे जिनदत्तसूरि की परम्परा में थे^१। काव्य में बृहत् खरतरगच्छ के आचार्यों का विवरण भी जिनदत्तसूरि से आरम्भ होता है (१७.२१८)। इन गौरवशाली आचार्यों की परम्परा में, जिनमें कुछ ने अनुपम संयमशील व्यक्तित्व के कारण मुगल सम्राट् अकबर तथा जहांगीर से 'युगप्रधान' आदि महनीय उपाधियाँ प्राप्त की थीं तथा कुछ अन्योंने धार्मिक तथा साहित्यिक कार्यकलाप से शासन तथा साहित्य के उन्नयन में श्लाघ्य योग दिया था, वाचक चारित्र्योदय उपदेशनिपुण वाग्मी थे। सूरचन्द्र इन्हीं चारित्र्योदय के चरण-कमलों के भूम-वे जिसका सीधा अर्थ यह है कि चारित्र्योदय सूरचन्द्र के विद्यागुरु थे^२। पञ्चवक्त्र की मूर्ति सूरचन्द्र ने दीक्षा वाचक वीरकलश से ग्रहण की थी। उन्हें संघ में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी वीरकलश को है^३।

सूरचन्द्र विश्रुत विद्वान् तथा प्रतिभासम्पन्न कवि थे। पंचतीर्थस्त्व उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रौढ़ रचना है, जिसमें उन्होंने अपने चित्रकाव्यकौशल का परिचय दिया है। संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी में भी उनकी कई कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनकी राजस्थानी रचना शृंगाररासमाला सम्बत् १६५६ (सन् १६०२) में लिखी गयी थी। यह सूरचन्द्र की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति प्रतीत होती है। यदि यह अनुमान सत्य है तो उनके जन्म तथा दीक्षा का समय सोलहवीं शताब्दी ईस्वी का अन्तिम चरण माना जा सकता है। जैन तत्त्वसार का रचनाकाल सम्बत् १६७६ (सन् १६२३) सुनिश्चित है। स्थूलभद्रगुणमाला सूरचन्द्र की सबसे प्रसिद्ध कृति है। पुष्पिका के अनुसार इसकी रचना आचार्य जिनराजसूरि के विजयराज्य में (सन् १६१८-२३) सम्पन्न हुई थी^४। घाणेराम भण्डार में स्थित काव्य की पूर्वोक्त प्रति की प्रकृति से ज्ञात होता है

२. श्री अगरचन्द नाड्डा : युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पृ. ६६

३. चारित्र्योदयनामानो वाचकाः प्रविदीपिरे । स्थूलभद्रगुणमाला, १७.२६६

येषां व्याख्योत्सवसद्वागध्वनिप्रीणितमानसाः ।

स्वेच्छा अपि दयाधर्म आढ्या इव प्रपेदिरे ॥ वहीं. १७.२६७

येषां पादद्वयाम्भोजे मया भूंगाघितं चिरत् । वहीं. १७.२६६

४. एषां विद्यासुसंविन्नाः श्रीवीरकलसाह्वयाः ।

वाचकाः सिद्धसिद्धान्तसंधिदो गुणसागराः ॥ १७.२७०

यद्वस्तवीक्षितोऽस्म्येष पुनः श्रीपद्मचलभः ।

द्वाक्प्यावां समध्याप्य येः कृतौ संघपूजितौ ॥ १७.२७१

५. इति श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिविजयिराज्ये श्रीजिनसागरसूरियौवराज्ये.....श्रीवीरकलशमणिशिष्यसूरचन्द्रविरचिते श्री स्थूलभद्रस्य गुणमाला-नामनि चरिते.....

कि कवि ने इसकी प्रति जयपुर-नरेश जयसिंह के शासनकाल में, सम्बत् १६८० (सन् १६२३), पौष तृतीया को, जयपुर के निकटवर्ती सांगानेर (संग्रामनगर) में की थी ।

पूर्णाष्टरसधन्वाब्दे पौषतृतीयकादिने ।

पुण्यार्कऽपूयं ग्रन्थो मया वेवगुहस्मृतः ॥ १७.२६५

संग्रामनगरे तस्मिन् जैनप्रासादसुन्दरे ।

काशीवत्कारस्ते यत्र संगेय निर्मला नदी ॥ १७.२६६

राज्ये श्रीजयसिंहस्य मानसिहस्य सस्ततेः ।

महाराजाधिराजाख्यावितस्य साहितासनत् ॥ १७.२६८

कथानक

स्थूलभद्रगुणमाला की ओषपुर-प्रति में दूसरे से पन्द्रहवें तक, चौदह सर्ग (अधिकार) अविकल विद्यमान हैं तथा सोलहवें सर्ग का कुछ भाग उपलब्ध है । बाणराव भण्डार की प्रति काव्य का सम्पूर्ण पाठ प्रस्तुत करती है ।

प्रथम अधिकार फलवद्धिका पार्वनाथ,^१ गणघर गौतम^२ तथा वाग्देवी^३ की स्तुतिरूप मंगलाचरण, सज्जन प्रशंसा^४ तथा स्थूलभद्र के गौरव^५ के वर्णन से आरम्भ होता है । पाटलिपुत्र के उदार तथा पराक्रमी नरेश नन्दराज के मंत्री झकटाल का ज्येष्ठ पुत्र यही स्थूलभद्र काव्य का नायक है । नन्दराज के पराक्रम के संदर्भ में, इस सर्ग में, पृष्ठभूमि के रूप में, पाटलिपुत्र तथा नन्दराज के शस्त्रास्त्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे काव्य की छैली तथा वर्णन-पद्धति का पूर्वाभास मिलता है । एक दिन युवा स्थूलभद्र को राजपाटी पर देखकर पाटलिपुत्र की रूपवती वेश्या कोश्या उसके अनुपम सौन्दर्य पर मोहित हो जाती है । कामावेग के कारण उसे पल भर भी कल नहीं । उसकी सखी पद्मिनी स्थूलभद्र से, प्रेम के

६. नमो विघ्नच्छिद्येऽजाय शम्भवे परब्राह्मणे ।

श्रीफलवद्धिकापार्वनाथाय स्वामिने सते ॥ १.१

७. गौतमं तं नमस्कृमो यत्कीर्तिस्फूर्तिनर्तकी ।

नृत्यन्ती मेघवंशाग्रे दृश्यते त्रिवरीरपि ॥ १.४

८. यस्याः शासनतो ह्रस्वो दीर्घश्चापि समाप्नुतः ।

गुणवृद्धिसमे सास्तु श्रितोन्नतिकरीह वाक् ॥ १.६

९. शुद्धिः स्यात् मानसो स्नातां यद्गुणभेजिवेजिषु ।

व्यत्ययोऽपि गुणार्थेवं सन्तस्ते सन्तु मे सते ॥ १.१७

१०. भूमिष्ठाः साधवोऽभूवन् विशुद्धब्रह्मसाधकाः ।

सिद्धब्रह्मा परं चैवां स्थूलभद्रोऽभवन् मुनिः १.२२

सागर में डूबी कोश्या को संगम की नौका से उबारने का अनुरोध करती है^{११}। तृतीय अधिकार में कोश्या का नखशिख—प्रत्येक अंग तथा उपांग का—सविस्तार वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में पद्मिनी से कोश्या के रूप तथा गुणों का पुनः वर्णन^{१२} सुनकर स्थूलभद्र के हृदय में काम का उद्रेक होता है और वह उसके प्रति अभिसार करता है। पांचवें अधिकार में कोश्या अपनी कामपूर्ण चेष्टाओं से मन्त्रिपुत्र को वशीभूत कर लेती है। यहां उनके प्रेममिलन का विस्तृत वर्णन हुआ है। छठे अधिकार में नवदम्पती की सम्भोग-केलित तथा प्रभात का वर्णन है। प्रणय-समागम के अन्तर्गत पुनः कोश्या के रूप का वर्णन किया गया है। सातवें अधिकार में धूर्त वररुचि के षड्यंत्र के कारण नन्दराज की विमुखता के फलस्वरूप समूचे परिवार की मृत्यु अवश्यम्भावी जानकर शकटाल आत्मबलिदान से परिवार की रक्षा करने का निश्चय करता है। उसके आदेश से श्रीयक, न चाहता हुआ भी, भरी सभा में, पिता (शकटाल) का शिरश्छेद कर देता है। 'जिसका पुत्र इतना स्वामिमत्त है, वह स्वयं कैसे राजद्रोही हो सकता है' इस वास्तविकता का भान होने पर नन्दराज अपने पूर्वाचरण पर पश्चाताप करता है। वह श्रीयक की राजभक्ति से प्रसन्न होकर उसे मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव करता है परन्तु वह अग्रज स्थूलभद्र को मन्त्रिमुद्रा का वास्तविक अधिकारी मानता है। अष्टम अधिकार में नन्द स्थूलभद्र को औपचारिक रूप से मन्त्री पद स्वीकार करने का अनुरोध करता है। परन्तु पिता के वध से इतना दुःख तथा अपनी विषयासक्ति के इतनी ग्लानि होती है कि वह सर्वस्व छोड़ कर वहां से चुपचाप विहार कर जाता है। अग्रज की सवेगोत्पत्ति के पश्चात् श्रीयक मन्त्रित्व का दायित्व सम्भालता है। राजा, वररुचि को उसके दुर्घ्य-सनों के कारण, राज्य से बहिष्कृत कर देता है। प्रायश्चित्त के लिये त्रपु-मान से उसका प्राणान्त हो जाता है। यह वस्तुतः पितृवध का बदला लेने के लिये श्रीयक तथा कोश्या की योजना का परिणाम था। अब मार्ग निष्कण्टक होने से श्रीयक नीतिपूर्वक अपने पद का निर्वाह करता है। नवें अधिकार में स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने का समाचार सुनकर कोश्या का प्रेमिल हृदय तड़प उठता है। इस सर्ग में उसकी विरह व्याथा का विस्तृत वर्णन है, जो मामिक न होता हुआ भी, उसकी मानसिक विकलता को व्यक्त करने में समर्थ है। अगले पांच सर्गों में पद्मिनी, कोश्या के मनोविनोद तथा समय-यापन के लिये छह परम्परागत ऋतुओं का वर्णन करती है। ऋतुओं के बीतने पर भी जब उसका प्रिय नहीं आया तो कोश्या निराश होकर,

११. स्वसंगमतरण्या त्वं पारमुत्तारय प्रभो । २.१६५

१२. सत्पाद्विर्मा गुणैः पूर्णा कथेष सरसा भूषम् ।

अथानोहन्ती प्राप्य भा प्रतीक्षस्व पण्डित ॥ ४.१००

चौदहवें सर्ग में, उसे प्रेम-पत्र लिखती है, जिसमें वह अपनी मानसिक बेदना तथा शारीरिक क्षीणता का मार्मिक निरूपण करती है। तभी आचार्य सम्भूति-विजय विहार करते हुए वहां आते हैं। गुरु की अनुमति से स्थूलभद्र कोश्या की चन्द्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करने आता है। प्राणप्रिय के आगमन से कोश्या का हृदय प्रफुल्लित तो हुआ किन्तु उसे परिवर्तित देखकर वह स्तब्ध रह जाती है। सोलहवें सर्ग में स्थूलभद्र उसे यौवन तथा सुख-भोग की निस्सारता का भान कराने के लिये वार्धक्यजन्य विकलता तथा विरूपता का वर्णन करता है। "यौवन में जो शरीर कमनीय तथा आकर्षक होता है, बुढ़ापे का देख्य उसका सारा रक्त पी जाता है।" सतरहवें सर्ग में अपने हृदयेश्वर से स्नेहशून्य तथा वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर कोश्या के आश्चर्य का ओर-छोर नहीं रहा। वह नाना चेष्टाओं से मुनि स्थूलभद्र को मनोरति के लिये निमन्त्रित करती है किन्तु वह अचल तथा अढोल रहता है। उसकी धीरिमा तथा सच्चरित्रता के कारण कोश्या के हृदय में स्थूलभद्र के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान का उदय होता है। 'वेश्या-विषघरी के वाग्दन्तों की गणना करते हुए भी जो मोह के विष से व्याप्त नहीं हुआ, वही शील का मन्त्रज्ञ है।" वह स्थूलभद्र से श्राविका का व्रत ग्रहण करती है और तत्परतापूर्वक उसका परिपालन करती है। स्थूलभद्र के गुरुभ्राता छद्यमुनि को पथभ्रष्ट होने से बचाकर वह अपनी सच्चरित्रता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है जिससे उसे साध्वी के समान मान्यता प्राप्त होती है। खरतरगच्छ के आचार्यों की परम्परा के वर्णन तथा प्रशस्ति से काव्य की समाप्ति की गयी है।"

कथानक के नाम पर स्थूलभद्रगुणमाला में वर्णनों का जाल बिछा हुआ है।

१३. सुखद संयोग है कि हमने जोधपुर की खण्डित प्रति के आधार पर स्थूलभद्रगुणमाला की कथा परिणित तथा सर्ग संख्या की जो कल्पना अपने शोधप्रबन्ध में की थी, उसकी अक्षरशः पुष्टि घणेशराव भण्डार की प्रति से होती है। इस दृष्टि से यह अंश प्रष्टव्य है—

अन्तिम से पूर्व के तीन पत्र प्रति में उपलब्ध नहीं हैं। अन्तिम पृष्ठ पर गुरुस्तीसूरि की वरप्रतिष्ठा, श्रीयक तथा स्थूलभद्र के स्वर्गगमन, कवि की अल्पज्ञता आदि का उल्लेख है। क्या यह सोलहवें अधिकार का ही भाग है? शायद काव्य में एक और अधिकार था। उसमें स्थूलभद्र के उपदेश से कोश्या के संयम ग्रहण करने का वर्णन अवश्य रहा होगा। अन्तिम पृष्ठ के एक पद्य की संख्या, २००, का यही संकेत है कि यह सोलहवें से अष्टमि किसी अन्य अधिकार के अन्तर्गत था। इस भाग में जो प्रशस्ति-जैसे पद्य हैं, वे उसी सर्ग के अवयव रहे होंगे। पर क्या इस पृष्ठ के साथ काव्य समाप्त हो गया था? यहाँ पुष्पिका तो नहीं है,

वस्तुतः स्थूलभद्रगुणमाला का कथानक अनन्त वर्णनों के गोरखधन्धे में उलझा एक अदृश्य तन्तु है। सौन्दर्य-चित्रण तथा ऋतुवर्णन पर क्रमशः तीन तथा पांच सर्ग अपव्यय करना कवि की कथा-विमुखता का उग्र परिचायक है। 'भोग की अति की परिणति अनिवार्यतः उसके त्याग में होती है', अपने इस सन्देश को कवि ने सरस काव्य के परिधान में प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे अधिक आकर्षक बनाने के आवेश में वह काव्य में सन्तुलन नहीं रख सका। ऋतु-वर्णन वाले पांच सर्गों का यत्किञ्चित् कथानक से कोई विशेष सम्बन्ध है, यह कहना भी सम्भव नहीं है। उन्हें, बिना कठिनाई के, आवश्यकतानुसार किसी भी काव्य में खपाया जा सकता है। उपर्युक्त दोनों वर्णनों तथा नन्दराज की राजधानी पाटलिपुत्र और उसके पराक्रम की राई-रत्ती के वर्णन से काव्य में वस्तु-वर्णन के अनुपात एवं महत्व के प्रति कवि के दृष्टिकोण का पर्याप्त आभास मिलता है। काव्य में वर्णित सभी उपकरणों सहित, इसे छह-सात सर्गों में सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता था। किन्तु सूरचन्द्र की सन्तुलनहीनता तथा वर्णनात्मक अभिव्यक्ति ने इसे सतरह सर्गों का बृहद् आकार दे दिया है। जब तक वह किसी विषय के सूक्ष्मतम तत्त्व से सम्बन्धित अपनी कल्पना का कोश रीता नहीं कर देता, वह आगे बढ़ने का नाम नहीं लेता। यह सच है कि इन वर्णनों में कवि-प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है, किन्तु उनके अतिशय विस्तार ने प्रबन्धत्व को नष्ट कर दिया है। सूरचन्द्र क्रमागत काव्यधारा के पाश से नहीं बच सके।

रसविधान

सूरचन्द्र साहित्यशास्त्रियों के उस वर्ग के अनुयायी हैं, जिन्होंने रसों की संख्या नौ मानी है। सरस्वती-स्तुति तथा अन्यत्र नौ रसों के संकेत के अतिरिक्त कोश्या की प्रकृति के स्वरूप के निरूपण में उन्होंने शृंगार आदि नौ रसों का स्पष्ट नामोल्लेख किया है।^{१४} स्थूलभद्रगुणमाला में रसराज शृंगार की प्रधानता है, भले ही उसकी परिणति शान्तरस में हुई हो। शृंगार को प्रस्तुत काव्य का अंगी रस मानने में हिचक नहीं हो सकती। शृंगार में भी संयोग की अपेक्षा वियोग का चित्रण अधिक हुआ है। कोश्या की नियति कुछ ऐसी है कि उसे मिलन के सुख की अपेक्षा विरह की व्यथा अधिक भेलनी पड़ती है। स्थूलभद्रगुणमाला में विप्रलम्भ की कई प्रसंगों में समर्थ अभिव्यक्ति हुई है। स्थूलभद्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर कोश्या के विरह-वर्णन में

किन्तु काव्य का स्वाभाविक अन्त यहीं प्रतीत होता है। सम्भवतः, स्थानाभाव के कारण लिपिकार ने पुष्पिका को छोड़ दिया है !

— जैन संस्कृत-महाकाव्य (दंकिन प्रति), पृ० ३२४
१४. दत्ते भवरसम् पूर्णान् साभिधा किं न यच्छति । स्थूलभद्रगुणमाला, १-८

वही, ४-३७-३८

तथा उसके प्रेमपत्र में विप्रलम्भ की तीखी टीस है। परन्तु उसकी तीव्रतम व्यंजना कोश्या के पूर्वराग के वर्णन में है। राजपाटी में युवा स्थूलभद्र को देखकर कोश्या काम-विह्वल हो उठती है। मन्त्रिपुत्र के समक्ष दासी पद्मिनी द्वारा वर्णित उसकी विकलता हृदय की गहराई को छूने में समर्थ है।

तवंकसंगमिच्छन्ती बीना हीनापरक्रिया ।

कोश्या मे स्वामिनी स्वामिन् वसन्ति व्याकुलावला ॥ २.१५६

बेल्लमानास्ति बल्लीव तवसंगमवर्जिता ।

क्षीजप्राणा गतप्राणा निरम्बुसंबरीव वा ॥ २.१५७

स्वामिन् ता यदि सध्रीर्षी कथं बिद् बीजते क्षजम् ।

तदाप्यर्धनिमीलाक्षी त्वदन्येक्षणशंकया ॥ २.१६०

सख्या अपि वचः श्रुत्वा सा श्रुणोति न सावरा ।

एवं जानाति मां मान्यस्त्वद्रूपो भ्रमयेज्जनः ॥ २.१६१

रेवन्त-तुल्य स्थूलभद्र की क्षणिक झलक ने उस रूपगविता को ऐसे झकझोरा है कि प्राणप्रिय के बिना वह वृक्ष के आश्रय से वर्णित बल्लरी के समान निराश्रित तथा जलहीन मीन की भांति मरणासन्न है। प्रिय के ध्यान में लीन वह सखी को अधखुली आंख से ही देखती है। उसे भय है, पूरी आंख से देखने से उसकी दृष्टि किसी अन्य पुरुष पर न पड़ जाए। वह सखियों से बात भी बहुत कम करती है, कहीं प्रिय का रूप धारण करके कोई छद्मी उसे भ्रान्त न कर दे।

विरह-वर्णन में तो विप्रलम्भ अपनी मार्मिकता के कारण कष्टपरस की सीमा तक पहुँच गया है। पक्ष, मास, वर्ष आते हैं और चले जाते हैं किन्तु कोश्या का प्रिय आने का नाम नहीं लेता। हृदय में उठती हूकों ने उसे जर्जर बना दिया है।

चित्रशाला विशालेयं चन्द्रशाला च शान्तिनी ।

प्रतिशाला मरालाश्च शल्यायन्तेऽथ त्वष्टिना ॥ ६.१३१

पक्षमासर्तुवर्षाणि मुहुरायान्ति तान्यपि ।

पुनरेको न मे भावो हला एति बसः सुखम् ॥ ६.१३५

किं करोमि न च यामि कस्वस्त्रे पूरकसीमम् ।

वशमि कस्य दुःखमि विदुस्तु प्रेयसा सह ॥ ६.१३६

सम्भोग के अन्तर्गत कोश्या तथा स्थूलभद्र के समागम के अतिरिक्त कवि ने नायिका के कतिपय भावों तथा अनुभावों का भी रोचक चित्रण किया है। चिर विकसलों के पश्चात् स्थूलभद्र को सहस्री अपने सम्मुख देखकर कोश्या के उत्सास का ओर-छोर नहीं रहता। उसमें सात्त्विक भावों का उदय होता है। उदीपन विभावों के

द्वारा वह प्रिय के कामभाव को उत्तेजित करके अनुभावों के माध्यम से अपनी प्रणय-
लालसा की अभिव्यक्ति करती है। भावों अथवा विभावों का यह पृथक् निरूपण
शृंगार की निष्पत्ति का पर्याय नहीं है। किन्तु ये भाव-विभाव (२.२२—४२)
कोश्या की कामातुरता को व्यक्त करने में समर्थ हैं।

चक्रपे कामिनीकायः कामावेशाञ्च किञ्चन ।

मन्ये मन्त्रिसुतं भेत्तुं कुन्तं तोलयते स्मरः ॥ ५.२६

कोश्याविष्कुर्वन्ती नार्तिम प्रति प्रियमनंगतः ।

मन्ये मद्यस्य व्यक्तमिवोन्मादकमादरात् ॥ ५.२६

कोश्यास्सथत् नीवीं स्वां स्नेहान्तःपुरणादिव ।

भर्तुर्मध्यमृगेन्द्रं सा च्छोदयतीव केलये ॥ ५.३०

दर्शं दर्शं प्रियं प्रेम्णा कोश्या रोमाञ्चितामवत् ।

केकी कलापवानम्भोवाहमिव प्रमोदतः ॥ ५.३३

ये कामचेष्टाएं उन दो मंदिर हृदयों के मिलन की भूमिका निमित्त करती हैं।
स्थूलभद्र कोश्या को गोद में भर कर आनन्द के सागर में डूब जाता है।

एकान्तस्थानमालोक्य पाणि प्रसार्य वीसखः ।

कोश्यामुत्संगमानीयास्थापयत् प्रेमपूरितः ॥ ५.४५

ऐरावत इवाभार्यलतामात्मीयकेलये ।

मराल इव नालीकमृणालोममलां श्रिये ॥ ५.४६

सम्पन्नं यत्तयोर्यूनोस्तुखं सांसारिकं मिथः ।

वाग्निर्याति तद्वत्तुं तस्मान्मुष्टिमहोयसी ॥ ५.५३

परन्तु स्थूलभद्रगुणमाला में शृंगार के उभय पक्षों का यह विस्तृत चित्रण,
वैराग्यशील कवि की वृत्ति का द्योतक नहीं है। जैन काव्यों की यह विरोधा-
भासात्मक स्थिति है कि उनमें साहित्यशास्त्र के विधान तथा कथावस्तु की प्रकृति के
अनुरूप शृंगार का तत्त्वहीनता से निरूपण किया जाता है किन्तु बाद में जी भर कर
नारी की निन्दा की जाती है। शृंगार की विभिन्न स्थितियों के कुशल चित्रे सूरचन्द्र
की वैराग्यमयी भाषा में भी नारी 'दुर्गन्धिकृमिसंकुल' तथा 'निष्ठीवतशराव'
(यूकदान) है। पुरुष के जीवन की सार्थकता इस भुजंगी से बचने में है।^{१५} शृंगार,
तथा उसकी आलम्बनभूत नारी के प्रति सूरचन्द्र के दृष्टिकोण को समझने के लिए
उपर्युक्त भावों को याद रखना आवश्यक है।

स्थूलभद्रगुणमाला में शृंगार का पर्यवसान शान्तरस में हुआ है। अथाह

विषयभोग में लीन स्थूलभद्र मन्त्रिपद का वैभव ठुकराकर निरीह साधुत्व से जीवन को सफल बनाने का संकल्प करता है। पतिता कोश्या भी श्राविका के संयम के द्वारा साध्वी की भांति मान्यता प्राप्त करती है। किन्तु सामूहिक रूप में भी शास्त्ररस, काव्य में, शृंगार की तीव्रता को मन्द नहीं कर सकता। अपनी विषयासक्ति की पृष्ठ-भूमि में, पिता के वध का समाचार पाकर, स्थूलभद्र का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। उसे सुख-सम्पदा, वैभव-भोग, वस्तुतः समूचा जीवन और जगत् भंगुर एवं प्रवंचनापूर्ण प्रतीत होने लगता है। प्रवज्या में ही वह सच्चा सुख देखता है। उसकी यह मनोभूमि शान्त के कल्पतरु को जन्म देती है।

प्रमदासंपदानन्दपद्मरञ्जयधरादिकम् ।

यद्यत् संदृश्यते दृष्ट्वा तत्सर्वं भंगुरं भवेत् ॥ ८.१३

पुत्रभ्रातृमहामंत्रयन्त्रमन्त्रनृपादिकं ।

संसारे शरणं नागच्छतामेषां धांगिनः ॥ ८.१६

एवमेकोऽप्यनेके वा न त्राणं कोऽपि कं प्रति ।

ततो निर्ममभावेन अगबेत्तत्समाख्य ॥ ८.२६

प्रकृति-चित्रण

काव्य के अनुपातहीन विस्तृत प्रकृति-वर्णन से सूरचन्द्र के प्रकृति के प्रति दृष्टि-कोण का यथेष्ट परिचय मिलता है। स्थूलभद्रगुणमाला के प्रकृति-चित्रण को ऋतु-वर्णन कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमें ऋतुवर्णन का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त काव्य में प्रकृति-वर्णन के नाम पर केवल प्रभात का चित्रण किया गया है। प्रकृति-चित्रण में सूरचन्द्र बहुधा परम्परागत प्रणाली के अनुगामी हैं। चिरप्रतिष्ठित परम्परा की अवहेलना करना सम्भव भी नहीं था। उसके प्रकृति-चित्रण की विशेषता — यदि इसे विशेषता कहा जाए — यह है कि उसने अपने अप्रस्तुत-विधान-कौशल से ऋतुओं के हर सम्भव तथा कल्पनीय-अकल्पनीय उपकरण के व्यापक चित्रण के अतिरिक्त उनमें होने वाले पर्वों का भी अनिवार्यतः निरूपण किया है। ये वर्णन कवि की काव्य-प्रतिभा के साक्षी हैं, किन्तु सन्तुलन अथवा अनुपात का उसे विवेक नहीं है। अन्य वर्ण्य विषयों की भांति प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्त्व का चित्रण करने के लिए वह अनायास आठ-दस अप्रस्तुत जुटा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि वह जब तक प्रकृति के प्रत्येक उपकरण से सम्बन्धित सब कुछ कहने योग्य नहीं कह देता, आगे बढ़ने का नाम नहीं लेता। इसलिये मात्र विस्तार के कारण इनमें पिष्टपेषण भी हुआ है और पाठक के धैर्य की विकट परीक्षा भी ! २२४ पद्यों में पावस का सांगो-सांग वर्णन करने के पश्चात् कवि का यह कथन —

नमोनमस्यमासौ द्वौ वर्षतुरेय भाषितः ।

एवमस्य श्रुतोः किञ्चित्स्वरूपमुपवर्णितम् ॥ १०.२२५

पाठक की सहनशीलता पर कितना क्रूर व्यंग्य है ?

अप्रस्तुत-योजना में दक्षता के कारण सूरचन्द्र ने बहुधा प्रकृति का आलंकारिक चित्रण किया है। प्रकृति के स्वाभाविक रूप के प्रति उसका ममत्व निश्चल है, किंतु उसकी कल्पनाशीलता उसे प्रकृति का संश्लिष्ट अंकन करने को त्रिवश करती है। सूरचन्द्र के पास कल्पनाओं का अपार भण्डार है। वह प्रकृति के सामान्य से सामान्य तत्त्व को भी अनेक अप्रस्तुतों से सजा सकता है। फलतः, स्थूलभद्रगुणमाला में प्रकृति का सहज-अलंकृत रूप दिखाई देता है। निस्सन्देह कवि की उर्वर कल्पना से उसके वर्णन चमत्कृत हैं, परन्तु अप्रस्तुतों के बाहुल्य के कारण स्वयं प्रकृति गौण-सी बन गयी है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

वसन्त में खिले टेसू के फूलों की लालिमा का कारण ढूँढने के प्रयत्न में सूरचन्द्र ने अप्रस्तुतों का जो जमघट लगाया है उनमें दब कर वर्णनीय विषय अदृश्य-सा हो गया है। कवि की कल्पना है कि नवोढा वनभूमि ने विवाह का लाल जोड़ा पहन लिया है अथवा पति वसन्त के पास जाकर वह लज्जा से लाल हो गयी है, अथवा यह शरत् रूपी हाथी के रक्त से रंजित वन-सिंह की नखराजि है या अदबी-गणिका अपनी अरुण बांगुलियों से युवकों को आमन्त्रित कर रही है। कल्पनाएं सभी रोचक हैं किन्तु अन्तिम दो कुछ दूरारूढ़ प्रतीत होती हैं।

स्पष्टादबीषूटीयं रक्ताम्बरधरा किमु ।

किं वासावेव सुरभिं पतिं प्राप्यारुणानना ॥

किं वा वनमृगेन्द्रस्य दृश्यते नखरावली ।

शीतर्तुमस्तमांतर्गमिन्नकुम्भासंज्ञारणा ॥

किं वादबीषणस्त्रीर्बं स्वकीयांगुलिकाभिः ।

तरुणानाह्वयस्तीव्रं फ्रीडितुं मिजकालिके ॥ १३.२५-२७

शरत् का हृदयग्राही वर्णन भी कवि-कल्पना की आभा से दीप्त है। रोचक तथा सटीक अप्रस्तुतों के कारण शरत्काल के प्रत्येक उपकरण में सजीवता का समावेश हो गया है। पूनम का चांद स्वर्गंगा में खिला कमल प्रतीत होता है। उसका कलंक ऐसा सगता है मानों मकरन्द से पूर्ण कमल पर भौंरा बैठा हो अथवा रोहणी से रमण करते समय लगी हुई, उसकी काजल की बिदिया हों। नील गगन में तारे ऐसे चमक रहे हैं जैसे इन्द्रनील मणियों के ढाल में रखे हुए मोती हों अथवा काली घरती पर गिरे लम्बूल हों या रजनीलता की कुसुमावली हो।

यद्वा त्रियम्नदीमध्ये पुण्डरीकं चलाचलं ।

संक्षयते मधुभूतं भृंगसंगमरंगितम् ॥ ११.२७

रोहिण्या रममाणस्य किं वा कज्जलमलगत् ।

किं वा शरीरकाश्येण किञ्चिच्छायापतत्तनौ ॥ ११.३६

तमालतालमे व्योम्नि शुभ्रास्तारा विदोपिरे ।

मुक्ता इव हरिद्रत्नस्थाले कालकेलये ॥ ११.६६

कृष्णभूमेरथवा देशे तण्डुलाः पतिता इव ।

किं वा विभावरीवल्त्या दृश्यते कुसुमावली ॥ ११.७०

प्रकृति की विविध अवस्थाओं तथा मुद्राओं से सूरचन्द्र की गम्भीर परिचिति है। उसकी दृष्टि में प्रकृति भावशून्य अथवा मानव जीवन से निरपेक्ष नहीं है। उसमें मानव-हृदय की प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है। फलतः वह मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत तथा उसके समान नाना चेष्टाओं में रत है। मानव-मन के सहज ज्ञान तथा प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण सूरचन्द्र प्रकृति तथा मानव में रोचक तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुए हैं। उनकी शरत् काश की रेशमी साड़ी तथा हंसों के नूपुर पहन कर नववधू के समान प्रकृति के आंगन में आती है। कमल उसका सुन्दर मुखड़ा है, चकवे पयोधर तथा शालि छरहरा शरीर^{१६}। पावस-वर्णन में पृथ्वी को पुनः नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चिर वियोग के बाद पति के घर आने पर जैसे पत्नी शृंगार करके समागम के लिए अधीर हो जाती है, उसी प्रकार भूमिनायिका भी सजधज कर, पूरे एक वर्ष के पश्चात् प्रवास से लौटे पावस के साथ रमण करने को लालायित हो गयी है (१०-७२-७४, ७८)। तब वह 'वसुधावधू' की चिरसंचित साधों पूरी कर देता है और अंकुरों के रूप में उसके गर्भ के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

तदा पुनः पुनर्मधो वर्षणं वसुधावधूम्

अतोषयत्तदेषापि प्राप्तगर्भाङ्कुरैर्भूत् ॥ १०.८१

प्रभातवर्णन के प्रसंग में सूर्य तथा पूर्वदिशा पर क्रमशः शठनायक और खण्डिता नायिका का आरोप करके सूरचन्द्र ने प्रकृति के मानवीकरण के प्रति अपनी अभिरुचि का और परिचय दिया है। शठ सूर्य परांगना के साथ रतिकैल के पश्चात्, रात्रि की समाप्ति पर, जब घर लौटता है तो पूर्व दिशा पीले वस्त्र से झुंहु ढक कर अपना श्रोत्र व्यक्त करती है।

परया भास्करं रत्न्या प्रेक्ष्य पूर्वार्धयामतम् ।

स्वयं पीताम्बरं मूर्ध्नि प्रावृत्यास्थात्पराङ्मुखी ॥ ६.७७

अन्य समवर्ती काव्यों की तरह स्थूलभद्रगुणमाला में प्रकृति के उद्दीपन पक्ष को अधिक पल्लवित नहीं किया गया है। कतिपय स्थानों पर ही प्रकृति को मानव

हृदय को उत्तेजित करते चित्रित किया गया है। इसमें कोई नवीनता भी नहीं है। वर्षाकाल में यदि बादल की मन्द्र-मधुर गर्जना तथा बिजली की दमक कामिनियों को नायकों की मनुहार करने को विवश करती है (१.१०२), तो वसन्त के मन-मोहक वातावरण में कोकिल-मिथुन की कामकेल देखकर उनका धैर्य छूट जाता है और वे स्वयं ही नीवी शिथिल करती हुई रति के लिए तैयार हो जाती हैं।

पार्श्वस्थरमणेऽप्यत्र रामा रमणरागिणी ।

भवेन्नीवी श्लथयन्ती कामाकुलकायिका ॥ १३-१४

माकंदमंजरीमूले पिकेत प्रेमतः पिकी ।

क्रोडन्ती कोश्या वर्णिन्यो भवन्ति रमणोत्सुकाः ॥ १३-२०

सौन्दर्यचित्रण

परिमाण की दृष्टि से स्थूलभद्रगुणमाला में प्रकृतिवर्णन के पश्चात् सौन्दर्य-चित्रण का स्थान है। इन दो वर्णनों में मिलकर काव्य का बहुत बड़ा भाग हृदय लिया है। द्वितीय सर्ग में स्थूलभद्र का सौन्दर्य-चित्रण परम्परागत पुरुष-सौन्दर्य का प्रतिनिधि है। पूरे तृतीय सर्ग तथा अन्य सर्गों के कुछ अंशों में कोश्या के नखशिख-वर्णन के व्याज से नारी-सौन्दर्य का सविस्तार वर्णन किया गया है। अन्य वर्णनों के समान सौन्दर्य-चित्रण में भी सूरचन्द्र ने अपने अप्रस्तुतों के भण्डार का उदारतापूर्वक प्रयोग किया है। पात्रों के कायिक वर्णन की उसकी अपनी विशिष्ट शैली है जिसमें विस्तार की प्रधानता है। प्रत्येक अंग तथा उपांग का उसने जम कर निश्चिन्तता से वर्णन किया है। एक-एक अंग के लिये वह बहुत सरलता तथा सहजता से कई-कई उपमान जुटा सकता है। कोश्या के स्तनों का वर्णन तो उसने सत्ताईस अप्रस्तुतों के द्वारा किया है। इस अनावश्यक विस्तार में सभी कल्पनाएं उपयुक्त नहीं हो सकतीं। काश ! सूरचन्द्र यह स्मरण रखते कि अवांछनीय विस्तार कवित्व का हितैषी नहीं।

नारी-सौन्दर्य के चित्रण के प्रसंग में, सूरचन्द्र ने, कोश्या की वेणी से लेकर उसके पाँवों के नखों तक को वर्णन का विषय बनाया है। उसके श्वास तथा वाणी के माधुर्य को भी कवि नहीं भुला सका। विस्तृत होते हुए भी इस वर्णन में यदि रोचकता बनी रहती है, इसका श्रेय कवि की कल्पनाशक्ति को है, जो एक से एक अनूठे उपमान यथित करती जाती है। प्रस्तुत अंग से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सीमन्तं परितो यस्याः शश्यालीकेऽलकावली ।

जाने यौवनराजस्य चलन्ती चामरालिका ॥ ३.१७

मुखेन्दुमण्डले किं वा चकोरयुगलं स्थिरम् ।

किं वा मुखाब्जविम्बेऽत्र क्रोडतो मृगखंजनी ॥ ३.३६

यस्यास्तु सरलो बाहुर्मसृणोऽब्जमृणालवत् ।

कान्ताकल्लोत्तिनीलोलकल्लोल इव कल्पते ॥ ३.१०७

किं वा यौवनराट् बाल्यबुद्धभ्रातृविधोगवान् ।

स्मरणार्थं स्तनव्याजाज्जाने तत्स्तूपमाधरत् ॥ ३.१३४

रमण्या रोमराजीयं मुरूपा परिपेशला ।

मन्ये लावण्यवाहिन्या बालसेवालबल्लरी ॥ ३.१३६

किं वा लावण्यनद्यां वा पद्ममेतत्सर्पिकम् ।

अस्त्यस्या एव बावर्तः कामिनाविकदुस्तरः ॥ ३.१८२

यहाँ अलकावली, आंखों, बाहु, स्तनों, रोमराजी तथा नाभि के लिये क्रमशः यौवनराज की चामर-पंक्ति, चकोरयुगल एवं मृगखंजन, नारी रूपी नदी की तरंग, शैशव तथा वार्धक्य के स्मरणार्थ स्तूप तथा सेवालबल्लरी अप्रस्तुतों की योजना की गयी है जिससे उसका सौन्दर्य अनुपम बन गया है^{१३} ।

पुरुष-सौन्दर्य के प्रतीक स्थूलभद्र के वर्णन में भी कवि ने उपर्युक्त विधि अपनायी है । सन्तोष यह है कि स्थूलभद्र का सौन्दर्यवर्णन अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित है, यद्यपि उसका भी आपादमस्तक समूचे अंगों का चित्रण किया गया है ।

चरित्रचित्रण

स्थूलभद्रगुणमाला के सीमित कथानक में केवल तीन मुख्य पात्र हैं । उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है । वे 'टाईप' नहीं हैं । चरित्रचित्रण में यह सूरचन्द्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है ।

स्थूलभद्र

पाटलिपुत्र-नरेश नन्द के मन्त्री शकटाल का पुत्र स्थूलभद्र काव्य का नायक है । वह साहित्य तथा संगीत का प्रेमी है । संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में काव्य-रचना करने में वह कुशल है^{१४} । उसकी उदारता प्रशंसनीय है; सौन्दर्य मनमोहक है । वस्तुतः वह साक्षात् नलकूबर है^{१५} । उसे देखकर विष्णु, शंकर, इन्द्र, काम, चन्द्रमा तथा कुमार कार्तिकेय का भ्रम होता है^{१६} । पाटलिपुत्र की रूपवती गणिका कोश्या, रेवन्त-तुल्य उसे प्रथम बार देख कर ही उसके रूप पर रीक जाती है ।

स्थूलभद्र का चरित्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दो विरोधी छोरों में बंधा हुआ है । वह कोश्या के प्रेम में डूब कर माता-पिता, परिजन, यहाँ तक कि स्वयं को भी भूल जाता है । उसके लिये कोश्या समूचे संसार का पर्याय बन जाती है । किन्तु जैसा

१७. ईदृशी नारी दुग्भ्यामन्या न दृश्यते । ४.८७

१८. कदाचिन्नव्यकाध्यानि जातु संगीतगीतकम् ।

कर्हचित्प्राकृतं तद्वत् संस्कृतं चाप्यगुम्फयत् ॥ २.६१

१९. उबारः स्फारभृंगारः प्रत्यक्षो नलकूबरः । ४.१०६

२०. बही, २.१०४-१०८

प्रायः होता है, उसके अतिशय भोग की परिणति योग में होती है। पिता के दुःखद बलिदान से उसके जीवन का पट-परिवर्तन होता है। 'विषयासक्ति के कारण वह पितृवश के षड्यन्त्र को भी नहीं जान सका'^{२१}— यह विचार उसे बार-बार सालता है। इससे वह इतना लज्जित तथा विचलित होता है कि मन्त्रिपद आदि के प्रबल प्रलोभनों को ठुकरा कर वह साधुत्व स्वीकार कर लेता है और आदर्श श्रमण का जीवन व्यतीत करता है। समितियों तथा गुप्तियों का परिपालन करने से वह दूसरों को भी भयसागर से पार करने में समर्थ हो गया है^{२२}।

यहां से स्थूलभद्र के जीवन का द्वितीय उदात्त अध्याय आरम्भ होता है। वह जर्म में दृढ़ता से प्रवृत्त हुआ^{२३}। उसका मन शान्तरस में रम गया। वह शान्ति तथा संयम की मूर्ति बन गया। विषयों के बीच वह मेरु के समान अडिग तथा अडोल है^{२४}। उसने जगद्विजेता काम को पराजित कर दिया और सांसारिक वासनाओं को जीत लिया^{२५}। इस साधना के फलस्वरूप मुनि स्थूलभद्र धीतरागता की उत्तुंग भावभूमि में पहुंच गया। जिस कोश्या के साथ उसने यौवन के अलम्य भोग भोगे थे, वह उसी नणिका की चन्द्रशाला में अनासक्त भाव से चातुर्मास व्यतीत करता है। वहां वह न केवल उसके 'मनोरति' के उन्मुक्त निमन्त्रण को निर्लिप्त भाव से अस्वीकार करता है बल्कि घन-यौवन की निस्सारता के प्रेरक उपदेश से अपनी 'प्राणप्रिया' को संयम तथा शील की ओर उन्मुख करता है^{२६} जिससे उसे अद्भुत गौरव एवं श्रद्धा की प्राप्ति होती है। वस्तुतः स्थूलभद्र के समान महान् वीतराग साधु पृथ्वीतल पर दुर्लभ है^{२७}।

कोश्या

स्थूलभद्र की प्रणयिनी कोश्या काव्य की नायिका है। वह वेश्या अवश्य है, किन्तु वसन्तसेना की भांति, एक व्यक्ति पर प्रणय केन्द्रित होने के पश्चात् उसका व्यक्तित्व कुन्दन की भांति चमक उठा है। वह अनुपम सुन्दरी है। चतुरानन

२१. वही, ७.१५६, १६०

२२. वही, ८.१४६-१५०, १४.११६

२३. वही, १७.३४

२४. मनः शान्तरसे न्यघात्, १७.३३; आयान्तं मेरुबद्धीरं महाव्रतधुरन्धरम्।

१४.११२

२५. संसारवासनाः सर्वा योजयत्स्मरमर्दनः। १७.१५३ तथा १७.१५६

२६. ममायमुपकारी यद्भोगान् भुक्त्वा पुरा मया।

धर्मकर्मणि मां प्रेम्णा प्रतिबोधयतेऽयुना १७.६६

२७. स्थूलभद्रसमः साधुर्बिरलो दुर्लभो भूषि। १७.१५३

ब्रह्मा भी उसके अवयव रूप का यथार्थ वर्णन करने में असमर्थ है^{१९} । उर्वशी आदि देवांगनाएं तथा गौरी, रुक्मिणी, सरस्वती आदि प्रख्यात सुन्दरियां उसके सम्मुख तुच्छ हैं (५.१०-१२) । स्थूलभद्र जैसे युवक को प्रेमी के रूप में पाकर वह कृतार्थ हो जाती है । प्रिय के आगमन मात्र से उसका अंग-अंग ऐसे खिल गया जैसे राजा की कृपा पाकर अधीनस्थ अधिकारी^{२०} । उसकी साथें परलवित ही हुई थीं कि सहसा उन पर गुहारपात हुआ । स्थूलभद्र पिता के बलिदान से व्यथित होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है । कोश्या पर अचानक वज्रपात हुआ । परन्तु वह इसका दुःखयोग वेश्या-वृत्ति में नहीं करती । वह तो स्थूलभद्र के अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना भी नहीं कर सकती । स्थूलभद्र से विमुख होकर किसी अन्य युवक को फांसने का सुझाव वह घृणा-पूर्वक अस्वीकार कर देती है ।

है है कृत्वेति सा कोश्या कणो पिधाय चाभ्यधात् ।

सा भाषस्व भगिन्धेवं ममाप्रीतिकरं त्विदम् ॥ १०.७

स्थूलभद्र के वियोग में उसका मन और शरीर दोनों जर्जर हो जाते हैं । अपने को झुठलाने के लिये वह उसे प्रेमपत्र लिखती है । भाग्य की विडम्बना, जब उसका प्रिय आया भी, तो वह संसार से विरक्त हो चुका था । वह नाना नृत्यों तथा काम-चेष्टाओं से उसे पुनः आकर्षित करने का प्रयत्न करती है और विरहताप के निवारण के लिये 'मनोरति' का छुला निमन्त्रण देती है, पर स्थूलभद्र अब पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था । कोश्या को अपने इस पूर्व-प्रेमी से ही भोग की निस्सारता का उपदेश सुनना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उसमें संवेग का उदय होता है और वह श्राविका-धर्म स्वीकार कर जीवन का उत्कर्ष प्राप्त करती है^{२१} । स्थूलभद्र के गुरुभ्राता छद्ममुनि को अनाचार के गर्त से उबार कर वह वेश्या माता, गुरु तथा तत्त्वोपदेशक के पूज्य पद पर आसीन होती है^{२२} ।

श्रीयक

श्रीयक स्थूलभद्र का अनुज है । पितृवत्सलता उसके व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण विशेषता है । पितृभक्ति के कारण उसे पिता की उचित-अनुचित, सभी प्रकार की,

२८. चतुर्वक्त्रोऽपि नो ब्रह्मा वर्णयन् पारमश्रुते । ४.१

२९. आगच्छन्तं प्रियं मत्वा कोश्यांगानि चकासिरे । १५.११०

३०. साधोः संगतितः कोश्या वेश्यापि श्राविकाजनि । १७.७२

३१. अद्य पश्चात्त्वमेवासि ममोपकारकारिणी

माता त्वं त्वं गुरुश्चापि तत्त्वमार्गप्रवेशिका ॥ १७.१५६

अहमस्मादनाचारान्निपतन्नरफान्तरे ।

त्वया हितोपदेशेन तारितो वारितः पथात् ॥ १७.१६०

आज्ञा सदैव स्वीकार्य है। अपने परिवार को राजकोष से बचाने तथा अपनी स्वाभि-
भक्ति प्रमाणित करने के लिये जब मन्त्री शकटाल उसे उसका (मन्त्री का) प्राणान्त
करने का आदेश देता है, श्रीयक उसका भी पालन करता है। इसे अन्धश्रद्धा कहा
जा सकता है, किन्तु यह कोरी विवेकहीनता है। उस जैसे नीतिकुशल व्यक्ति को
चाहिये तो यह था कि वह षड्यन्त्र की जड़ ही काट देता तथा राजा को वस्तुस्थिति
से अवगत करता (जैसा वह बाद में करता भी है), परन्तु वह पितृहत्या के पाप का,
अनिच्छा से सही, भाजन बनता है।

श्रीयक व्यवहार-कुशल व्यक्ति है। नन्दराज के पितृवध का कारण पूछने पर
उसका यह कथन जहाँ उसकी व्यावहारिकता का सूचक है, वहाँ इसमें राजा के प्रति
उपालम्भ भी छिपा हुआ है।

स्वामिस्तातेन किं तेन यो हि वो न मुखायते ।

किं हि तेन सुवर्णेन कर्णस्त्रुट्यति येन तु ॥ ७.११३

वह नन्दराज के मन्त्रिस्व का वैधानिक अधिकारी स्थूलभद्र को मानता है।
वह तब तक मन्त्रिमुद्रा स्वीकार नहीं करता जब तक उसका अग्रज उसे अस्वीकार
नहीं करता। वह वररुचि से पिता के वर का बदला लेता अवश्य है, किन्तु वह
बहुत मूल्यवान् बलिदान पहले दे चुका है। वररुचि के निष्कासन तथा निधन से
उसका मार्ग निष्कण्टक हो जाता है और वह निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह
करता है।

खला उत्खानिताः सर्वे सेवकाः स्वे सुबोद्धताः ।

भाण्डागारा भृतास्तेन श्रीयकेन च मन्त्रिणा ॥ ८.१८४

अन्य पात्र

शकटाल नन्दराज का मन्त्री है। वह शिष्ट तथा दर्शनशास्त्र का ज्ञाता है।
राजा के प्रति उसकी निष्ठा असन्दिग्ध है। राजा की हितकामना के कारण ही वह
सहसा वररुचि को धन देने की संस्तुति नहीं करता। दुर्भाग्यवश वह वररुचि के
षड्यंत्र तथा नन्दराज की अदूरदर्शिता का शिकार बनता है।

वररुचि पाखण्डी तथा धूर्त ब्राह्मण है। वह कपट से राजा का विश्वास
प्राप्त कर लेता है जिससे वह उसे यथेष्ट धन देकर पुरस्कृत करता है। अपने शत्रुओं
को घराशायी करने के लिये वह सभी उपायों का प्रयोग कर सकता है। शकटाल को
उसका विरोध करने का मूल्य प्राणों से चुकाना पड़ता है, यद्यपि कालान्तर में, वह
भी श्रीयक के जाल में फँस कर प्राणों से हाथ धो बैठता है।

भाषा आदि

स्थूलभद्रगुणमाला के रचयिता का उद्देश्य मुनि स्थूलभद्र के गुणगान से पुण्य

अर्जित करना तथा उसके द्वारा जीवन को सार्थक बनाना है। कवि का विश्वास है कि महापुरुषों के गुणों का स्मरण जगत् की विक्रियाओं को दूर करने का अमोघ मन्त्र है।^{१३} महात्माओं के महात्मा (१.३७) की गुणावली के इस निरूपण ने सूरचन्द्र की काव्य-रचना को बहुत तंग घेरे में परिवर्द्ध कर दिया है। उसके काव्यशास्त्र में रस, भाव, भाषा, शैली आदि काव्यतत्त्वों की उपयोगिता नगण्य है।^{१४} फलतः स्थूल-भद्रगुणमाला में सूरचन्द्र का जो रूप व्यक्त हुआ है वह कवि, कथावाचक तथा प्रबन्धत्व से निरपेक्ष तुकड़ का अजीब रूप है। जहाँ 'पुनरेको विशेषः स श्रूयतां सञ्जना इह' (६.१) तथा 'इदं महीय आश्चर्यं श्रवणीयं निश्च्युताम्' (६.४) जैसी पंक्तियाँ लेखक को कथाकार की श्रेणी में खड़ा करती हैं, वहाँ काव्य में 'उपमानानि चन्द्रस्य बहूनि सन्ति यत्कृतात्। पार्श्वनाथस्तदनात्तानि ज्ञेयानि विदुषां वरैः' (११.३०) आदि हास्यास्पद पद्य प्रबन्धत्व से उसकी धीर उदासीनता व्यक्त करते हैं। वर्णनों के बीच प्रस्तोत्तर-खंसी भी प्रबन्धत्व की हितैषी नहीं (उष्णागमेधिका निद्रा समेति हेतुरत्र कः—१४.१३५)। इस प्रकार की विश्रृंखल वर्णन-पद्धति शैली में शिथिलता को जन्म देती है जो प्रबन्धकाव्य की सुगठित तथा चुस्त शैली के अनुकूल नहीं है। सूरचन्द्र की शैली की प्रमुख विशेषता (?) उसके वर्णनों का कबोरेवार किवेकहीन विस्तार है। प्रत्येक विषय का क्रमबद्ध सविस्तार वर्णन करना उसकी प्रिय शैली है। सूरचन्द्र जहाँ बैठता है, वहीं पयासन बांध कर बैठ जाता है और जब तक विषय के हर सम्भव पक्ष के हर संभव 'डिटेल' का भग्न भर कर वर्णन नहीं कर लेता, भागे बढ़ने का नाम नहीं लेता ! पाटलिपुत्र का चित्रण करते समय उसके दुर्ग, परकोटे, परिखा, ह्राट, उद्यान आदि का क्रमवार वर्णन करना उसके लिए अनिवार्य है। दान देने के लिए उठे हाथ की सामान्य अंगिमा पर ब्रह्म आठ पद्य न्यूछावर कर सकता है (६.११२-११६)। मेघागम पर सागर की गर्जना तथा दान देते समय अंगुलियों के झिझने का कारण ढूँढ़ने में भी उसने कृपणता नहीं की (१०.१४५-१४८, ६.१२२-१२६)। सौन्दर्य तथा प्रकृति के निर्बाध वर्णन ने किस प्रकार काव्य का बहुलांश हड़प लिया है, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। इसका संचित निष्कर्ष यह है कि स्थूलभद्रगुणमाला की शैली में संयम अथवा संतुलन का सेदजनक अभाव है। फलतः वह प्रवाह तथा गठीलेपन से शून्य है। फिर भी यदि सूरचन्द्र का काव्य नीरसता से बच सका है,

३२. संसारं सफलीकर्तुं गुणाः केचन गुम्फिताः । १७.१७४

गुणान् गुणवतो गीत्वा करोति सफलं जनुः । १७.१७८

३३. भावभेदरसान् पूर्णाः परीक्षन्ते परीक्षकाः ।

मादृशा अस्पृधीमन्तो न वक्तुं तान् विजान्ते ॥१७.१८८

इसका श्रेय उसके अप्रस्तुतों के अक्षय कोष को है।

स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा सरलता के सौन्दर्य से भूषित है। भरतबाहुवलि-महाकाव्य जैसा भाषा-सौष्ठव तो यहाँ नहीं मिलता किन्तु इसमें प्रांजलता बराबर बनी रहती है। मध्ययुगीन महाकाव्यों की अन्य प्रवृत्तियों को प्रायः यथावत् ग्रहण करके भी सूरचन्द्र ने अपनी भाषा को अलंकृति तथा क्लिष्टता से आच्छादित नहीं किया है। उसका झुकाव सरल भाषा की ओर अधिक रहा है। काव्य को सुबोध बनाने के लिए ही उसने काव्य में कहीं-कहीं लोकभाषा की संस्कृत छाया मात्र प्रस्तुत कर दी है, जो संस्कृत भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल है किन्तु लोक में प्रचलित होने के कारण सर्वविदित हैं। 'राशोऽस्ति यः क्रोधः स सर्वं उत्तरिष्यति (७.७६) - राजा का जो क्रोध है, वह सब उत्तर जाएगा, तातवार्ता न पृष्ठवान् (७.१६०) - पिता की बात नहीं पूछी, अवनीरमणोऽस्माकमूर्खं क्रोधं करिष्यति (७.१६८) - राजा हमारे ऊपर क्रोध करेगा, सर्वमेतत् खादितुं नाथ धावति (६.१२४) - यह सब खाने को दीड़ता है, एकस्य पृष्ठे किं पतिता जडे (१०.७) - एक ही के पीछे क्यों पड़ी है? आतपो निपतति (१२.३) - धूप पड़ती है आदि इसी प्रकार के प्रयोग हैं। छप्पा (३.२५), फुंक (३.७४), विशाण-ध्वज (३.१३८), छन्नकः (३.१३८), कान्दविक-कंदोई (३.१४५), जटित्वा तालकानि, छलसि (६.८६), टिककूपकः (१२.८०) लट्ट-लट्टे (१०.१३२), कोट्ट, खाला, जंजाल, ठगविद्या, गुलाल तथा बटका, लपथी, काजिका, रोट्टक, पपंट, पूरिका, लड्डुक (१२.१२५-१२६) आदि देशी शब्दों का उदारतापूर्वक प्रयोग भी उपर्युक्त भावना से प्रेरित है। किन्तु शिरोरत्नः (२.६३), यदेषास्मि सास्थ्यामि तव कामितम् (२.१३५), मुनिराज्ञः (१५.११८) निषेधन्ती (१५.१०७), धर्मपदैव (१६.१६३), आदि अपाणिनीय प्रयोग कवि के प्रमाद के सूचक हैं।

यह स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा का एक पक्ष है। सुबोधता के अतिरिक्त सूरचन्द्र की भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि वह सदैव भावों की अनुगामिनी है। काव्य में स्थितियों का वैविध्य तो अधिक नहीं है किन्तु उसमें उदात्त-गम्भीर तथा भव्याञ्ज्य जो भाव हैं, उसकी भाषा उन सबको यथोचित पदावली में व्यक्त करने में सक्षम है। स्थूलभद्र को देखकर मूर्छित हुई कोदया की स्थिति के वर्णन तथा उसकी सखियों की चित्ताकुल प्रतिक्रिया के निरूपण में प्रयुक्त भाषा उनकी मानसिक विकलता को बिम्बित करती है। उसके मूर्छित होने पर वे विषाद में डूब जाती हैं, और होषा में आते ही वे हर्ष से पुलकित हो जाती हैं (२.११७, ११६, १२३)।

स्थूलभद्र के साधुस्व स्वीकार करने से कोश्या के तरुण हृदय की अभिलाषाएँ झूरी रह जाती हैं। उस पर अनभ्र बध्नापात हुआ। उसके विरह के चित्रण में विप्रलम्भ, अपने आवेग के कारण, करुणरस से बहुत निकट पहुंच गया है। उसकी

व्यथा की व्यंजना स्निग्ध तथा कोमल पदावली में की गयी है। समासाभाव तथा कातरतापूर्ण भाषा उसकी विकलता को दूना कर देते हैं। वियोग ने उसके हृदय को इतना तोड़ दिया है कि उठना, बैठना, सोना, चलना आदि अनिवार्य कृत्य भी उसके लिए भार बन गए हैं। इन पंक्तियों में एक-एक अक्षर से कोश्या की विवशता तथा विकलता टपक रही है।

किं करोमि क्व यामि कस्याग्रे पुत्करोम्यहं ।

वदामि कस्य दुःखानि वियुक्ता प्रेयसा सह ॥ ६.१३६

सखि तद् वस्तु संसारे विद्यते यदि तन्नय ।

वियुक्ता मानवा येन अणं रक्षन्ति यन्मनः ॥ ६.१३७

लयनं शयनं चापि क्रमणं रमणं तथा ।

मह्यं न रोचते किञ्चित् सखि स्वामिवियोगतः ॥ ६.१३८

इन विषादपूर्ण भावों के विपरीत सूरचंद्र ने कोश्या की हर्षोत्फुल्लता का चित्रण तदनु रूप भाषा में किया है। चिरविरह के पश्चात् प्रिय के आगमन का समाचार सुनकर वेश्या आनन्द से आप्लावित हो जाती है। उसे मिलने को अबीर कोश्या की त्वरा तथा उत्सुकता का वर्णन करने के लिए प्रवाहपूर्ण पदावली का प्रयोग किया गया है, जो अपने वेग मात्र से उसकी अधीरता को भूत कर देती है।

कुत्र कुत्रेति जल्पन्ती वस्त्रावे धनिकं प्रति ।

कोश्या प्रेमवशासंज्ञा वात्याहतेव तुलिका ॥ १५.१०६

न स्पृशन्ती भुवं पद्भ्यां निषेधन्ती निषेधकान् ।

उद्यांती वदते कोश्या सखीभिरमरीष सा ॥ १५.१०७

प्रिय को आँख भर कर देखने की बलवती स्पृहा है यह जिसने उसे देवांगना बना दिया है।

व्याकरण ज्ञान और शाब्दीक्रीडा

स्थूलभद्रगुणमाला में पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। यह कवि का अभीष्ट भी नहीं है। किन्तु बिचित्र बात है कि विरहवर्णन जैसे कोमल प्रसंग में उस पर व्याकरण एवं शाब्दी क्रीडा द्वारा अपना रचना कौशल प्रदर्शित करने की धुन सवार हुई है।

सामुद्रलावण्य अण् प्रत्यय के बिना समुद्रलावण बन जाता है। कोश्या के उल्लास तथा वेदना की व्यंजना 'अण्' प्रत्यय के सद्भाव एवं अभाव के आधार पर की गयी है। प्रियतम के संयोग में उसके लिए 'सामुद्रलावण्य' दो स्वतंत्र पद थे अर्थात् उसका शरीर अतिशय लावण्य से परिपूर्ण था। उसके वियोग में, अण् प्रत्यय के बिना वह एक पद बन गया है। उसके लिए अब सब कुछ 'क्षाररूप' हो गया है।

सति सामुद्रलाक्षणे अमृतां वृ भिवा त्वयि ।

ते प्रत्ययं विनायातामैकं पद्यं गते च मे ॥ ६.११४

वेष्या की व्यथा का संकेत करने के लिए कवि ने शब्दों के साथ खिलवाड़ भी किया है। संतोष यह है कि ऐसे पद्य संख्या में अधिक नहीं हैं,^{१३} न ही उनमें क्लिष्टता है। प्रस्तुत पद्यों में सात पदों के आदिवर्ण का लोप करने से ही कोश्या की विरहावस्था का भान होता है।

इभयानोन्नतकुवा राजीवपाणिरीश्वरी ।

तथा शिखरदशनाऽमृतवाक् मनोरमा ॥ ६.१२२

सति त्वयीदृशी स्वामिन्नभवं तु गते त्वयि ।

सप्तानामादिवर्णोऽप्यगमदेष्टां क्षणादपि ॥ ६.१२३

निम्नोक्त पंक्तियों में केवल वयङ् प्रत्ययान्त क्रियाएं प्रयुक्त की गयी हैं।

रक्षा रक्षायते शीर्षे वेणी वेणीयते शुचा ।

त्वां विना देव देवान्मे विप्रहो विप्रहायते ॥ ६.१२५

अलंकारविधान

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि स्यूलभद्रगुणमाला काव्य की अलंकार-योजना अप्रस्तुतविधान की नींव पर अवस्थित है। सूरचंद्र के अप्रस्तुतों का कोई ओर-छोर नहीं है। उसकी उर्वर कल्पना, कुशल बुनकर की तरह निरन्तर अप्रस्तुतों का जाल बुनती जाती है। अत्यन्त सामान्य अथवा महत्त्वहीन वस्तु के लिए भी सूरचन्द्र किस सरलता से नाना अप्रस्तुत जुटा सकता है, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। अकेले कोश्या के स्तनों के वर्णन में उसने सत्ताईस अप्रस्तुत प्रयुक्त किए हैं। सूरचन्द्र के अधिकतर अप्रस्तुत लोकव्यवहार, प्रकृति, परम्परा, शृंगार आदि जीवन के विविध पक्षों से गृहीत हैं। कुछ कवि के अनुभव तथा कल्पनाशक्ति से प्रसूत हैं। अप्रस्तुतों का यह निपुण विधान कवि कल्पना को द्योतित करता है तथा भावाभिव्यक्ति को सघन बनाता है। सूरचन्द्र के अप्रस्तुत उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु उन्होंने अधिकतर उत्प्रेक्षा का परिधान धारण किया है। उपर्युक्त विविध प्रसंगों में सूरचंद्र की उत्प्रेक्षाओं के सौन्दर्य का यथेष्ट परिचय मिला है। यहाँ कुछ अन्य अद्भुत उदाहरण दिए जाते हैं।

कोश्या के सौन्दर्य तथा सात्विक भावों के वर्णन में कवि ने अपनी कल्पना का कोश लुटा दिया है। प्रियमिलन से उत्पन्न आनन्दाश्रु उसकी आँखों में ऐसे लग रहे थे मानों कमलिनी पर ओस की बूंदें हों (५.२४)। कामावेश से उसका छरहरा शरीर कांप उठा, मानो काम मन्त्रिपुत्र की बीबने के लिए भाले का संधान कर रहा

हो (५.२६)। युवक स्थूलभद्र की वशीभूत करने के लिए कोश्या ने अपनी नाभि दिखाई, मानो उसे शराब का प्याला भेंट कर दिया हो। (५.२६)

स्थूलभद्रगुणमाला में उप्रेक्षा के बाद उपमा सबसे अधिक प्रयुक्त तथा सहृदयपूर्ण अलंकार है। काव्य में अनेक मार्मिक उपमाएं भरी पड़ी हैं। गणधर गौतम के अनुगमन से तुच्छ व्यक्ति ऐसे महान् बन जाता है जैसे संयुक्त अक्षर का पश्चाद्वर्ती लघु वर्ण भी गुरु बन जाता है (१.६)। नील परिधान के बीच कोश्या के दान्तों की कान्ति मेघमाला में विद्युद्देखा के समान चमक रही थी (५.२७)। रतिकेलि की धकान से उत्पन्न स्वेदकणों से व्याप्त कोश्या ऐसे लगती थी जैसे असमय में खिले फूलों से आच्छादित जाती-लता।

रतिकेलीश्रमोद्भूतस्वेदबिन्दुमती सती।

अकाले पुष्पिता जातीवाभाद् भ्रमरभोगदा ॥ १३.१२

इनके अतिरिक्त विभावना, श्लेष, यमक, सन्देश, वृष्टान्त, अर्थास्तरन्यास, व्यतिरेक, काव्यलिंग, विरोधाभास, परिसंख्या, सहोक्ति आदि उन अलंकारों में से जिन्हें काव्य में भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है।

— नन्दराज के कोड़ों का वर्णन अतिशयोक्ति के द्वारा किया गया है। उनसे भीत होकर सूर्य के कोड़े आकाश में यों छिपे कि अब भी वे पृथ्वी पर आने का साहस नहीं करते।

यस्य सप्तिभिस्तपोः सूर्यास्वास्त्यजुर्भुवम्।

तदास्तपंघतर्ध्नागावस्त्रापीयुर्न गां दिवः ॥ १.५२

पद्मिनी, कोश्या के पूर्वराम का वर्णन करती हुई, स्थूलभद्र को अप्रस्तुत-प्रशंसा के द्वारा उसकी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करती है। अप्रस्तुत पद्मिनी और चन्द्रमा से यहां क्रमशः प्रस्तुत कोश्या और स्थूलभद्र व्यंग्य हैं।

निरर्थं पद्मिनीजन्म यस्य दृष्टो न चन्द्रमाः।

व्यर्थजन्म तवावस्थाप्येवा कुत्सा व्यलोकितौ ॥ ४.६४

छन्द

स्थूलभद्रगुणमाला आसीच्य युग का एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमें, आरम्भ से अन्त तक एक, अनुष्टुप्, छन्द का ही प्रयोग हुआ है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की रूढ़ि का भी इसमें पालन नहीं किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र तथा कविराज विश्वनाथ ने अपने लक्षणों में कुछ ऐसे काव्यों का उल्लेख किया है, जिनकी रचना आद्यन्त एक ही छन्द में हुई थी। स्थूलभद्रगुणमाला उन्हीं की परम्परा में है।

स्थूलभद्रगुणमाला का महत्त्व उसके वर्णनों तक सीमित है, किन्तु ये इसके लिए बातक भी बने हैं। कवि की संतुलनहीनता ने उसकी कवित्वशक्ति का गला घोट दिया है। सूरचन्द्र की काव्यप्रतिभा प्रशंसनीय है परंतु उसने अधिकतर उसका अनावश्यक क्षय किया है।

दिग्विजयमहाकाव्य : मेघविजयगणि

देवानन्दमहाकाव्य^१ में मेघविजय ने विजयप्रभसूरि के चरित पर दृष्टिपात तो किया किन्तु इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। विजयप्रभ के प्रति कवि की श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ तथा उच्छल है कि उनके सारस्वत वन्दन के लिये अल्पकाय काव्य का एक अंश सर्वथा अपर्याप्त था। मेघविजय ने अपनी गुरु-भक्ति की अभिव्यक्ति दो स्वतन्त्र ग्रन्थों में की है। मेघदूतसमस्यालेख विजयप्रभ के प्रति विज्ञप्ति पत्र है। तेरह सर्गों का प्रस्तुत दिग्विजयमहाकाव्य^२ कवि की विशालतम कृति है, जिसमें विजयप्रभसूरि के चरित, विशेषतः उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों का विस्तार-पूर्वक निरूपण करने का उपक्रम है। उदात्त चरित, प्रभावक गुरु को काव्य का विषय बनाना अस्वाभाविक नहीं है। खेद यह है कि विद्वान् तथा प्रतिभाशाली होते हुए भी उपाध्याय मेघविजय, काव्य रूढ़ियों की संकरी गली में फँस कर तथा धर्मोत्साह के प्रवाह में बह कर अपने निर्धारित लक्ष्य से च्युत हो गये हैं। १२७४ पद्यों के इस विशाल काव्य के परिक्षीलन से विजयप्रभसूरि के विषय में हमारी जानकारी में विशेष वृद्धि नहीं होती।

दिग्विजय-काव्य का महाकाव्यत्व

प्रस्तुत काव्य में मेघविजय ने देवानन्द की स्वरूपगत द्रष्टियों का परिमार्जन करने का प्रकट प्रयत्न किया है। उदात्त कथानक, महच्चरित तथा महदुद्देश्य—महाकाव्य के ये तीन आन्तरिक स्वरूपविधायक तत्त्व दिग्विजयमहाकाव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न, इम्यकुलप्रसूत विजयप्रभसूरि की साधना तथा धर्मप्रभावना की अदम्य स्पृहा काव्य में महच्चरित की सृष्टि करती है। उनकी दिग्विजय में अन्तर्निहित आध्यात्मिकता की उच्छलता के कारण काव्य का कथानक उदात्तता की भूमि पर प्रतिष्ठित है। सार्वदेशिक धर्मविजय के द्वारा आर्हत धर्म का एकच्छत्र राज्य स्थापित करना, काव्य रचना का प्रेरक उद्देश्य है^३। मेघविजय के

१. देवानन्दमहाकाव्य दिग्विजयमहाकाव्य से पूर्ववर्ती रचना है। इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जाएगा।

२. सम्पादक: अम्बालाल प्रेमचन्द शाह, सिधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रंथांक १४, बम्बई, सम्वत् २००१

३. सार्वत्रिक विजयते भरते प्रसिद्धमेकातपत्रमिहाहंतधर्मराज्यम्। दिग्विजय महाकाव्य १३.७

अन्य काव्यों की भांति दिग्विजय महाकाव्य भी रस की दृष्टि से कच्चा है। काव्य में जिस रस की, तुलनात्मक कोण से, सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई है, वह शृंगार है, किन्तु शृंगार रस काव्य की नैतिक प्रकृति तथा उद्देश्य के प्रतिकूल है। काव्य में शृंगार को यह महत्त्व शास्त्रीय विधान के कारण दिया गया प्रतीत होता है। वीर, हास्य, अद्भुत आदि रस, गौण रूप में काव्य की रसात्मकता की सृष्टि में योग देते हैं।

महाकाव्य के इन मूलभूत तत्त्वों के समान स्थूल लक्षणों का भी दिग्विजय में निष्ठा से पालन किया गया है। परम्परा के अनुसार इसका आरम्भ चौबीस पद्यों के लम्बे मंगलारण से हुआ है, जिनमें क्रमशः चौबीस तीर्थंकरों से कल्याण की कामना की गयी है। काव्य का शीर्षक, सगों का नामकरण, छन्दों का विधान भी शास्त्र के अनुकूल है। द्वीप, नगर, उपवन, वसन्त, पुष्पावधय, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत आदि के काव्योचित कल्पनापूर्ण तथा विस्तृत वर्णनों से, एक ओर, इस प्रशस्तिपरक काव्य में विविधता का समावेश हुआ है, दूसरी ओर, चित्रकाव्य तथा यमक में लक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से मिलकर ये दिग्विजयमहाकाव्य की शास्त्रीयता के परिचायक हैं। प्रौढ़ (कहीं-कहीं कष्टसाध्य) तथा गरिमापूर्ण भाषा भी काव्य की इसी शैली की ओर इंगित करती है।

रचनाकाल

द्विग्विजयमहाकाव्य में इसके रचनाकाल का कोई संकेत नहीं है। इसमें प्रान्तप्रशस्ति का भी अभाव है। मेघविजय की अन्य कृतियों के सन्दर्भ में यह आश्चर्यजनक अवश्य है, किन्तु इस आधार पर, काव्य के सम्पादक की भांति यह कल्पना करना कि दिग्विजयमहाकाव्य मेघविजय की अन्तिम रचना है तथा उनके निधन के कारण इसमें प्रान्त-प्रशस्ति का समावेश नहीं हो सका, युक्तिपूर्ण नहीं है। पट्टधरों के अनुक्रम की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य, जिसमें विजयदेवसूरि के पट्टधर विजयप्रभ का वृत्त वर्णित है, देवानन्द के बाद की रचना है। देवानन्दमहाकाव्य की रचना सम्वत् १७२७ की विजयदशमी को पूर्ण हुई थी। दिग्विजयमहाकाव्य में विजयप्रभसूरि के देहावसान का उल्लेख नहीं है। उनका स्वर्गरोहण सम्वत् १७४६ में हुआ था। अतः सम्वत् १७२७ तथा १७४६ के मध्य, दिग्विजयकाव्य का रचना काल मानना उचित होगा। मेघविजय की अन्तिम ज्ञात कृति सप्तसन्धानमहाकाव्य है, जिसकी पूर्ति सम्वत् १७६० में हुई थी।

४. दिग्विजयमहाकाव्य, प्रस्तावना, पृष्ठ १

५. देवानन्दमहाकाव्य, प्रशस्ति, ८५

६. सप्तसन्धानमहाकाव्य, प्रशस्ति, ३

कथानक

दिविजय तेरह सर्गों का महाकाव्य है। प्रथम सर्ग में चौबीस पक्षों के लम्बे मंगलाचरण तथा सज्जन-प्रशंसा एवं खलनिन्दा आदि काव्य-रुद्धियों के पश्चात् नामानुसार जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन है, जो जैन मान्यताओं के परिवेश में देखित है। सर्ग के अन्त में सुमेरु का रोचक वर्णन है। द्वितीय सर्ग में भारतवर्ष की स्वर्ग से श्रेष्ठता का वर्णन तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित—जन्म से निर्वाणप्राप्ति तक—का संक्षिप्त निरूपण है। तृतीय सर्ग में, कथानायक के मुनिवंश के मूल-पुरुष भगवान् महावीर की चारित्रिक दिग्विजय के अन्तर्गत उनके जन्म से लेकर निर्वाण तक की समूची घटनाओं तथा उपलब्धियों को सप्तसु भाषा में निबद्ध किया गया है। चतुर्थ सर्ग में तपागच्छ के पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा के निरूपण के पश्चात् समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नयन के लिये विजयदेवसूरि की धार्मिक दिग्विजय का वर्णन है। देवानन्दमहाकाव्य में वर्णित विजयदेवसूरि के चरित की यहाँ संक्षेप में आवृत्ति की गयी है। विजयदेव द्वारा वीरविजय (विजयप्रभ का दीक्षा-पूर्व नाम) को पट्टलक्ष्मी का पाणिग्रहण कराने से अहमदाबाद का समूचा संघ आनन्दित हो जाता है*। उत्तर-शाविजय—वर्णन नामक पंचम सर्ग में काव्यनायक विजयप्रभसूरि मोह को पराजित करने के लिये, धर्मसेना के साथ, उत्तरदिशा की ओर प्रस्थान करते हैं। विमलगिरि पर आदिदेव की वन्दना करने के पश्चात् उन्होंने अहमदाबाद में अपना आध्यात्मिक शिविर डाला तथा ज्ञान, सदाचार आदि के अमोक्ष अस्त्रों से काम को ध्वस्त किया। उन्होंने शंखेश्वर पार्श्वनाथ की अर्चना की और श्रम्यकर्त्ता मेघविजय को वाचक पद प्रदान किया। पार्श्वप्रतिमा के अभिषेक के लिये वे पर्वतीय मार्ग से उदयपुर को प्रस्थान करते हैं। सूर्योदय के वर्णन से सर्ग समाप्त हो जाता है। छठे सर्ग में उदयपुर का शासक, विजयप्रभ का राजसी स्वागत करता है। वे अपने विहार से मिथ्या मतों का निरसन तथा जिनमत की प्रतिष्ठा करते हैं*। ध्वित्रकाव्य तथा पादयमक से आच्छादित सप्तम सर्ग में वे पश्चिम दिशा को विजित करने के लिये प्रस्थान करते हैं। सादड़ी, नारायणपुर, माल्यपुर तथा संग्रामपुर होते हुए उन्होंने मरुभूमि में पदार्पण किया। उनके आग्रह से मरुदेश भौतिक आपदाओं से मुक्त हो गया। आठवां सर्ग शिवपुरी (सिरोही) तथा शंखेश्वर पार्श्व-नाथ की प्रतिमा के विस्तृत वर्णन से परिपूर्ण है। नवें सर्ग के आरम्भ में चन्द्रोदय के

७. भुवभुवबहुबुधैः आद्भुतैः समग्रैः,

रविमिष विषस्योत्सुतं कोकलोकः । दिग्विजयमहाकाव्य, ४.७१

८. अफहता प्रभुणा रुचिरैर्विष्वी प्रतिहृतं च जनार्दनशासनम् ।

नयचिन्तेषुजा नृशमुज्ज्वलं भुवि हितं बिहितं मतमार्हतम् ॥ वही, ६.५३

व्याज से वेदान्त, कापालिक आदि नाना मतों का निरूपण किया गया है। पूर्वविधा को व्यसनों तथा अनाचारों से उबारने के लिये विजयप्रभ उस ओर प्रस्थान करते हैं। इस सर्ग में प्रभात का वर्णन, बिम्ब वैविध्य के अभाव के कारण, पिष्टपेषण बनकर रह गया है। पूर्ववर्ती दो सर्गों की भांति नगरवर्णन के पश्चात् इसमें आगरा नगर, वहाँ के राजप्रासाद, प्राचीर, उपवन, वाटिका आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्यारहवें सर्ग में विजयप्रभ, आगरा से प्रयाग तथा पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी होते हुए पटना की ओर विहार करते हैं। इस प्रसंग में कवि ने यमुना, सूर्यास्त के बाद प्रेमी युगलों के मिलन, प्रयाग, त्रिवेणी, वाराणसी आदि के वर्णनों से अपने वर्णन-कोशल का परिचय दिया है। बारहवें सर्ग में पार्श्वप्रभु की स्तुति तथा पटना का वर्णन है। पटना में चातुर्मास के पश्चात् विजयप्रभ सम्मैततीर्थ की बन्दना के लिये प्रस्थान करते हैं। इस प्रसंग में चिन्तामणि पार्श्वनाथ की स्तुति की गयी है। तेरहवें सर्ग में चौबीस तीर्थंकरों, गणधरों तथा सम्मैतगिरि का वर्णन है। सम्मैतगिरि की यात्रा के पश्चात् विजयप्रभ भगवान् महावीर के जन्मस्थान कुण्डिननगर में उपवास तथा पटना में चतुर्मास करते हैं। यहीं काव्य सहसा समाप्त हो जाता है।

कथानक के विनियोग की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य उस युग की प्रतिनिधि रचना है। इसमें कथानक का महत्त्व अधिक नहीं है। प्रथम चार सर्गों का मूल कथा-वृत्त से केवल इतना ही चेतन सम्बन्ध है कि वे इसकी भूमिका निर्मित करते हैं। मूल कथानक वाले भाग में वर्णनात्मक प्रसंगों की और अधिक भरमार है। ज्यों-ज्यों कवि काव्य के अन्त की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों उसकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति विकटतर होती गयी। आठवां सर्ग पार्श्वप्रतिमा के वर्णन पर खपा दिया गया है। अन्तिम चार सर्ग तो आद्यन्त नगर, प्रासाद, प्राचीर, वाटिका, नदी, सूर्यास्त, सूर्योदय, प्रभात सम्मैतगिरि के वर्णनों तथा स्तोत्रों की बाढ़ से आप्लावित हैं। वास्तविकता तो यह है कि अपनी वर्णनशक्ति के प्रदर्शन के फेर में फंस कर काव्यकार अपने गुरु की आध्यात्मिक तथा चारित्रिक उपलब्धियों के निरूपण के मुख्य उद्देश्य से भी बहक गया है। परवर्ती संस्कृत महाकाव्यों में वर्णन-प्रकार की बेदी पर वर्ण्य विषय की बलि देने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, दिग्विजयमहाकाव्य में उसका निकृष्ट रूप दिखाई देता है।

प्रकृति वर्णन

मेघविजय ने अपने अन्य दो काव्यों की अपेक्षा दिग्विजयमहाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का व्यापक चित्रण किया है, और इस अनुपात में, उसे कवि के प्रकृति-प्रेम का द्योतक माना जा सकता है। परन्तु पण्डित कवि की वैदग्ध्य को प्रकृति से सहज अनुराग नहीं है। काव्य में प्रकृति का यह चित्रण शास्त्रीय विधान के पालन की व्यग्रता से

प्रेरित है। मेघविजय की तूलिका ने इतिवृत्त के विभिन्न प्रसंगों में नदी, पर्वत, वसन्त, सूर्यास्त, प्रभात आदि के कुछ सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। ये काव्य को रोचकता भी प्रदान करते हैं किन्तु सब मिलाकर मेघविजय का प्रकृतिचित्रण शास्त्रीय (एकेडेमिक) अधिक है।

मेघविजय के अन्य दोनों महाकाव्यों की भांति दिग्विजयमहाकाव्य में भी प्रकृति-चित्रण का आधार बहुधा वक्रोक्ति है। प्रकृति-चित्रण की रही-सही स्वाभाविकता यहां समाप्त हो गयी है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को रूपायित करने में कवि ने उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय लिया है, किन्तु उसका कल्पनाकोश सीमित है। एक विषय का पुनः पुनः वर्णन करने से काव्य में पिष्टपेषण भी हुआ है और कवि को दूर की उड़ान भी भरनी पड़ी है। प्रभात तथा सूर्योदय के वर्णनों में, जो काव्य में पाँचवें, नवें तथा बारहवें सर्गों में, तीन स्थलों पर, उपलब्ध हैं; प्रकृति-चित्रण की यह विशेषता मुखर है। इन तीनों वर्णनों में, कवि ने तारों के अस्त होने के कारण की खोज में अपनी कल्पना लुटाने में ही प्रकृति-चित्रण की सार्थकता मानी है। एक विषय का बार-बार निरूपण करने से इन वर्णनों में नवीनता का खेदजनक अभाव है। यहां कवि की अधिकतर कल्पनाएं दूरारूढ़ हैं, वे भले ही क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करें।

अरुणोदय से अन्धकार क्यों विलीन हो जाता है, इस सम्बन्ध में कवि की यह कल्पना अपनी क्लिष्टता के कारण उल्लेखनीय है। प्रातःकाल इन्द्र का वाहन, ऐरावत, उदयाचल पर अपना सिन्दूर से लाल सिर रगड़ता है। उसके मदार्द्र गण्ड-स्थल पर बैठे भौरे घर्षण से बचने के लिये उड़ जाते हैं। ऐरावत के उत्पात के सम्भ्रम से डर कर अन्धकार अपनी समवर्णी भ्रमरावली के साथ ही कहीं छिप जाता है।

हरिकरिवरः सिन्दूराक्तं शिरः समधर्वयत्

कुलशिखरिणि प्राच्ये तस्मादिवारणिमाश्रये।

मवजलललद्भृं गधेण्या समं स्वचिदुद्ययो

तिमिरनिवहः सावर्ण्येनोद्भवदभयसम्भ्रमात् ॥ ५.६२

तारों के अस्त होने का कारण ढूँढने के लिये मेघविजय ने और भी विचित्र कल्पनाएँ की हैं। नवें तथा बारहवें सर्ग में दूरारूढ़ कल्पनाओं की भरमार है। नवें सर्ग में बिम्बवैविध्य के अभाव के कारण पिष्टपेषण भी अधिक हुआ है। कवि की कल्पना है कि प्रातःकाल तेज हवा के कारण आकाश का वृक्ष ढगमगाने लगता है जिससे उसके तारे रुपी जीर्ण पत्ते झड़ जाते हैं (६.६०)। पति के वियोग के कारण रात्रि के समय आकाशलक्ष्मी के हृदय में, तारों के रूप में, जो अनजिनत छिद्र दिखाई

देते हैं। सूर्य उन्हें अपनी लालिमा के वस्त्र से ढक देता है (६.७४)। अथवा चन्द्रमा को लील कर सूर्य की प्रचण्ड भूख शान्त नहीं होती, अतः वह राक्षस की तरह नक्षत्रों का भात भी चट कर जाता है (६.७६)। अथवा सूर्य, रात्रि की नक्षत्ररूपी मौक्तिक-माला को, प्रतिशोध की भावना से तोड़ देता है क्योंकि रात्रि के पति (चन्द्रमा) ने सूर्य की प्रियाओं (कमलिनियों) की शोभा को नष्ट किया था (६.७८)। बारहवें सर्ग में भी इसी प्रकार की अटपटी कल्पनाएँ की गयी हैं। 'रत्न का मेल रत्न से होना चाहिये' मानो इस न्याय को चरितार्थ करने के लिए दिन के रत्न सूर्य ने तारा-मणियों को प्रेमपूर्वक अपने में समेट लिया है (१२.६५)। अथवा विस्वासी दिग्युवतियों ने, सूर्य को देखकर, लज्जावश अपनी तारों की ओँखें बन्द कर ली हैं (१२.६८) अथवा नवोदित सूर्य ने चाँदनी के साथ ताराओं का नाश्ता कर लिया है (१२.१००)।

दसवें सर्ग के सूर्यास्त-वर्णन का आधार भी प्रौढोक्ति है। संध्याकालीन गहरी लालिमा तथा तत्पश्चात् अंधकार फैलने के बारे में कवि ने नाना कल्पनाएँ की हैं, जो रोचक होने पर भी दूरारुढ़ प्रतीत होती हैं। कवि की कल्पना है कि वरुणलोक की स्वच्छन्द कामिनियों ने मिलकर सूर्य का मुख चूम लिया है जिससे वह उनके अधर-राग से लाल हो गया है। अथवा सूर्य भगवे वस्त्र पहनकर योगी बन गया है और उसके कुटुम्बी जन, तारों के रूप में, गगन में फैल गये हैं। सूर्य के अस्त होने के बाद अंधकार क्यों फैलता है, इसकी एक-दो कल्पनाएँ द्रष्टव्य हैं। सूर्य रूपी ऐरावत स्नान करने के लिये पश्चिम सागर में घुसा था। जल के वेग के कारण भीरे, उसके गण्डस्थलों से उड़कर, अन्धकार के रूप में, आकाश में फैल गये हैं। अथवा पति के परदेस जाने पर, पद्मिनियों ने, विरहदुःख से, ज्योंही अपनी घेणियाँ खोलीं, उनकी कालिमा सर्वत्र व्याप्त हो गयी है (१०.१४-१५)।

फिर भी उपर्युक्त प्राकृतिक तत्त्वों के निरूपण में, कहीं-कहीं कविकल्पना की कमनीय छटा दिखाई देती है। तारे कैसे उदित होते हैं और क्यों अस्त होते हैं, इस सम्बन्ध में कवि ने एक मनोहर कल्पना की है। चन्द्रमा रातभर आकाशगंगा में स्नान करता है। उसके स्नान के कारण आकाशगंगा से उठते जलकण, तारे बनकर आकाश में फैल जाते हैं। परन्तु प्रातःकाल जब वह सर्दी से ठिठुरता हुआ वाहणी (पश्चिम दिशा—मदिरा) का सेवन करने लगता है, तारे, स्वयं को असहाय पाकर, धीरे-धीरे

६. वैरिणीभिरवदातबिघ्नीनां स्वैरिणीभिरिव वाहणलोके ।

चुम्बनेऽस्य विहितेऽधररागाच्छोणतामवृणुतारुणविम्बम् ॥ १०.११

भानुरस्तगिरिर्गैरिकयोगाद् योगवानिव कषायितवासाः ।

दूरतो निजपरिग्रहमोज्ज्वलं रूप्यका ग्रहणगस्त इमे खे ॥ १०.१३

छिप जाते हैं ।

गगनसरिति स्नानं चक्रे द्विजाधिपतिश्चिरं

भगणमिषतः प्रादुर्भूतास्तदम्बुनि बुबुबुदाः ।

निविडजडिमच्छित्त्यै वेगाद् विभेजुषि वारुणी-

मुषसि विरते तस्मिन्नेते क्रमाच्छममाययुः ॥ ५.६५

छठे सर्ग में वसन्त का वर्णन स्पष्टतः भाष से प्रभावित है, जिसने षड्भुज-चित्रण में, यमक के प्रयोग में, अपना कौशल प्रदर्शित किया है । यमक ने मेघविजय के वर्णन का सारा सौन्दर्य नष्ट कर दिया है । इसमें अधिकतर वसन्त के उद्दीपक पक्ष का चित्रण किया गया है । वसन्त में कीयलों की हृदयवेधी कूक तथा पुष्प-सम्पदा से अभिभूत होकर मानवती, मान छोड़कर, प्रियतम का मनुहार करने लगी है ।

चिरहिणां सहकारमहीरुहा किमपहृत्य कुलान् मुकुलाविभिः ।

प्रियतमां कजुषां सुवृशां पिकध्वनिभृता निभृता रतिरादधे ॥ ६.२६

तरुवनान्निपतत्कुसुमैः समं स्मरशरीरिब मूर्तिधरैः अता ।

सविनयं प्रियमन्वनयत् स्वयमनवमा नवमानवती बधूः ॥ ६.२८

मेघविजय ने कुछ स्थलों पर प्रकृति को मानवी रूप भी दिया है । वसन्त-वर्णन में सूर्य को कामुक के रूप में चित्रित किया गया है । वह अपनी प्राणप्रिया उत्तरदिशा के वियोग में क्षीण हो गया है और पृश्चली दक्षिणादिशा ने भी उसे लूट कर ठुकरा दिया है । बेचारा हताश होकर पुनः पूर्व नायिका के पास जा रहा है । वसन्त में सूर्य के उत्तरायण में संक्रमण का यह वर्णन मानवीकरण के फलस्वरूप सजीव तथा रोचक बन गया है ।

बहुदिनायुदगम्बुजलोचनाविरहतः कृशकान्तिरहर्मणिः ।

हृतवसुर्ननु दक्षिणया तदुत्सुकमनाः कमनादिव निर्ययो ॥ ६.२२

प्रभात के समय ताराओं का यह आचरण पतिव्रताओं के समान है । पति (चन्द्रमा) के परलोक चले जाने पर वे साध्वियां, उसके वियोग का दुःख न सह सकने के कारण, प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा में जल कर सती हो गयी हैं । ताराओं पर पतिव्रताओं के आदर्श का आरोप करने से प्रभात का सामान्य दृश्य कितना प्रभाव-शाली बन गया है !

पत्युस्तदास्तनयमने हिमांशोस्तारास्त्रियस्तद्विरहेण वृनाः ।

प्रभातसंध्यारुणिमानलान्तः सत्यो हि सत्यं विविशुविशुद्धाः ॥ ६.७६

इस प्रकार दिग्विजय के व्यापक प्रकृतिचित्रण में यद्यपि कुछ चित्र सुन्दर हैं किन्तु वह बहुधा मामिकता से शून्य है । प्रकृति-वर्णन में मेघविजय का उद्देश्य शास्त्रीय लक्षणों की खानापूर्ति करना है ।

रसचित्रण

रसात्मकता की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य की विचित्र स्थिति है। इसमें काव्यनायक की जिन आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा उनके माध्यम से आईत धर्म की उत्कृष्टता का जो प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुरूप इसमें शान्त रस की प्रधानता नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य में वर्णित चारित्रिक दिग्विजय के अभियान पक्ष को कवि ने अधिक महत्त्व दिया है जिसके फलस्वरूप उसका धार्मिक स्वर मन्द पड़ गया है। वर्तमान रूप में, काव्य में, शृंगार का सबसे अधिक, दो स्थानों पर पल्लवन हुआ है। इस दृष्टि से शृंगार को काव्य का मुख्य रस माना जा सकता है, परन्तु यह काव्य की प्रकृति के प्रतिकूल है। वैसे भी 'मनसिजरस' की अवमानना में ही साधुत्व की चरितार्थता है। वास्तविकता यह है कि रसचित्रण में कवि को विशेष सफलता नहीं मिली है। मेघविजय के अन्य दो महाकाव्य भी, जैसा उनके विवेचन से स्पष्ट है, रसचित्रण की दृष्टि से कच्चे हैं। सहृदय को रसचर्वणा कराना कवि का उद्देश्य भी नहीं है।

यारहवें सर्ग में, संप्रयोग-वर्णन के अन्तर्गत, सम्भोग शृंगार की सघन अभिव्यक्ति हुई है। चन्द्रमा को दिग्बधूओं के साथ कामकेलियाँ करता देखकर प्रेमीजन् भी शृंगार की साधुरी में खो जाते हैं। चिर बिछोह के पश्चात् मिले युगल की ये चेष्टाएँ सम्भोग की कमनीय भाँकी प्रस्तुत करती हैं। मदमाते युवक ने हास-विलास से प्रियतमा की विरह-वेदना को दूर कर दिया है। वह मानो उसके हृदय में प्रविष्ट होने के लिये उसके कण्ठ से छिपक गयी है। प्रिय उसे देर तक भोगता रहा। उसके मालादि भूषण सब टूट गये पर प्रणयसुख में लीन उसे इसका भान भी नहीं हुआ।

चिरविरहजं दुःखं प्रत्यादिवेश निवेशकृत्

विविधवचनन्यासैर्हसैर्विलासकरः प्रियः ।

सपदि हृदये तन्वावेष्टं वधूरवधूतभीस्तत

इव लघुलम्बा कण्ठे चिरं बुभुक्षेऽमुना ॥

कुसुमरायनादुष्कर्मनीत्वा धृता सुजयोर्वृणे

मुदमुदवहद् भार्या विश्वाप्रियैरबलालिता ।

प्रणयविवशा भूषामात्मारिके विगलत्यपि

न हि गणयति त्यागी रागी कदापि वसुव्ययम् ॥ ११.३१-३२

यहां नायक की नायिका-विषयक रति स्थायी भाव है। वधू आलम्बन विभाव है। रात्रि का शान्त-स्निग्ध वातावरण तथा प्रेमी युगम के हास-विलास उद्दीपन विभाव हैं। गाढालिगन के द्वारा नायिका की नायक के हृदय में प्रविष्ट होने की चेष्टा,

१०. मनसिजरसं सर्वं मत्पाऽवमत्य दृढव्रताः । वही, ११.७

नायक का उसे शय्या से उठाकर बाहुपाश में बांधना तथा उसके आभूषणों, हारों आदि का टूटना अनुभाव है। औत्सुक्य, मति, स्मृति, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। ये विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव मिलकर स्थायी भाव रति को शृंगार रस का रूप देते हैं।

दिविजयमहाकाव्य में शृंगार के अतिरिक्त अद्भुत, वीर तथा हास्यरस की भी यथोचित अवतारणा हुई है। महावीर प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर दिशाएँ देवध्वनि से गुञ्जायमान हो गयीं, देवता पृथ्वी पर उतर आये, दुन्दुभिनाद सुनकर काम की शक्ति नष्ट हो गयी तथा मेघकुमारों ने सुगंधित जल की वर्षा की। इन घटनाओं में अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है।

देवध्वनिध्वनितदिव्यलयः ससार व्योम्नस्तदा सुमनसो द्विविधाऽवतरेकः ।

निर्वम्बुदुन्दुमिरभिनरवो जगर्ज सन्तर्जयन्निध विमोहमहोज्जितान् ॥ ३.११

पुष्पाणि तत्र वद्वुबुधसौरभाणि संसिञ्च गन्धसलिलैः परितो धरित्रीम् ।

आजानुभागमपि मेघकुमारदेवाः सेवाविधेरसमयं समयं प्रतीक्ष्य ॥ ३.१६

काव्य में दिविजय का वर्णन बहुधा श्लेषविधि से किया गया है। किन्तु मुख्यतः अर्थ सम्भव होने पर भी उसमें सदैव वीररस की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। श्लेष से पाठक को चमस्कृत करना ही कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है। महावीर प्रभु की दिविजय के वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पंक्तियों में वीररस की छटा अवश्य दिखाई देती है।

वक्षाः पराक्रमधियावरणस्य संगे शूरा विचेरुरभितो विषये क्षमायाः ।

मुक्तंविणः सरसमूहमिहादिशन्तः सन्त स्थिता घृतशचः खलु मण्डलाग्रे ॥ ३.४७

दिविजयकाव्य में एक स्थान पर हास्य की मधुर झलक दिखाई देती है। एक नायिका मणियों के फर्श में अपने प्रियतम के सेंकड़ों प्रतिबिम्ब देखकर भौचक्की रह गयी। वह निर्णय नहीं कर सकी कि पति कौन है? उसकी इस भ्रान्ति को देखकर सखियां खिलखिला कर हंस पड़ती हैं।

मणिकुट्टिमरंगसंगमे शतशः स्वस्य ध्वस्य विम्बितैः ।

भयविस्मयसाहसान्विता बनिता स्वास्तिजनेन हृष्यते ॥ ८.२५

ये रसात्मक प्रसंग काव्य के धार्मिक इतिवृत्त को रस से सिक्त करते हैं। किन्तु रस-चित्रण में कवि को अधिक सफलता नहीं मिली है। काव्य की प्रकृति के अनुरूप इसमें शान्त रस को मुख्य स्थान न देना कवि की बहुत बड़ी चूक है। वस्तुतः वह वर्णनों के गोरखघन्धे में इतना उलझा हुआ है कि मानवहृदय की विविध तरंगों के उत्थान-पतन तथा घात-प्रतिघात का रसात्मक विश्लेषण करने का उसे अवकाश नहीं है।

भाषा

दिविजयमहाकाव्य का जो तत्त्व अकेला ही इसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है, वह इसकी उदात्त एवं गम्भीर भाषा है। ज्ञानाचार्य के साधुजीवन का प्रौढ़ किन्तु प्राञ्जल भाषा में निबन्धन करना स्वयं एक उपलब्धि है। इस कोटि की कथा-वस्तु की, भाषात्मक दृष्टि से, क्या दयनीय परिणित हो सकती है, यह श्रीवल्लभ के विजयदेवमहात्म्य से स्पष्ट है।

मेघविजय का भाषा पर स्पर्धनीय अधिकार है। भाषाधिकार के बिना वह शाब्दी जादूगरी सम्भव नहीं, जो समस्यापूर्तिरूप देवानन्दमहाकाव्य अथवा 'प्रत्येका-क्षरश्लेषमय' सप्तसन्धान में की गयी है। दिविजयमहाकाव्य में, भाषा के नाम पर वह बौद्धिक उत्पीड़न तो नहीं है, किन्तु यहाँ भी भाषा कवि की यत्नवर्ती है तथा वह उसका स्वच्छन्द प्रयोग कर सकता है, इसमें तनिक सन्देह नहीं है। पूरे दो सर्गों में यमक का विकट प्रयोग, अस्थ तथा मध्यपदीय अनुप्रास की योजना, श्लेष तथा चित्रकाव्य, कवि के भाषाधिकार के ज्वलन्त प्रमाण हैं। श्लिष्ट वर्णनों तथा यमक एवं चित्रकाव्य वाले स्थलों में क्लिष्टता का समावेश स्वाभाविक था। दिविजयकाव्य में श्लेष का स्वतन्त्र अथवा अन्य अलंकारों के अवयव के रूप में पर्याप्त प्रयोग किया गया है। किन्तु श्लेष की करालता नवें सर्ग के आरम्भ में दिखाई देती है, जहाँ चन्द्रोदय तथा विभिन्न दार्शनिक मतों का श्लिष्ट वर्णन किया गया है। श्लेष की क्लिष्टता ने दोनों को लील लिया है।^{११} यमक तथा चित्रकाव्य से आच्छादित सप्तम सर्ग में भी भाषा की यही परिणति हुई है^{१२}। परन्तु यह दिविजयकाव्य की भाषा का एक पक्ष है। उक्त प्रसंगों को छोड़ कर काव्य में बहुधा अल्पसमासयुक्त, परिष्कृत किन्तु प्राञ्जल पदावली प्रयुक्त हुई है। दिविजयमहाकाव्य की भाषा अधिकतर प्रसाद गुण से परिपूर्ण है, यह एक मधुर आश्चर्य है। विजयप्रभ की उत्तरदिक्षा की विजय वाला पंचम सर्ग प्रसादगुण का उत्तम उदाहरण है। सिरौही के निवासियों के प्रस्तुत वर्णन में भाषा की यह विशेषता प्रकट है।

वसति ध्रुवः सर्वः पौरः परं न कुबेरः

परमरतिमान् वारुण्यां न प्रचेतसि चाग्रिमः ।

न अपलकलां क्वाप्यावसे स पुण्यजनोऽप्यहो

प्रमुदितमनाः सद्यः सौरोदये न जडात्मनः ॥ ५.४२

११. प्रभासु जाड्येऽपि महातपोऽभूद् वियोगभाजः प्रकृतेर्विकारात् ।

विधौ विधौतत्त्विषि कापिलीया प्रवृत्तिरासीत् कुमुदां विबोधे ॥ बही ६.१६

१२. भहो वयाया जगतीश्वरभियो मा या विमोहं स्म यतोऽहंतां मते ।

महोदयायाऽजगतीश्वरभियो यथास्थितं भावनायाऽस्य सन्मते ! ॥ बही ७.४४

प्रथम सर्ग के अन्त में, सुमेरु का वर्णन भी इसी भाषात्मक विस्तृता से श्रोत-प्रोत है। एक-दो उदाहरणों से इस प्रसंग की प्राञ्जलता का परिचय मिल जायेगा।

क्वचिक्च स्फटिकसानुभिर्धवलभावमुद्भाषयन्
क्वचिक्च बहुधातुभिर्बहुलशोणिमानं वमन् ।
क्वचिन्मणिमरीचिभिर्धनुरथैर्गमुल्लासयन्
करोति सुरयोषितां मनसि मान्मयोद्घोषनम् ॥ १.६८

दिविजयमहाकाव्य में वर्णनों का प्राधान्य है। वस्तुतः इसकी रचना में कवि का एक उद्देश्य अपनी वर्णनशक्ति का प्रदर्शन करना है। उसके सभी वर्णन एक जैसे रोचक अथवा मार्मिक हों, ऐसी बात नहीं। अष्टम सर्ग में पार्श्व-प्रतिमा का सांगो-पांग वर्णन निश्चित रूप से नीरस है। प्रतिमा के चरण, नयन, ललाट, कण्ठ, वक्ष आदि का वर्णन पाठक को उबा देता है। बिम्बवैविध्य के अभाव के कारण उसके प्रकृतिचित्रण में भी अधिक सरसता नहीं है। सूरिराज विजयप्रभ के स्वागत के लिए उदयपुर के शासक की सेना के प्रयाण का यह वर्णन अपेक्षाकृत अधिक रोचक है, यद्यपि यमक ने इसकी रोचकता को अंशतः दबा लिया है। काव्य में यह वर्णन सैन्य-प्रयाण की रुढ़ि का निर्वाह करने के लिये किया गया है, अन्यथा पवित्रतावादी तपस्वी के प्रवेशोत्सव में सेना जुटाने की क्या आवश्यकता ?

अथ चचाल विशालबले पुरो मदमलीनकटा करिणां घटा ।
घनघटेव भ्रुगं परिसिञ्चती तरुणतारुणतान्वितबिन्दुभिः ॥ ६.१
रजतकिंकिणीकारणपूरितंभ्रमददभ्रतरभ्रमरस्वरैः ।
द्रुतविलम्बितमेव जगाम सा घनमवा न मवायतपृष्ठिका ॥ ६.८
तवनु कांचनरत्नमयैर्युताः प्रवरपत्ययनैस्तुरगोत्तमाः ।
अनुचरैश्चतुरैरुपरिक्षिता अगणना गणनायकभग्यधु ॥ ६.८

(अ) पाण्डित्य-प्रदर्शन

अपने अन्य दो महाकाव्यों की भांति मेघविजय ने प्रस्तुत काव्य में, समस्या पूर्ति अथवा नानार्थक काव्य के द्वारा पाठक को बौद्धिक व्यायाम तो नहीं कराया है, किन्तु उसका पण्डित अपने रचना-कौशल का प्रदर्शन करने के लिये सदैव आतुर है। विद्वता-प्रदर्शन की यह आतुरता, दिविजयमहाकाव्य में, माघ तथा माघोत्तर काव्यों के चिर-परिचित माध्यम, यमक तथा चित्रशैली का लिबास पहन कर प्रकट हुई है। काव्य के पूरे दो सर्गों में, यमक के रूप में, भाषायी जादूगरी की गयी है। वैसे यमक की विद्रूपता सातवें सर्ग में अधिक विकराल है, जहाँ कवि ने पाठक को आद्यन्त पाद

यमक की भूलभूलैया में डाले रखा है ।" इसी सर्ग के उत्तरार्द्ध में, मेघविजय चित्र-शैली के प्रलोभन में फँस गये हैं । यहां कुछ ऐसे पद्यों की रचना की गयी है, जिनमें कहीं क्रिया गुप्त है, कहीं वर्णविशेष के वर्णों का सर्वथा अभाव है तथा कुछ पद्यों का उनमें प्रयुक्त अक्षर, मात्रा, अनुस्वार आदि का लोप करके भी संगत अर्थ करना संभव है । स्वभावतः वह पूर्वार्थ से भिन्न होगा । इन कलाबाजियों ने यमक की दुस्साध्यता को और जटिल बना दिया है ।

प्रस्तुत पद्य में 'ससार' 'अधित' तथा 'आप' ये तीन क्रियाएं अन्तर्निहित हैं, किन्तु उनका बोध प्रयत्नपूर्वक ही सम्भव है ।

समाधिता पापहर्षिषिवर्द्धनं ससार पुण्याभ्युदयो महस्विनाम् ।

समाधितापापहर्षिषिवर्द्धनं बीरे गुरौ श्रीजिनवीरतीर्थये ॥ ७.४७

निम्नोक्त श्लोक का 'दध्ने' क्रिया के रकार तथा 'विश्वाम्' विशेषण के वकार के बिना अर्थात् 'दधे' तथा 'विशाम्' के आधार पर भी अर्थ किया जा सकता है ।

विश्वगणे चेतनतां निभालयन् दध्ने पदं योजनवधीरणायुतः ।

विश्वं गणे चेतनतां निभालय स्थितिं स सत्याजयति स्म मण्डले ॥ ७.६६

कुछ पद्यों का अर्थ वर्णविशेष की च्युति से संगत बनता है । उदाहरणार्थ प्रस्तुत अनुष्टुप् के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'वन्दने' के बिन्दु का लोप करके 'वन्दने' पढ़ने से ही अर्थ सम्भव है ।

वन्दने हचिराभाति शितांशुकलयान्विता ।

वन्दने शचिराभाऽतिशयाद् गोविंदुषां गुरोः ॥ ७.५६

यह शान्दी क्रीड़ा पण्डितवर्ग के बौद्धिक विलास के लिए कितनी भी उपयोगी हो और इससे भले ही कवि का भाषाधिकार झोतित हो, किन्तु यह काव्य के आस्वादन में दुर्लभ्य भाषा है, इसमें दो मत नहीं हो सकते । इस प्रकार दिग्विजय-महाकाव्य की भाषा क्लिष्टता तथा प्राञ्जलता के दो छोरों में बंधी है । उसमें विद्वता तथा अभ्यासजन्य परिष्कार है । देवानन्द तथा सप्तसन्धान की भाषा के वज्र से जूझने के पश्चात् दिग्विजयकाव्य की भाषा को पढ़कर मस्तिष्क को कुछ विश्राम मिलता है ।

१३. इन क्लिष्ट पद्यों से मेघविजय के यमक की विकटता का अनुमान किया जा सकता है ।

न गौतमीयं मतमक्षपादजं धिया प्रमाथ्यक्रियतामुना मनाक् ।

न गौतमीयं मतमक्षपादजं प्रमोचितं केवलिनः प्रमोचितम् ॥ ७.३२

विमुक्तरागा नवधा सुरक्षणा जगौ गुरुर्ब्रह्मघरः क्षमापरः ।

विमुक्तरागा नवधासुरक्षणा गणे प्रबुद्धिर्भतिनां ततोऽभवत् ॥ ७.३४

अलंकारविधान

देवानन्द तथा सप्तसन्धान के समान दिग्विजयमहाकाव्य भी मेघविजय की अलंकारवादिता का प्रतीक है। जिस उद्देश्य से वह काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ था, उससे भटक कर वह काव्य की बाह्य साज-सज्जा में फँस गया है। इस साज-सज्जा के प्रमुख उपकरण अलंकारों के कुशल विधान में उसकी सिद्धहस्तता निर्विवाद है। मेघ-विजय के अन्य काव्यों की भांति दिग्विजयकाव्य में भी शब्दालंकारों की भरमार है। उन्हीं की तरह यहाँ अलंकार कवि के साध्य हैं।

यमक की विकटता का कुछ संकेत पहले किया जा चुका है। दिग्विजयमहाकाव्य के छठे तथा सातवें, पूरे दो सर्गों में कवि ने यमक-योजना में अपने कौशल का तत्परता से प्रदर्शन किया है। सातवाँ सर्ग तो पादयमक से भरपूर है, जिसके अन्तर्गत अमंग तथा सभंग, दोनों प्रकार का यमक प्रयुक्त हुआ है। अमंग पादयमक का एक बहुत कठिन उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

पुरोगमंभी प्रयतः सधारणः साधोरणः कल्पितमत्तवारणः ।

पुरोगमंभी प्रयतः सधारणः प्रपीयतामित्युद्धिते न कोऽप्यभूत् ॥ ७.४८

भाषा को सशक्त तथा प्रौढ़ बनाने के लिए काव्य में यमक की भांति श्लेष का भी आश्रय लिया गया है। जैसा पहले कहा गया है, काव्य में श्लेष का प्रचुर प्रयोग है। गणधरों के विजय-अभियान अधिकतर श्लेषविधि से वर्णित हैं। उनमें सर्वत्र दो स्वतंत्र अर्थ व्यक्त नहीं होते। कुछ पद द्वयर्थक हैं, अन्य एकार्थक। महावीर स्वामी की दिग्विजय के प्रस्तुत पद्य में उनकी धार्मिक तथा सामरिक विजयों का भाव सन्निविष्ट है।

संवर्धयन् समितितत्परसाधुलोके भावाद् गुणाधिकतया परमार्थवृत्तिम् ।

न्यस्त्यन्पूर्वकरणे स नियोगिराजान् श्रीङ्गन्नभूतिकलितश्चलितो ब्रभासे ॥ ३:३१

श्लेष और यमक के इस आढम्बरपूर्ण वातावरण में अनुप्रास की सुरुचिपूर्ण योजना काव्य में श्रुतिमाधुर्य का संचार करती है। पार्श्व-प्रतिमा के इस वर्णन में अनुप्रास ने ध्वनि-सौन्दर्य को जन्म दिया है।

ध्येयं परं तत्सुदृशां विधेयं देवासिधेयं कमलाक्षुपेयम् ।

प्रसाध्यन्ती सुरसार्यगेयं पट्टकरोत्येव यशोऽधिपेयम् ॥ ८.१४८

कवि-कल्पना की भव्यता ने उत्प्रेक्षा का रूप भी लिया है। वाराणसी की गगनचुम्बी अट्टालिकाएं इसलिये आकाश की ओर बढ़ रहीं हैं, मानो वे यह देखना चाहती हों कि देवताओं के प्रभु-दर्शन के लिये पृथ्वी पर आ जाने के बाद स्वर्ग में कितने विमात शेष रह गये हैं !

बैवागमावनु ननु सुपुरे कियन्तः शेषा विशेषरूचयो मरुतां विमानाः ।

आलोकितुं किमिति यत्नं नृणां निर्वृत्ता जगन् विद्यासख इति प्रविभान्ति श्रुयः ॥ ११.८६

निम्नलिखित पंक्तियों में 'यदि' के अर्थ बल से सूर्य, चन्द्रमा तथा कमल में क्रमशः सौम्यता, निष्कलंकता तथा दीप्ति के कल्पित सम्बन्ध की सम्भावना की गयी है, अतः यहां अतिशयोक्ति अलंकार है।

यदि सौम्यरश्मिदिवाकरेऽप्यथवा राजनि निष्कलंकता।

जलजन्मनि चासुरद्युती रमतां तत्र शुभाननोपमा ॥ ८.१०३

प्रस्तुत पद्य में अर्थसिद्ध व्यावृत्ति है। अर्थ के श्लेष पर आधारित होने से यहां श्लेषमूलक आर्थ परिसंख्या है।

तन्त्रेऽस्य को वण्डगुणाधिरौपलक्षेषु दक्षो न रसे नयाचर्यः।

सर्वो जनः क्षेत्रविभागवेदी नेदीयसीं सिद्धिनिधान्वन्मस्त ॥ ९.६२

आभरा के राजप्रासाद के प्रस्तुत वर्णन में, दर्शक राजमहल को देखकर रोहणाचल को भूल गये, इस विशेष कथन की उत्तरार्द्ध की एक सामान्य उक्ति से पुष्टि करने के कारण अर्थान्तरन्यास है। प्रस्तुत राजमहल की अप्रस्तुत रोहणाचल से श्रेष्ठता निरूपित करने में व्यतिरेक है।

रत्नराशिरचित्तनृपसौख्यः प्रेक्षको हृतमना इव सर्वः।

रोहणाचलरश्मि विमुमोच शोचन्ते न लघुमप्यधिकान्तौ ॥ १०.६५

काव्य में प्रयुक्त अन्य अलंकारों में रूपक, विरोधाभास, यथासंख्य, सहोक्ति, उपमा, हेतु तथा काव्यलिङ्ग उल्लेखनीय हैं।

छन्द योजना

दिग्विजयमहाकाव्य में छन्दों का प्रयोग शास्त्रीय विधान के अनुसार किया गया है। ग्यारहवें सर्ग में नाना वृत्तों का प्रयोग भी शास्त्र-सम्मत है। इस सर्ग में प्रयुक्त छन्दों के नाम इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ, स्वागता, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा। अन्य सर्गों में इन्द्र-वज्रा, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवंश तथा वियोगिनी ये पांच नये छन्द हैं। कुल मिला कर दिग्विजयमहाकाव्य की रचना पन्द्रह छन्दों में हुई है।

दिग्विजयमहाकाव्य की रचना के मूल में गुरुभक्ति की उदात्त प्रेरणा निहित है। किन्तु परम्परागत काव्यशैली ने कवि के प्रयोजन को घूमिल कर दिया है। दिग्विजय की छुई-भुई मुरझा गयी है और सारा काव्य वर्णनों की बाढ़ में डूब गया है। सन्तोष है कि कवि के अन्य दो काव्यों की भांति इसकी परिणति दुरुहता में नहीं हुई है।

तृतीय अध्याय

शास्त्र-महाकाव्य

देवानन्दमहाकाव्य : मेघविजयगणि

भारवि की शाब्दी क्रीडा ने साहित्य में एक ऐसा कीर्तिमान स्थापित किया कि परवर्ती कवि अहमहमिकया इस भाषायी जादूबारी की ओर बाक़ूष्ट होने लगे। नानार्थक काव्य तथा शास्त्रकाव्य में यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच गयी है। समस्या पूर्ति चित्रकाव्य का ही रूपान्तर है। पण्डित-कवि मेघविजयगणि ने समस्या पूर्ति तथा नानार्थक-काव्य की रचना के द्वारा इस काव्यधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। माघकाव्य का समस्यापूर्ति-रूप उनका देवानन्दमहाकाव्य^१ सात सौ की अत्यधिक प्रौढ़ एवं अलंकृत कृति है। इसमें जैनधर्म के प्रसिद्ध प्रभावक, तथा गच्छीय आचार्य विजयदेवसूरि तथा उनके पट्टधर विजयप्रभसूरि के साधुजीवन के कल्पित प्रसंग निबद्ध करने का उपक्रम किया गया है। कवि का वास्तविक उद्देश्य चित्रकाव्य के द्वारा पाठक को चमत्कृत करते हुए अपने पाण्डित्य तथा कवित्व-शक्ति की प्रतिष्ठा करना है। इसलिए देवानन्द में चरितात्मकता का कंकाल चित्रकाव्य की बाड़ में डूब गया है और यह मुख्यतः एक अलंकृति-प्रधान चमत्कारजनक काव्य बन गया है। प्रस्तुत अध्याय में इसका विवेचन करने का यही औचित्य है।

देवानन्द का महाकाव्यत्व

आपाततः शास्त्रीय दृष्टि से देवानन्द को महाकाव्य मानने में आवृत्ति हो सकती है क्योंकि इसमें वे समूचे तत्त्व विद्यमान नहीं हैं, जिन्हें प्राचीन आलंकारिकों ने महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है। वस्तुतः कवि की दृष्टि में चित्रकाव्य के समक्ष अन्य सभी काव्यधर्म तुच्छ हैं। इसकी रचना सर्वबद्ध काव्य-के रूप में अवश्य हुई है, किन्तु इसमें आठ-से कम-सात-सर्ग हैं। पर जैसा अन्यत्र कहा गया है, कल्पित बाह्य तत्त्वों के अभाव अथवा अपूर्णता से महाकाव्य का स्वरूप विकृत नहीं होता। देवानन्द में शृंगार रस की कुछ रेखाएँ प्रस्फुटित हैं, यद्यपि काव्य में शृंगार का न तो अंगीरस के रूप में परिपाक हुआ है और न यह कथानक की प्रकृति के अनुरूप है। पात्रों का चरित्र चित्रित करने में कवि को सफलता नहीं मिली है। परन्तु प्रत्येक महाकाव्य में समूचे शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह की अपेक्षा करना उचित नहीं। देवानन्द की गुरु-गम्भीर शैली, कवि की विद्वता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, चित्रकाव्य का

१. सम्पादक: बेबरवास जीवराम दोशी, सिधौ जैन-ग्रामशास्त्रा, ग्रन्थांक ७, सन्

चमत्कार, नाना प्रौढ़ अलंकारों का सन्निवेश, छन्दकोशल का प्रदर्शन, प्रौढ़ (विलष्ट) भाषा तथा वातावरण महाकाव्य के अनुरूप हैं।

देवानन्द में महाकाव्य के कुछ परम्परागत तत्त्व उपलब्ध भी हैं। इसका आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की वन्दना की गयी है। श्रीरोदात्त गुणों से सम्पन्न श्रेष्ठिपुत्र वामुदेव (विजयदेवसूरि) इसका नायक है। प्रतिष्ठित संयमघन आचार्य के उदात्त चरित से सम्बन्धित होने के कारण देवानन्द का कथानक सुविज्ञात है। चतुर्वर्ग में से धर्म इसकी रचना का प्रेरक उद्देश्य है। काव्य में धर्म को कल्याणप्राप्ति का अचूक साधन माना गया है^२। साधुजीवन पर आधारित कथानक में देश, नगर, पर्वत, षड्भूत, अश्वसेना, गजराशि आदि के अलंकृत वर्णन देवानन्द को महाकाव्य-रूप देने की कवि की आतुरता को इंगित करते हैं। काव्य का शीर्षक कथानायक देव (विजयदेव) के नाम पर आधारित है तथा सर्गों का नामकरण, उनमें वर्णित विषयों के अनुसार है। सज्जनप्रशंसा तथा खलनिन्दा रुढ़ियों का भी काव्य में यथेष्ट पालन किया गया है। इस प्रकार देवानन्द में महाकाव्य के कुछ स्वरूप-निर्माता तत्त्व हैं, कुछ का अभाव है। किन्तु इस आंशिक अभाव से इसका महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो जाता। इसीलिए शीर्षक तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में देवानन्द को महाकाव्य संज्ञा प्रदान की गयी है।^३

कविपरिचय तथा रचनाकाल

प्रस्तुत काव्य तथा अपनी अन्य रचनाओं की प्रान्तप्रशस्ति में मेघविजय ने अपने मुनि-जीवन का पर्याप्त परिचय दिया है। मेघविजय मुगल सम्राट् अकबर के कल्याण-मित्र हीरविजयसूरि के शिष्यकुल में थे। उनके दीक्षा-गुरु तो कृपाविजय थे, किन्तु उन्हें उपाध्याय पद पर विजयदेवसूरि के पट्टधर विजयप्रभसूरि ने प्रतिष्ठित किया था।^४ विजयप्रभसूरि के प्रति मेघविजय की कुछ ऐसी श्रद्धा है कि न केवल प्रस्तुत काव्य के अन्तिम सर्ग में उनका प्रशस्तिगान किया है, अपितु दो स्वतन्त्र काव्यों—विजयय महाकाव्य तथा मेघदूतसमस्यालेख—के द्वारा भी कवि ने गुरु के प्रति कृतज्ञता

२. धर्माद् रसादिव स्वल्पादपि कल्याणसाधनम् । देवानन्दमहाकाव्य, २-२५.

३. यथा—इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये विजयप्रभापरनाम्नि...कथानायक-उत्पत्तिवर्ण-
ननामा प्रथमः सर्गः ।

४. गच्छास्तीश्वरहीरहीरविजयाम्नाये निकाये धियां

भृत्यः श्रीविजयप्रभाख्यमुगुरोः श्रीमत्तपाख्ये मणे ।

शिष्यः प्रान्तमणेः कृपादिविजयस्याशास्यमानाग्रणी

श्वके बाणकामामेघविजय सस्यां समस्यामिमाम् ॥ शान्तिनाथचरित १.१२६

देवानन्दप्रशस्ति, ७६-८०, शान्तिनाथचरितप्रशस्ति, ५.

प्रकट की है। ये दोनों काव्य विजयप्रभसूरि के सारस्वत स्मारक हैं। जिसके वरद हस्त ने प्रतिष्ठित पद पर आसीन किया हो, उसके गुणगान में यदि शिष्य अपनी भारती की सार्थकता माने, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

मेघविजय अपने समय के प्रौढ पण्डित-कवि, प्रत्युत्पन्न दार्शनिक, प्रयोग-शुद्ध वैयाकरण, समयज ज्योतिषी तथा आध्यात्मिक आत्मज्ञानी थे। उन्होंने इन सभी विषयों में अपनी लेखनी जलाई तथा सबको प्रतिभा एवं विद्वत्ता के स्पर्श से आलोकित कर दिया है। प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त दो महाकाव्यों—दिग्विजयमहाकाव्य तथा सप्तसन्धानमहाकाव्य—का विवेचन, ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है। मेघविजय समस्या-पूर्ति के पारंगत आचार्य हैं। उन्होंने देवानन्द, मेघदूतसमस्यालेख तथा शास्तिनाथ चरित में क्रमशः माघकाव्य, मेघदूत तथा नैषधचरित की समस्या-पूर्ति करके अपने अद्भुत रचनाकोशल तथा गहन पाण्डित्य का परिचय दिया है। लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित, भविष्यद्भूतकथा तथा पञ्चाख्यान उनकी अन्य ज्ञात काव्य कृतियाँ हैं। विजयदेवमाहात्म्यविवरण श्रीवल्लभ के विजयदेवमाहात्म्य की टीका है। युक्तिप्रबोधनाटक तथा धर्ममंजूषा न्यायग्रन्थ है। चन्द्रप्रभा-हेमशब्दचन्द्रिका तथा हेमशब्दप्रक्रिया उनके व्याकरण के पाण्डित्य के प्रतीक हैं। वर्षप्रबोध, रमलशास्त्र, हस्तसंजीवन, उदयदीपिका, प्रश्नसुन्दरी, वीसायन्त्रविधि मेघविजय की ज्योतिष-रचनायें हैं। अध्यात्म से सम्बन्धित कृतियों में मातृकाप्रसाद, ब्रह्मबोध तथा अर्हद् गीता उल्लेखनीय हैं। इन चौबीस ग्रन्थों के अतिरिक्त पंचतीर्थस्तुति तथा भवतामर स्तोत्र पर उनकी टीकाएं भी उपलब्ध हैं। संस्कृत की भांति गुजराती को भी मेघ-विजय की प्रतिभा का वरदान मिला है। यह वैविध्यपूर्ण साहित्य उनकी बहुमुखी विद्वत्ता का द्योतक है।

मेघविजय ने अपनी विभिन्न कृतियों में रचनाकाल का जो निर्देश किया है, उससे इनके स्थितिकाल का कुछ अनुमान किया जा सकता है। श्रीवल्लभकृत विजयदेवमाहात्म्य की प्रतिलिपि संभवत् १७०६ में की गयी थी।^१ मूलग्रन्थ का इससे पूर्व रचित होना सुनिश्चित है। मेघविजय ने विजयदेवमाहात्म्य के विवरण की रचना सं. १७०८ के पश्चात् की होगी। यह उनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। यह मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन से पूर्व सम्भवतः टीका-टिप्पणी के द्वारा रूपाति अर्जित करने का प्रयास है। सप्तसन्धानमहाकाव्य उनकी अन्तिम कृति है, जिसकी

५. लिखितोऽयं ग्रन्थः पण्डितश्री ५ श्रीरङ्ग सोमगणि शिष्य मुनि सोमगणिना । सं.
१७०६ वर्ष चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशतिथौ.....। विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग
१६, पृ० १२६-१२७

रचना सम्बत् १७६० में सम्पन्न हुई थी।^१ विजयदेवमाहात्म्यविवरण की रचना के समय उनकी अवस्था लगभग पच्चीस वर्ष की अवश्य रही होगी। अतः सम्बत् १६८५ तथा १७६५ (अर्थात् १६२८ तथा १७०८ ई०) के बीच मेघविजय का स्थितिकाल मानना अयुक्त नहीं है।

देवानन्दमहाकाव्य की रचना मारवाड़ के सादड़ी नगर में सम्बत् १७२७ (१६५० ई०) की विजयदशमी को पूर्ण हुई थी। इसका उल्लेख काव्य की प्रारम्भ-प्रशस्ति में किया गया है।

मुनिनयनाश्वेन्दुमते वर्षे हर्षणे सादड़ीनगरे ।

ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ॥८५॥

इसकी एक प्रतिलिपि स्वयं ग्रन्थकार ने ज्वालियर में की थी।^२ काव्य की एक अन्य प्रतिलिपि सम्बत् १७५५ में मेरुविजय के शिष्य सुन्दरविजय द्वारा तैयार की गई थी।^३

कथानक

देवानन्द सात सर्गों का महाकाव्य है। कथानायकोत्पत्तिवर्णन नामक प्रथम सर्ग में मंगलाचरण, नगरवर्णन आदि रूढ़ियों के निर्वाह के पश्चात् ईडरवासी श्रेष्ठी स्थिर के पुत्र वासुदेव के जन्म का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में कुमार की माता (रूपा) तथा पितृव्य नाना युक्तियों से उसे गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करने को प्रेरित करते हैं, किन्तु वह मुक्तिवधू का पाणिग्रहण करने का निश्चय करता है और माघ शुक्ला दशमी (सम्बत् १६३४) को, अकबर के प्रबोधदाता आचार्य हीरविजय के पट्टधर विजयसेनसूरि से अहमदाबाद में तापसघ्नत ग्रहण करता है। दीर्घोपरान्त वह विद्या-विजय नाम से ख्यात हुआ। खम्भात के सेठ श्रीमल्ल के अनुरोध पर विजयसेनसूरि उसे सम्बत् १६५७ में, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। तत्पश्चात् विद्याविजय ने विजयदेवसूरि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। मुगल सम्राट् जहांगीर 'महातपा' उपाधि से उनकी विद्वत्ता तथा प्रतिभा का अभिनन्दन करता है। तृतीय सर्ग में शासनदेवता के आदेश से विजयदेवसूरि कनकविजय को वैशाख शुदि पण्ठी, सम्बत् १६८२ को, अपनी जन्मभूमि ईडर में आचार्य पद प्रदान करते हैं और स्वर्णगिरि में उनका वन्दनोत्सव सम्पन्न करते हैं। मारवाड़ में आचार्य के पदार्पण करते ही मरुभूमि नदी-मातृक बन गयी। गुजरात में दो वर्ष बिता कर शत्रुंजय-यात्रा को जाते समय उन्होंने उन्नतपुर में अपने प्रगुरु हीरविजय की समाधि के दर्शन किये। यमकरम्य चतुर्थ सर्ग का आरम्भ रवेतक तथा सिद्धाचल के वर्णन से होता है। दक्षिण दिशा के

६. सप्तसन्धानमहाकाव्य, प्रशस्ति ३।

७. देवानन्दमहाकाव्य, ग्रन्थप्रशस्ति ३।

८. वही, ग्रन्थप्रशस्ति १।

विहार के लिये जाते समय मुनिराज सूरत में सागरपक्षीयों को शास्त्रार्थ में पराजित करते हैं। आचिका चसुरा की प्रार्थना से आचार्य शाहपुर गये तथा औरंगजेब के उपवन में जातुर्मास किया। कट्टरपंथी मुगल सम्राट् ने भी मुनिश्री का हार्दिक स्वागत किया और उनकी प्रेरणा से जीवहत्या वर्जित कर दी, जिसका पालन उसके उत्तराधिकारी भी करते रहे। दक्षिणदिग्विजय नामक पांचवें सर्ग में विजयदेवसूरि के दक्षिण दिशा में विहार करने का वर्णन है। कुल्लुपाकपुर में उन्होंने आदिनाथ की वन्दना की तथा अमरचन्द्र को वाचक पद प्रदान किया। शासनदेव के आदेश से सूरिराज ने, गन्धपुर में सम्बत् १७०६, वैशाख शुक्ला दशमी को वीरविजय को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया तथा उनका नाम विजयप्रभ रखा। सर्ग के शेष भाग में परम्परागत छह ऋतुओं का वर्णन है। सातवें सर्ग में विजयदेवसूरि अपने पट्टधर विजयप्रभसूरि का अहमदाबाद में वन्दनोत्सव करते हैं। इसके लिये इम्यराज धनजी प्रभसूरि का अहमदाबाद में वन्दनोत्सव करते हैं। इसके लिये इम्यराज धनजी तथा उसकी श्रद्धालु पत्नी ने विशाल आयोजन किया। विमलगिरि की यात्रा के पश्चात् विजयदेवसूरि ने ऊना (ऊनतपुर) में आचार्य हीरविजय की समाधि के दर्शन किये तथा वहीं प्राक्-मरण अनशन से सम्बत् १७१३, अषाढ़ शुक्ला एकादशी को समाधि ली। गुरु की मृत्यु से सारा संघ शोकसागर में डूब गया। रायचन्द्र ने आचार्यश्री की स्मृति में वहां एक विहार बनवाया। संघ के अनुरोध पर विजयप्रभसूरि गुरु के पट्ट पर आरूढ़ हुए तथा समाज का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। सर्ग के शेषांश में विजयप्रभसूरि के विहार का वर्णन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य में विजयदेवसूरि के जीवन के कुछ प्रसंगों का ही निरूपण है। उनके चरित का विस्तृत वर्णन तो विजयदेवमाहात्म्य में हुआ है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवानन्द में वर्णित काव्यनायक से सम्बन्धित घटनाएँ सर्वथा सत्य तथा प्रामाणिक हैं। उनकी तिथियों, दिनों तथा सम्बतों में भी कोई अन्तर नहीं है। यह अवश्य है कि जहां विजयदेव-माहात्म्य सम्बत् १६८७ तक की घटनाओं तक सीमित है, वहां देवानन्द में विजय-देवसूरि के साधुजीवन के परवर्ती प्रसंगों तथा स्वर्णरोहण का भी निरूपण किया गया है।

समस्यापूर्ति के कठोर बन्धन के कारण मेघविजय अनावश्यक वर्णनों के फेर में नहीं पड़े हैं। उनका कोई भी वर्णन १५-२० पद्यों से अधिक नहीं है। इसीलिये श्रवक कथ्य प्रायः सर्वत्र आगे बढ़ता रहता है।

देवानन्द की परिशीलन से आशंका उत्पन्न होती है कि कनकविजय को सूरिपद पर प्रतिष्ठित करने के उपरान्त विजयदेव ने अपने एक अन्य शिष्य, वीरविजय को अपना पट्टधर क्यों नियुक्त किया? इसका समाधान विजयदेवमाहात्म्य से भी

नहीं होता क्योंकि उसमें वीरविजय के अभिषेक का उल्लेख ही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि विजयदेव के जीवनकाल में ही, सम्बत् १७०६ में, कनकविजय (विजय-सिंह सूरि) का स्वर्णवास हो गया था, इसलिये वीरविजय को आचार्य पद देकर विजयप्रभ के नाम से उन्हें अपना सर्वाधिकार समर्पित किया। इनका आज्ञानुवर्ती सारा जैन समुदाय देवसूर संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज भी यह नाम जहाँ-तहाँ प्रचलित है।^१

मेघविजय को प्राप्त माघ का दाय

मेघविजय की शाली का तो माघ से प्रभावित होना स्वभाविक था, किन्तु विषयवस्तु की योजना में भी वे माघ के ऋणी हैं। माघकाव्य के नायक कृष्ण वासुदेव हैं। मेघविजय का चरितनायक भी संयोगवश श्रेष्ठिपुत्र वासुदेव है। श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं, वासुदेव आध्यात्मिक साधना से बहुपूज्य पद प्राप्त करते हैं। शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में नारद के आगमन तथा आतिथ्य का वर्णन है। देवानन्द के उसी सर्ग में गुजरात, ईडर तथा उसके शासक का वर्णन किया गया है। माघकाव्य के द्वितीय सर्ग में कृष्ण, उद्धव तथा बलराम राजनैतिक मन्त्रणा करते हैं। देवानन्द के द्वितीय सर्ग में कुमार की माता तथा पितृव्य उसे वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने के लिये विचार-विमर्श करते हैं। वह उनकी युक्तियों का उसी प्रकार प्रतिवाद करता है जैसे श्रीकृष्ण बलराम की दलीलों का। युधिष्ठिर के निमन्त्रण पर श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ में भाग लेने के लिये इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) जाते हैं। वासुदेव भी उपयुक्त गुण की खोज में अहमदाबाद और सूरिपद प्राप्त करने के पश्चात्, जहांगीर के अनुरोध पर, दिल्ली जाता है। शिशुपालवध के तृतीय सर्ग में श्रीकृष्ण सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं। देवानन्द काव्य के तृतीय सर्ग में विजयदेवसूरि के प्रवेशोत्सव के समय ईडरराज कल्याणमल्ल की सेना के हाथियों तथा घोड़ों का अलंकृत वर्णन है। दोनों के चतुर्थ सर्ग में रैवतक का वर्णन है किन्तु माघ ने जहाँ सारा सर्ग प्रवर्तवर्णन पर लगा दिया है, वहाँ मेघविजय आठ-दस पद्यों में ही रैवतक का वर्णन करके अपने कथ्य की ओर बढ़ गये हैं। माघ की भांति मेघविजय ने इस सर्ग में नाना (तेईस) छन्दों का प्रयोग किया है। माघकाव्य तथा देवानन्द दोनों के छठे सर्ग में षड्-ऋतु-वर्णन की रूढ़ि का पालन किया गया है, जो यमक से आच्छन्न है।

पाण्डित्यप्रदर्शन : समस्यापूर्ति

देवानन्द की रचना माघकाव्य की समस्यापूर्ति के रूप में हुई है। इसमें माघ के प्रथम सात सर्गों को ही समस्यापूर्ति का आधार बनाया गया है। अधिकतर शिशुपालवध के पद्यों के चतुर्थ पाद को समस्या के रूप में ग्रहण कर अन्य तीन

चरणों की रचना कवि ने स्वयं की है, किन्तु कहीं-कहीं दो^{१०} अथवा तीन^{११} चरणों को लेकर भी समस्यापूर्ति की गयी है। कुछ पद्यों के विभिन्न चरणों को लेकर अलग-अलग श्लोक रचे गये हैं। माघ के ३।४८ के चारों पादों के आधार पर मेघविजय ने चार स्वतन्त्र पद्य बनाये हैं (३. ५१-५४)। कभी-कभी एक समस्या-पाद की पूर्ति चार पद्यों में की गयी है। माघ के ३।६६ के तृतीय चरण 'प्रायेण निष्कामति चक्रपाणौ' का कवि ने चार पद्यों में प्रयोग किया है (३।११७-१२०)। अन्यत्र एक समस्या दो अथवा तीन पद्यों का विषय बनी है। 'नेष्टं पुरो द्वारवतीस्त्वमासीत्' (माघ, ३।६६, चतुर्थ पाद), 'पारेजलं नीरनिघेरपश्यन्' (माघ, ३।७०, प्रथम), 'क्षिप्ता इवेन्दोः सरुचोऽधितीरं [वेलं]' (माघ, ३।७३, तृतीय), 'उदन्वतः स्वेदलवान् ममाजं' (माघ, ३।७६, द्वितीय), 'तस्यानुवेलं व्रजतोऽति (धि) वेलं (वही, तृतीय), 'क्वचित् कपिशयन्ति चामीकराः' (माघ, ४।२४, चतुर्थ) के आधार पर मेघविजय ने क्रमशः ३।१२१-१२२, ३।१२३-१२४, ३।१३८-१३९, ३।१६५-१६६, ३।१६७-१६८ तथा ४।३२-३३ की रचना की है। 'उत्संगशय्याशयमम्बुराशिः' (माघ, ३।७८, द्वितीय) मेघविजय के तीन पद्यों (३।१५६-१६१) का आधार बना है। देवानन्द के कर्ता ने दो समस्या-पादों को एक ही पद्य में पादयमक के रूप में दो बार प्रयोग करके भी अपने रचनाकौशल का चमत्कार दिखाया है। 'अक्षमिष्ट मधुवासरसारम्', 'प्रभावनीकेतनबन्धनर्त्तः', 'परितस्तार रवेरसत्यवप्रयम्', 'रुचिरं कमनीयत रागमिता' को क्रमशः ६/७६, ८०, ८१, ८२, के पूर्वार्ध तथा अपरार्ध में प्रयुक्त किया गया है, यद्यपि आधारभूत समस्या-पादों की भाँति दोनों भागों में, इनके अर्थ में, आकाश-गताल का अन्तर है।

समस्यापूर्ति में पूरणीय चरण के शब्दों को न बदल कर अर्थ की पूर्ति करनी होती है। माघ तथा मेघविजय में कहीं-कहीं पाठभेद^{१२} मिलता है, किन्तु यह परिवर्तन समस्याकार ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया है अथवा यह माघ का ही पाठांतर है, इसका निश्चय माघ के विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। यदि यह परिवर्तन

१०. उदाहरणार्थ—देवानन्द २.२३. तृ. च., २.४० तृ. च., २.८३, द्वि. तृ.

२.११२, प्र. द्वि., ४.४५. द्वि. च., ३.७२, द्वि. च.,

११. उदाहरणार्थ—देवानन्द, २.१२. प्र. द्वि. च., ४.४४, प्र. द्वि. च.

१२. उदाहरणार्थ— माघ

मेघविजय

तडितां गुणैरिव (१.८)

तडितां गुणैरिव (१.८)

उदप्रवशानांशुभिः (२.२१)

उदप्रवशानांशुभिः (२.२१)

स श्रुतश्रवतः सुतः (२.४१)

स सुतश्रवतः सुतः (२.४२)

सर्गः स्वार्थं समीहते (२.६५)

सर्गस्वार्थं समीहते (२.६८)

यमत्वसुखिञ्च इवोदमारः (३.११)

.....इवोदवाहः (३.११)

स्वयं समस्याकार द्वारा भी किया गया हो तो भी यह समस्यापूर्ति में बाधक नहीं है। समस्यापूर्ति की सार्थकता इस बात में है कि समस्यारूप में गृहीत चरण का प्रसंग में अभीष्ट भिन्न अर्थ किया जाए। मेघविजय इस कला के पारंगत आचार्य हैं। समस्या-पूर्ति में उनकी सिद्धहस्तता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्होंने माघ के अतिरिक्त मेघदूत, नैषध तथा किरात की समस्यापूर्ति के रूप में स्वतंत्र काव्यों की रचना की थी।

भषा का चतुर शिल्पी होने के कारण मेघविजय ने माघकाव्य से गृहीत समस्याओं का बहुधा सर्वथा अज्ञात तथा चमत्कारजनक अर्थ किया है। वांछित नवीन अर्थ निकालने के लिये कवि को आधा के साथ मनमाना खिलवाड़ करना पड़ा है। कहीं उसने भूल पाठ के विसर्ग तथा अनुस्वार का लोप किया है, कहीं विशिष्ट-विपर्यय, बचनभेद तथा क्रियाभेद कर दिया है। सन्धिभेद तथा शब्दस्थानभेद का भी उसने खल कर आश्रय लिया है। किन्तु कवि ने अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति अधिकतर बचीन पदच्छेद के द्वारा की है। अभिन्न पदच्छेद के द्वारा वह ऐसे विचित्र अर्थ निकालने में सफल हुआ है, जिनकी कल्पना माघ ने भी नहीं की होगी। इसमें उसे पूर्ण चरण की पदावली से बहुत सहायता मिली है। मेघविजय ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए माघ की भाषा को किस निर्बलता से तोड़ा-भरोड़ा है तथा उससे किस-किस अर्थ का स्रजन किया है, इसका आश्वास निम्नांकित तालिका से मिल सकता है।

माघ

मेघविजय

१. क्रमादमुं नारद इत्यबोधिसः (१.३) क्रमाद् अमुन्नारद इत्यबोधिसः। १.३-४
[अमुद् अहर्षः तस्य नारः विक्षेपः ध्वंसः
हर्षः तं दत्ते इति। इत्यबोधिसः इत्या प्राप्त-
व्या बोधिसा ज्ञानलक्ष्मीर्यस्य सः]
२. धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव (१.५) बिभ्रतं धरा धरेन्द्रं व्रततीततीरिव। १.६
(यथा व्रततीततीः बिभ्रतं धरेन्द्रं प्राप्य गुणा-
धिकापि धरा अतिदुर्गमा रसरहिता भवति)
३. पुरातनं त्वा पुरुषं पुराविदः (१.३३) पुरातनं त्वा पुरुषं पुराविदः। १.३४
[‘यत्र जभन्तमुज्जमुः’ यत्र पुराणपुरुषं
कृष्णम् आ लक्ष्मीं भजन्त-अभन्त-पुराविदः
उज्जमुः]
४. विलंघ्य लंकां निकषा हनिष्यति तमोज्ज्वेलं विलंघ्यलंकां निकषा हनिष्यति।
१.७१
[वासुदेवः चिच्छिन्नं विधृत्य अवधेदिलंघि
निस्सीधं तमः पापं राहुं वा हनिष्यति।

- किभूतां चिच्छवित ? अरंकां उग्रं दीप्यन्
निकषा पल्लवं बालत्वेऽपि अस्मिन् भवे । यद्वा
असम् अत्ययम्, कांचिद् अनिकषणीयम्]
५. शेरते तेऽभिमादृतम् (२.४२) प्रदक्षिणाक्रियायै स्माऽशेरते तेऽभिमादृतम् ।
२.४३
[आशेरते आशयं चक्रुः प्रदक्षिणाक्रियायै]
६. आसत्तिमासाद्य अनादैनस्य (३.६१) आसत्तिमासाद्यअनादैनस्य । २.८२
[आ ईषत् आसत्ति नृपस्य प्राप्य अजनादैनस्य मारिनिषेधस्य ढक्कां पटहं वादयति स्म । किभूतः श्रेष्ठी? सादी अश्वारूढः राज-
प्रसादलब्धाऽश्ववान् । यद्वा आसादि सादिनम् अवधीकृत्य अश्वारोहोऽपि जीव-
रक्षक इत्यर्थः]
७. समा नवप्रेमणि सानुरागाः (४.२७) समानवप्रे मणिसा नुरागाः । ४.३६
[असमानवप्रे अतुल्यप्राकारे मणिसा उपात्त-
देहा मूर्तिमतीं एवं मणिसा रत्नलक्ष्मीः
नुरागाः नुः मनुष्यस्य अत्र पुरे आगाः
आगतः]
८. सारतरागमना यतमानम् (४.४५) सारतरागमना यतमानम् । ४.५८
[अरतरागं यद् मनः तत्सहितः (स + अरत-
राग + मनाः) 'यतमानम्' यत्नयया चलन्तम्]!
९. मलिनिमालिनि माधवयोषिताम् (६/४) मलिनि मालिनि माऽधवयोषिताम् । ६.८
[किं भूते जने मलिनि अर्थात् सशोके । हे
मालिनि । अधवयोषितां पुष्पाणि अद्य मा दाः]
१०. अनृतया नृतया वनपादपः (६.१०) अनृतयाऽनृतया वनपादपः । ६.१५
[अनृतया असत्यया विकुर्वितया अनृतया
अप्राप्तया । 'वनपादपः' वनं जलं पातीति
वनपो वरुणः ततः अयः वारीणि व्यमुचत्
अम्बुमुखा घटया]

देवानन्द में माध के कतिपय पद्य यथावत्, अविकल, ग्रहण किए गये हैं, किंतु अकल्पनीय पदच्छेद से कवि ने उनसे चित्र-विचित्र तथा चमत्कारी अर्थ का सवन किया है । देवानन्द के तृतीय सर्ग के प्रथम तीन पद्य माध के उसी सर्ग के प्रथम पद्य हैं, पर उनके अर्थ में विराट् अन्तर है । कवि के हिसित अर्थ की हृदयंगम करना सर्वथा असम्भव होता यदि उसने इन पद्यों पर टिप्पणी लिखने की कृपा न की होती । एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी ।

माघ :

कौबेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्थमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।

अपेतयुद् धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ ३.१

मेघविजय :

कौ बेरदिग्भागमपास्यमा र्गमागस्थमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।

अपेतयुद् धाभिनि वेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ ३.१

‘बेरदिग्भागम्’ उश्च वा च वा ताभ्यां युक्ता इश्च लश्च दश्च इलदाः ते सन्ति अस्मिन् इति [वा+इलद+इन्—बेलदी] बेलदी स चासौ ग् गकारः, तेन भाति ईदृशः अः अकारः तत् गच्छति प्राप्नोति तत् बेलदिग्भागम्—इलादुर्गम्—इत्यर्थः । पुनः किभूतम् ? ‘गम्’ रं रकारं गच्छति प्राप्नोति गम्—इलादुर्गनाम्ना प्रतीतम् । ‘अपास्यमा’ अम् अहन्तं सिद्धं पाति रक्षति—अपः आस्यमा मुखचन्द्रो यस्य । मास् सकारान्तः चन्द्रवाची । अपेतयुद् अश्च पा च अपौ तयोः ईः लक्ष्मीः यस्य ईदृक् तः तकारः तेन योति मिश्रीभवति-अपेतयुत् । ‘धाभिनि’ न विद्यते भीः यस्य अभिः, स चासौ नीः नायकः यो घनदः—तद्वद् अभिनीयत्र तद् धाभिनि हरिप्रस्थम् । ‘वेशसौम्यो’ वा अथवा ईशश्-चासौ सौम्यश्च । पक्षे ‘बेरदिग्भागम्’ बेरं शरीरं तस्य दिग् देशः जन्मभूमिः तत्र भान्ति ईदृशा अंगाः पर्वतास्तरवो वा यत्र । ‘आगस्थम्’ आगः अपराधः अन्यायः तं त्यजति इति ‘ङ’ प्रत्यये आगस्थम् । सौम्यः हरिः मुनीन्द्रः हरिप्रस्थं पर्वततटं प्रति प्रतस्थे ।

मेघविजय ने शिशुपालवध के समस्यापदों का नवीन पदच्छेद के बिना भी प्रासंगिक भिन्नार्थ करके पाठक को चमत्कृत किया है । इसके लिये उसने कहीं समस्या के पद/पदों का स्वरचित विशेष्य पद/पदों के विशेषण के रूप में अन्वय किया है, कहीं उनका विचित्र पदच्छेद किया है और कहीं पदों के अज्ञात अथवा अप्रचलित अर्थ के द्वारा नवायं ग्रहण किया है । कतिपय उदाहरणों से तथ्य की पुष्टि होगी ।

१. ननाम वामां समवेक्ष्य धं श्रितं हिरण्यगर्भागभुवं मुनिं हरिः । १.१

हिरण्यवत् समुज्ज्वला गर्भागम् गर्भाशयस्थानं यस्याः ताम्-ईदृशी वामां मातरं श्रितम् आश्रितं यं पार्श्वजिनं मुनिं समवेक्ष्य हरि इन्द्रः ननाम इति ।

२. न चास्त्यमुष्या नगरीति मेऽकरोत् गुरुस्तवंवागम एष धृष्टताम् । १.३१

अमुष्याः पुयीः गुरुस्तवा अधिकवर्णनयोग्या नगरी नास्ति इति आगमः सिद्धान्तः धृष्टताम् अकरोत् ।

३. उत्कन्धरं दारुक इत्युवाच । ४.२४

दारुणि के मस्तके यस्य स भारवाही संघसारथिर्वा ।

४. तवभिनन्दनमाशु रजःकर्णैर्विवि तता ततान शुकावलीः । ६.६३

तस्य आषाढस्य अभिनन्दनं वर्षापनम् । शुकावलिः क्षिरीषपुष्पराजिः । ‘शुकं ग्रन्थिपर्णैऽरलू-क्षिरीषपुष्पयोः’ इति अनेकार्थः ।

माघकाव्य से गृहीत समस्याओं की सफल पूर्ति के लिए उसी कोटि का, वस्तुतः उससे भी अधिक, गुरु-गम्भीर पाण्डित्य अपेक्षित है। माघकाव्य की भाँति मेघविजय की सर्वतोमुखी विद्वत्ता का परिचय तो उनके काव्य से नहीं मिलता क्योंकि देवानन्द की विषयवस्तु ऐसी है कि उसमें शास्त्रीय पाण्डित्य के प्रकाशन का अधिक अवकाश नहीं है। किन्तु अपने कथ्य को जिस प्रौढ़ भाषा तथा अलंकृत शैली में प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट है कि मेघविजय चित्रमार्ग के सिद्धहस्त कवि हैं। उनकी तथा माघ की भाषा-शैली में कहीं भी अन्तर दिखाई नहीं देता। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए मेघविजय ने भाषा का जो हृदयहीन उत्पीड़न किया है, उससे जूमता-जूमता पाठक झुंझला उठता है तथा इस भाषायी चक्रव्यूह में फँस कर बह जाता है, परन्तु यह श्राव्दी शोड़ा तथा भाषात्मक उछलकूद उसके गहन पाण्डित्य तथा भाषा-धिकार के द्योतक हैं, इसमें तनिक संदेह नहीं। मेघविजय का उद्देश्य ही चित्रकाव्य से पाठक को चमत्कृत करना है।

समीक्षा

चित्रकाव्य की प्रकृति के अनुरूप देवानन्द की भाषा घोर तथा गम्भीर है। मेघविजय भाषा का जादूगर है। वह चेरी की भाँति उसके संकेत पर नाचती है। इसी भाषाधिकार के बूते पर वह भाषा के साथ मनमाना खिलवाड़ करने में सफल हुआ है, जिसका कुछ संकेत ऊपर किया गया है। समस्यापूर्ति के कठोर बन्धन के कारण कवि को, माघ की विकटबन्ध भाषा के समकक्ष, जो पदावली प्रयुक्त करनी पड़ी है, वह सही अर्थ में क्लिष्ट है। माघ की पदशय्या को अपने साँचे में ढाल कर उससे चित्र-विचित्र अर्थ निकालना कवि के पाण्डित्य तथा भाषाधिकार का द्योतक भले हो, इससे उसकी भाषा की सहजता नष्ट हो गयी है तथा वह दुस्साध्य क्लिष्टता से आक्रान्त है। कहीं-कहीं तो उसमें दुरूहता का समावेश हो गया है। इस प्रकार के पद्य बहुश्रुत पण्डितों लिये भी करारी चुनौती है।

जगत्पवित्रैरपि तन्नपादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यसमुज्यता ऽऽ कं ।

यतो बहुत्पार्वणचन्द्राश्च तस्यातपत्रं विभ्रां बभूवुः ॥ ३. २.

कविकृत टिप्पणियों के बिना इनका प्रासंगिक अर्थ समझना नितान्त असम्भव है।

समस्यापूर्ति क्लिष्टता की जननी है। भिन्न प्रसंग में, विशिष्ट उद्देश्य से, रचित समस्या-पद के आधार पर काव्यरचना करने तथा उससे नवीन प्रासंगिक अर्थ निकालने के लिए असीम रचना-कौशल, व्याकरण-पाण्डित्य, कोशज्ञान तथा भाषायी विद्वत्ता अपेक्षित है, जो अकल्पनीय पदच्छेद तथा ज्ञाताज्ञात अर्थ रूपी बौद्धिक व्यायाम में प्रकट होती है। मेघविजय इस कला के अनुपम मल्ल हैं। देवानन्द के परिवेश में, माघ की पदावली से अभीष्ट अर्थ ग्रहण करने के लिये, मेघविजय ने

उसका किस प्रकार मूयंस मर्दन किया है, यह पूर्वोक्त प्रकरण से स्पष्ट है। स्वयं मेघविजय की भाषा भी निर्भम तोड़-मरोड़ के बिना अपना अर्थ विवृत नहीं करती। यमक ने देवानन्द की भाषा की क्लिष्टता को दुरुहता में परिवर्तित कर दिया है। यमकरम्य चतुर्थ सर्ग यमक की प्रगाढ़ता से कलंकित है पर उसका भयावह रूप षष्ठ सर्ग में विद्यमान है, जिसकी ग्रंथियों का भेदन करते-करते पाठक का धीरज टूट जाता है। श्लोकार्थ यमक के रूप में माघ से गूहीत द्वितीय तथा चतुर्थ पादों को अपने सांचे में ढालने की मेघविजय की कला चमत्कारजनक अवश्य है परन्तु वह पाठक को हतोत्साह करने का अमोघ साधन है।

समस्यापूर्ति की चौहद्दी में बन्द होने के कारण देवानन्द की भाषा में बहुधा एकरूपता दृष्टिगत होती है। शृंगारिक प्रकरणों में भी कवि यमक के गोरखधन्वे में उलझा रहा है। किन्तु अपनी परिसीमाओं में रह कर भी मेघविजय ने भाषा में प्रसंगानुसार वैविध्य लाने का प्रयास किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में भाषा की सरलता का कुछ आभास मिलता है।

वासति लज्जाबधये धृतानि स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।

रतप्रवृत्तौ शलघ्ना बभूवुः नव बोन्तनानां तनुभिर्निरोधः ॥ ३.६४

लतानिलच्छाशिषु तत्प्रवृत्ति-ह्रीरक्षणयेव बधूधृतानि ।

आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि रतश्रमाम्मःपुषदाद्रितानि ॥ ३.६५

मेघविजय भावानुकूल पदावली का प्रयोग करने में समर्थ है, किन्तु देवानन्द जैसे चित्रकाव्य में ऐसे अवसर बहुत कम हैं। उसकी भाषा, चाहे उसमें शृंगार की मधुरता हो अथवा कण्ठरस की विकलता, अधिकतर क्लिष्टता से ओतप्रोत है।

देवानन्द को महाकाव्य का रूप देने की आतुरता के कारण मेघविजय ने इसमें मगर, पर्वत, पशु, ऋतु आदि का तत्परता से वर्णन किया है। किन्तु काव्य में इनका समावेश प्रकृतिचित्रण के लिये कम, महाकाव्य-परिपाटी का निर्वाह करने के लिये अधिक किया गया है। इसीलिये वे स्याभाविकता से वंचित हैं। उनमें पिष्टपेषण अधिक हुआ है और वे सामान्यता के घरातल से ऊपर नहीं उठ सके। यमक तथा चित्रकाव्य का आवरण कहीं-कहीं तो उसके सौन्दर्य को पूर्णतः ढक लेता है। स्मरणीय है कि छठे सर्ग के जिस भाग में ऋतु-वर्णन किया गया है वह पादयमक से ऐसा संकुल है कि प्रकृति उसकी पतों में छिप गयी है।

मेघविजय ने प्रकृति के उद्दीपन का अधिक पल्लवन किया है। शरत्काल की आबन्दी रातों, हेमन्त की पुष्पित वनस्थलियाँ तथा शीतल समीर एक ओर प्रेमी युगलों के कामाग्नि को बढ़ाती हैं, तो दूसरी ओर चिरहियों के मन में टीस उत्पन्न करती हैं (६.७०-७२)। देवानन्द में प्रकृति को मानव रूप में भी प्रस्तुत किया गया है यद्यपि यह बहुत विरल है। प्रकृति का मानवीकरण मानव तथा प्रकृति के मनोरमों के सायुज्य

का उद्घोष है। प्रस्तुत पंक्तियों में सूर्य पर पति, भ्रमरों पर जार तथा कमलिनी पर पत्नी का आरोप किया गया है। भ्रमरों को अपनी प्रिया कमलिनी का चुम्बन करते देख कर सूर्य उन्हें अपने प्रचण्ड करों से पीट रहा है।

रविकरैर्नलिनी प्रविबोधिता सरसिजास्यममी कथमापपुः।

इह दृष्या पदेषा मधुपदजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम् ॥ ६-११

देवानन्द में स्वभावोक्ति का प्रायः अभाव है, फिर भी एक-दो स्थलों पर प्रकृति के सहज रूप का चित्रण मिल ही जाता है। ग्रीष्म ऋतु में दिन लम्बे हो जाते हैं, नवमल्लिका खिलने लगती है तथा शिरीष के पराग से वायुमण्डल सुरभित हो जाता है। आपाढ़ का यह स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत पंक्तियों में अंकित हुआ है, यद्यपि इसमें भी यमक का रंग भरा हुआ है।

स्मितमिथ स्फुटयन्नवमल्लिकां शुचिरयं चिरयन् दिवसानभात्।

तदभिनन्दनमागु रजःकर्षोदिवि तता धिततान शुकाधलीः ॥ ३-६३

चित्रकाव्य में जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों के रसात्मक चित्रण का अधिक अवसर नहीं होता। इसीलिये देवानन्द में महाकाव्योचित तीव्र रसानुभूति का अभाव है। पहले कहा गया है कि शृंगार रस प्रस्तुत काव्य की मूल प्रकृति के अनुरूप नहीं है, फिर भी इसमें शृंगार का उन्मेष हुआ है। इसका कारण समस्यापूर्ति की परवशता है, जिसने कवि की प्रतिभा को बन्दी बना लिया है। तीसरे, छठे तथा सातवें सर्ग में शृंगार रस की छटा दिखाई देती है। साबली की नारियों के प्रस्तुत वर्णन में शृंगार की माधुरी है।

प्रियैः प्रियैर्बन्धुवत्सलैः स्त्रियः प्रसन्ना विहिता रतान्तः।

सख्याः शुक्रस्तान्निधवंस्तदान्तेवासित्वमाप स्फुटमंगमानाम् ॥ ३-३२

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र पिकानुवादान्मणितेषु सख्यः।

प्रत्यायिताः संगमरंगसौख्यं मेजु स्वयं जातफलाः कलानाम् ॥ ३-६३

शृंगार के अतिरिक्त देवानन्द में शान्त तथा कर्षण रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। द्वितीय सर्ग में कुमार वासुदेव की माता उसे गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करने को प्रेरित करती है किन्तु वह जीवन की अनित्यता तथा वैभव की चंचलता से इतना अभिभूत है कि उसे माता की आपाततः आकर्षक युक्तियों अर्थहीन प्रतीत होती हैं। उसकी इस शनैर्वृत्ति के चित्रण में शान्तरस प्रस्फुटित हुआ है (२।११)। कर्षणरस का परिपाक विजयदेवसुरि के स्वर्गारोहण से जनता में व्याप्त शोक के चित्रण में हुआ है। अधिकतर कालिदासोत्तर कवियों की भांति मेघविजय की कर्षणा चीत्कार-श्रन्दन पर आधारित है, जो हृदयस्पर्शी होती हुई भी मार्मिक नहीं है।

गुरुधपुषि निवेशितेऽथ तस्यामखदलं जनता हनती स्वयशः।

बहलकर्षणयालुठब् मुमुञ्छं किमपि रसेन रसान्तरं भजन्ती ॥७.३८

अहह बहति गात्रमत्र बह्नौ ज्वलितममूव भुवनं शुष्का किमन्यत् ।

अवहितमनसा जननं सूरः प्रणिवधिरे दयितैरनङ्गलेखाः ॥ ७.४१

देवानन्द में वासुदेव, स्थिर, रूपा कनकविजय, चतुरा आदि कई पात्र हैं, किन्तु उनका चरित्र चित्रित करने में कवि की रुचि नहीं।

वासुदेव (विजयदेवसूरि) काव्य का नायक है। वह ईडर के धनिक व्यापारी स्थिर का पुत्र है। उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता निस्पृहता तथा विषयविमुखता है। माता का आग्रह तथा युक्तियाँ भी उसे भोग में प्रवृत्त नहीं कर सकीं। उसकी दृढ़ मान्यता है कि पारलौकिक सुख की तुलना में सांसारिक भोग तुच्छ हैं। संयमी, मुक्तिमुन्दरी का ही पाणिग्रहण करता है। इसलिए वह दीक्षा ग्रहण करके यतिपथ अपनाता है तथा अपनी प्रतिभा और गुणों के कारण शीघ्र ही आचार्य पद प्राप्त करता है। अपने गुरु के निधन के पश्चात् वे समाज पर एकच्छत्र शासन करते हैं और धर्मवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। उनके स्वर्गारोहण पर समाज में जो घनीभूत शोक छा जाता है, वह उनकी गरिमा तथा पूज्यता का सूचक है।

रूपा काव्यनायक की माता है। उसके पिता स्थिर घनाढ्य इम्य हैं। चतुरा एक श्रद्धालु श्राविका है, जो विविध अनुष्ठानों पर प्रचुर धन खर्च करती है तथा उदारतापूर्वक दान देकर पुण्यार्जन करती है।

मेघविजय अलंकारवादी कवि है। देवानन्द में कवि ने समस्यापूर्ति-कौशल की भाँति अपनी अलंकार-प्रयोग की निपुणता का भी प्रदर्शन किया है। अलंकार चित्र-काव्य के अनिवार्य अवयव हैं। देवानन्द में जिस एक अलंकार का साग्रह व्यापक प्रयोग किया गया है, वह यमक है। यह मेघविजय की अपनी रुचि तथा उसके आधारभूत भाषकाव्य के प्रभाव का परिणाम है। चौथे तथा छठे सर्ग में यमक का विकट रूप दिखाई देता है। काव्य में यमक की योजना चित्रकाव्य को प्रमादता प्रदान करने के लिए की गयी है, जिससे, इन प्रसंगों में, समस्यापूर्तिजन्य क्लिष्टता हूनी हो गयी है। ऋतु-वर्णन वाले छठे सर्ग में कवि ने यमक के भीने आवरण से भावपक्ष की दुर्बलता को ढकने का विफल प्रयास किया है। काव्य के इन प्रकरणों को पढ़ते समय पाठक को भयानक अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता है। काव्य में अभंग तथा सभंग दोनों प्रकार के यमक का प्रयोग हुआ है। सभंग यमक का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

सरोजिनीपत्रलवादरेण दृष्टोज्झिता चित्रलवा वरेण ।

राजी सशोभाऽजलजातपत्रैर्विहंगमानां जलजा-सपत्रैः ॥४.८

यमक का विदूषण श्लोकार्थयमक में दिखाई देता है, जहाँ पद्य के पूरे एक चरण की आवृत्ति की जाती है। शिशुपालवध की तरह देवानन्द के छठे सर्ग में पाद-यमक की सरमार है। एक-उदाहरण से काव्य के पादयमक की विकरालता का

आभास मिल सकेगा ।

दधुरधिकरुचं स्त्रियो न रागं सतनुतरसये वसं ता न कः ।

नवसुरसिमुमलजाऽन्धर्चमत्तनुत रतयेव सस्तप्तकः ॥ ६.७८

यमक के पश्चात् देवानन्द में उपमा का स्थान है । मेघविजय ने अपने उपमान प्रकृति, दर्शन, व्याकरण, लोकव्यवहार तथा पुराकथाओं से ग्रहण किये हैं । विजय-सिंहसुर की आज्ञा का अतिक्रमण करना उतना असम्भव या जितना देवसेना को अभिभूत करना (३-६७) । आचार्य के मुखारविन्द से सुधावर्षी वाणी ऐसे निस्सृत हुई जैसे विष्णु के शरीर से प्रजा (३-६८) । गुरुदेव की वन्दना के लिए लोग नगरी से ऐसे निकले जैसे विधाता के मुख से वेद (३.१००) । लोकजीवन पर आधारित यह उपमा देखिये । वासुदेव ने गुरु की शुश्रूषा से शास्त्ररस इस प्रकार पी लिया जैसे दीपक अपनी बाती से तेल चूस लेता है ।

शुश्रूषया गुरोरेव कृत्स्नशास्त्ररसं पयो ।

वशाकर्व इव स्नेहं दशया ह्यन्तरस्थया ॥२.६३

इन मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त देवानन्द में काव्यलिङ्ग, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरग्यास, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, श्लेष, यथासंख्या, असंगति, सहोक्ति आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है ।

छन्दों के प्रयोग में मेघविजय ने शास्त्रीय विधान का अनुवर्तन किया है । ऋतुयं सर्ग में नाना वृत्तों का प्रयोग भी शास्त्रानुकूल है । इस सर्ग में जिन तेईस छन्दों को अपनाया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—उपजाति, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, द्रुतविलम्बित, शालिनी, पथ्या, प्रहर्षिणी, जलधरमाला, वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, प्रमिताक्षरा, कुरुरीहता स्रविणी, मत्तमयूर, दोषक, मञ्जुभाषिणी, आर्यागीति, जलोद्धतगति, रयोद्धता, भ्रमरविलसितम्, मालिनी, पृथ्वी तथा वंशपत्रपतितम् । अन्य छह सर्गों की रचना में मुख्यतः वंशस्थ, अनुष्टुप्, उपजाति, वसन्ततिलका द्रुतविलम्बित तथा पुष्पिताग्रा का आश्रय लिया गया है । इनके अन्त में प्रयुक्त होने वाले छन्द इस प्रकार हैं—पुष्पिताग्रा, शार्दूलविक्रीडित, औपच्छन्दसिक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, पंचकावली, शिखरिणी, प्रभा, स्वागता, तोटक, कुटिलक, मत्तमयूर तथा मन्दाक्रान्ता । कुल मिला कर देवानन्द में बत्तीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं । इनमें अनुष्टुप् की प्रधानता है । मेघविजय ने कतिपय अप्रचलित अथवा कम प्रचलित छन्दों के द्वारा अपने छन्दकौशल का प्रदर्शन भी किया है ।

देवानन्द एक चमत्कृतिप्रधान महाकाव्य है । भाषायी जादूगरी के द्वारा अपने रचनाकौशल का प्रकाशन करना कवि का अभीष्ट है । इसलिए धर्माचार्य के चरित पर आधारित हुआ भी यह चित्रकाव्य की कलावाजियों से आक्रान्त है । इसमें उदात्त कवित्व अथवा जीवन दर्शन का अभाव है । देवानन्दमहाकाव्य मेघविजय के पाण्डित्य का परिचायक है तथा इसकी शाब्दी क्रीड़ा क्षणिक चमत्कार भी उत्पन्न करती है किन्तु इसका महत्त्व बौद्धिक व्यायाम से अधिक नहीं है ।

सप्तसन्धानमहाकाव्य : मेघचिजयगणि

संस्कृत कवियों ने अपने पाण्डित्य तथा रचना-कौशल की प्रतिष्ठा के लिये जिन काव्य-शैलियों को माध्यम बनाया है, उनमें नानार्थक काव्यों की परम्परा बहुत प्राचीन है। भोजकृत शृंगारप्रकाश में दण्डी के द्विसन्धानकाव्य का उल्लेख है। दण्डी का द्विसन्धान तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी चित्रकाव्य-शैली ने परवर्ती कवियों को इतना प्रभावित किया कि साहित्य में शास्त्रकाव्यों की भांति नानार्थक काव्यों की एक अभिनव विधा का सूत्रपात हुआ तथा इस कोटि की रचनाओं का प्रचुर निर्माण होने लगा। जैन कवियों ने सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान तथा शतार्थक काव्य लिखकर इस भाषाधी जादूगरी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। अनेक-सन्धान काव्य में श्लेषविधि अथवा विलोमरीति से एक साथ एकाधिक कथाओं के गुम्फन के द्वारा काव्य-रचयिता को भाषाधिकार तथा रचना-नैपुण्य प्रदर्शित करने का-सबाण अवकाश मिल जाता है। अतः आत्मज्ञापन के शौकीन पण्डित-कवियों का इसपर प्रबल होना स्वाभाविक था।

जैन-कवि मेघचिजयगणि का सप्तसन्धानमहाकाव्य चित्रकाव्य-शैली का उत्कर्ष है। साहित्य का आखिरी सप्तसन्धान कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की उम्हरे लेखनी से प्रसृत हुआ था। उसकी अप्राप्ति से उत्पन्न खिन्नता को दूर करने के लिये मेघचिजय ने प्रस्तुत सप्तसन्धान की रचना की है। इसके नौ सर्गों में जैनधर्म के पञ्च तीर्थंकरों—ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा पुरुषोत्तम राम और कृष्ण वासुदेव का चरित श्लेषविधि से गुम्फित है। काव्य में यद्यपि इन महापुरुषों के जीवन के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकरणों का ही निबन्धन हुआ है, किन्तु उन्हें एक साथ चित्रित करने के दुस्साध्य कार्य की पूर्ति के लिये कवि को विकट चित्र-शैली तथा उच्छृंखल शाब्दी क्रीडा का आश्रय लेना पड़ा है जिससे काव्य वक्षवत् दुर्मय बन गया है। टीका के जलपाथेय के बिना काव्य के महत्त्व को पार करना सर्वथा असम्भव है। विजयामृतसूरि ने अपनी विद्वत्तापूर्ण 'सरणी' से काव्य का मर्म विवृत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है यद्यपि कहीं-कहीं 'सरणी' भी स्पष्ट तथा निश्चित नहीं है।

१. जैन-साहित्य-वर्धक सत्ता, कुरत से सरणी सहित प्रकाशित, विक्रम सम्बत् २०००।

२. श्री हेमचन्द्रसूरि-सप्तसन्धानमाविकम् ।

रचित तदलाभे तु स्तादिवं सुष्ठ्वे सत्ताम् ॥ सप्तसन्धान, प्रशस्ति, २।

सप्तसन्धान का महाकाव्यत्व

सप्तसन्धान के कर्त्ता का मुख्य उद्देश्य विजयकाव्य की रचना में अपनी वैदग्ध्य का प्रकाशन करना है, और इस लक्ष्य के सम्मुख उसके लिये काव्य के अन्य धर्म गौण हैं; तथापि इसमें प्रायः वे सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, जिन्हें प्राचीन लक्षणकारों ने महाकाव्य के लिये आवश्यक माना है। संस्कृत महाकाव्य की रूढ़ परम्परा के अनुसार प्रस्तुत काव्य का आरम्भ चार मंगलाचरणात्मक पद्यों से हुआ है, जिनमें जिनेश्वरों तथा अन्य काव्य नायकों और वाग्देवी की वन्दना की गयी है। काव्य के आरम्भ में सज्जनप्रशंसा, सुजैन-निन्दा, सज्जगरी-वर्णन आदि बद्धमूल रुक्तियों का भी निबन्ध हुआ है। रघुवंश की भांति सप्तसन्धान नामा नायकों के चरित्र पर आधारित है, जो धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न महापुरुष हैं। इसका कथानक जैन साहित्य तथा समाज में, आंशिक रूप से जैनतर साहित्य में भी, प्रचलित तथा ज्ञात है। अतः इसे 'इतिहास-प्रसूत' (ख्यात) मानना न्यायोचित है। सप्तसन्धान में यद्यपि महाकाव्योचित रसार्द्रता का अभाव है, तथापि इसमें हान्तरस की प्रधानता मानी जा सकती है। शृंगार, वीर तथा करुण रस की हल्की-सी रेखा दिखाई देती है। चतुर्वर्ग में से इसका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। काव्य के चरितनायक कैवल्यप्राप्ति के पञ्चाशु तपोबल से सिवत्व प्राप्त करते हैं। मानव-जीवन की चरम परिणति सत्त साधना से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करना है; भारतीय संस्कृति का यह महान् आदर्श ही काव्य में प्रतिध्वनित है। मेघविजय का छन्दप्रयोग शास्त्रानुकूल है। इसमें भाषायत्त प्रौढ़ता (क्लिष्टता), विद्वत्ता-प्रदर्शन की अदम्य प्रवृत्ति, गम्भीर-गर्भित शैली तथा वस्तुव्यापार के महाकाव्यसुलभ विस्तृत तथा अलंकृत वर्णन भी बृष्टिगोचर होते हैं। अतः सप्तसन्धान को महाकाव्य मानने में हिचक नहीं हो सकती। स्वयं कवि ने शीर्षक तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में इसे महाकाव्य सजा प्रदान की है।

रचनाकाल

देवानन्दमहाकाव्य के समान सप्तसन्धान का रचनाकाल सुनिश्चित है। प्रान्तप्रशस्ति के अनुसार सप्तसन्धान की रचना संवत् १७६० (सन् १७०३ ई०) में हुई थी।

३. श्री बर्हदासः कृतशान्तिसर्गः समुद्रजम्बालवराजवर्गः ।

श्रीपारवनाथः शुभवर्द्धमानः धियाभिरामस्तमिह स्मरामः ॥ सप्तसन्धान, १.२

४. सुखेन बोधाकरयत् समानः सदा-सदम्भः-सवने सशौचः ।

काव्येषु सद्भावमयानमूढः किं भवति सज्जनवन्दन नीचः ? ॥ वही, १.५]

५. इति श्री सप्तसन्धाने महाकाव्ये राज्यादि.....अवतारवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

चिद्वत्समुनीन्मूनां (१७६०) प्रमाणत्वं परिवर्तरे ।

कुतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्चाप्रतिष्ठितः ॥३॥

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की रचना होने के नाते, इसे सामान्यतः आखोख्य युग के महाकाव्यों में स्थान देना उचित नहीं है। भेषविजय का स्थिति-काल सतरहवीं शताब्दी है। उनकी अन्य सभी रचनाएं सतरहवीं शती में ही प्रणीत हुईं। सप्तसंधान उनकी जीवन की सन्ध्या की कृति है।

कथानक

सप्तसंधान नौ सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें पूर्वोक्त सात महापुरुषों के जीवन चरित एक साथ अनुस्यूत हैं। बहुधा श्लेष-विधि से वर्णित होने के कारण जीवनवृत्त का इस प्रकार गुम्फन हुआ है कि विभिन्न नायकों के चरित को अलग करना कठिन है। अतः कथानक का सामान्य सार देकर यहाँ सातों महापुरुषों के जीवन की प्रमुख घटनाएँ पृथक्-पृथक् दी जा रही हैं।

अवतारवर्णन नामक प्रथम सर्ग में, मंगलाचरण आदि रूढ़ियों के पश्चात् भारतवर्ष, चरितनायकों के पिताओं^६, मध्यदेशमें स्थित उनकी राजधानियों^७, लोकोप-शोभी शासन-व्यवस्था^८, माताओं^९ के स्वप्रशंन, देवक्यवन तथा गर्भधारण^{१०} का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में देवांगनाओं द्वारा गर्भिणी माताओं की सेवा तथा चरितनायकों का जन्म^{११}, रक्षामंगल आदि वर्णित है। उनके धरा पर अवतीर्ण होते ही समस्त रोग शान्त हो जाते हैं तथा प्रजा का अभ्युदय होता है। तृतीय सर्ग में नवजात शिशुओं के जन्माभिषेक, नामकरण और कालान्तर में उनके विद्याध्ययन, विवाह तथा शासन का निरूपण किया गया है। उनके शासन के प्रभाव से सर्वत्र शान्ति तथा समृद्धि की प्रतिष्ठा हुई और अनीति, दुर्व्यसन, दरिद्रता, अज्ञान आदि दुर्गुण तत्काल विलीन हो

६. ऋषभदेव : नाभि, शान्तिनाथ : विश्वसेन, नेमिनाथ : समुद्रविजय, पार्श्वनाथ :

अश्वसेन, महावीर : सिद्धार्थ, राम : दशरथ, कृष्ण : वासुदेव (सप्तसंधान, १.५४)

७. नाभि तथा दशरथ : अयोध्या, विश्वसेन : हस्तिनापुर, समुद्रविजय : शौर्यपुर,

अश्वसेन : वाराणसी, सिद्धार्थ : ब्राह्मण्डकुण्ड, वासुदेव : मथुरा (१.३६)

८. लोकस्थ कस्यापि न दुःखलेश : क्लेश : कुतोऽन्योन्यमुद्यामुद्यानाम् । वही, १.५६

९. ऋषभ : मरुदेवी, शान्तिनाथ : अचिरा, नेमिनाथ : शिवा, पार्श्व : वासा, राम : कोशल्या, कृष्ण : देवकी (वही, १.६१), महावीर : जिहमा (१.६५)

१०. तत्रावतीर्णस्त्रिदशवतारी सुर : प्रभासामुर एव कश्चित् ।

आपन्नसत्त्वा मणिनेव भूमि राज्ञो विरेजे परभाऽनुभावात् ॥ वही, १.७६

११. मूर्धेऽसारेऽर्कविजो : प्रभादौ कर्मोदये देवगुरो : सुधांसो : ।

शनेस्तुलामेवुषमे मुकाव्ये तमोव्ययेऽमृजितदेवजन्व ॥ वही, २.१५

गये । पूज्यराज्यवर्णन नामक चतुर्थ सर्ग के प्रथम चौदह पद्यों में मुख्यतः आदिप्रभु के राज्याभिषेक के लिये देवताओं के आगमन, ऋषभदेव की सन्तानोत्पत्ति तथा उनकी प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्णन है । अगले सोलह पद्यों का प्रमुख विषय कृष्णचरित है, जिसके अन्तर्गत कौरव-पाण्डवों के वैर, द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी के धीरहरण, केशकर्षण, द्रौतवन में कीचक के द्रौपदी के प्रति प्रणय-प्रस्ताव तथा दीक्षाग्रहण आदि की चर्चा है । सर्ग के शेषांश में तीर्थंकरों द्वारा राज्यस्याग तथा प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन किया गया है^{१२} । पंचम सर्ग में, काव्य में वर्णित पांच तीर्थंकरों के विहार, तपश्चर्या, पारणा तथा उपसर्ग-सहन का वर्णन है । अनेक प्राकृतिक तथा भौतिक कष्ट सह कर वे तप से कर्मों का क्षय करते हैं । छठे सर्ग में जिनेन्द्र कर्मक्षय^{१३} तथा तपश्चर्या से कैवल्यज्ञान^{१४} प्राप्त करके स्याद्वाद पद्धति से उपदेश देते हैं^{१५} । उनकी देशना से धरा विकृति से मुक्त, पुण्यप्रवृत्ति से युक्त तथा सत्कीर्ति से धवलित हो गयी । सातवें सर्ग में छह परम्परागत ऋतुओं का वर्णन है । तीर्थंकरों की समवसरण में भावी चक्रवर्ती भरत, अन्य राजाओं के साथ उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं । दिग्विजयवर्णन नामक अष्टम सर्ग में ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय, तीर्थंकरों के सांवत्सरिक दान तथा मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन है । नवें सर्ग में मुख्यतः जिनेश्वरों के गणधरों की परम्परा का वर्णन है । इस प्रसंग में राम तथा कृष्ण के चरित से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं को भी समेटा गया है ।

इस प्रकार काव्य में सामान्यतया सातों नायकों के माता-पिता, राजधानी, माताओं के स्वप्नदर्शन, गर्भाधान, दोहद, कुमारजन्म, बालक्रीड़ा, विवाह, राज्याभिषेक आदि घटनाओं तथा पांच तीर्थंकरों की लोकान्तिक देवों की अभ्यर्थना, सांवत्सरिक दान, दीक्षा, तपश्चर्या, पारणा, कैवल्यज्ञानप्राप्ति, समवसरण-रचना, देशना, निर्वाण, गणधर आदि प्रसंगों का वर्णन है । विभिन्न महापुरुषों के जीवन की जिन विशिष्ट घटनाओं का निरूपण काव्य में हुआ है, वे इस प्रकार हैं ।

आदिनाथ

भरत को राज्य देना (४.३४), नमि-विनिमित्तक सेवा, धरणेन्द्र द्वारा उन्हें

१२. वही, ३.४०

१३. कान्ताचरितछवचसा भरते न्यघायि

स्वाप्ताग्रजन्मनि परे वनवासवृत्तिः । वही, ४.३४

१४. एवं भावनया देवश्छेत्तुं मोहमहाद्रुमम् ।

समारुह्य गुणस्थानमारेभे अपकोद्यमम् ॥ वही, ६.६

१५. प्राप्तः पुरिमतालाख्यसख्योपवनधारणाम् ।

कांचनाग्निक्रियाभाक्षत् समाधानोपदेशतः ॥ वही, ६.२५

१६. इवामी जगाद स्याद्वादपद्धत्या मधुरं वचः । वही, ६.२७

विद्या तथा ब्रह्म-देना, वीताड्य पर उनका सुखभोग (५.१४), बाहुबलि के सद्याल में अपने से पूर्व-प्रभु का विहार (५.१-६), समवसरण में भरत का आगमन (७.४१), भरत का षट्संखसाधन (८.१-१२), छयावस्था में बाहुबलि का तक्षशिला जाना, अग्निनी सुन्दरी की दीक्षा ।

ज्ञानिनाथ

अशिवहरण (१.२) तथा षट्संखविजय द्वारा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति ।

मेमिनाथ

राजीमती का त्याग (३.२२) ।

पारवनाथ

कलिगपति यवनराज को परास्त करना, मेघमालिकुमार का उपसर्ग तथा पार्व्व द्वारा उसे पूर्व पद प्रदान करना (५.२६) ।

महावीर

गर्भहरण, गोशाल के साथ विहार, सिंह नामक ग्रामाधिकारी द्वारा गोशाल पर सङ्ग-प्रहार, (५.२०), संगमदेव, नागकुमार का उपसर्ग (५.३३), देशना से मेघकुमार और अभयकुमार का चारित्र्य ग्रहण करना (७.३८), दुर्गन्धिका का संयमग्रहण और यवनकुमार का बोध (७.३६), अभयकुमार के दीक्षा ग्रहण करने से चिल्लणा के पुत्र कोणिक का राजा बनना (७.४१) ।

रामचन्द्र

सीतास्वयम्बर (३.३४), वनभ्रम (३.३१), वनगमन (३.३४, ४.३४), भरत को राज्य देना (४.३४), रसेच्छ सेनापति द्वारा सीताहरण का प्रयास, राम के शस्त्र उठाने पर उस द्वारा क्षमायाचना (५.१६), शम्भुकवध (५.२०), खरदूषणवध (५.२२), चारणधि के प्रभाव से गन्ध पक्षी का जटायु के रूप में परिवर्तन (५.१६), रावण का कपटप्रयोग (५.२२), स्वर्णमृग (४.३१), जटायुवध (५.३१), सीताहरण (५.३०), सुग्रीव से मंत्री (५.५१), हनुमान् का दौत्य (५.३५), रावण के विरुद्ध प्रयाण (५.४५) रावण की चिन्ता (५.५५), विभीषण का पक्ष-त्याग (५.२३), मेघनाद द्वारा हनुमान् को बन्दी बनाना (५.३८), लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार (६.४६), राम की विजय (६.५४), विभीषण का राज्याभिषेक (७.३२), सीता की अग्निपरीक्षा (७.३२), बहु-विवाह (६.११), सपत्नियों के द्वेष के कारण सीता का निर्वासन (६.१२), सीता द्वारा दीक्षा ग्रहण करना (६.१४), राम की शत्रुजय-यात्रा, मोक्ष-प्राप्ति (८.१६) ।

कुलञ्चन्द्र

शक्तिमणी-विवाह (६.५४), कंस का विवाह के समय देवकी को केश लींच कर मारने का प्रयास (४.३८), कुवलयवध (५.१), कंसवध (५.४०), कंस के

स्थान पर उग्रसेन को सिंहासनासीन करना (१.५.२६), प्रद्युम्न-वियोग, प्रद्युम्न द्वारा दुर्योधन की कन्या का हरण (५.३०), कालीयदमन (५.३८), द्वारका के निर्माण के लिये अष्टाद्विक तपश्चर्या (५.१२); द्वारकावास (४.३४, ५.४१), द्वारका-दहन (६.१५), अनिरुद्ध का तथा भानु का दुर्योधन की पुत्री के साथ विवाह (५.२५); यादवों की अत्यधिक मदिरासक्ति के कारण कृष्ण का वनगमन (६.१५), शरीर-त्याग (८.१६, ९.१५), बलभद्र का कृष्ण के शव को उठा कर घूमना (९.१६); शिशुपाल एवं जरासंध का वध ।

उनके अतिरिक्त कृष्ण का पाण्डवों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण महाभारत के अनेक प्रसंगों की भी चर्चा काव्य में हुई है, जिनमें ये उल्लेखनीय हैं— पाण्डवजन्म (४.१६), द्रौपदी-स्वयम्बर (४.२१), द्यूत, द्रौपदी का चीरहरण (४.२२); पाण्डवों का द्रौतवन में वास, कीचक की नीचता (४.३०), कलि द्वारा नल को छलना (४.३२), कर्ण की वीरता (५.२४), धर्मयुद्ध (५.२७), अभिमन्यु की जलक्रीड़ा (५.३३), उसका वध (७.२२), भीम द्वारा बकासुर का वध (६.१२), नकुल की वीरता, शल्य का वध (६.१२) महाभारत युद्ध में द्रोण, भीष्म, दुःशासन आदि का वध (६.५५, ७.१२) ।

काव्य का कथानक नगण्य है । चरित्रनायकों के जीवन के कतिपय प्रसंगों को प्रस्तुत करना ही कवि का अभीष्ट है । इन घटनाओं के निरूपण में भी कवि का ध्येय अपनी विद्वत्ता तथा रचना-कौशल को बघारना रहा है । इससे कथानक के सामूहिक रूप में क्या वैचित्र्य पैदा होता है, इसकी उसे चिन्ता नहीं है । अतः काव्य में वर्णित घटनाओं का अनुक्रम अस्त-व्यस्त हो गया है । कतिपय प्रसंगों की पुनरुक्ति भी हुई है । राम तथा कृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित सीता-विवाह, धनुर्भंग, वनगमन, खर-वृषण-युद्ध, विभीषण का पक्षत्याग, रुक्मिणी-विवाह आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जिनकी काव्य में, प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से, एकाधिक बार आवृत्ति की गयी है । राम के जीवन के निरूपण में, घटनाओं में क्रमबद्धता का खेदजनक अभाव है । उदाहरणार्थ, राम की पत्नियों, स्वर्णमृग और वानरों के साथ राम की मित्रता का उल्लेख पहले हुआ है, सीता स्वयम्बर, वनगमन तथा राम के अनुयायियों के अयोध्या लौटने की चर्चा बाद में । जटायुवध से पूर्व सीताहरण, विभीषण के पक्षत्याग, शम्बूकवध, हनुमान् के दोरस, माया-सुग्रीव के साथ राम के युद्ध का निरूपण करना हास्यास्पद है । इसी प्रकार सीता की अग्नि-परीक्षा के पश्चात् धनुर्भंग तथा चित्रकूट-गमन का उल्लेख करना कवि की परवशता का द्योतक है ।

काव्य में रामकथा का जैन रूपान्तर प्रतिपादित है । फलतः राम का एक-पत्नीत्व का आदर्श यहाँ समाप्त हो गया है । वे बहुविवाह करते हैं । सीता के अतिरिक्त उनकी तीन अन्य पत्नियों के नामों (प्रभावती, रतिप्रभा, श्रीदामा) का उल्लेख

काव्य में हुआ है। सपत्नियों के षड्यन्त्र के कारण राम को सीता की सच्चरित्रता पर सन्देह हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वे उस गभिणी को राज्य से निष्कासित कर देते हैं (६.१२)। राम के सुविज्ञात पुत्रों, कुश और लव का स्थान यहाँ अनंग-सवण तथा मदनकुश ने ले लिया है। (६.१३)। जैन रामायण के अनुरूप ही राम शत्रुंजय की यात्रा करते हैं तथा प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

काव्य में निरूपित जिनेश्वरों का चरित भी क्रमभंग से मुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ, ३।२४ में तीर्थंकरों के विद्याध्ययन के उल्लेख से पूर्व ३/२२ में उनकी पत्नियों का नामोल्लेख आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार उनके द्वारा संसारत्याग का उल्लेख पहले हुआ है, शासन का वाद में (क्रमशः ३.३४, ३.४०)।

काव्य का सप्तसन्धानत्व

सात व्यक्तियों के चरित को एक साथ गुम्फित करना दुस्साध्य कार्य है। प्रस्तुत काव्य में यह कठिनाई इसलिये और बढ़ गयी है कि यहाँ जिन महापुरुषों का जीवनवृत्त निबद्ध है, उनमें से पाँच जैनधर्म के तीर्थंकर हैं, अन्य दो हिन्दू धर्म के आराध्य देव, यद्यपि जैन साहित्य में भी वे अज्ञात नहीं हैं। कवि को अपने उद्देश्य की पूर्ति में संस्कृत की संश्लिष्ट प्रकृति से सबसे अधिक सहायता मिली है। श्लेष ऐसा अलंकार है जिसके द्वारा कवि भाषा में इतने अर्थ भर देता है कि जो जितना चाहे वाचस्पत्य करे। बहुश्रुत टीकाकार भाषा को इच्छानुसार अन्वित अथवा खण्डित करके अभीष्ट (अनभीष्ट भी) अर्थ निकाल सकता है। इसीलिये सप्तसन्धान में श्लेष की निबन्ध योजना की गयी है, जिससे काव्य का सातों पक्षों में अर्थ ग्रहण किया जा सके। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तसन्धान के प्रत्येक पद्य के सात अर्थ नहीं हैं। वस्तुतः काव्य में ऐसे पद्य बहुत कम हैं, जिनके सात स्वतन्त्र अर्थ किये जा सकते हैं। अधिकांश पद्यों के तीन अर्थ निकलते हैं, जिनमें से एक जिनेश्वरों पर घटित होता है; शेष दो का सम्बन्ध राम तथा कृष्ण से है। तीर्थंकरों की निजी विशेषताओं के कारण कुछ पद्यों के चार, पाँच अथवा छह अर्थ भी किये जा सकते हैं। जिन पद्यों के सात अर्थ किये गये हैं, उनमें कतिपय पदों के भिन्न अर्थों के द्वारा उन्हें विभिन्न चरितनायकों पर घटित किया गया है। पूर्णतया स्वतन्त्र सात अर्थ वाले पद्य काव्य में विरले ही होंगे। कुछ पद्य तो श्लेष से सर्वथा मुक्त हैं तथा उनका केवल एक अर्थ है। यही अर्थ सातों चरितनायकों पर चरितार्थ होता है। यही प्रस्तुत काव्य का सप्तसन्धानत्व है। कवि की यह उक्ति—काव्येऽस्मिन्न एव सप्त कथिता अर्थाः समर्थाः श्रियं (४.४२)—भी इसी अर्थ में सार्थक है।

जो पद्य भिन्न-भिन्न अर्थों के द्वारा सातों पक्षों पर घटित होते हैं उनमें व्यक्तियों के अनुसार एक विशेष्य है, अन्य पद उसके विशेषण। अन्य पक्ष में अर्थ करने पर विशेषणों में से प्रसंगानुसार एक पद विशेष्य की पदवी पर आसीन

हो जाता है, पूर्व विशेष्य सहित अन्य पद उसके विशेषण बन जाते हैं। इस प्रकार पाठक को सातों अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ सातों चरितनायकों के पिताओं के नाम प्रस्तुत पद्य में समाविष्ट हो गये हैं।

अवनिपतिरिहासीद् विश्वसेनोऽश्वसेनोऽप्यथ वशरथनाम्ना यः सनाभिः सुरेशः ।
बलिविजयिसमुद्रः प्रौढसिद्धार्थसंज्ञः प्रसूतभरणतेजस्तस्य भूकश्यपस्य ॥१.५४

इसी विधि से सातों काव्यनायकों की जन्मतिथियों का उल्लेख भी एक पद्य में कर दिया गया है।

अयेष्टेऽसिते विश्वहिते सुचित्रे वसुप्रभे शुद्धनमोऽर्थमेये ।

सांके दशाहे बिषसे सपौषे जनिजिनस्याजनि वीतदोषे ॥ २.१६

वस्तुतः कवि के लिए यह विधि इतनी उपयोगी है कि काव्यनायकों की सामूहिक विशेषताओं अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं के निरूपण में उसने इस शैली का खूबकर आश्रय लिया है। चरितनायकों की जन्मभूमि (१.३६-४०), माताओं के नाम, ज्यवन तिथि (१.७६) तथा कैवल्यप्राप्ति की तिथियों (६.६३) आदि को इसी प्रकार सरलता से निरूपित किया गया है। प्रस्तुत पद्य में काव्यनायकों के चारित्र्यग्रहण करने का वर्णन एक साथ हुआ है।

आतेमहाव्रतमथत् जिनेषु मुख्यस्तस्मात्परेऽहनि स-शान्ति-समुद्रभूर्वा ।

भीपार्थ एव परमोऽचरमस्तु मार्गे रामेऽक्रमेण ककुप्तामनुभावनीये ॥ ४.३६

कवि के 'सन्धान' का विद्रूप वहाँ दिखाई देता है, जहाँ पद्यों से विभिन्न अर्थ निकालने के लिये ऐसी संश्लिष्ट भाषा प्रयुक्त की गयी है जो रचना-चातुर्य तथा दुरुहता का कीर्तिमान है। पाँचवें तथा छठे सर्ग में यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच गयी है। पंचम सर्ग में ऐसे पद्यों की भरमार है जो आपाततः राम अथवा कृष्ण-चरित से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं परन्तु उनमें, पृथक् अथवा सामूहिक रूप में, अन्य नायकों के जीवन के कतिपय प्रकरण भी अन्तर्निहित हैं। छठे सर्ग की स्थिति इसके विपरीत है। इसके अधिकतर भाग में जिनेन्द्रों का वृत्त निरूपित है, शेषांश का, ऊपरी दृष्टि, से राम तथा कृष्ण से सम्बन्ध प्रतीत होता है। सप्तम सर्ग के तथाकथित ऋतु-वर्णन को भी चरित-नायकों पर घटाने की चेष्टा की गयी है। पद्यों को विविध पक्षों पर चरितार्थ करने के लिए टीकाकार ने जाने-माने पद्यों के ऐसे चित्र-विचित्र अर्थ किये हैं कि पाठक टीकाकार की विद्वत्ता तथा भेदक दृष्टि से चमत्कृत तो होता है, किन्तु टीका के चक्रव्यूह में काव्य के वज्र से जूझता-जूझता वह हताश हो जाता है। निम्नोक्त पद्य की पदावली पाण्डव पक्ष का आभास देती है किन्तु कवि का उद्देश्य इसमें मुख्यतः वसन्त का वर्णन करना है। टीका की सहायता के बिना कोई विरला ही इससे अभीष्ट अर्थ निकाल सकता है।

दुःशासनस्य पुरशासनजन्मनेव

संप्रापितोऽध्वनियमो विघटोत्कटत्वात् ।

अन्येऽभिमन्युजयिनो गुहगौरवाह्या-

स्ते कौरवा अपि कृता हृतचौरवाचः ॥ ७.१२

पुरशासनजन्मनैव पुरं कुसुमदलवृत्तिं शास्ति विषटयतीति पुरशासनो वसन्तः
‘गुरं वेहे वेहे कुसुमदलवृत्तौ चर्मणि प्रधानप्राप्ते’ इति शब्दस्तोममहानिधिः, तस्य जन्म
उदयस्तेन दुःशासनस्य दुःखेन क्षास्यते सङ्गते इति दुःशासनं हिमम्, तस्य विषटोत्कट-
त्वात् विषटे विनाशे उत्कटत्वात् उच्छृङ्खलत्वात् अध्वनः मार्गस्य नियमः गमनप्रति-
बन्धः संप्राप्तितः समाप्तः मधुमाधवे गमनस्य प्रशस्ततरत्वात् गमननिरोधो निवारितः ।
अन्ये अभिमन्युजयिनोऽभिमन्यन्ते प्रशस्यन्ते जनैरिति अभिमन्यवः जात्यादिकुसुम-
विशेषाः ते च ते जयिनश्चेति अभिमन्युजयिनः प्रशस्ततरा जातीयकुसुमानि गुरुमहान्
यो गौरवः गरीयस्त्वम् तदर्हा तद्योग्याः को पृथिव्यां रवाः प्रसिद्धाः ते हृतचौरवाचः
कृता हृत निवृत्ताः चौरवाचः एकान्तस्मरणानि येषां ते कृताः, तेषान्नामापि कौरपि न
गृह्यन्ते इति भावः । न स्याज्जतीय वसन्ते इति साहित्यदर्पणस्मरणात् ।

अन्यार्थे पुरशासनजन्मनैव.....पुरशासनो वायुस्तस्माज्जन्म यस्य तेन भीम-
सेनेन यद्वा पुरशासनः पुरन्दरः ततो जन्म यस्य तेन अर्जुनेन विषटोत्कटत्वात् वि विपरीतं
विरुद्धं वा षटयत्याचरतीति विषटः विरुद्धाचारः द्रौपदीचीराद्याकर्षकत्वादित्यर्थः तेन
उत्कटः....तस्मात् दुःशासनस्य तदभिषानकौरवस्य अध्वनियमः अध्वनो मार्गस्य नियम
अन्तः, अतः परं गन्तव्यस्य वर्तते इति निश्चयः महाप्रस्थानमित्यर्थः संप्राप्तितः उप-
सम्भितः तथा अन्ये गुहगौरवाह्याः (भीष्मादयः) विनष्टमुष्टवचनाः कृताः तेषां मृता
अप्रशंसाहर्षिच जाताः इति भावः ।

प्रस्तुत पक्ष में रामचरित के कुछ प्रसंग अनुस्यूत हैं किंतु टीकाकार ने अन्य
काव्यनायकों के पक्ष के अर्थ भी निकाले हैं । यह दुस्साध्य कार्य कैसे सम्भव हुआ;
इसका बोध टीका से ही हो सकता है ।

अथ विधिवशात् स्थित्याः पूतौ वने हृतवण्डके

सबलहरिणा विद्यासिद्धे खरात्मनि निष्ठिते ।

भवति समरे जह्ने रक्षःप्रभुर्गुणधाम्गजां

स्वमनुजमिति रामे मिथ्यामति स्वविमानधीः ॥ ५.३०

अथ हृतवण्डके वण्डयति बिभीषति इति वण्डकः भयकारकः हृतः निरस्तः
वण्डको यत्र तस्मिन् जिनेन्द्रागमनप्रभावात् पारस्परिकविरोधोऽपि शान्त इति भावः ।
निर्भये वने विधिवशात् स्थित्याः धारणाया मुक्तेरित्यर्थः.....पूतौ पूर्तिनिमित्ताय
मुक्तिनिमित्तायेति तत्त्वं सबलहरिणा हरति पापमिति हरिः सबलश्चासौ हरिश्चेति
सबलहरिस्तेन विद्यासिद्धे अध्यात्मज्ञानसिद्धे सम्पन्ने सति अतएव खरात्मनि निष्ठिते कामे
प्रतिहते वसुधांगजां वसु कृष्णतां दधातीति वसुधा चासौ कृष्णा अंगजा कबरी चेति वसु-
धांगजां तां जह्ने हृतवान् लुप्तुचे । समरे सभं समतां राति अर्पयति सर्वत इति समरस्त-

स्मिन् समभावे भवति प्रसरति रक्षःप्रभुः रक्षणैकप्रवणः स्वविमानकीः.....देहाभिमान-
रहितः स्वमनुजमिते रामे स्वस्व मनुर्मन्त्रं विचाररक्षतिः तस्माज्जातः स्वमनुजः स्वस्व-
विचारजातः तेन मिते अनुमिते रामे आत्मानन्दमये अमिष्यामिति निरर्था दृढा बुद्धि-
चक्रे इति शेषः ।

श्लोकार्धयमक से आच्छन्न निम्नोक्त प्रकार के पद्यों के भी पाठक से जब नामों
अर्थ करने की आकांक्षा की जाती है, तो वह सिर घुमने के अतिरिक्त क्या कर सकता
है ?

नागाहृत-विवाहेन तत्क्षणे सवृषाः श्रियः ।

नागाहृत-विवाहेन तत्क्षणे सवृषाः श्रियः ॥ ६.५४

भाषा

सप्तसन्धान भाषायी खिलवाड़ है । काव्य को नाना अर्थों का बोधक बनाने
की आतुरता के कारण कवि ने जिस पदावली का गुम्फन किया है, वह पाण्डित्य तथा
रचना-कौशल की पराकाष्ठा है । सायास प्रयुक्त भाषा में जिस कृत्रिमता तथा कष्ट-
साध्यता का आ जाना स्वाभाविक है, सप्तसन्धान उससे भरपूर है । सप्तसन्धान सही
अर्थ में क्लिष्ट तथा दुर्बुद्ध है । सचमुच उस व्यक्ति के पाण्डित्य एवं चातुर्य पर
आश्चर्य होता है, जिसने इतनी गंभीर भाषा का प्रयोग किया है जो एक सत्य सात-
सात अर्थों को विवृत कर सके । भाषा की यह दुस्साध्यता काव्य का गुण भी है,
दुर्गुण भी । जहाँ तक यह कवि के पाण्डित्य की परिचायक है, इसे, इस सीमित अर्थ
में, गुण माना जा सकता है । किंतु जब यह भाषात्मक क्लिष्टता अर्थबोध में दुर्लभ्य
बाधा बनती है तब कवि की विद्वता पाठक के लिए अभिशाप बन जाती है । विविध
अर्थों की प्राप्ति के लिए पद्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार का अन्वय करने तथा सुपरिचित
शब्दों के अकल्पनीय अर्थ खोजने में बापुरे पाठक को असह्य बौद्धिक यातना सहनी
पड़ती है । परन्तु इस यातना से काव्य में छुटकारा नहीं क्योंकि भिन्न-भिन्न अन्वय,
पदच्छेद तथा पदों से सम्भव-असम्भव अर्थ का सवन करके ही इसके सप्तसन्धानत्व
की पूर्ति की जा सकती है । टीकाकार विजयामृतसूरि को घन्यवाद, जिन्होंने अपनी
शास्त्रविशारदता तथा बहुश्रुतता से प्रत्येक पद्य के ऐसे अर्थ किये हैं जो सभी चरित-
नायकों पर घटित हो कर सप्तसन्धान की रचना-प्रक्रिया को चरितार्थ बनाते हैं ।
ये सभी अर्थ कवि को अभीष्ट थे अथवा नहीं, इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है ।
एक-दो उदाहरणों से उक्त कथन की सार्थकता स्पष्ट हो जाएगी !

सवितृतनये रामासक्ते हरेस्तनुजे भुजे प्रसरति परे दौत्येऽद्विषाः सुता भयचंगुराः ।

श्रुतिगतमहानादा-वेणं जगुनिजमप्रजं रणविरमणं लोभकोमाद्विभीषणकायतः ॥ ५.३७.

रामायण के पात्रों के नामों तथा घटनाओं से परिपूर्ण इस पद्य में, रामपक्षीय
अर्थ के अतिरिक्त जिनेश्वरों की कामविजय का वर्णन है । यह अर्थ निकालने के लिये-

सन्धों को कैसे तोड़ा-मरोड़ा गया है और सुविज्ञात पदों के क्या अकल्पनीय अर्थ किये गये हैं, इसका आभास टीका के निम्नोक्त अंश से भली भाँति हो जाएगा ।

हरेचिनेन्द्रस्य भुजे भोग्यकर्मणि तनुजे अत्मीमूले सवितृतनये प्रकाशविस्तारके जिनेन्द्रे रामे आत्मध्याने आसक्ते परे अत्युत्कृष्टे मोक्षे इत्यर्थः दीप्त्यै दूतकर्मणि प्रसरति ध्यानमेव मोक्षाय दूतकर्मकृदिति भावः दिव्याः सुताः कामादयः भयमंगुराः भयभीता जाताः । विभीषणकायातः भयोत्पादककायोत्सर्गविधायकशरीरात् जिनेन्द्रात् लोभक्षोभात् लोभस्य तद्विषयकजयाशारूपस्य क्षोभात् आधातात् जयाशास्यागात् प्रत्युत निजपराजयभीतेः श्रुतिगतः महानादा भयादेव महाशब्दकारका दीर्घविराविणः रण-विरणं जिनेन्द्रतो विग्रहनिवर्तनं निजमग्रजमग्रेसरं देवं द्योतनात्मकं मोहराजं जगुः निवेदयामासुः ।

प्रस्तुत पद्य में केवलज्ञानप्राप्ति के पश्चात् जिनेश्वर का वर्णन है । आपाततः केवल राम पक्ष से सम्बन्धित प्रतीत होने वाले पद्य में यह अर्थ कैसे सम्भव है, इसका ज्ञान टीका के बिना नहीं हो सकता ।

सुमित्रांगजसंगत्या सदशाननभासुरः ।

अलिमुक्तेर्वनकार्यसारोऽभात्तलक्ष्मणाधिपः ॥ ६.५७

सुमित्रं मुष्टु मेघति स्निह्यतीति केवलज्ञानं तदेवांगजं तस्य संगत्या केवल-ज्ञानयोगेन वक्षाननभासुरः दशसु दिक्षु आननं मुखमुपदेशकाले यस्य स दशाननस्तेन भासुरः लक्ष्मणाधिपः लक्ष्म चिह्नमेव लक्ष्मणं तत् अधिपाति स्वसौनेन धारयतीति लक्ष्मणाधिपः अलिमुक्तेः अलेः सुराया मुक्तेस्त्यागात् दानकार्यसारः दानकार्यमुपदेशन-मेव सारो यस्य स अभात् ।

किन्तु यह सप्तसन्धान का एक पक्ष है । इसके कुछ अंश भाषायी जादूगरी से सर्वथा मुक्त हैं । माताओं की गर्भावस्था, दोहद, कुमार-जन्म तथा गणधरों के वर्णन की भाषा प्राञ्जलता, लालित्य तथा माधुर्य से ओतप्रोत है । दिक्कुमारियों के कार्यकलाप का निरूपण अतीव सरल भाषा में हुआ है ।

काश्चिद् भुवः शोधनमादधाना जलानि पुर्यां वधूषुः सपुष्पम् ।

छत्रं वधुः कान्चन चामरेण तं वीजयन्ति स्म शुचिस्मितास्याः ॥ २.२१

नवें सर्ग की सरलता तो वेदना-निग्रह रस का काम देती है । काव्य के पूर्वोक्त भाग की क्लिष्टता से जूमने के पश्चात् नवें सर्ग की सरल-सुबोध कविता को पढ़कर मस्तिष्क की तनी हुई नसों को स्पृहणीय विश्राम मिलता है ।

सुवर्णवर्णं गजराजगामिनं प्रलम्बबाहुं सुविशाललोचनम् ।

नरामरेन्द्रैः स्तुतपादपंकजं नमामि भक्त्या वृषभं त्रिनोत्तमम् ॥ ६.३०

प्रकृति-चित्रण

भावपक्ष का दारिद्र्य चित्र-काव्य का सौन्दर्य है । अतः चित्रकाव्य में उन प्रसंगों के लिये स्थान नहीं है, जिनमें भावों की ऊष्मता प्रकट होती हो । सप्तसंधान

में छह परम्परागत ऋतुओं का तथाकथित वर्णन किया गया है किन्तु चित्रकाव्य में इसका एकमात्र उद्देश्य महाकाव्य-रूढ़ियों की खानापूर्ति करना है। मेघविजय ने प्रकृति-वर्णन में अपने भावदारिद्र्य को छिपाने के लिये चित्र-शैली का आश्रय लिया है। श्लेष तथा यमक की भित्ति पर आधारित कवि का प्रकृति-वर्णन एकदम नीरस तथा कृत्रिम है। उसमें न मार्मिकता है, न सरसता। वह प्रौढोक्ति तथा श्लेष एवं यमक की उछल-कूद तक सीमित है। वास्तविकता तो यह है कि श्लेष तथा यमक की दुर्दमनीय सनक ने कवि की प्रतिभा के पंख काट दिये हैं। इसलिए प्रकृतिवर्णन में वह केवल छटपटा कर रह जाती है।

मेघविजय ने अधिकतर ऋतुओं की स्वाभाविक विशेषताएं चित्रित करने की चेष्टा की है, किन्तु वह चित्रकाव्य के पाश से मुक्त होने में असमर्थ है। अतः उसकी प्रकृति श्लेष और यमक के चक्रव्यूह में फँसकर रह गयी है। वर्षाकाल में नद-नदियों की गर्जना की तुलना हाथियों तथा सेना की गर्जना भले ही न कर सके, यमक की विकराल दहाड़ के समक्ष वह स्वयं मन्द पड़ जाती है।

न वानवानां न महावहानां नदा वनानां न महावहानाम् ।

न वानवानां न महावहानां न वानवानां न महावहानाम् ॥७.२२

प्रकृति-वर्णन के जिन पक्षों के पाठक से एकाधिक अर्थ करने की अपेक्षा की जाती है, उन्हें उक्त वर्णन के अवयव न कह कर बौद्धिक व्यायाम का साधन मानना अधिक उपयुक्त है। वर्षाकाल सबके लिए सुखदायी है किन्तु रमणियों तथा दादुरों का आनन्द इस ऋतु में अतुलनीय है। परदेशगमन के मार्ग रुद्ध हो जाने से नारियाँ अपने प्रियतमों के साथ सुख लूटती हैं और जलधारा का सेक दादुरों का समूचा सन्ताप हर लेता है। प्रस्तुत पद्य में कवि ने पावस के इन उपकरणों का अंकन किया है, पर वह श्लेष की परतों में इस प्रकार दब गया है कि सहृदय पाठक उसे खोजता-खोजता झुंझला उठता है। फिर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता।

अम्भोधरेण जनिता वनिता विशल्या

प्रोणाह्वयेन गिरिणा हरिणाभिनीता ।

कौशल्याहारिभनसा हरिमप्यशल्या

स्नानाम्भसंख विदधे त्वमुनादृतं ॥७.२०

इन अलंकृतिप्रधान वर्णनों की बाढ़ में कहीं-कहीं प्रकृति का सरल रूप देखने को मिल ही जाता है। पावस की रात में कम्बल ओढ़कर अपने खेत की रखवाली करने वाले किसान तथा वर्षा के जल से भीगे गलकम्बल को हिलाने वाली गाय का यह मधुर चित्र स्वाभाविकता से ओतप्रोत है।

रजनिबहुषान्द्योर्ध्वं रक्षाविधौ धृतकम्बलः

सपदि बुधुवे धारांभाराद् गवा गलकम्बलः ।

अक्षिरिख परलोत्रं सेवे कृषीवलपुंगव-

इचपलसबलं भीत्या जज्ञे बलं च पलाशजम् ॥७.२६

वसन्त के मादक वातावरण में मद्यपान का परिस्पाग करने का उपदेश देते समय जैन यति की पवित्रतावादी प्रवृत्ति प्रबल हो उठी है। किन्तु उसका यह उपदेश भी श्लेष के परिधान में प्रच्छन्न है (७-८)।

रस-योजना

सप्तसन्धान में मनोरागों का रसात्मक चित्रण नहीं हुआ है। चित्रकाव्य में इसके लिए अवसर भी नहीं है। जब कवि अपनी रचना-चातुरी प्रदर्शित करने में ही व्यस्त हो, तो मानव-मन की सूक्ष्म-गहन क्रियाओं-विक्रियाओं का अध्ययन एवं उनका विश्लेषण करने का अवकाश उसे कैसे मिल सकता है? अतः काव्य में किसी भी रस का अंगीरस के रूप में परिपाक नहीं हुआ है। मेघविजय के अन्य दो महाकाव्यों की भी, रस की दृष्टि से, यही शोचनीय स्थिति है। सप्तसन्धान की प्रकृति को देखते हुए इसमें शान्तरस की मुख्यता मानी जा सकती है, यद्यपि जिनेन्द्रों के धर्मोपदेशों में भी यह अधिक नहीं उभर सका है। तीर्थंकर की प्रस्तुत देशना में शान्तरस के विभावों तथा अनुभावों की हल्की-सी रेखा दिखाई देती है।

त्यजत मनुजा रागं द्वेषं घृति दृढसज्जने

भजत सततं धर्मं यस्यावजिह्मगताहचिः ।

प्रकुरुत गुणारोपं पापं पराकुरुताचिराद्

मतिरतितरां न व्याधेया परव्यसनादिषु ॥५.४६

काव्य में यद्यपि भरत की दिग्विजय तथा राम एवं कृष्ण के युद्धों का वर्णन है किन्तु उसमें वीर रस की सफल अभिव्यक्ति नहीं हो सकी है। कुछ पद्यों के राम तथा कृष्ण पक्ष के अर्थ में वीर रस का उद्रेक हुआ है। इस दृष्टि से यह युद्धचित्र दर्शनीय है।

तत्राप्तवानवबलस्य बलारिरेष न्यायान्तरायकरणं रणतो निवार्यं ।

धाम्नी जिघृक्षु शिशुपालराक्षसादिदुर्योधनं यवनभूपमपायकार ॥३.३०

तृतीय सर्ग में सुमेरु-वर्णन के अन्तर्गत देवदम्पतियों के विहारवर्णन में सम्भोग शृंगार की मार्मिक अवतारणा हुई है।

गोपाः स्फुरन्ति कुसुमायुधचापरोपात् कोपादिवाम्बुजदृशः कृतमानलोपाः ।

श्रीडन्ति लोलनयनानयनाम्बु दोलास्वाम्दोलनेन बिभ्रुधारश्च सुषाशनेन ॥३.४

जिनमाताओं की कुक्षि में देव के अवतरण में अद्भुत रस (१.७६) और कृष्ण के शय को उठा कर बलराम के असहाय भ्रमण में करुण रस (६-१६) की छटा है।

अलंकार-विधान

चित्रकाव्य होने के नाते सप्तसन्धान में चित्र-शैली के प्रमुख उपकरण अलंकारों की निर्बाध योजना की गयी है, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि काव्य में अलंकार भावानु-

भूति को तीव्र बनाने अथवा भावार्थजना को स्पष्टता प्रदान करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वे स्वयं कवि के साध्य हैं। उनकी साधना में लग कर वह काव्य के अर्थ सभी को भूल गया है जिससे प्रस्तुत काव्य अलंकृति-प्रदर्शन का अस्वादा बन गया है।

मेघविजय ने अपने लिये बहुत भयंकर लक्ष्य निर्धारित किया है। सप्त नायकों के जीवनवृत्त को एक साथ निबद्ध करने के लिए उसे पग-पग पर श्लेष का आंचल पकड़ना पड़ा है। वस्तुतः श्लेष उसकी बैसाखी है, जिसके बिना वह एक पग भी नहीं चल सकता। काव्य में सभंग, अभंग, शब्दश्लेष, अर्थश्लेष, शब्दार्थश्लेष, श्लेष के सभी रूपों का प्रयोग हुआ है। पांचवें सर्ग में श्लेषात्मक शैली का विकट रूप दिखाई देता है। पद्यों को विभिन्न अर्थों का द्योतक बनाने के लिए यहाँ जिस श्लेषगमित भाषा की योजना की गयी है, वह बहुश्रुत पण्डितों के लिए भी चुनौती है। टीका की सहायता के बिना यह सर्ग अपठनीय है। निम्नोक्त पद्य के तीन अर्थ हैं, जिनमें से एक पांच तीर्थकरों पर धटित होता है, शेष दो राम तथा कृष्ण के पक्ष में। शास्त्रीय दृष्टि से यह सभंग और अभंग दोनों प्रकार के श्लेष का उदाहरण है।

श्रुतिमुपगता दीव्यद्रुपा सुलक्षणलक्षिता

सुरबलभूताम्भोधावधौपदीरितसद्भवौ ।

सुररखवशाद् भिन्नाद् द्वोपान्ततेन समाहृता

हरिपवनधोर्वर्मत्यात्रात्मजेषु पराजये ॥५.३६

अपने काव्य के निबन्धन के लिए कवि ने श्लेष की भाँति यमक का भी बहुत उपयोग किया है। काव्य में श्लेष के बाद कदाचित् यमक का ही सब से अधिक प्रयोग हुआ है। पदयमक के अतिरिक्त मेघविजय ने पादयमक, श्लोकाद्वययमक, महायमक आदि का प्रचुर प्रयोग किया है। नगर-वर्णन की प्रस्तुत पंक्तियों से श्लोकाद्वययमक की करालता का अनुमान किया जा सकता है।

न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तं न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तम् ।

पुनर्वाच्यारम्भा मन्त्रार्थपुनर्वाच्यारम्भान्मन्त्रार्थ ॥१.५९

शब्दालंकारों में अनुप्रास को भी सप्तसन्धान में पर्याप्त स्थान मिला है। श्लेष तथा यमक के तनाव में अनुप्रास की मोहक प्राञ्जलता सुखद वैविध्य का संचार करती है। अन्त्यानुप्रास में यह श्रुतिप्रिय भङ्गुति चरम सीमा को पहुँच गयी है। गंगा का यह मधुर वर्णन देखिये—

गंगामुह्यन्मणिमालभारिणी सुरमुसेकामृतपूरसारणी ।

लोत्रक्षमेशस्य रसप्रचारिणी सा प्रागुद्भा बनिसेव धारिणी ॥ १.१७ ।

शब्दों पर आधारित अलंकार मेघविजय के प्रिय अलंकार हैं क्योंकि उनमें

कवि को शाब्दी ब्रिसवाड़ का अबाध अवकाश मिला है, जो प्रस्तुत काव्य का साध्य है। किन्तु सप्तसंधान में शब्दालंकारों के अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं। यह अलंकार-बाहुल्य कवि की साहित्यशास्त्र-विशारदता को छोटित करता है। कतिपय अलंकारों के उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे।

कुमार-वर्णन के प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत वटवृक्ष की प्रकृति से प्रस्तुत कुमार के गुण व्यंग्य होने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है।

नञ्जीभवेत् सविटपोऽपि षटो जनन्यां भ्रूमौ सत्तापरिवृतो निभृतः फलाद्यैः ।

कौलीनतामुपनतां निगवत्ययं किं सम्यगुरोर्विनय एव महत्त्वहेतुः ॥ ३.१६

निम्नोक्त पद्य में चरितनायकों के जन्म से प्रजा की सुख-शान्ति का निरूपण है। अप्रस्तुत आरोग्य, भाग्य तथा अभ्युदय का यहाँ एक 'आविर्भाव' धर्म से सम्बन्ध है। अतः इसमें तुल्ययोगिता अलंकार है।

आरोग्यभाग्याभ्युदया जनानां प्रादुर्बभूवुर्विगतजनानाम् ।

देशाविशेषान्मुदितानामां प्रफुल्लभावाद् भुवि काननानाम् ॥ २.१३

वसन्त वर्णन की प्रस्तुत पंक्तियों में 'दीपक' की अवतारणा हुई है क्योंकि यहाँ प्रस्तुत चन्द्रमा तथा अप्रस्तुत राजा का एक समान धर्म से सम्बन्ध है।

व्यर्था सपत्नश्चिरम्भुजसन्धिबन्धे राज्ञो न दर्शनमिहास्तगतश्च मित्रे ।

किं किं करोति न मधुव्यसनं च दैवादस्माद् विचार्य कुरु सज्जन तन्निवृत्तिम् ॥

७.६

जिनेन्द्रों की कीर्ति को रूपवती देवांगनाओं से भी अधिक मनोरम बताने के कारण प्रस्तुत पद्य में अतिशयोक्ति अलंकार है।

मनोरमा वा रतिमालिका वा रम्भापि सा रूपवती प्रिया स्यात् ।

न सुत्यजा स्याद् वनमालिकापि कीर्तिविभोर्धनं सुरनिपेया ॥ ६.६

दुर्जन निन्दा के इस पद्य में आपाततः दुर्जन की स्तुति की गयी है, किन्तु वास्तव में इस वाच्य स्तुति से निन्दा व्यंग्य है। अतः यहाँ व्याजस्तुति है।

मुलेन द्रोधाकरवत् समानः सदा-सदम्भः-सबने सशौचः ।

काव्येषु सद्भावनया न मूढः किं बन्धते सज्जनवन्न नीचः ॥ १.५

इस समासोक्ति में प्रस्तुत अग्नि पर अप्रस्तुत क्रोधी व्यक्ति के व्यवहार का आरोप किया गया है।

तेजो बहन्सहस्रो दहनः स्वजन्महेतून् ददाह तृणपुच्छनिर्गुणमुत्थान् ।

लेभे फलं त्वधिकतं तदयं कुनीतेर्भस्मावशेषतनुरेष ततः कृशानुः ॥ ३.२०

काव्य में प्रयुक्त अन्य अलंकारों में अर्थान्तरन्यास (५.६), विरोधाभास (१.३८), परिसंख्या (३.४१), उदात्त (२.८), अर्थान्ति (२.१४), विशेषोक्ति (२.३७), निदर्शना, (१.६८), अतद्गुण (३.४४), दृष्टान्त (३.२४, १.८) तथा

स्वभावोक्ति (१.१६) उत्प्रेक्षणीय है।

सप्तसंधान का मूल अलंकार श्लेष है, उपर्युक्त विवेचन में इसका अनेक प्रकार संकेत किया गया है। काव्य की नानार्थकता की कुंजी श्लेष ही है। श्लेष के साथ कवि ने अन्य अलंकार सूचकर अलंकारों के संकर की सृष्टि की है। अतः सप्तसंधान में श्लेष के अतिरिक्त कहीं अन्यानुप्रास तथा काव्यालिंग का मिश्रण है (१.३), कहीं उपमा और व्याजस्तुति का (१.५), कहीं अर्थान्तरन्यास, यमक तथा विरोध मिश्रित हैं (१.६) कहीं रूपक, उपमा, काव्यालिंग तथा समासोक्ति (१.६०)। अलंकारों के इस संकर की पराकाष्ठा निम्नोक्त पद्य में है, जिनमें श्लेष के साथ यमक, उपमा, विरोधाभास, काव्यालिंग तथा अतिशयोक्ति का मिश्रण दिखाई देता है।

मासत्यलक्ष्मीं वपुषाऽतिपुष्पन्नासत्यलक्ष्मीं धरते स्वरूपात्।

सत्यागमार्थं श्रयते यतेभ्यः सत्यागमार्थं लभते फलं सः ॥१.५१

छन्द

मेघविजय ने छन्दों के विधान में शास्त्रीय नियमों का यथावत् पालन किया है। प्रथम सर्ग उपजाति में निबद्ध है। सर्ग के अंत में मालिनी तथा स्रग्धरा का प्रयोग किया गया है। द्वितीय सर्ग में इंद्रवज्रा की प्रधानता है। सर्गान्त के पद्य शिखरिणी; मालिनी, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति तथा शार्दूलविक्रीडित में हैं। तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग की रचना में वसन्ततिलका का आश्रय लिया गया है। अंतिम पद्यों में क्रमशः स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित प्रयुक्त हुए हैं। पांचवें तथा छठे सर्ग का मुख्य छंद क्रमशः हरिणी तथा अनुष्टुप् है। पांचवें सर्ग का अंतिम पद्य स्रग्धरा में निबद्ध है। सातवें सर्ग में जो छह छंद प्रयुक्त हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—हरिणी, शार्दूलविक्रीडित वसन्ततिलका, इंद्रवज्रा, स्वागता तथा शिखरिणी। अंतिम दो सर्गों के प्रयोजन में क्रमशः द्रुतविलम्बित तथा उपजाति को अपनाया गया है। इनके अंत में शार्दूलविक्रीडित, वंशस्थ तथा स्रग्धरा छंद प्रयुक्त हुए हैं। सप्तसंधान में कुल तेरह छंदों का प्रयोग किया गया है। इनमें उपजाति का प्राधान्य है।

मेघविजय की कविता, दिक्कुमारी की भांति गूढ़ समस्याएँ लेकर उपस्थित होती है (२.७)। उन समस्याओं का समाधान करने की कवि में अपूर्व क्षमता है। इसके लिये कवि ने भाषा का जो निर्मम उत्पीडन किया है, वह उसके पाण्डित्य को व्यक्त अवश्य करता है, किन्तु कविता के नाम पर पाठक को बौद्धिक व्यायाम कराना; भाषा तथा स्वयं कविता के प्रति अक्षम्य अपराध है। अपने काव्य की समीक्षा की कवि ने पाठक से जो आकांक्षा की है (काव्येक्षणाद्वः कृपया पयोवद् भावाः स्वभावाद् सरसाः स्युः—१/१५), उसकी पूर्ति में उसकी दूरारूढ शैली सबसे बड़ी बाधा है। पर यह स्मरणीय है कि सप्तसंधान के प्रणेता का उद्देश्य चित्रकाव्य-रचना में अपनी

क्षमता का प्रदर्शन करना है, सरस कविता के द्वारा ~~कविता-मनोरंजन~~ कल्पना नहीं। ~~काव्य-मनोरंजन~~ इस महान्द्रण से जाँचने पर ज्ञात होता कि वह अपने समय में पूर्णतः सफल हुआ है। वाच के मूल की सीमांसा करते हुए वेबर ने जो शब्द कहे थे, वे सप्तसंज्ञान पर भी अक्षरशः लागू होते हैं। सप्तमुच सप्तसंज्ञानमहाकाव्य एक बीहड़ धम है, जिसमें पाठक को अपने धैर्य, श्रम तथा विद्वत्ता की कुस्ताड़ी से झाड़-झंझाड़ काट कर अपना रास्ता स्वयं बनाना पड़ता है। भट्टिकाव्य की तरह यह 'व्याख्यागम्य' है; किन्तु व्याख्या की सहायता से श्रमपूर्वक काव्य के परिशीलन के बाद भी संस्कृत भाषा की असीम क्षमताओं की परिचिति के अतिरिक्त कुछ विशेष हाथ नहीं आता।

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक महाकाव्य

हम्मीरमहाकाव्यः नयचन्द्रसूरि

जैनाचार्य नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीरमहाकाव्य^१ संस्कृत-साहित्य की अनूठी कृति है। चौदह सगों के इस वीरांक काव्य में राजपूती शौर्य की सजीव प्रतिमा, महाहठी हम्मीरदेव के राजनैतिक वृत्त तथा दिल्ली के प्रचण्ड यवन शासक अलाउद्दीन खिलजी के साथ घनघोर युद्धों और अन्ततः उसके स्वर्गमन का मोरधपूर्ण इतिहास प्रक्षस्त एवं प्रौढ़ शैली में वर्णित है। राजाश्रयी कवियों द्वारा रचित ऐतिहासिक महाकाव्यों में, आध्ययदाता के संतोषार्थ इतिहास को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उनमें तथ्य को कल्पना से अलग करना दुस्साध्य कार्य है। किन्तु निस्पृह जैन साधु का एकमात्र उद्देश्य देश तथा संस्कृति की रक्षा के लिये राष्ट्रवीर हम्मीर के प्राणोत्सर्ग की गौरवगाथा का यथावत् निरूपण करना है। उसे न राजसम्मान की आकांक्षा है, न धनप्राप्ति की लालसा। फलतः, हम्मीरमहाकाव्य का ऐतिहासिक वृत्त, कतिपय नगण्य स्थलों को छोड़कर, प्रायः सर्वत्र प्रामाणिक तथा निर्वोष है, जिसकी पुष्टि बहुधा समकालीन यवन इतिहासकारों के विवरणों से होती है। इसका काव्यगत मूल्य भी कम नहीं है। स्वयं नयचन्द्र को इसके काव्यात्मक गुणों पर गर्व है^२।

हम्मीरमहाकाव्य का महाकाव्यत्व

हम्मीरमहाकाव्य साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त, सही अर्थ में, निरपेक्ष काव्य है। इसके जैनत्व का एकमात्र द्योतक छह पद्यों का मंगलाचरण है, जिनमें 'परमज्योति' की उपासना तथा, श्लेषविधि से, तीर्थंकरों से मंगल की कामना की गयी है, अन्यथा हम्मीरमहाकाव्य का समूचा वातावरण और प्रकृति वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत है तथा यह इतिहास के तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण की श्लाघ्य भावना से प्रेरित है। इसकी रचना में काव्याचार्यों के विधान तथा महाकाव्य की बद्धमूल परम्परा का पालन किया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं उनके बन्धन से मुक्त होने का साहसपूर्ण प्रयास भी दिखाई देता है। युद्ध-प्रधान काव्य में जलविहार, सुरत आदि के माध्यम से कामुकता का

१. सम्पादक : मुनि जिनविजय, जोधपुर, सन् १९६८

२. पीत्वा श्रीनयचन्द्रवक्त्रकमलाभिर्भविकाव्यामृतं

को नामामरचन्द्रमेव पुरतः साक्षान् पश्येद् ध्रुवम् ।

आवावेव भवेवसावमरता चेत् तस्य नो बाधिका

वुर्वारः पुनरेव धावतुतमां हर्षावलीविभ्रमः ॥ हम्मीरमहाकाव्य, १४।१६

असंयत चित्रण माधकाव्य के प्रभाव का परिणाम है किन्तु इससे निबृत्तिवादी जैन कवि की साहित्यिक साहसिकता भी द्योतित होती है। यही स्वतन्त्र दृष्टि काव्य के फलागम से प्रकट है, जो शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल नहीं है।

अधिकतर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती महाकाव्यों के विपरीत हम्मीरकाव्य का कथानक काव्य के कलेवर के परिमाण के अनुरूप विस्तृत तथा सुगठित है। कथावस्तु को अन्वितिपूर्ण बनाने के लिये महाकाव्य में जिन नाट्यसन्धियों की योजना आवश्यक मानी गयी है, उनका भी हम्मीरमहाकाव्य में सफल निर्वाह हुआ है। आठवें सर्ग से नवें सर्ग तक हम्मीर के सिंहासनाखंड होने तथा अलाउद्दीन को कर देना बन्द करके उसकी क्रोधाग्नि के प्रज्वलित करने में मुखसन्धि है। दसवें सर्ग में हम्मीर द्वारा भोज के अपमानित किये जाने, भोज के अलाउद्दीन की शरण में जाने तथा उससे हम्मीर को पराजित करने का रहस्य जान कर अलाउद्दीन द्वारा उल्लूखान को युद्धार्थ भेजने में प्रतिमुख सन्धि का विनियोग हुआ है। ग्यारहवें सर्ग में निसुरतखान तथा उल्लूखान, सन्धि करने के बहाने, अपनी सेना को छलपूर्वक पर्वत की घाटियों में स्थित कर देते हैं। यहाँ गर्भसन्धि स्वीकार की जा सकती है। तेरहवें सर्ग में, एक ओर, रति-पाल, रणमल्ल, जाहङ्ग आदि विश्वस्त वीरों के विश्वासघात के कारण हम्मीर निराशा के सागर में डूब जाता है, दूसरी ओर जाज और मुगल बन्धुओं की अविचल स्वामिभक्ति से उसमें आशा तथा उत्साह का संचार होता है। आशा-निराशा का यह अन्तर्द्वन्द्व विमर्श सन्धि को जन्म देता है। इसी सर्ग में शत्रु द्वारा बन्दी बनाए जाने की आशंका से हम्मीर का अपना शिरच्छेद करने के वर्णन में निर्बहुण सन्धि विद्यमान है। काव्य-नायक के इस बलिदान से पाठक में अमित स्फूर्ति तथा उत्साह का उन्मेष होता है। अतः यह फलागम शास्त्र-विरुद्ध होता हुआ भी काव्य के उद्देश्य के अनुरूप है, जो परम्परागत चतुर्वर्ग की प्राप्ति नहीं बल्कि राष्ट्र, संस्कृति तथा शरणागत की रक्षा के लिये हंसते-हंसते प्राण न्यौछावर करना है। व्यापक एवं सुसंघटित कथानक के अतिरिक्त हम्मीरमहाकाव्य भाषा की गम्भीरता तथा शैलीगत बीरता के कारण उल्लेखनीय है और यह रणयम्भीर के इतिहास का विश्वसनीय स्रोत है। वस्तुतः हम्मीरमहाकाव्य संस्कृत के उन इने-गिने महाकाव्यों में है, जो परम्परावादी तथा नव्यतावादी आलोचकों को एक समान सन्तुष्ट करते हैं।

कवि तथा रचनाकाल

हम्मीरमहाकाव्य की प्रशस्ति में नयचन्द्र ने अपनी गुरु-परम्परा का पर्याप्त परिचय दिया है। नयचन्द्र कृष्णगच्छ के प्रख्यात आचार्य जयसिंहसूरि के प्रशिष्य थे। जयसिंहसूरि उच्चकोटि के विद्वान् तथा ख्यातिप्राप्त वाम्भी थे। उन्होंने षड्भाषाचक्रवर्ती तथा प्रमाणज्ञों में अग्रणी सारंग को वादविद्या में परास्त कर अपनी

वाक्कला की प्रतिष्ठा की थी। उनकी विद्वत्ता विविध रूपों में प्रस्फुटित हुई। उन्होंने न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ भासवंज-कृत न्यायसार पर पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी, एक स्वतन्त्र व्याकरण की रचना की तथा कुमारपालचरितकाव्य का प्रणयन कर अपनी कवित्वकला का परिचय दिया। सम्भवतः इस त्रिविध उपलब्धि के कारण ही जयसिंहसूरि को 'त्रिविद्यवेदि-चक्री' की गौरवशाली उपाधि से विभूषित किया गया था। नयचन्द्र ने दीक्षा तो जयसिंह के षट्षर प्रसन्नचन्द्रसूरि से ग्रहण की थी, किन्तु उनके विद्यागुरु जयसिंह ही थे। जयसिंह के पौत्र होते हुए भी वे, काव्यकला में, उनके पुत्र थे।

हम्मीरमहाकाव्य में इसके रचनाकाल का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। अतः इसकी रचना कब हुई, इस विषय में कुछ निश्चित कहना सम्भव नहीं है, किन्तु काव्यप्रशस्ति के अप्रत्यक्ष संकेतों तथा अन्य स्रोतों के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। नयचन्द्र ने अपने काव्यगुरु जयसिंहसूरि के कुमारपाल-चरित का प्रथम आदर्श सम्बत् १४२२ (सन् १३६५ ई०) में किया था। इस तथ्य का निर्देश करते हुए जयसिंह का कथन है—

अवधानसावधानः प्रमाणनिष्णः कवित्वनिष्णातः ।

अलिखन् मुनिनयचन्द्रो गुरुभक्त्यास्याद्यादर्शम् ॥^३

यदि यह युवा नयचन्द्र का यथार्थ मूल्यांकन है, तो स्वीकार करना होगा कि सन् १३६५ तक उसने साहित्य की विभिन्न शाखाओं में अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। जैसा स्वयं नयचन्द्र ने सूचित किया है, उसे हम्मीरमहाकाव्य लिखने की प्रेरणा तोमर-नरेश वीरम के सभासदों की इस व्यंग्योक्ति से मिली थी कि प्राचीन कवियों के समान उत्कृष्ट काव्य-रचना करने वाला अब कोई कवि नहीं है।^४ इस तोमर-वंशीय शासक का सन् १४२२ तक विद्यमान होना अब सुनिश्चित है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसका पौत्र इंगरेन्द्र सन् १४२४ में म्वालियर के सिंहासन पर आसीन हो चुका था और वह सन् १४४० तक अवश्य विद्यमान था।^५ इससे प्रतीत होता है कि वीरम ने दीर्घकाल तक राज्य किया था और सन् १४२२ में वह पर्याप्त वृद्ध हो गया था। वीरम का राज्यारम्भ चालीस वर्ष पूर्व मानकर उसका शासनकाल

३. वही, १४।२२-२३

४. वही, १४।२४

५. पौत्रोऽप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः काव्येषु पुत्रतितमां नयचन्द्रसूरिः । वही, १४।२७

६. कुमारपालचरित, प्रशस्ति, ६

७. काव्यं पूर्वकवेन काव्यसदृशं कश्चिद् विधाताऽपुने-

त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि । हम्मीरमहाकाव्य, १४।४३

८. डी. आर. मण्डारकर : इन्सक्रिप्सन्स आफ नार्दनं इण्डिया, संख्या ७८५

१३८२ से १४२२ ई० तक स्वीकार किया जा सकता है। नयचन्द्र का वीरमः से सम्पर्क उसके राज्य के मध्यकाल में हुआ था, जब उसकी काव्यकला की ख्याति चतुर्दिक् फैल चुकी थी। अतः हम्मीरकाव्य का रचनाकाल १४०० ई० के आस-पास मानना सर्वथा न्यायोचित होगा। उस समय नयचन्द्र की प्रज्ञा पूर्णतया परिणत हो चुकी थी, जो हम्मीरकाव्य की प्रौढ़ता में प्रतिबिम्बित है। हम्मीर की मृत्यु को (सन् १३०१) तब लगभग सौ वर्ष हो चुके थे। हम्मीर-चरित का प्रणयन करने की बलवती लालसा नयचन्द्र को दिन-रात मग्न ही रही थी।^१ आश्चर्य नहीं यदि उसने हम्मीरदेव की शतवार्षिक पुण्यतिथि पर प्रस्तुत काव्य से उनका साहित्यिक तर्पण किया हो। यदि यह अनुमान ठीक है, तो पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष, सन् १४०१, को हम्मीरकाव्य का रचनाकाल माना जा सकता है।^{१०} खरतरगच्छीय जैन भण्डार, कोटा से प्राप्त, काव्य की सम्बत् १४८६ (सन् १४२३) में लिखित प्राचीनतम प्रति से भी, प्रकारान्तर से, उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। मुनि जिनविजयजी ने कीर्तने वाली प्रति की पुष्पिका में उल्लिखित^{११}, काव्य के लिपिकाल, सम्बत् १५४२ को सं० १४५२ के लिए भूल मानकर हम्मीरकाव्य को सम्बत् १४५२ में रचित मानने की कल्पना की है। उनके विचार में काव्य के लिपिकर्ता नयहंस का सम्बत् १५४२ में होना संभव नहीं क्योंकि वे जयसिंहसूरि के शिष्य थे, जो सं० १४२२ में विद्यमान थे।^{१२} उसी वर्ष नयचन्द्र ने उनके कुमारपालचरित का प्रथम आदर्श किया था। परन्तु कृष्णविगच्छ में जयसिंहसूरि नामक एक अन्य आचार्य हुए हैं, यह सम्बत् १५३२ में रचित उनके प्रतिमालेख से निश्चित है। नयहंस इन्हीं जयसिंह के शिष्य थे। कुमारपालचरितकाव्य के लेखक जयसिंह उनसे सर्वथा भिन्न हैं। एक गच्छ में समान नामधारी आचार्यों की आवृत्ति सुविद्ध है।^{१३} अतः जयसिंहसूरि के शिष्य नयहंस का सं० १५४२ में विद्यमान होना सर्वथा संभव है। इस प्रकार सं० १४५२ को हम्मीरकाव्य का रचनाकाल मानने का भूलाधार ही उह जाता है।

६. तेने तेनंख राजा स्वचरिततनने स्वप्ननुन्नेन कामम् । हम्मीरमहाकाव्य, १४१२६
१०. डा० फतहसिंह : हम्मीरमहाकाव्य—एक पर्यालोचन, पृ० २८।

११. सम्बत् १५४२ वर्षे आचणे मासि श्रीकृष्णविगच्छे श्रीजयसिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थं श्री पेरोजपुरे हम्मीरमहाकाव्यं सिल्लिखे।

१२. मुनि जिनविजय : संचालकीय ब्रह्मकाव्य, हम्मीरमहाकाव्य, पृ० ३।

१३. श्री अमरकान्त महाहटा : नयचन्द्रसूरिकृतकुम्भकर्पणविक्रमवर्णननां काव्यो, स्वाध्याय, १४.३, पृ० २५२ (अनुवादक अत्यन्त ठाकुर)।

कथानक

हम्मीरमहाकाव्य चौदह सर्गों की विशाल कृति है, जिसकी पद्य-संख्या १५७६ है। प्रथम दो सर्गों में बाह्यमान वंश के काल्पनिक उद्गम तथा दीक्षित चासुदेव से पृथ्वीराज द्वितीय तक उसके प्रारम्भिक शासकों का कवित्वपूर्ण वर्णन है। तृतीय सर्ग में साहबदीन (साहाबुद्दीन गोरी) से वस्तु पश्चिमी देश के राजा, गोपाचल-नरेश चंद्रराज के नेतृत्व में, रक्षा के लिये पृथ्वीराज से प्रार्थना करते हैं। पृथ्वीराज साहाबुद्दीन को दण्डित करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है। सात बार निरन्तर विजय प्राप्त करने के पश्चात् आठवीं बार वह छलपूर्वक बन्दी बना लिया जाता है। साहाबुद्दीन क्रुद्ध होकर उसे किले में चिनत्ता देता है। चतुर्थ सर्ग में हरिराज की विलासिता तथा उसके कारुणिक अन्त, शकराज के अजमेर पर आक्रमण के फल-स्वरूप उसके मन्त्रियों के रणथम्भोर में आश्रय लेने, प्रह्लादन के असौम्यिक मरण, उसके पुत्र वीरनारायण के दिल्लीराज द्वारा कपटपूर्ण वध तथा वाग्भट के मालवराज के षड्यन्त्र से बचकर पुनः रणथम्भोर पर अधिकार करने की विस्तृत घटनाएँ वर्णित हैं। वाग्भट के प्रतापी पुत्र जैत्रसिंह के तीन पुत्र थे—सुरत्राण, हम्मीर तथा वीरम। पांचवें से आठवें सर्गों के प्रारम्भिक भाग तक महाकाव्य-मुलभ विषयान्तर दृष्टिगत होते हैं। इनमें क्रमशः वसन्त, वनविहार, जलक्रीडा, सम्भोग तथा प्रभत का वर्णन है। भयवान् विष्णु के आदेश से जैत्रसिंह ने सं० १३३६ की पौष पूर्णिमा, रविवार को, हम्मीर को राज्याभिषिक्त किया और स्वयं आत्महित की साधना के लिये श्रीआश्रम नासिक पत्तन को प्रस्थान किया किन्तु मार्ग में लूटपाट से उनका देहांत हो गया। नवम सर्ग में हम्मीर द्वारा कर देना बन्द करने से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन अपने भाई उल्लूखान को रणथम्भोर के निकटवर्ती प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये भेजता है। हम्मीर विनिवर्ज्य के पश्चात् दत्तस्थ या, अतः प्रधाना-मात्य धर्मसिंह के आदेश से सेनापति भीमसिंह ने बनास के तट पर सकसेना पर आक्रमण किया। राजपूतों के प्रबल प्रहार से सकसेना भाग उठी, किन्तु धर्मसिंह के प्रताप से सेनापति विजयी होकर भी घिर गया और बुद्धि-कस्ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। वस्तुपूर्ति के पश्चात् हम्मीर ने धर्मसिंह के अवरणन को अश्वता तथा नपुंसकता की संज्ञा देकर उसे वस्तुतः अन्धा और नपुंसक बना दिया और पद से च्युत कर दिया। धर्मसिंह का पद उसने खड्गधारी भोज को दिया। भोज देव अर्थसंचय में कुशल नहीं था, अतः अपनी शिष्या नर्तकी धारादेवी की सहायता से धर्मसिंह पुनः प्रधानात्मास्य पद प्राप्त करने में सफल हुआ। उसने माना प्रकार के अनुचित कर लगाकर राजकोश को परिपूर्ण कर दिया। उसने भोजदेव से भी आय-शुद्धि मांगी जिससे भोज को अपना सर्वस्व उसे देना पड़ा। जब लोभाग्ध राजा ने भी उसका अपमान किया तो वह अपने अनुज पीयूषसिंह के साथ तीर्थयात्रा के बहाने

रणथम्भोर से निकल पड़ा। दसवें सर्ग में भोज हम्मीर से अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अलाउद्दीन से जा मिलता है। उसकी दुष्प्रेरणा से अलाउद्दीन ने, उल्लूखान के नेतृत्व में, एक विशाल सेना हम्मीर के विरुद्ध भेजी। खल्जी सेना बुरी तरह पराजित हुई। उल्लूखान किसी प्रकार जीवित भागने में सफल हुआ। उधर महिमासाह ने भोज की जागीर जगरा पर छापा मारकर पीथमसिंह को सपरिच्छद बन्दी बनाया। उल्लूखान की दुर्भाग्य-कथा तथा भोज के कर्णक्रमन्दन से अलाउद्दीन की कोपाग्नि भड़क उठी। ग्यारहवें सर्ग में मुसलमानी सेना द्वारा रणथम्भोर के विफल रोष तथा निसुरतखान की मृत्यु का वर्णन किया गया है। उल्लूखान ने उसका शव दिल्ली भिजवाया। उसकी अन्त्येष्टि के पश्चात् स्वयं अलाउद्दीन ने रणथम्भोर को प्रस्थान किया। बारहवें सर्ग में हम्मीर तथा अलाउद्दीन का दो दिन का घनघोर युद्ध वर्णित है, जिसमें ८५,००० यवन योद्धा श्वेत रहे। तेरहवें सर्ग में राजपूत वीर, यवनों के सभी धावों को विफल कर देते हैं। यवनों ने खाई पाटने का प्रयास किया। चौहानों ने आग्नेय गोलों से लकड़ी को जला दिया और लाखयुक्त खीलता तेल फेंका जिससे यवन योद्धा जल-भुन गये। बल से दुर्ग को लेना असम्भव जानकर अलाउद्दीन ने कूटनीति का प्रयोग किया। उसने हम्मीर के विश्वस्त सैनिक रतिपाल, रणमल्ल आदि को अपने पक्ष में मिला लिया। निराशा तथा अविश्वास के उस वातावरण में महिमासाह ने अपनी पत्नी तथा बच्चों को तलवार की धार छतारकर अविचल स्वाभिक्ति का परिचय दिया। अन्ततः हम्मीर स्वयं समरभूमि में उतरा और शत्रु के हाथ में पड़ने की आशंका से स्वयं अपना गला काट कर प्राण त्याग दिये। चौदहवें सर्ग में हम्मीर के प्राणोत्सर्ग से चतुर्दिक् व्याप्त शोक की अभिव्यक्ति तथा काव्यकार की प्रशस्ति है।

हम्मीरमहाकाव्य की कथावस्तु को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चार सर्ग, जिनमें हम्मीर के पूर्वजों का वर्णन है, प्रथम खण्ड के अन्तर्गत आते हैं। आठवें से तेरहवें सर्ग तक छह सर्गों का अन्तर्भाव द्वितीय खण्ड में होता है। हम्मीरकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य—हम्मीरकथा—द्वितीय खण्ड में ही निरूपित है। मध्यवर्ती तीन सर्गों (५-७) का काव्य-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। उनका समावेश केवल महाकाव्य-परिपाटी का निर्वाह करने के लिये किया गया है। नयचन्द्र के काव्यशास्त्रीय विधान के अनुसार काव्य के कलेवर में अलंकृत शृंगारपूर्ण वर्णन उतने ही आवश्यक हैं, जितना भोजन में नमक^{१४}। ये सर्ग काव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त से क्लान्त पथिक के विश्राम एवं मनोरंजन के लिये सरस श्राव्य हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, प्रथम चार सर्गों का

१४. रसोऽस्तु यः कोऽपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय ।

सत्यप्यहो पाकिमपेशलये न स्वादु घोर्यं सवचनं हीनम् ॥

हम्मीरमहाकाव्य, १४।३६

भी मुख्य कथा से अधिक सम्बन्ध नहीं है। प्रथम खण्ड, एक प्रकार से, हम्मीरकथा की भूमिका है। इसीलिये निरन्तर तीन सगों का सेतु बांधने पर भी कथा-प्रवाह अवरोध नहीं होता। वास्तव में, हम्मीरमहाकाव्य का कथानक व्यापक, अन्वित-पूर्ण तथा गतिशील है। महाकाव्य के ह्रासयुग में नयचन्द्र की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। संस्कृत के वैभव काल के काव्यों में भी ये गुण कम दिखाई देते हैं।

हम्मीरमहाकाव्य में बिम्बित कवि का व्यक्तित्व

नयचन्द्रसूरि ने काव्य के विविध प्रसंगों में अपने शास्त्र-विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है, यद्यपि माघ की भाँति उसने काव्य को शास्त्रीय पाण्डित्य के प्रदर्शन का आखाड़ा नहीं बनाया है। नयचन्द्र में राजनीतिज्ञ, इतिहासकार तथा कामशास्त्र, व्याकरण, साहित्यशास्त्र आदि में निष्णात आचार्य का दुर्लभ समन्वय है।

हम्मीरमहाकाव्य का प्रणेता राजनीति-पटु कवि है, किन्तु भारवि तथा माघ की तरह उसकी राजनैतिक विद्वत्ता अर्थशास्त्र, कामन्दक आदि से गृहीत कोरा सैद्धांतिक पाण्डित्य नहीं है। हम्मीरकाव्य में तीन शक्तियों, चार उपायों, छह गुणों की सामान्य चर्चा अवश्य है पर नयचन्द्र की राजनीति दैनन्दिन व्यवहार की राजनीति है, जो नवोदित राजा का पग-पग पर मार्गदर्शन करती है। इस दृष्टि से, युवक हम्मीर को दी गयी 'राज्य-शिक्षा' बहुत महत्वपूर्ण है।

नयचन्द्र के अनुसार आचारवान् राजा राज्य की सुख-समृद्धि का आधार है। सन्मार्ग पर चलने से वह प्रजा के आदर का पात्र बनता है किन्तु उसका दुराचार राज्य की नींव को खोखला कर देता है। जो राजा सत्ता के नशे में पूज्य व्यक्तियों के प्रति शिष्टाचार को भूल जाता है, वह आग के समान है जो तनिक प्रमाद से सब कुछ हड़प लेती है। राजा को स्त्री तथा राज्यलक्ष्मी का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। चाहे अनुरक्त हों या विरक्त, दोनों अवस्थाओं में ये कष्टप्रद हैं। परन्तु राज्यलक्ष्मी विवेकशील शासक का आंचल नहीं छोड़ती। नीति की सफलता के लिये साम, दान आदि उपायों का प्रयोग आवश्यक है, किन्तु त्रिवर्ग की भाँति उन्हें भी क्रम से प्रयुक्त किया जाना चाहिये। प्रथम तीन के असफल होने पर ही 'दण्ड' का प्रयोग न्यायोचित है^{१५}। नयचन्द्र का आदर्श 'एकच्छत्र राज्य' है। देश में वर्तमान प्रतिद्वंद्वी राजा, आंगन के विषवृक्ष के समान है। उसका उच्छेद करना अनिवार्य है। पराक्रम राजा का प्रमुख अस्त्र है। अपनी शक्ति का प्रदर्शन न करने वाला राजा अपमान का भागी बनता है। परन्तु नीति यह है कि यदि उपाय (बुद्धि) से कार्य सिद्ध हो

१५. वही, १.१०३, २.१, १०. ६.१०

१६. वही, ८.७३-७८.

ज्राए तो विक्रम (बल-प्रयोग) अनावश्यक है^{१७}। वास्तव में, शौर्य और बुद्धि एक मिथुन है। जून्हीं से सुराज्य प्रसूत होता है। अतः बलशाली विजिगीषु के लिये भी उसी शत्रु के विरुद्ध प्रयाण करना उचित है, जिसे विजित करना सम्भव हो^{१८}। बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रु (बहुरिपु) अधिक प्रबल तथा दुस्साध्य हैं। उन्हें वशीभूत किये बिना दिग्विजय निरर्थक है^{१९}।

विवादास्पद समस्याओं के न्यायपूर्ण समाधान तथा नीति के सम्यक् निर्धारण के लिये मन्त्रणा का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। नयचन्द्र ने मन्त्रणा की गोपनीयता पर बहुत बल दिया है। उनके विधान में केवल एक मन्त्री के साथ मन्त्रणा करना निरापद है। एकाधिक अमात्यों के साथ मन्त्रणा एक साथ अनेक गाड़ियों पर सवारी करने के समान अध्यावहारिक तथा संकटजनक है। राजा को पहले स्वयं समस्या पर विचार करके मंत्री की सम्मति लेनी चाहिये। दोनों में सहमति होने पर उसके अनुसार आचरण किया जाए। यदि दोनों में मतभेद हो, तो मन्त्रणा के प्रकाश में राजा को अपने विचार में यथोचित परिवर्तन करना चाहिये^{२०}।

राज्य की नीति राजा तथा मन्त्री के सामूहिक विमर्श से निर्धारित की जाती है परन्तु उसे कुशलता से क्रियान्वित करना मंत्रियों तथा राज्य के अन्य कार्यकर्त्तों पर निर्भर है। नयचन्द्र ने इस सम्बंध में बहुत सामिक तथा विवेक-सम्मत विधान किया है। मन्त्रिपद पर विश्वस्त तथा परीक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति ही राज्य के लिये हितकारी है। कुलकमागत मंत्रियों को छोड़कर नये मंत्रियों को साम्राज्य का भार सौंपना कच्चे घड़े में पानी रखने के समान मूर्खतापूर्ण है। पूर्व-दण्डित अथवा पूर्व-विरोधी पुंष को पुनः प्रधाना मात्य के पद पर प्रतिष्ठित करना 'मृत्युलेख' (डेथ वारंट) पर हस्ताक्षर करना है। वह गुप्त रूप से हृदय में वैर सहज कर रखता है और अवसर मिलते ही राजा को लील जाता है^{२१}। राज्य के कामिकों की नयचन्द्र ने अत्यन्त कड़े शब्दों में निंदा की है। उसका निश्चित मत है कि राजा को अपने अनुजीवियों पर निरन्तर अंकुश रखना चाहिये। स्वामी को धोखा देकर धूस औदिसे अपना पोषण करने वाले कर्मचारियों को खेत की स्वयम्भू धास की तरह तुरन्त उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। प्रजा के लिये राजा माता के समान है और अनुजीविवर्ग माता की सौत के समान। उसके हाथ में प्रजा के शिशु को

१७. वही, द. ७६, द१-द३ तथा, उपायसाध्ये खलु कार्यबन्धे न विक्रमं नीतिविदः स्तुवन्ति। ११.२१.

१८. वही, द. ८४-८५

१९. विध्वस्तारिषयोऽप्यजित्वाऽन्तरंगशत्रून्तिमात्रशक्तीन्। वही, द. ३६

२०. वही, द. ६७-१००

२१. वही, द. ६६-१०२

सौमना बुद्धिपूर्ण नहीं है। कर्मचारियों की क्रियुक्ति के संबंध में नयचन्द्र की व्यक्तित्व है कि अपने से अधिक कुलीन व्यक्ति को अशुभीवी निकुष्ट करना राजा के लिये निरापद नहीं है। वह शक्ति संचित करके वह वृक्ष की भाँति राज्य के आसद को नष्ट कर देता है^{२२}।

कर (टैक्स) राज्य की आर्थिक सुरक्षा तथा सम्पन्नता का मुख्य आधार है। कर-व्यवस्था का न्यायोचित तथा विवेक-सम्मत होना अनिवार्य है अन्यथा वह हम्मीर असंतोष को जन्म देती है। प्रजा से इस प्रकार कर लेना चाहिये कि उसे पीड़ा न हो^{२३}। प्रजा को पीड़ित करके कोष को करें से भरना, अपने ही मांस से शरीर का भक्षण करने के समान निकृष्ट कर्म है^{२४}। उचित कर-प्रणाली से प्रजा सन्तुष्ट रहती है और राज्य का अभ्युदय होता है^{२५}। प्रजा-पीडन के समान कुल-विरोध भी राजा के लिये त्याज्य है। प्रजापीडन और कुल-विरोध चक्की के दो पाट हैं, जिनमें फँस कर राज्य धान की तरह चूर-चूर हो जाता है^{२६}।

नयचन्द्र द्वारा प्रतिपादित राजनीति का सार सम्भवतः यह है—

पराभवन् द्विषच्चक्रं प्रभवन् न्यायवृद्धये ।

सौख्यं चानुभवन् स्फीतं स प्रजान्निचरमन्वशात् ॥ ४.३१

शत्रु की पराजय तथा न्यायपूर्ण शासन, इन्हीं पर प्रजा का सुख तथा राज्य की समृद्धि आधारित है।

नयचन्द्रसूरि सफल इतिहासकार भी हैं। हम्मीरमहाकाव्य में उन्होंने हम्मीर तथा उसके पूर्वजों का इतिहास प्रस्तुत किया है, वह उनकी इतिहास-प्रवीणता का परिचायक है। प्रारम्भिक शासकों के वर्णन में कुछ त्रुटियाँ हैं। सम्भवतः नयचन्द्र को उनके इतिहास के प्रामाणिक स्रोत प्राप्त नहीं हो सके थे। किन्तु हम्मीर का विवरण लगभग पूर्णतया विश्वसनीय तथा तथ्यपूर्ण है। वस्तुतः हम्मीरमहाकाव्य संस्कृत का एकमात्र ऐसा काव्य है जिसे न्यायपूर्वक इतिहास-ग्रंथ कहा जा सकता है। हम्मीर-काव्य के ऐतिहासिक वृत्त के सत्यासत्य का परीक्षण आगे यथास्थान किया जाएगा।

इतिहास तथा राजनीति के अतिरिक्त नयचन्द्र कामशास्त्र के भी समर्थ विद्वान् हैं। उनमें कालिदास की रसिकता का अभाव है पर माध की तरह वे 'स्मरकलाविदुर'—कामकला के प्रौढ पण्डित हैं। पंचम तथा षष्ठ सर्ग में क्रमशः वनविहार और

२२. वही, ८.६२-६५

२३. वही, ८.८७

२४. प्रजादण्डेन यत् तेन प्रतेने कोशवद्धनम् ।

तत्किं स्वस्यैव भासेन न स्वदेहोपबर्हणम् ॥ वही, ८.१७०

२५. वही, ४.१

२६. वही, ८.६१.

जलकैल के अन्तर्गत विलासितापूर्ण चेष्टाओं तथा सप्तम सर्ग में रतिक्रिया के वर्णन में उनकी यह कामशास्त्रीय विशारदता खूब प्रकट हुई है। दुस्मान्त काव्य में शृंगार का वह ठेठ चित्रण माघकाव्य के प्रासंगिक वर्णनों के प्रभाव का फल है। माघ की तरह नयचन्द्र ने भी इस प्रकरण में नायिका के मुग्धा, प्रौढा, खण्डिता, कलहान्तरिता आदि भेदों तथा उनके बिम्बोक, कुट्टमित, किलकिचित आदि भावों का साग्रह निरूपण किया है। नयचन्द्र एक कदम आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने अभिधा-प्रणाली से विपरीतरति, वीर्य-स्खलन, सम्भोग के तुरन्त बाद पुनः रतिक्रीडा में प्रवृत्त होने, मवोढा के सम्भोग के समय हाथों से योनि को ढकने तथा अंगों को सिकोड़ने आदि निषेध-चेष्टाओं का^{१७} इस मुक्तता से वर्णन किया है कि हम्मीरकाव्य का यह प्रसंग कुरुचिपूर्ण अश्लीलता, बल्कि निर्लज्जता, से आच्छादित हो गया है। माघ का शृंगारचित्रण भी अश्लील है परन्तु नयचन्द्र का सम्भोग-वर्णन मर्यादा तथा शालीनता की सब सीमाएँ पार कर गया है। कामशास्त्र के क्षेत्र में माघ को यदि कहीं मात मिली है, वह संयमवादी जैन साधु नयचन्द्र के हाथों, हम्मीरकाव्य में। हम्मीरकाव्य का शृंगार-वर्णन हिन्दी के रीतिकालीन काव्यों के वातावरण का आभास देता है।

नयचन्द्र भट्टि अथवा माघ की कोटि के व्याकरण तो नहीं है। कम से कम उन्होंने अपने व्याकरण के पाण्डित्य का उस प्रकार प्रदर्शन नहीं किया। किन्तु हम्मीर-महाकाव्य से उनके शब्दशास्त्रीय ज्ञान की गम्भीरता का पर्याप्त परिचय मिलता है। उनके विचार में व्याकरण का पाण्डित्य मूलसूत्र तथा व्याख्यासहित वृत्ति (काशिका?) के सम्यक् परिशीलन से प्राप्त होता है^{१८}। स्वयं नयचन्द्र ने अष्टाध्यायी तथा काशिका का सूक्ष्म अध्ययन किया होगा। इसलिये हम्मीरमहाकाव्य में व्याकरण के विद्वत्तापूर्ण प्रयोगों का प्राचुर्य है^{१९}। काव्यशास्त्र, अलंकार तथा छन्दः शास्त्र पर भी नयचन्द्र का पूरा अधिकार है। उनकी कतिपय साहित्य-शास्त्रीय मान्यताओं की आगे

२७. वही, ७.८३, ६०, १२१, १०३, १०१, ११२, ११६, आदि।

२८. बलाबलं सूत्रगतं विचार्य सविग्रहां यो विदधीत वृत्तिम्।

स एव ततद्गुरुगौरवाहंशास्त्रज्ञधुर्यत्वंमुपैति तात ॥ वही, ८. १०५

२९. कुछ व्याकरणनिष्ठ प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(अ) चिकीर्षयात्मनीनस्य सस्मार परमात्मनः। वही, ४.७८

(आ) पवेलिमफलोदया, सिवेलिमतमायति (४.८७), वधिवीसः (४.११५),

सौख्यनाडिधमाः (४.११५), उरःपूरं,

दूर्वालावं (१३.२२२), लोकपूण, मुष्टिघ्नय (१४.१)

(इ) अङ्गुष्ठाग्रन्त, ऐसुयण्टीयन्त, अचन्दनायन्त (४.१२२)

(ई) अर्वाद्धिष्ट (४.३६) समनीनहत् (१२.११), अचीजनत् (१३.४७), मा वात् (१३.८४), मा प्राहिषुः (१३.२२६), उपाक्रांस्त (१३.१४७)

समीक्षा की जायगी। काव्य में वैदिक ऋषियों, अश्विों के अनुष्ठान, उनमें मंत्रों की ध्वनि, रक्षिणा, व्रत आदि की चर्चा से प्रतीत होता है कि वेद तथा धर्मशास्त्र में भी नयचन्द्र की अच्छी गति थी। कवि के रूप में नयचन्द्र 'निर्मल अर्थ' के प्रकाशनी हैं और उसे ही कवि की कीर्ति का आधार मानते हैं। हम्मीरकाव्य में नयचन्द्र ने अपने उस आदर्श का पूर्ण पालन किया है। वह भावपक्ष के कवि हैं किन्तु उन्होंने काव्य में शब्द अर्थात् उसके कलापक्ष की उपेक्षा नहीं की है। वे अपने काव्य के कलात्मक महत्त्व से आवृत्त हैं। हम्मीरमहाकाव्य में लालित्य तथा वक्रिभा का सुन्दर समन्वय है।

रसयोजना

काव्य में रस के महत्त्व तथा स्थिति के सम्बन्ध में नयचन्द्र ने अपनी मान्यता का कुछ आभास दिया है। उनके विचार में उत्तम काव्य तीव्र रसानुभूति का ही दूसरा नाम है। शब्दाढम्बर से क्षणिक चमत्कार उत्पन्न कर भावदारिद्र्य को छिपाना सामान्य कवि का काम है¹¹। हम्मीरकाव्य में इस उदात्त आदर्श का यथावत् पालन किया गया है। इसकी रचना सहृदय को रसास्वादान करने के निश्चित उद्देश्य से हुई¹² है। वस्तुतः हम्मीरकाव्य में आधुनिक रस की अमृतधारा प्रवाहित है जिसका पान करके काव्यरसिक अपूर्व आनन्द प्राप्त कर सकता है¹³। नयचन्द्र ने मानव-हृदय की विविध अनुभूतियों का चित्रण इस कौशल तथा मनोयोग से किया है कि केवल रस-समृद्धि की दृष्टि से हम्मीरमहाकाव्य समग्र जैनार्जुन काव्य-साहित्य में अत्युच्च बिन्दु का स्पर्श करता है। इसे पढ़ कर हृदय में सहसा जो आनन्द का उद्रेक होता है, उसका कारण रसवत्ता है—सोभभावमगमत् सहसा यत् तत्र कारणमसौ रसवत्ता (६.१६)। परन्तु हम्मीरमहाकाव्य में विविध रसों के तारतम्य के बारे में नयचन्द्र का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट नहीं है। काव्य के लिये प्रयुक्त 'शृंगारवीराद्भुत' विशेषण शृंगार तथा वीर रस की समकक्षता तथा समान महत्त्व की स्वीकारोक्ति है। अन्यत्र उनकी मान्यताएं परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं। एक ओर उन्होंने 'समरसंभव' वीररस के अंश को शृंगार की माधुरी से अधिक प्राणवान् मानकर वीररस को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है¹⁴, दूसरी ओर उन्होंने सुरतसुख को सर्वोत्तम सुख माना है¹⁵।

३०. वही, प.१०, प०, ६.६१, ६२, ११.३५

३१. कीर्त्ये कवीन्द्रा इव निर्मलाद्योत्पत्ति नरेन्द्राः परिभावयन्ति । वही, ८.६.

३२. नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् । शिष्यकृता प्रशस्ति, पृष्ठ ४.

३३. खवन्ति काठयं रसमेव यस्मिन् निधीयमाने मुदमेति चेतः ।

किं कर्णतर्णनंसुपर्णपर्णस्म्यर्णादिवर्णार्णवद्वन्द्वरेण ॥ हम्मीरभहाकाव्य, १४.३५

३४. सरसजनमनःप्रीतये काव्यमेतत् । वही, १४.३४.

३५. अभ्रान्तं च समस्तसन्निवह रसैर्वाचिः सुधासेकिमाः । वही, १४.४५

३६. शृंगारतः समरसंभवो रसो नूनं विशेषमधुरत्वमञ्जति । वही, १२.१३

३७. इह मूलेषु सुखं सुरतोद्भवम् । वही, ७.६७

और शृंगाररस को अभ्यात्मरस (ब्रह्मानन्द) से भी उच्चतर आनन्द की पदवी प्रदान करके उसके प्रति बरीयता प्रकट की है। सम्भवतः 'शृंगारवीरादमुत' विशेषण में उल्लिखित रसों का क्रम भी शृंगार की प्रमुखता को धोतित करता है।

इस विरोध के बावजूद नयचन्द्रसूरि वीर तथा शृंगार दोनों के समंज चित्रकार हैं। हम्मीरमहाकाव्य का अंगीरस वीर है। उसके वीररसपूर्ण ऐतिहासिक इतिवृत में रतिक्रीड़ा तथा अन्य शृंगारिक चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन (५-७) अप्रासंगिक तथा अवाञ्छनीय प्रतीत होता है, परन्तु अपने काव्यसिद्धान्त का अनुसरण करते हुए नयचन्द्र ने शृंगार को काव्य में इतना व्यापक स्थान दिया है कि वह वीर रस पर हावी हो गया है। काव्य के इस भाग से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अमरशतक आदि की तरह मूलरूप से शृंगारिक रचना है। ये शृंगार-लीलाएं माघ के कथानक में भी पूर्णतया नहीं खप सकी हैं फिर उस ऐतिहासिक काव्य में जिसका अन्त नायक के बलिदान तथा तज्जन्य शोक में होता है, यह नम्र कामुकता कैसे ग्राह्य हो सकती है? स्पष्टतः अपने काव्यशास्त्रीय आदर्श का परिपालन करने की लालसा तथा माघ के अनुकरण की भावना ने कवि को औचित्य से भ्रान्त कर दिया है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम्मीरमहाकाव्य में वीररस की सफल व्यंजना नहीं हुई है। वस्तुतः काव्य के तीसरे, आठवें, नवें, ग्यारहवें तथा बारहवें सर्गों के युद्ध-वर्णनों में वीररस को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। यह बात निम्न है कि हम्मीरमहाकाव्य का युद्धवर्णन चरितकाव्यों के वातावरण का आभास देता है। इसके युद्ध-वर्णनों के अन्तर्गत अधिकतर उन वीररसात्मक रूढ़ियों का वर्णन हुआ है जो चरितकाव्यों तथा हिंदी के वीरगाथाकाव्यों की निजी विशेषता समझी जाती हैं। इसलिये हम्मीर-काव्य के सभी युद्धों के वर्णन में प्रतिद्वन्दी सेनाओं की सज्जा, उनके प्रयाण, तलबारों की टकराहट, हाथियों की चीत्कार, धनुषों की टंकार, कबन्धों के नर्तन, योद्धाओं के साहसिक करतबों तथा विरोधी सैनिकों के द्वन्द्व-युद्ध में जूझने, देवांगनाओं के मृत वीरों का वरण करने के लिये समरांगण में आने आदि का वर्णन किया गया है। इन रूढ़ियों का निरूपण बारहवें सर्ग में हुआ है। इनके लिये नयचन्द्र माघकाव्य का ऋणी है, जिसमें सर्वप्रथम इन रूढ़ियों का साग्रह प्रतिपादन दिखाई देता है। हम्मीर काव्य में प्रयुक्त वीररसात्मक रूढ़ियों के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

संस्तुं विपक्षकरिकुम्भघर्षणः कण्डूलतां स्वभुजदण्डयोरथ ।

चेलुमंटा अपि बलद्वयाद् रणोत्साहवृट्पुटदशैषकंकटाः ॥ १२.३२

पत्तिः पदातिक्रमियाय सादिनं सादी रथस्थितमहो महारथी ।

मातंगयानगमनो निषादिनं द्वन्द्वाहवोज्जनि तदेति दोष्मताम् ॥ १२.३३

३८. रतिरसं परमात्मरसाधिकं कथमसी कथयन्तु न कामिनः ।

यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ ॥ वही, ७.१०४

३९. रसोऽस्तु यः कोऽपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय ।

सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम् ॥ वही, १४.३६

ऊर्ध्वं विदारितमरातिना शिरो भ्रश्यन्नियोजितमपि द्विधाऽप्यधः ।

स्वेनैव भिन्नजठराधुपादूर्तरन्त्रैर्निबध्य युयुधे पुनर्मटः ॥ १२.४५

एकः करी समरसीम्नि सादिमं चित्रोप कन्वुकमिवाधिपुष्करम् ।

धृत्वा करेण च कटौ परौ हृद्यं प्रास्फालयद् रजकवस्त्रवद् भुवि ॥ १२.७२

हम्मीरमहाकाव्य में अन्यत्र भी वीररस के चित्र सुंदर तथा प्रभावोत्पादक हैं । नयचन्द्र की कल्पनाशीलता तथा गम्भीर पदावली उनके सौन्दर्य को और बढ़ा देती है । दीक्षित वासुदेव के शौर्य का प्रस्तुत चित्र उक्त गुणों के कारण विशेष उल्लेखनीय है । “जब मट नर्तकी को नचाता है तो अनेक प्रकार के बाद्य बजते हैं और प्रेक्षक अपने अपने स्थान पर बैठ कर नृत्य का आनन्द लेते हैं । वासुदेव ने अपनी चक्कर लगाती हुई तलवार के बहाने जब शौर्यश्री रूपी नर्तकी को रण-रंगभूमि में नचाया, उस समय उसी तरह चारों तरफ जुझाऊ बाजे बज रहे थे और देवता लोग आकाश से इस विचित्र नृत्य का प्रेक्षण कर रहे थे” इस गूढोपमा ने वर्णन में नयी आभा डाल दी है ।

प्रवाद्यमाने रणवाद्यद्वन्दे संपश्यमानेषु दिवः सुरेषु ।

शौर्यभ्रियं यो रणरंगभूमावनतंयद्वेल्लदसिच्छलेन ॥ १.३०

परन्तु नयचन्द्र की भूलवृत्ति अहिंसावादी है । युद्ध तथा तज्जन्य हिंसा से उसे सहज घृणा थी । “न पुष्परपि प्रहस्तं व्यविधि विधेयः” (१२.८३)—उसके अर्न्तमन की भावना को बिम्बित करता है ।

शृंगाररस के चित्रण में नयचन्द्र कदाचित् वीररस से भी अधिक सिद्धहस्त हैं । वीररस-प्रधान काव्य में, पूरे तीन सर्गों में, शृंगार का सविस्तार वर्णन मात्र साहित्यिक आदर्श की पूर्ति नहीं है, वह शृंगार के प्रति उनके आन्तरिक अनुराग का द्योतक है । वीररसात्मक रूढियों के समान शृंगार की व्यंजना करने में नयचन्द्र ने माध का अनुसरण किया है । माध के समान ही हम्मीरमहाकाव्य का शृंगार वासनामय तथा ऐन्द्रिय है । नयचन्द्र ने वाच्य-प्रणाली का आश्रय लेकर शृंगार का ओ नम्र चित्रण किया है, उमने उनके शृंगार की सरसता को कुचल दिया है और वह अश्लील (कहीं-कहीं निर्लज्ज) बन गया है । नयचन्द्र ने गर्वपूर्वक विकृत्यना की है कि जिसने हम्मीरमहाकाव्य के ‘शृंगार-संजीवन’ सप्तम सर्ग का आस्वादन नहीं किया, उसके लिये शृंगार के कामिनी-सहित समस्त उपकरण अकारण हैं”, किन्तु इसमें सम्भोग केलियों के अन्तर्गत बहुधा वीर्यपात, विपरीतरति, सम्भोगमुद्राओं आदि के द्वारा मर्यादाहीन अशिव भावोच्छ्वास हुआ है । इसलिए हम्मीरमहाकाव्य का शृंगार विलासवृत्ति (कामुकता) को अधिक उभारता है ! नयचन्द्र की नायिका की भाँति वह सौन्दर्य को उधाड़ कर क्षणिक गुदगुदी पैदा कर सकती है”, उसमें हृदय के अन्तस्तल में पैठने की

४०. खिलमिदं न श्रुतः सप्तमश्चेत् ।

सर्गः शृंगारसंजीवन इति विदितो वीरहम्मीरकाव्ये ॥ वही, ७-१२८

४१. गलदम्बरा क्षणमभादपरा प्रकटीभवन्त्यतनुशक्तिरिव । वही, ५.६८

क्षमता नहीं है। वस्तुतः नयचन्द्र 'स्मरकलाविदुर'—कामकला के आचार्य हैं। उनकी यह कामकला-प्रवीणता उन्हें हिंदी के रीतिकालीन कवियों की पंक्ति में खड़ा कर देती है। इस दृष्टि से मूल्यांकन करने पर हम्मीरकाव्य में वनविहार, जलकेलि तथा सम्भोगक्रीड़ा के वर्णन; कामकला से अनुबोधित शृंगार रस की सघनता से अनेक-प्रोत हैं। नयचन्द्र के शृंगार की वास्तविक प्रकृति से परिचित होने के लिये कुछ उदाहरण आवश्यक हैं।

वनविहार करते समय एक नायक वृक्ष पर चढ़ने लगा। नीचे खड़ी नायिका ने कोंपल समझ कर उसका पैर पकड़ लिया। प्रिय के स्पर्श से उसका शरीर रोमांच से भर गया। आनन्दतिरेक की उस स्थिति में उसने प्रिय के पांव को न छोड़ा और न छोड़ा। उसे पकड़े वह प्रियतम के अंगस्पर्श का सुख लूटती रही।

वयितस्य वृक्षमधिरुडवतः पदमाशु पल्लवधिया विधृतम् ।

न चर्कष्य नैश च भुमोच परा पदबाप्तिजातपुलकप्रसरा ॥

मुग्धा के इस संयत आचरण के विपरीत प्रणयी भुगलों की शृंगार-चेष्टाओं के वे चित्र हैं जो नयचन्द्र के घोर विलासी तथा ठेठ कामुकतापूर्ण पद्य हैं और इस कला के आचार्य भारवि तथा माघ के इसी कोटि के वर्णनों को आसानी से पछाड़ सकते हैं। हम्मीरमहाकाव्य के ये प्रसंग पढ़ने मात्र से पाठक की वासना को उत्तेजित कर देते हैं। 'रति समाप्त होने पर नायक ने क्रिया से विरत होने की चेष्टा की। नायिका उस सुख से बंचित नहीं होना चाहती थी। अतः उसने नायक को दृढ़ता से जंघाओं में कस लिया। विजय के इस उल्लास और उससे प्राप्त सुख को उसने कभी मुस्करा कर, कभी बतिया कर और कभी हुंहु शब्द से प्रकट किया।'

रतिविराममदाहुपगूहनाद् विधटनेच्छुमवेत्य परा प्रियम् ।

सुबृढपूचयुगेन निपीडयन्त्यतस्तद्वृद्धमिति स्मितजल्पितम् ॥ ७.१०८

एक अन्य प्रौढा विपरीतरति में लीन थी। वह क्रिया के चरम बिंदु पर पहुँचने वाली थी कि नायक उसके 'पुरुषायितलाघव' (विपरीतरति की कुशलता) को देखने लग गया। इससे वह लजा गयी। रति को तो वह छोड़ नहीं सकती थी। उसने फूलों से दीपक बुझा कर अपनी भुंभलाहट प्रकट की और वह निर्विघ्न क्रिया में प्रवृत्त रही।

प्रियतमे पुरुषायितलाघवं किमपि पश्यति वक्रितकन्धरम् ।

अस्तहया रतिमुज्झितुमन्यया गृहमणिः शमितः कुसुमैर्ह्रिया ॥ ७।१०९

शृंगार की यह व्यंजना भी कम विलासी नहीं है। किसी कामिनी ने स्वयं पेड़ पर चढ़ कर पुष्पचयन करने की ठानी। उसने एक पांव भूमि पर और दूसरा निकटतम शाखा पर रखा। वह इस मुद्रा में खड़ी थी कि नायक बहाना करके सहसा उसके नीचे झुक गया। नायिका की नाभि के अधोवर्ती भाग (योनि) को देखकर उसका काम दीप्त हो गया और वह 'ऊर्ध्वसुरत' के लिये तैयार उठा।

कामिन्वाः कुसुमानि चेतुमघिरोहन्यास्तस्करन्धकं
भूमौ स्थायिनि दक्षिणे पक्षले बलि च साक्षात्पृथि ।

कृत्वा किञ्चन कंतव्यं विभक्तितोऽङ्गिनाभिमुखं परे

दृष्ट्वोदीरितकाम अर्धसुरते बाँछामतुच्छां बधौ ॥ ५.७१. †

हम्मीरमहाकाव्य का कवि शृंगार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों के चित्रण में निपुण है। कामकला का कवि होने के नाते यह उससे अपेक्षित भी था।

अन्य गौण रसों में; हम्मीरमहाकाव्य में, रौद्र, कण, बीभत्स, अद्भुत, वात्सल्य तथा शान्त रस की भव्य छटा दिखाई देती है। महिमासाहि जगरा पर आक्रमण करके पीयूषसिंह को परिच्छेद सहित बन्दी बना लेता है। भोज के मुख से उनकी दुर्दशा सुन कर अलाउद्दीन क्रोध से पागल हो जाता है और हम्मीर को तत्काल दण्डित करने की प्रतिज्ञा करता है। उसके क्रोधावेश के चित्रण में रौद्ररस की मार्मिक व्यंजना हुई है।

तद्वाक्यध्वजनादय प्रसुमरक्रोधप्रकम्पाघरो

बाहुष्ठम्भनमासनं प्रसितसं सध्यापसव्ये नयन् ।

प्रत्युक्षिप्य शिरोवर्तसमगनीपीठे तथास्फालयन्

चक्रे काव्यपरम्परामिति तदा म्लेच्छाननीबल्लभः ॥ १०.७६.

हम्मीरकाव्य में कणरस का भी सजीव चित्रण हुआ है। कणरस के परिपाक के लिये काव्य में अनेक अवसर हैं। पिता जैत्रसिंह की मृत्यु पर हम्मीर के विलाप, पुत्री देवलदेवी को जौहर के लिये बिदा करते समय उसके क्रन्दन, महिमासाहि के परिवार को खून की नदी में तैरता देख कर उसकी मूर्च्छा तथा हम्मीर के प्राणोत्सर्ग से व्याप्त सार्वजनिक शोक की अभिव्यक्ति में कणरस की वेगवती धारा प्रवाहित है। कालिदासोत्तर साहित्य में उनकी कणरा की व्यंजनात्मक मार्मिकता दुर्लभ है। अधिकांश कवियों ने, भवभूति को आदर्श मान कर, शोकतप्त व्यक्ति के क्रन्दन में ही कणरस की सार्थकता मानी है। हम्मीरमहाकाव्य में भी कणरस के चित्रण में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि उसमें अपनी तीव्रता के कारण हृदय की गहराई में पँठने की क्षमता है। हम्मीरकाव्य में कणरस की सबसे मार्मिक अभिव्यक्ति कदाचित् हम्मीर के बलिदान से उत्पन्न शोक के निरूपक † इसी श्रेणी के शृंगार के कुछ अन्य चित्र भी दर्शनीय हैं—

सम मुख-विधोरपि वर्शनात् तव दृशौ कुमुदे अपि भीलितः ।

किमिवमित्यपरा शयनोन्मुखं स्तनघटेन अयान हितं मुहुः ॥ वही, ७.८५

सम्भोगकेल प्रविधाय पश्चात् सुप्तापि नारी प्रथमप्रबुद्धा ।

आलिंग्य सुप्तं प्रियलुप्तिसंगं विशोकमाना न जहाति तल्पम् ॥ वही, ८.१३

किन्तु विलासिता का यह असर्वादित चित्रण काव्य-धर्म का निर्वाह मात्र है। निवृत्तिवादी धार्मिक भावना के प्रबल होते ही कवि को नारी 'मूत्र और पुरीष का पात्र' प्रतीत होने लगती है—स्त्रीणां तथा मूत्रपुरीषपात्रे गात्रे (८.४४)

इस पद्य में हुई है।

लोको मूढतया प्रकल्पितुतमां यज्जहमानः प्रभुः

श्रीहम्मीरनरेवरः स्वरयमद् विश्वकसाधारणः।

तत्कल्पितमुपेत्य किञ्चन ब्रह्म ब्रूयस्वमां स जितौ।

जीवन्नेव विसोक्यते प्रतिपदं तैस्तैर्निर्गन्धिकाभिः ॥ १४.१५

पिता के निघन से संतप्त हम्मीर को धीरज बंधने वाली बीजादित्य की युक्तिर्गं धान्तरस से परिपूर्ण हैं। बीजादित्य ने जीवन की नद्वरता तथा भौतिक पदार्थों की अस्थिरता को रेखांकित करके हम्मीर के शोक को दूर करने का प्रयत्न किया है। 'धरीर की बावड़ी में प्राण के हंस का कलरव शायद नहीं है। काल के रहुट की घटिकाएँ आयु के जल को धीरे-धीरे किन्तु अविनाश रीति रहती हैं'।

श्रीडां करिष्यति कियन्धिरमेव हंसः

स्निग्धोल्लसत्कलरवोऽत्र शरीरवाप्याम्।

कालारधदृघटिकाबलिपीयमान-

मायुर्जलं प्रागिति शोचन्नुपैति यस्मात् ॥ ८. १२७

इस प्रकार हम्मीरमहाकाव्य में विविध रसों की चर्चणा के लिये पर्याप्त सामग्री वर्तमान है। वस्तुतः नयचन्द्र की कविता प्रपानकरस का आनन्द देती है। नयहंस के शब्दों में हम्मीरमहाकाव्य रस का अक्षय भण्डार है—नयचन्द्रकवेः काव्यं रसायनमिहाद्भुतम् (शिष्यकृता प्रशस्तिः, ३)

प्रकृति-चित्रण

हम्मीरमहाकाव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त की महभूमि में नयचन्द्र ने स्थान-स्थान पर प्रकृति के मनोरम उद्यतनों का रोपण किया है। पाँचवें, छठे, सातवें, तथा तेरहवें सर्गों के कुछ भागों में बसन्त, सूर्यास्त, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात तथा वर्षा के रुच्यप्राप्ती चित्र अंकित करके पाठक की क्लान्ति भेटने का सफल प्रयत्न किया गया है। ये वर्णन कवि के प्रगाढ़ प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं। प्रकृति के प्रति नयचन्द्र का दृष्टिकोण अधिकतर रुढ़िवादी है। कालिदास के पश्चात् प्रकृति-चित्रण में नयी शैली का सूत्रपात होता है। प्रकृति के सहज आलम्बन-पक्ष के स्थान पर विविध प्रसाधनों के द्वारा उसका कलात्मक रूप अंकित करने में काव्यकला की सार्थकता मानी जाने लगी। नयचन्द्र को इसी परम्परा की याती प्राप्त हुई है। फलतः हम्मीर-महाकाव्य में प्रकृति के आलम्बन-पक्ष के प्रति कवि का अनुराग दृष्टिगत नहीं होता। इसमें बहुधा कलात्मक प्रणाली से प्रकृति का चित्रण किया गया है। नयचन्द्र के अधिकांश प्रकृति-वर्णन अप्रस्तुतविधान पर आधारित हैं। कवि के अप्रस्तुतविधान के कौशल के कारण उसका प्रकृतिवर्णन सरसता से सिद्ध है। इस दृष्टि से सूर्यास्त तथा वर्षा-श्रु के वर्णन विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रकृति-वर्णन की तत्कालीन परम्परा के अनुरूप हम्मीरमहाकाव्य में प्रकृति का स्वाभाविक रूप बहुत कम दिखाई देता है। जिन्हें प्रकृति के स्वाभाविक चित्र कहा जा सकता है, वे भी आलंकारिकता से इस तरह आक्रान्त हैं कि उनकी यत्किंचित् सहजता कलात्मकता में दब गयी है। किन्तु नयचन्द्र के प्रकृति के अलंकृत वर्णनों का सौन्दर्य दर्शनीय है। उसकी भाषा की धीरता, कल्पना की उर्वरता तथा अप्रस्तुत-विधान की निपुणता इन चित्रों को और आकर्षक बना देती है। अस्तगामी सूर्य के बिम्ब का एक भाग पश्चिम सागर में डूब गया है, शेषांश की लालिमा से गगन दीपित है। इस मनोहर दृश्य को देखकर भ्रम होता है कि शेषशायी भगवान् विष्णु ने अपनी प्रिया सिन्धुकन्या के एक कुच को अपने हाथ से ढक लिया है, दूसरे की आभा सूर्य की द्युति के रूप में आकाश में फैली हुई है।

जलशयेशशयाम्बुजनिह्नु तैककुचसिन्धुसुतोरसिजभ्रमम् ।

प्रवितरज्जगतां जलधेर्जले शकलमन्यमभाद् रविमण्डलम् ॥७.५॥

सन्ध्या के समय चकवा अपनी प्रिया के साथ कमलनाल का आनन्द ले रहा था। सहसा रात हो गयी। प्रिया के वियोग से वह भौचक्का रह गया। उसकी चोंच में मृणाल-खण्ड ज्यों का त्यों रह गया। वह बिसलता ऐसी प्रतीत होती थी मानो विरह में प्राणों को निकलने से रोकने के लिए अर्गला हो। उत्प्रेक्षा ने इस कवि-प्रौढ़ को चमत्कृत कर दिया है।

निशि वियोगवतः पततः स्थिता बिसलता चलचञ्चुपुटे बभौ ।

असुगणं वनिताविरहाद् विनिर्जिगमिषुं विनिरोद्धमिवागंला ॥७.१३॥

चन्द्रोदय का यह कल्पनापूर्ण चित्र भी कम आकर्षक नहीं है। नयचन्द्र रात्रि में तारों के छिटकने का कारण ढूँढ़ने चले हैं। उनका विश्वास है कि चन्द्रमा चिर विरह के पश्चात् अपनी प्रिया से मिला है। उसने उत्कण्ठावश प्रिया का ऐसा गाढा-लिंगन किया कि उसका मौक्तिक-हार टूट कर बिखर गया है। हार के वही मोती आकाश में तारे बन कर फैल गये हैं।

चिरभवन्मिलनाबुपगूहनं द्विजपताववयं ददति श्रियः ।

त्रुटति हारलता स्म समुत्पतद्विबिधमौक्तिकतारकिताम्बरा ॥७.२६॥

पावसवर्णन का प्रसंग भी कविकल्पना से तरलित है। अविराम वृष्टि से ताल-तलैया ने समुद्र का रूप धारण कर लिया है। उत्प्रेक्षा के द्वारा कवि ने इसका कारण खोजने की चेष्टा की है। प्रतीत होता है कि मेघमाला जल के भार का वहन नहीं कर सकी। उसके बोझ से फटकर वह धरा पर गिर गयी है।

दधत्स्वम्बुनिधेः स्पर्धां सरांसीह रराजिरे ।

त्रुटित्वा वारिभारेणाभ्राणीव पतिताम्यधः ॥१३.५६॥

वर्षाकाल की बयार का यह वर्णन प्रकृति के आलम्बन-पक्ष का चित्र प्रस्तुत करता है। मालती तथा कुटज की गन्ध से सिक्त, जलकणों से शीतल तथा लताओं को नचाने वाला पवन किसका मन मोहित नहीं करता !

मालतीकुटजामोदहारी स्पृष्टपथःक्षणः ।

लतालास्यकलाधार्यो ववौ वर्षासमीरणः ॥ १३.६३

नयचन्द्र ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का पटुता से आरोप किया है। हम्मीरमहाकाव्य के प्रकृति-वर्णन के सभी प्रसंगों के कुछ अंश कवि की इस प्रवृत्ति को द्योतित करते हैं। प्रकृति के मानवीकरण से काव्य के प्राकृतिक विम्बों में समर्थता तथा सम्प्रेषणीयता आई है। हम्मीरकाव्य की प्रकृति के मानवीकरण की विशेषता यह यह है कि माघ आदि की तरह उसके अप्रस्तुत शृंगारिकता से आच्छन्न नहीं हैं। वे अधिकतर लोक-व्यवहार, कवि के अनुभव तथा पर्यवेक्षण-शक्ति पर आधारित हैं। अस्तोन्मुख सूर्य को निम्नोक्त पद्य में पथिक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैसे लम्बे रास्ते को पैदल तय करने वाला यात्री स्नानादि से अपनी क्लान्ति को दूर करता है उसी प्रकार सूर्य दिन भर आकाश के अनन्त मार्ग पर चल कर थकावट से चूर हो गया है। सन्ध्या के समय वह अपनी थकान मिटाने के लिये पश्चिम-पयोधि में घुस कर जलक्रीड़ा कर रहा है।

अविरताम्बरसंचरणोल्लसद्गुरुपरिभ्रमसंगतविग्रहः ।

सलिलकेलिचिकीरिख बाहिनीदधितममध्यमगाहृत भास्करः ॥७.४

अष्टम सर्ग की प्रकृति मानवी भावनाओं से अधिक अनुप्राणित है। इसमें प्रकृति के मानवीकरण के कई सुन्दर चित्र अंकित हुए हैं और प्रत्येक दूसरे से अधिक मोहक है। समाप्तप्रायः रात्रि को रजस्वला का रूप देकर कवि ने उसकी आभा-हीनता तथा मलिनता को सहजता से रेखांकित कर दिया है। रजस्वला के मुख की कांक्षित मलिन पड़ जाती है, वस्त्र मैले-कुचैले हो जाते हैं। अपनी कलुषता के निवारणार्थ वह स्नान आदि अनेक उपाय करती है और इस प्रकार पूर्व-सौन्दर्य को पुनः प्राप्त करती है। प्रभात में रात्रि के मुख, चन्द्रमा, की शोभा भी लुप्त हो गयी है और तारों के छिपने से उसकी काया पीली पड़ गयी है। इस मालिन्य को दूर करने के लिये ही वह सागर में स्नान करने जा रही है।

विच्छाद्यनिन्दुं मुखमावहृती विनिम्नताराक्लुषाम्बरैषा ।

विभावरी याति रजस्वलेव स्नातुं पयोधीं दिशि पश्चिमायासु ॥ ८.२

सूर्योदय के प्रसंग में पूर्व दिशा को शठ नायक के व्यवहार से क्रुद्ध नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चन्द्रमा अपनी पत्नी (पूर्व दिशा) को छोड़कर अपरा (पश्चिम दिशा) का भोग करने वाला शठ नायक है और पूर्व दिशा उसके

दुर्ध्ववहार से क्रुद्ध खण्डिता नायिका । सूर्य के उदित होने से पूर्व दिशा में जो लालिमा छिटी है, वह उस खण्डिता के क्रोध की ज्वाला है ।

अवाप यस्यामुदयं विहाय तां मामथासावपरां सिषेवे ।

इत्यादधानेव रुषं हिमांशी पुरन्दराशारुणतां जगाम ॥ ८.१८

वर्षावर्षण में भी प्रकृति मानव-सुलभ आचरण करती दिखाई देती है । प्रस्तुत पद्य में मेघ नायक है और पृथ्वी नायिका । मेघागम से हरी-भरी (प्रसन्न) पृथ्वी-कामिनी ने प्रिय को रिझाने के लिये कंचुकी धारण कर ली है ।

सान्द्रोद्गमोत्पलसन्नीलतृणश्रेणिच्छलात् भित्तिः ।

मेघप्रियागमप्रीता पर्यधादिव कंचुकम् ॥ १३.५५

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम्मीरमहाकाव्य का प्रकृति-चित्रण वक्रोक्ति की भित्ति पर आधारित है और उसमें स्वाभाविकता की कमी है, किन्तु उसका निजी सौन्दर्य है जो पाठक को बरबस आकर्षित करता है ।

चरित्र-चित्रण

हम्मीरमहाकाव्य चरित्रों की विशाल चित्रशाला है, जिसमें चित्रण के विविध दृश्यों की तरह अतुल शौर्य, आत्मबलिदान, शरणागतवत्सलता, अविचल स्वामि-भक्ति, देशद्रोह, धूर्तता, कृतघ्नता, अवसरवादिता, कूटनीतिक दारिद्र्य आदि के नाना मनमोहक चित्र दृष्टिगोचर होते हैं । कवि की तूलिका का स्पर्श पाकर ये सभी चित्र मुखर हो उठे हैं, किन्तु उसकी तूलिका की सच्ची विभूति धीरवर हम्मीर के चित्र को मिली है । हम्मीरकाव्य के पात्रचित्रण की विशेषता यह है कि वह पूर्णतया यथार्थ है । इसीलिये प्रत्येक पात्र का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है । नयचन्द्र ने अपने पात्रों के चारित्रिक गुणों का सहानुभूति से अंकन किया है, किन्तु उनके दोषों को निर्भमता-पूर्वक उघाड़ने में भी उसने संकोच नहीं किया है । काव्यनायक के दुर्गुणों पर भी उसने कड़ा प्रहार किया है ।

हम्मीर

काव्यनायक हम्मीर का व्यक्तित्व विरोधी गुणों का विशाल पुंज है । वह शस्त्र तथा शास्त्र का भर्मज है । प्रजारंजन उसके चरित्र की विशेषता है । उसमें अर्जुन का शौर्य, कर्ण की दानशीलता तथा राम की नीतिमत्ता एक-साथ वर्तमान है^{४२} । राज्य के वास्तविक अधिकारी को छोड़कर उसे अभिषिक्त करने के पिता के प्रस्ताव को वह नीति-विरोधी समझ कर ठुकरा देता है । वह पितृवत्सल पुत्र है । जीमूतवाहन की भांति वह राज्यभोग की अपेक्षा पितृसेवा को अधिक सुखद समझता है^{४३} ।

४२. वही, ८.६७

४३. वही, ८.५१

हम्मीर धर्मपरायण व्यक्ति है। उसके विचार में दुर्लभ मानवजीवन की सार्थकता धर्माचरण तथा यशप्राप्ति में निहित है और इनकी प्राप्ति कुलाचार के परिपालन से होती है^{४४}। याज्ञिक अनुष्ठान, दान-दक्षिणा आदि धर्म के बाह्य आचारों में उसकी पूर्ण आस्था है। दिग्विजय से लौटकर वह कोटिहोम का अनुष्ठान करता है, आत्मशुद्धि के लिये एक मास तक मुनिव्रत धारण करता है और ब्राह्मणों तथा याचकों को इस उदारता से दान देता है कि दरिद्रता याचकों को छोड़कर उसके पास आ गयी^{४५}। 'नोत्तमानां हि चित्ते स्वपरकल्पना' उसकी धार्मिक सहिष्णुता का पावन घोष है।

हम्मीर राजपूती शौर्य का आदर्श प्रतीक है। उसका रणकौशल तथा बाहुबल दिग्विजय के अन्तर्गत विविध अभियानों से स्पष्ट है। भोजदेव हम्मीर को भले ही छोड़ गया हो, उसकी वीरता से वह भली-भाँति परिचित है तथा अलाउद्दीन के समक्ष वह उसका सविस्तार बखान करता है। उसे विश्वास है कि हम्मीर को समरांगण में पराजित करना अतीव दुष्कर है। 'स श्रीहम्मीरवीरः समरभुवि कथं जीयते लीलयैव' उसकी हम्मीर-विषयक प्रशंसात्मक उक्तियों का भार है। अलाउद्दीन भी उसकी वीरता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। वीर होने के नाते हम्मीर वीरता का सम्मान करना भी जानता है। वह रतिपाल के शौर्य का उसके पैरों में स्वर्णशृङ्खला पहना कर अभिनन्दन करता है।

शरणागतवात्सल्य हम्मीरदेव के व्यक्तित्व की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। वह मुगल-बन्धुओं को सहर्ष आश्रय देता है। यद्यपि यह अलाउद्दीन के साथ युद्ध का तात्कालिक कारण बना, किन्तु उसने उन्हें यवनशासक की बर्बरता से बचा कर क्षात्र धर्म का निर्वाह किया। वह यवन-दूत को स्पष्ट कह देता है कि महिमासाहि के समर्पण की मांग करने वाला तेरा स्वामी मूढ़ है^{४६}। अन्तिम युद्ध में पूर्व जब वह चारों ओर से निराश हो जाता है, उस गाढ़े समय में भी वह शरणागत महिमासाहि की सुरक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्तव्य समझता है। वस्तुतः उनके लिये हम्मीर, पुत्र, कलत्र आदि अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। कवि ने उसके इस अनुपम त्याग का कृतज्ञतापूर्वक गौरवगान किया है—आत्मा पुत्रकलत्रभृत्यनिवहो नीतः कथाशेषताम् (१४.१७)। इन गुणों तथा कुशल प्रशासन के कारण उसके राज्य में चतुर्दिक् सुख, शान्ति, नीति तथा धर्म का बोल बाला है^{४७}।

४४. वही, १३.१२५

४५. तान् विहायोच्चकैर्दत्तनुपास्थित यथास्थिता। वही, ६.६५

४६. वही, ११.६७

४७. वही, ८.६८

किन्तु हम्मीर के चरित्र का एक अन्य पक्ष भी है, जिसमें अवगुणों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। वह महाक्रोधी है। उसका क्रोध कभी-कभी विवेकहीनता की सीमा तक पहुँच जाता है। धर्मसिंह को भीमसिंह के वध के लिये उत्तरदायी ठहरा कर उसे नेत्रहीन तथा नपुंसक बनवा देना^{४८} उसके क्रोधावेश की पराकाष्ठा है। उसका व्यक्तित्व सर्वभक्षी लोभ से कलंकित है। वृद्धा पिता की शिक्षा की अवहेलना कर वह पदच्युत धर्मसिंह को पुनः प्रधान-पद पर केवल इसलिये प्रतिष्ठित कर देता है कि उसने, नर्तकी धारादेवी के माध्यम से, राजकोश की क्षतिपूर्ति करने का संकेत दिया था। धर्मसिंह कोश भरने के लिये प्रजा का क्रूरतापूर्वक पीड़न करता है। करों के असह्य भार से प्रजाजन विकल हो उठे, किन्तु हम्मीर न केवल उसके अपराधों को क्षमा कर देता है अपितु स्वयं पूर्णतः उसके वश में हो जाता है और धर्मसिंह धीरे-धीरे उसका प्रेमपात्र बन जाता है।

द्रव्यैः संपूरयन् कोशं राज्ञोऽभूद् भूषणतल्लभः ।

वेश्यानां च नृपाणां च द्रव्यदो हि सदा प्रियः ॥ ६.१६६

प्रधानमंत्री के धनसंग्रह ने उसे इतना लोभाब्ध कर दिया कि वह, उसके लिये, स्वामिभक्त भोज को भी अपमानित करके देश छोड़ने को विवश कर देता है।

जगाद भूपतिर्यासि परतः परतो न किम् ।

विना भवन्तमप्येवं पुरं संशोभते पुरा ॥ ६.१८६

हम्मीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह शासक होता हुआ भी कूटनीति से अनभिज्ञ है। महिमासाहि के अलाउद्दीन को मारने की अनुमति माँगने पर उसकी यह उक्ति कि 'इसे मरवा कर मैं किससे युद्ध करूँगा' आदर्श युद्धनीति तथा क्षत्रियोचित शौर्य की परिचायक हो सकती है, पर इससे उसका कूटनीतिक दूरिद्र्य व्यक्त होता है। इस कूटनीतिक चूक ने उसके संघर्ष की दिशा ही बदल दी। रत्तिपाल को यवनराज के शिविर में जाने की अनुमति देना तथा उस पर शत्रुपक्ष से मिलने का सन्देह होने पर भी उसे भावुकतावश क्षमा करना उसकी कूटनीतिहीनता का अन्य उदाहरण है। अपने व्यक्तित्व का उसका यह मूल्यांकन अक्षरशः सत्य है— ध्रुव सपरिवारोऽपि दुर्मतिविभुरेव नः (१३.१०१)। उसे मानव-प्रकृति की भी परख नहीं है। उसमें अपने परिजनों की गतिविधियों तथा आचरण का विश्लेषण एवं यथार्थ मूल्यांकन करने की क्षमता नहीं है। इसीलिये प्रायः सभी उसे धोखा देते हैं।

हम्मीर गुणसम्पन्न है, किन्तु उसका पतन उसकी भूलों के कारण ही होता है। वह ग्रीक ट्रेजेडी का आदर्श नायक बन सकता है।

अलाउद्दीन

दिल्ली का प्रसिद्ध यवन-शासक अलाउद्दीन हम्मीरमहाकाव्य का प्रतिनायक

४८. मुष्कयुग्मच्छिदा पूर्वं तद्दशौ निरचीकसत् । वही, ६.१५३

है। हम्मीर के विपरीत वह व्यवहार-कुशल, अवसरवादी तथा कूटनीति का पटु प्रयोक्ता है। योद्धा के रूप में उसकी प्रचण्डता तथा बर्बरता सर्वविदित है। दुर्गभ दुर्ग, रणवांकुरे योद्धा, गगनचुम्बी पर्वत उसके सामने नहीं टिक सकते। उसने देवगिरि आदि अगणित दुर्गों को भग्न करके त्रिपुरविजयी शंकर को भी मात कर दिया है। उसकी प्रचण्डता से भीत होकर हम्मीर का पिता जैत्रसिंह उसे नियमित रूप से कर देता था। हम्मीर ने उसका करद बनना अस्वीकार करके तत्काल उसके क्रोध को आहूत किया। वह दूसरों की दुर्बलताओं का लाभ उठाने में दक्ष है। उल्लूखान को वह उस समय रणधम्भोर पर आक्रमण करने के लिये भेजता है जब हम्मीर व्रतस्थ था। वह जानता है कि बल से हम्मीर को पराजित करना दुष्कर है।^{१५}

अलाउद्दीन धूर्तता तथा कूटनीति का आचार्य है। कार्यसिद्धि के लिए वह नैतिक-अनैतिक सभी साधनों का निस्संकोच प्रयोग करता है। जो कार्य वह बल से नहीं कर सकता, उसे छल से तत्काल कर देता है। चिरकालीन गढरोघ के पश्चात् भी हम्मीर को जीतने में सफल न होकर वह उसके सेनानी रतिपाल को और उसके माध्यम से रणमल्ल तथा कोठारी जाहड़ को फोड़ लेता है। वह रतिपाल को अन्तः-पुर में ले जाकर अपनी बहिन के हाथ से मदिरा पिलवाता है और उसके सामने आंचल पसार कर यहाँ तक कह देता है—एतद् राज्यं तवैवास्तु जयेच्छुः केवलं त्वहम् (१३।७७)। वह मानव-स्वभाव को खूब समझता है। इसीलिये कार्य मिद्ध होने पर वह रतिपाल की छाल उतरवा देता है क्योंकि जो अपने चिरन्तन स्वामी से द्रोह कर सकता है, वह किसी अन्य के प्रति कैसे निष्ठावान् हो सकता है?

अन्य पात्र

हम्मीरमहाकाव्य में कई अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र हैं, जिनकी चारित्रिक विशेषताओं का कवि ने रुचिपूर्वक चित्रण किया है। विस्तारभय से यहाँ उनका सामान्य सर्वेक्षण किया जाता है।

वाग्भट काव्य का एक निराला तथा अतीव आकर्षक पात्र है। वह नीतिज्ञों का गुरु (वाग्भटः प्रतिभाभटः-४.६३) तथा चौहान वंश की लड़खड़ाती राज्यलक्ष्मी का आश्रय-स्तम्भ है^{१६}। अपनी नीति-कुशलता के कारण वह प्रह्लादन का प्रधाना-मात्य तथा उसके बाद अवस्यक वीरनारायण का संरक्षक नियुक्त किया जाता है।

४६. वही, ११.१५-५७

५०. स महौजस्तया शक्यो जेतुं नाभूदियच्चिरम्।

व्रतेस्थिघ्नोतयेदानीं लील्यं विजीयते ॥ वही, ६.१०४

५१. पतिष्यन्नाहमानीयराज्यश्रीवल्लीपादपम्। वही, ४.७३

वाग्भट अविचल निष्ठा से राजा का मार्गदर्शन करता है। उसकी मन्त्रणा दूरदृष्टिता से इतनी परिपूर्ण थी कि उसका उत्लंघन करने का मूल्य वीरनारायण को अपने प्राणों से चुकाना पड़ता है। स्वाभिमान तथा जागरूकता उसके चरित्र की उत्लं-
खनीय विशेषताएँ हैं। वह अपने परामर्श की अवहेला को अपना अपमान समझता है और वीरनारायण के दुर्व्यवहार^{५१} से व्यथित होकर उसका राज्य ही छोड़ देता है। अपनी सतर्कता के कारण ही वह मालवराज के दुराशय को विफल कर देता है और महज अपनी नीति से रणथम्भोर के दुर्ग पर कब्जा कर लेता है^{५२}। वाग्भट पराक्रमी सैनिक भी है। उसने अनेक शत्रुओं को पददलित करके अपनी वीरता की प्रतिष्ठा की। देश की सीमाओं पर स्थायी रूप से सेनाएँ रखना उसकी दूरदृष्टितापूर्ण नीति थी^{५३}।

भोजदेव हम्मीर का दासीजात भाई है। अश्वे धर्मसिंह के षड्यन्त्र के कारण प्रधानामात्य के पद से च्युत होकर भी वह पूर्ववत् स्वामिभक्ति से राजा की सेवा करता है। धर्मसिंह के आयशुद्धि माँगने पर वह उसे सर्वस्व सौंप देता है, किन्तु अभिजात्य के कारण स्वामिभक्ति से विचलित नहीं होता^{५४}। पर जब उसे काक कह कर अपमानित किया जाता है तो वह तीर्थयात्रा के बहाने अलाउद्दीन से जा मिलता है। वह बदला लेने के लिये, उसे हम्मीर पर आक्रमण करने को प्रेरित करता है और उसे विजय-प्राप्ति का रहस्य भी बता देता है। उसके इस आचरण को कृतघ्नता अथवा स्वामिद्रोह कहा जा सकता है, किन्तु धर्मसिंह और हम्मीर ने द्वेष एवं लोभ के वशीभूत होकर उसका जो अपमान किया था, यह उसका स्वाभाविक परिणाम था। अन्यथा भोजदेव शिष्टाचार-सम्पन्न व्यक्ति है। हम्मीर के प्रति उसके व्यवहार में अद्भुत संतुलन एवं शिष्टता है। पर जब वह अलाउद्दीन के सामने बच्चे की तरह विलाप करता है और कायर के समान भूमि पर लोट कर अपनी कष्टावस्था प्रकट करता है तब उसका सन्तुलन और क्षत्रियोचित शौर्य दोनों काफूर हो जाते हैं।

धर्मसिंह के व्यक्तित्व में प्रमाद तथा कूटनीति का विचित्र सम्मिश्रण है। जिस हम्मीर ने उस पर भीर्मसिंह के वध का दायित्व थोप कर उसे अन्धा और नपुंसक बनवाया था, उसे भी वह अपनी कूटनीति के जाल में फाँस लेता है, जिससे

५२. अकार्यं वा यदि वा कार्यं यन्मे रोचिष्यतेतन्माम् ।

करिष्ये तदहं स्वैरं चिन्तयाञ्ज कृतं तव ॥ वही, ४.६६

५३. वही, ४.१२०

५४. वही, ४.१२६

५५. निरीहचित्तवत् तस्य सर्वस्वमपि वत्तवान् । वही, ६.१७७

वह उसे पुनः प्रधानामात्य के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। घर्मसिंह पुनः प्रधानमंत्री बन कर हम्मीर से अपने अपमान का पूरा-पूरा बदला लेता है^{५६}। वह अपने बर्बर व्यवहार से भोज जैसे स्वामिभक्त व्यक्ति को शत्रु से मिलने को विवश कर देता है और प्रजा को अंशानुशं करों से पीस कर उसमें विरोध की ज्वाला भड़का देता है। भोज की इस उक्ति में घर्मसिंह के चरित्र का सारांश निहित है।

तद्राज्यस्य विनाशहेतुरधुनकोऽन्धः परं दीव्यति । १०.२८

रतिपाल वीर है, किन्तु हम्मीर की तरह उसकी वीरता लोभ से कलंकित है। उसकी स्वामिभक्ति भी अडिग नहीं है। अलाउद्दीन का 'एतद्राज्यं तवैवास्तु जयेच्छुः केवलं स्वहम्' (१३.) का वाण उसे तत्काल घराशायी कर देता है। भावी सत्ता के प्रलोभन से वह रणमत्त्व सहित अलाउद्दीन के कूटजाल में फँस जाता है। किन्तु उसे इस कृतघ्नता का फल शीघ्र ही मिलता है। अलाउद्दीन विजय-प्राप्ति के पश्चात् उसकी खाल निकलवा देता है।

महिमासाहि काव्य का अत्यन्त रोचक एवं प्रशंसनीय पात्र है। वह विदेशी तथा विजातीय मुगल है, जिसने अपने अनुजों के साथ हम्मीर का आश्रय लिया था। वह वीर योद्धा व अचूक धनुर्धर है। दुर्ग से एक ही तीर में उड़्डानसिंह को घराशायी कर देना उसकी धनुर्धरता का सर्वोत्तम प्रमाण है। जिस गुण के कारण उसका व्यक्तित्व भास्वर स्वर्ण की तरह चमक उठता है, वह है उमगी अचल स्वामिभक्ति। जहाँ हम्मीर के प्रायः सभी विश्वस्त मित्र उसे छोछा देकर शत्रु पक्ष में मिल जाते हैं, वहाँ महिमासाहि, अन्त तक छाया की भाँति, उसका साथ देता है। अन्तिम समय में जब हम्मीर उसे किञ्चित् सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगता है, वह अपनी पत्नी तथा बच्चों को तलवार की धार उतार कर स्वामिनिष्ठा एवं त्याग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। समरांगण में पराजय के पश्चात् अलाउद्दीन के यह पूछने पर कि यदि 'तुम्हें छोड़ दिया जाये तो तुम मेरे साथ कैसा बर्ताव करोगे' उसका यह उत्तर 'यद्हम्मीरेऽकार्षीस्त्वम्' उसकी निर्भीकता तथा स्वामिभक्ति को द्योतित करता है।

जाजा नयचन्द्र का लौह-हृदय पात्र है। उसे जौहर सम्पन्न कराने का जो दाहण कार्य सौंपा गया, उससे पत्थर भी दरक सकता था। हम्मीर के प्राणोत्सर्ग के बाद वह दो दिन तक गड़ की रक्षा के लिये युद्ध करता है। मुख्य कथा से असम्बद्ध इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज का व्यक्तित्व दृढ़-प्रतिज्ञा, शौर्य तथा कूटनीतिक दारिद्र्य का सम्मिश्रण लेकर आता है। सहाबुद्दीन, भीमसिंह, उल्लूखान, निमुलतखान आदि के चरित्र का भी कमवेश चित्रण हुआ है।

५६. प्रचिकीर्षन्नयामर्षादन्धो वरप्रतिक्रियाम् ।

चक्रे तद्राज्यमुच्छेत्तुं स उपायान् वुरायतीन् ॥ वही, ६.१६६

भाषा-शैली

हम्मीरमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित प्रौढ़ता तथा प्राणवत्ता से परिपूर्ण है। नयचन्द्र का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसके विचार में कीर्ति-प्राप्ति के लिये विशुद्ध वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना निर्मल अर्थ।^{१७} नयचन्द्र शब्द और अर्थ दोनों के कवि है। अर्थ के प्रति उनका निश्चित पक्षपात है, किन्तु इस नाते उन्होंने शब्द की उपेक्षा नहीं की है। विद्वतापूर्ण व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों से भाषा को परिष्कृत एवम् अलंकृत करने का साग्रह प्रयास शब्द के महत्त्व की स्वीकृति है। यद्यपि नयचन्द्र ने न तो भट्टि की तरह अपने काव्य में व्याकरणशास्त्र के नियमों की प्राथमिक व्याख्या की है और न माघ की भाँति भाषा को गाढबन्ध तथा विकट समासान्त पदावली से बोझिल बनाया है तथापि उनका व्याकरण पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं है। कर्तरि तथा कर्मणि लुङ्, लिट् आदि लकारों और सन्, क्वसु, णमुस् आदि प्रत्ययों की हम्मीरकाव्य में भरमार है। कहीं-कहीं तो नयचन्द्र ने एक ही लकार की क्रियाओं तथा समान प्रत्ययान्त प्रयोगों के द्वारा भट्टि के कार्य का निर्वाह करने की चेष्टा की है। ये पद्य, जिनमें सभी क्रियाएँ क्रमशः सन्नत, लुङ् तथा लिट् लकार की हैं, इसी प्रवृत्ति को द्योतित करते हैं।

प्रचिकीर्षसि चेद् राज्यं जिजीविषसि चेच्चिरम् । ४.६६

अपाठिषुर्बन्दिजनास्तदानीमराणिषुर्मंगलतूर्याणि ।

अर्नातिषुर्नर्तविदश्च गीतमगासिषुर्गायकमण्डलानि ॥ ८.६०

धर्मो जगज्ज्वं दरिद्रमुद्रा क्वचिन्नाशेव बभाविष श्रीः ।

नमुल्ललासेव नयद्रुमोऽपि शुभं ननर्त्तव तदीयराज्ये ॥ ८.६८

कवि की इस व्याकरण-विशारदता के कारण हम्मीरमहाकाव्य की भाषा रस, भाव तथा प्रसंग की अनुगामिनी है। भाषा की अनुकूलता काव्य में रोचक वैविध्य की सृष्टि करती है। हम्मीरमहाकाव्य में कहीं श्रुतिमाधुर्य है, कहीं कर्कशता है और कहीं वह सहजता तथा प्रांजलता से परिपूर्ण है। शृंगार तथा कण्ठरस के चित्रण में सर्वत्र कोमल तथा मनोरम पदावली प्रयुक्त हुई है, जो अपनी स्निग्धता तथा भावोद्बोधकता के कारण समुचित भावभूमि का निर्माण करती है। कण्ठरस की पदावली की कोमलता दैन्य की रेखा से रंजित है, जो शोकाकुल मानव की असहायता की स्वीकृति है। हम्मीर के अतुल बलिदान पर कवि की यह शोकोक्ति व्यथित हृदय की कातरता तथा तीव्र वेदना को व्यक्त करती है।

किं कुर्वीमहि किं ब्रवीमहि विभुं कं चानुरुन्धीमहि

व्याचक्षीमहि किं स्वदुःखसमं कं वा बभाषेमहि ।

५७. विशुद्धवर्णः स्पृहणीयवृत्तः । वही, १. ४६

कीर्त्यै कवीन्द्रा इव निर्मलार्थोत्पत्तिं नरेन्द्राः परिभाषयन्ति । वही, ८.६

यन्निष्कारणदाहणेन विधिना तादृगुर्णकाकरं

हम्मीरं हरतांजसा हृतमहो सर्वस्वमेवावनेः ॥ १४.७

युद्ध तथा क्रोध आदि के कठोर प्रसंग भाषा के ओज से दीप्त हैं। समास-बाहुल्य तथा टवर्ग आदि श्रुतिकटु वर्णों का प्राचुर्य ओज की सृष्टि का मूलाधार है। हम्मीरमहाकाव्य में यद्यपि इन प्रसंगों में भी भाषा श्रुतिकटुता से अधिक आच्छादित नहीं है किन्तु वह अभीष्ट भाव को वाणी देने में पूर्णतया समर्थ है। भोजदेव की दुर्दशा सुनकर अलाउद्दीन की यह चुनौती अमर्यादकूल है।

कः कण्ठीरयकण्ठकेसरसटां स्पृष्टुं पदेनेहते

कुन्ताप्रेण शितेन कश्च नयने कण्डूयितुं कांक्षति ।

कश्चाभीप्सति भोगिवक्त्रकुहरे मातुं च दन्तावलीम् ।

को वा कोपयितुं नु वाञ्छति कुघ्रीरत्तावदीनं प्रभुम् ॥ १०.८२

हम्मीरकाव्य की भाषा इस विविधता से विशेषित है किन्तु नयचन्द्र मूलतः वैदर्भी के कवि हैं। समासाभाव अथवा अल्प समास एवं माधुर्यव्यंजक वर्ण, दूसरे शब्दों में भाषा की पारदर्शी सुबोधता तथा सरलता, वैदर्भी रीति के प्राण हैं। हम्मीरमहाकाव्य की भाषा अधिकतर प्रसादगुण से सम्पन्न है। ऐतिहासिक कथानक के सफल प्रतिपादन के लिये कदाचित् भाषा की सहजता आवश्यक थी। नयचन्द्र की विशेषता यह है कि मुख्य इतिवृत्त से सम्बन्धित युद्ध अथवा नगर का चित्रण हो या उससे असम्बद्ध वस्तु-वर्णन, हम्मीरकाव्य में प्रायः सर्वत्र वैदर्भी का उत्कर्ष दिखाई देता है। इस दृष्टि से वाग्भट की मन्त्रणा तथा जैत्रसिंह की राज्यशिक्षा विशेष उल्लेखनीय है।

शत्रुर्न मित्रतां गच्छेच्छतशः सेवितोऽपि सन् ।

दीपः स्नेहेन सिक्तोऽपि शीतात्मत्वमिर्यति किम् ॥ ४.६५

मन्त्रान् बहूनामपि घ्नोसखानां श्रेयस्तरान् नैव वदन्ति सन्तः ।

गर्भस्य मातुश्च कुतः शिवाय करा बहूनां बत सूतिकानाम् ॥ ८.६६

सहजता से समवेत इस सुबोधता ने हम्मीरकाव्य की भाषा में लालित्य का संचार किया है, जो बहुधा अनुप्रास की मधुरता तथा यमक की संकृति से प्रसूत है। भाषात्मक रमणीकता के अतिरिक्त हम्मीरमहाकाव्य का कथानक भी कम सुन्दर नहीं है। परन्तु नयचन्द्र की कविता लालित्य के कारण जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही ख्याति उसे अपनी वक्रिमा के कारण प्राप्त हुई है।^{१०} हम्मीरकाव्य के सन्दर्भ में वक्रिमा का

४८. लालित्यममरस्यैव श्रीहर्षस्यैव वक्रिमा ।

नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ॥ शिष्यकृता प्रशस्तिः, ३

तात्पर्य 'उक्तिर्वचित्र' है, जिसमें प्रवीणता कवि की सफलता की कुंजी है^{१५}। हम्मीरकाव्य की वक्रिमा प्रौढोक्तिमय अलंकारों के रूप में प्रकट हुई है, जिनमें उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, विरोध तथा अर्थान्तरन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

चापस्य यः स्वस्य चकार जीवाकृष्टि रणे क्षेप्तुमनाः शरीधान् ।

जवेन शत्रून् यमराजवेशमानेषीतदेतन्महदेव चित्रम् ॥ १.३६

यह श्लेष पर आश्रित विरोधालंकार है। राजा युद्ध में बाण चलाने की इच्छा से इधर अपने धनुष की जीवाकृष्टि करता है और उधर उसके शत्रुओं का जीवाकर्षण अर्थात् प्राणान्त हो जाता है। यह विचित्र बात है कि जीवाकर्षण एक का हो और जीवान्त किसी अन्य का। यह जानते ही विरोध का परिहार हो जाता है कि धनुष के जीवाकर्षण का अर्थ उसकी डोरी को खींचना मात्र है।

यदीयकीर्त्यापहृतां ससन्तान् निजां भ्रियं स्वर्गधुनी विभाव्य ।

पतत्प्रवाहध्वनिकंतवेन कामं किमद्यापि न फूत्करोति ॥ १.४६

यह अतिशयोक्ति कितनी मनोहर है? जलप्रपात की ध्वनि को सुनकर उससे यह कल्पना करना कि यह गंगा का मात्सर्ययुक्त फूत्कार है, कवि नयचन्द्र का ही काम है। गंगा को शायद अपनी धवलमा और स्वच्छता का अत्यन्त गर्व था। चक्री जयपाल की धवल कीर्ति ने गंगा के इस गर्व को चूर कर दिया। बेचारी गंगा फूत्कार न करती तो क्या करती?

अलंकार-विधान

हम्मीरमहाकाव्य रस-प्रधान रचना है। चित्रकाव्य से बाह्य चमत्कार उत्पन्न करना कवि को अभीष्ट नहीं है^{१६} अपने इस आदर्श का अनुसरण करते हुए नयचन्द्र ने आडम्बर के लिये अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। हम्मीरमहाकाव्य के अलंकार काव्य-सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं तथा भावाभिव्यक्ति को समृद्ध बनाते हैं, और इस प्रकार, वे काव्य के शरीर तथा आत्मा दोनों के सौन्दर्य को वृद्धिगत करने में सहायक हैं। प्रौढोक्तिमय अलंकारों में नयचन्द्र की कुशलता का संकेत किया जा चुका है। नयचन्द्र की उपमाएँ बहुत मार्मिक हैं। गूढोपमा तथा श्लेषोपमा में शायद कोई विरला ही उससे होड़ कर सके। दीक्षित बासुदेव के प्रताप के वर्णन में प्रयुक्त इतनी सुन्दर गूढोपमा साहित्य में कम मिलेगी।

सपत्नसंघातशिरोघिसन्धिच्छेदावांसि कुण्ठतरं निजे यः ।

प्रतापवह्नावभिताप्य काममपाययत्तद्रमणीदृग्म्बु ॥ १.२८

लकड़ी आदि काटने से फरसे के कुन्द हो जाने पर उसे आग में तपा कर

५६. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ काव्यालंकार (सामह), १.३६

६०. पूर्वोद्धृत

तथा हथौड़े से कूट कर उसकी धार बनाई जाती है, फिर उसे ठण्डा करने के लिये पानी में बुझाया जाता है। दीक्षित वासुदेव की तलवार की धार शत्रुओं का गला काटने से कुण्ठित हो गयी है। उसे पुनः तेज करने के लिये वासुदेव ने पहले अपने प्रताप की अभि में खूब तपाया, तत्पश्चात् उसे शत्रुओं की विधवाओं के अश्रुजल में बुझा दिया। वासुदेव के शौर्य से उसके शत्रु नष्ट हो गये, इस तथ्य को कवि ने कितनी मार्मिकता से प्रकट किया है।

नयचन्द्र की अप्रस्तुत-योजना की निपुणता उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में भरपूर व्यक्त हुई है। काव्य में एक से एक सुन्दर उत्प्रेक्षाओं की भरमार है। जलकेलि-प्रसंग की यह उत्प्रेक्षा कल्पना-सौन्दर्य से चमस्कृत है।

जानुदध्नमपि तत्सरसोऽम्भः कण्ठवध्नमभवद् द्रुतमेव ।

योषिदंगविगल्लवणिग्ना स्फीततामुपगृहीतमिवोच्चैः ॥६.१८

अप्रस्तुत-विधान का यही कौशल अर्थान्तरन्यास में दृष्टिगत होता है, जो कवि का अन्य प्रिय अलंकार है। उत्प्रेक्षा की भाँति यह भी कवि-कल्पना के विहार की उन्मुक्त स्थली है। जलक्रीड़ा के वर्णन में प्रयुक्त यह अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुत की मार्मिकता तथा उपयुक्तता के कारण उल्लेखनीय है।

मुक्तगंधमपि वारिविहारैः पुष्पदाम न जहे शशिमुख्या ।

न स्वतोऽपि गुणवान् सुखहेयः किं पुनर्यदि स जीवनलीनः ॥६.३७

पृथ्वीराज के युद्धवर्णन के इस पद्य में रेणुजाल, भ्रमरभङ्गति और वीरों का सिंहनाद, इन अनेक प्रस्तुतों का एक धर्म 'अमिलन' के साथ सम्बन्ध होने से सुच्ययोगिता अलंकार है।

प्राग् रेणुजलानि ततः करेणुकुम्भभ्रमत्षट्पदसंक्रुतानि ।

ततो भटानां स्फुटसिंहनादाः सैन्यद्वयस्याप्यमिलंस्तदानीम् ॥३.३५

माष की भाँति नयचन्द्र भी श्लेष के बहुत शौकीन हैं। नयचन्द्र के विरोध, रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, परिसंख्या आदि अन्य अलंकार श्लेष का आधार लेकर आते हैं। पृथक् रूप में भी श्लेष का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। हम्मीर तथा अलाउद्दीन के द्वितीय दिन के युद्ध-वर्णन में श्लेष का प्रयोग वर्णित भाव को सशक्त तथा स्पष्ट बनाने में सहायक हुआ है।

कस्याप्यपाकृतगुणोऽत्र मार्गणो लक्षाय धावति तदा स्म धावतु ।

कोटिद्वयेऽपि सति ननाम यद्धनुः सद्वंशजस्य न तदस्य साम्प्रतम् ॥ १२१७४

प्रतिदस्तूपमा, दृष्टान्त, व्यतिरेक, सन्देह, यथासंख्य, समासोक्ति, भ्रान्तिमान्, पर्याय, विभावना, उल्लेख, अनुप्रास, यमक, दीपक आदि भी काव्य-सौन्दर्य के वर्धन

में योग देते हैं।^{११}

छन्दयोजना

नयचन्द्र की काव्यशास्त्रीय मान्यता में निर्मल अर्थ तथा विशुद्ध शब्द के अतिरिक्त भावानुकूल मधुर छन्द कवि की कीर्ति का आधार है।^{१२} हम्मीरमहाकाव्य में छन्दों का प्रयोग कवि के इस सिद्धान्त की पूर्ति करता है। दसवें सर्ग में नाना वृत्तों की योजना भी शास्त्रानुकूल है। इस सर्ग की रचना में जो तेरह छन्द प्रयुक्त किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं— वियोगिनी, स्वायता, स्रग्धरा, मंजुभाषिणी, शालिनी, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, रघोद्धता, आर्या, शार्दूलविक्रीडित, कलहंस तथा एक अर्द्धसमवृत्त। इनके अतिरिक्त नयचन्द्र ने शिखरिणी, मालिनी, तोटक, इन्द्रधंशा, मन्दाक्रान्ता, ललिता, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रयात, अनुष्टुप् तथा प्रहर्षिणी से मिलता-जुलता एक छंद (म स ज र ग) को काव्य रचना का आधार बनाया है। हम्मीरमहाकाव्य में चौबीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं। उपजाति नयचन्द्र का प्रिय छन्द है।

नयचन्द्रसूरि के साहित्यिक आदर्श

काव्यकला के प्रति जागरूक नयचन्द्र ने चौहदवें सर्ग के अन्त में अपनी काव्यशास्त्रीय धारणाओं का भी कुछ आभास दिया है। साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण करना कवि का लक्ष्य नहीं है, किन्तु ये प्रासंगिक उल्लेख रोचक तथा विचारणीय हैं। नयचन्द्र का निर्भ्रान्त मत है कि सरस काव्य की रचना का आधार अनुभव-मात्र नहीं है। कवि का कवित्व उतना ही स्वभावजन्य है जितना चपलनयना युवतियों का तात्पर्य। वस्तुतः, बहुत सी बातें तो अनुभव के आधार पर सिद्ध ही नहीं होतीं। शृंगार-वर्णन के लिये अनुभव को आवश्यक मानना भी वास्तविकता के अनुकूल नहीं है। जगत् में शृंगार का अनुभव तो अगणित व्यक्तियों को है, किन्तु वे सभी शृंगार के सिद्धान्तकार अथवा महाकवि नहीं हैं। इसके विपरीत कामशास्त्र के प्रणेता तथा शृंगाररस के अनेक प्रतिभाशाली कवि बीतराग तपस्वी हैं। आचार्य वात्स्यायन तथा कवि अमर जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी थे। स्वयं वाग्देवी कुमारी है। तथ्य यह है कि अपनी वाणी के विलास से शृंगार-माधुरी की सृष्टि करने वाले रससिद्ध कवि तो शृंगार के प्रत्यक्ष अनुभव से शून्य हैं और जो उसके अनुभव से सम्पन्न हैं, उनमें से अधिकतर की काव्यरचना में क्षमता तो दूर, साहित्य में साधारण गति भी नहीं है। हाथी के दांत भी खाने के और होते हैं, दिखाने के और^{१३}। इस प्रकार नयचन्द्र ने काव्य-सृजन में अनुभव के महत्त्व को स्पष्ट अस्वीकार किया है।

६१. कपशः १. १२. ४.६४, ६.६६, ११.५२, ४.६७, १३.१४६, ६.१०, ६.५४, ६.७१, ४.१५७, ३.२४, ४.३६, २.८३.

६२. हम्मीरमहाकाव्य, १.४६

६३. वही, १४.२६-३३

नयचन्द्र ने यहाँ अनुभव शब्द का प्रयोग बहुत स्थूल अर्थ में किया है। शृंगार के भोक्ता तथा शृंगार-रसात्मक कृति के प्रणेता की प्रकृति की भिन्नता के उदाहरण की यही ध्वनि है। इस सीमित अर्थ में अनुभव निश्चित ही काव्यरचना का हेतु नहीं है। ऐसा न मानने से कवि-कर्म इतना संकुचित हो जाएगा कि स्वभुक्त यथार्थ की अभिव्यक्ति के बिना काव्य-सृजन की कल्पना करना भी असम्भव होगा। किन्तु अनुभव की इस स्थूल अर्थ में स्वीकृति काव्य-सृजन तथा अनुभूति की प्रक्रिया की निर्विवेक अस्वीकृति है। प्रत्यक्ष अनुभव के बिना भी संवेदनशील मस्तिष्क, रागात्मक स्तर पर, सहजात संस्कार द्वारा अनुभूति अर्जित करता है जिसके आधार पर उसे प्रच्छन्न अथवा परोक्ष वस्तु का प्रत्यक्षवत् साक्षात् होता है। तब वह विशेष भी निर्विशेष बन कर सर्वग्राह्य हो जाता है। विश्व के अधिकांश साहित्य की रचना के पीछे यही अनुभव निहित है। अतः कामशास्त्र के प्रणेताओं अथवा शृंगारिक कवियों के ब्रह्मचारी होने में कोई वैचित्र्य अथवा विरोध नहीं है क्योंकि उनमें भी सभी अनुभूतियाँ वासना-रूप में विद्यमान रहती हैं। यदि नयचन्द्र का अभिप्राय सापेक्षिक दृष्टि से अनुभव की तुलना में प्रतिभा को अधिक महत्त्व देकर उसकी अनन्त-निर्माण-क्षमता का संकेत करना है^{१५}, तो उनका मत सर्वथा अग्राह्य नहीं है।

काव्यहेतु का विस्तार से प्रतिपादन करने के पश्चात् नयचन्द्र ने काव्य के स्वरूप पर विचार किया है। उनके अनुसार तीव्र रसानुभूति का दूसरा नाम ही काव्य है^{१६}। प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की सार्थकता रसात्मकता में मानी है। उत्तम काव्य वही है, जो रस की उच्छल धारा से परिपूर्ण हो तथा जिसे पढ़ते ही हृदय आनन्द से आप्लावित हो जाए^{१७}। काव्य में प्रधानता किसी भी रस की हो, उसमें शृंगार-पूर्ण वर्णन उतने ही आवश्यक हैं जितना भोजन में तमक। जैसे तमक के बिना अन्यथा स्वादु भोजन भी नीरस है, उसी प्रकार शृंगार के स्पर्श के बिना काव्य की रसात्मकता में निखार नहीं आता। इस प्रकार नयचन्द्र के विचार में रसप्रधान रचना ही काव्य-पद की अधिकारिणी है। उनका यह कथन विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' से भिन्न नहीं है। उन्होंने काव्य में अर्थ की प्रधानता मानी है। शब्दाडम्बर हेय है, किन्तु नयचन्द्र ने शब्द की सर्वथा उपेक्षा नहीं की; इसका संकेत किया जा चुका है।

काव्यशास्त्रीय प्रसंग के अन्त में नयचन्द्र ने काव्य की भाषा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। उनके मत से शब्द और अपशब्द प्रायः मन के विकल्प हैं और शब्दशास्त्र में सिद्धि भी कवि के अधीन है। सामान्यतः काव्य में अपशब्द के प्रयोग

६४. न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः। ध्वन्यालोक, ४.६

६५. हम्मोरमहाकाव्य, १४.३५

६६. वही, १४.३४

से बचना चाहिये। सिद्धान्ततः उचित होते हुए भी व्यवहार में यह सदा सम्भव नहीं है। कालिदास-जैसे रससिद्ध कवियों की भाषा भी अपशब्दों से सर्वथा मुक्त नहीं है। अतः एकाग्र अपशब्द से काव्यत्व की हानि नहीं होती बशर्तें उसमें अर्थ-सामर्थ्य हो और वह रस की परिपुष्टि कर सके^{१७}। नयचन्द्र का यह कथन व्यवहार-पुष्ट है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता। जब वह रसानुभूति में बाधक होता है तभी वह दोष बनता है। अतः साधारण दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व पर आंच नहीं आती। मम्मट के काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'बदोषो' पद की खाल उधेड़ने वाले विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, पृ० १७) को भी अन्ततः यह मानना पड़ा।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥

नयचन्द्र ने काव्यशास्त्र की तीन महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। काव्य के स्वरूप तथा भाषा-सम्बन्धी उनके विचार भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। काव्यहेतु के विषय में उनका मत अस्पष्ट प्रतीत होता है^{१८}।

हम्मीरमहाकाव्य की ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक महाकाव्यों की परिपाटी के अनुसार यद्यपि हम्मीरमहाकाव्य में इतिहास को काव्य के आकर्षक परिधान में प्रस्तुत किया गया है और इसका काव्यात्मक मूल्य भी कम नहीं है, किन्तु इसका ऐतिहासिक वृत्त सुसम्बद्ध, प्रामाणिक तथा अलौकिक तत्त्वों से मुक्त है। काव्य के प्रारम्भिक भाग में अवश्य ही कुछ वृत्तियाँ हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि ये घटनाएँ लेखक से बहुत प्राचीन हैं और इनके सत्यासत्य के परीक्षण के लिये उसे विश्वस्त सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी।

चाहमानवंशीय इतिहास के अन्य विश्वसनीय साधनों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हम्मीरमहाकाव्य के प्रथम दो सर्गों की वंशावली अनेक वृत्तियों से आक्रान्त है तथा इसमें वर्णित घटनाएँ भी भ्रामक हैं। उदाहरणार्थ — चक्री जयपाल को अजयमेरु (अजमेर) का संस्थापक मानना^{१९} इतिहास-विरुद्ध है। इस नगर का निर्माण अजयराज ने सम्वत् ११६६ से कुछ पूर्व किया था। सिराज वप्पराज का पुत्र था, पौत्र नहीं। वह पराक्रमी अवश्य था किन्तु काव्य में किया गया उसकी विजय का वर्णन^{२०}, अत्युक्ति मात्र है। अनल्लदेव (अर्णोराज) ने, जैसा नयचन्द्र ने कहा है, पुष्कर नहीं^{२१} प्रत्युत आनासागर खुदवाया था। तृतीय सर्ग में वर्णित पृथ्वी-

६७. प्रायोऽपशब्देन न काव्यहानिः समर्थतार्थं रससेकिमा चेत् । वही, १४-३६

६८. विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—महावीर-जयन्ती-स्मारिका, जयपुर, १९७४ में प्रकाशित मेरा लेख “नयचन्द्रसूरि के साहित्यिक आदर्श” खण्ड २, पृ. ६३-६६

६९. हम्मीरमहाकाव्य, १.५२

७०. वही, १.६०-६७

७१. वही, २.५१

राज से सम्बन्धित अधिकांश घटनाएँ प्रमाण-पुष्ट हैं। हम्मीरमहाकाव्य में अन्तिम युद्ध से पूर्व पृथ्वीराज और सहायुद्दीन के सात युद्धों की चर्चा है, किन्तु मुसलमान इतिहासकारों ने केवल दो युद्धों का उल्लेख किया है^{१३}, जो अधिक विश्वसनीय है। हम्मीरमहाकाव्य तथा मुस्लिम स्रोतों में इस बात पर मतभेद है कि पृथ्वीराज युद्ध में बन्दी बनाया गया था, उसका वध नहीं किया गया था^{१४}। पृथ्वीराज की पराजय का कारण नटारम्म को मानना^{१५} केवल कविकल्पना है। चतुर्थ सर्ग की प्रायः समस्त घटनाओं की प्रामाणिकता निर्विवाद है। जिस जल्लालदीन ने वीरनारायण को विष-प्रयोग से मरवा कर रणथम्भोर पर अधिकार किया था, वह शमशुद्दीन इल्तमिश था। तबकाते नासिरी के अनुसार यह घटना सन् १२२६ (६३३ हिजरी) की है। रणथम्भोर को यवनों से वापिस लेने का श्रेय वाग्भट को है, जो नयचन्द्र तथा मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार प्रतापी शासक था। वाग्भट को यह विजय रजिया के राज्यकाल में प्राप्त हुई थी।^{१६} अतः नयचन्द्र का यह कथन कि मुगलों द्वारा जल्लालदीन पर आक्रमण का लाभ उठाकर वाग्भट ने रणथम्भोर दुर्ग को घेरा था,^{१७} चिन्त्य है।

हम्मीरकाव्य के अनुसार हम्मीर का राज्याभिषेक सम्बत् १३३६ की मघ शुक्ला पूर्णिमा, रविवार, को सम्पन्न हुआ था। प्रबन्धकोश में अभिषेक का सम्बत् १३४२ दिया गया है। सम्भवतः जैत्रसिंह हम्मीर को अभिषिक्त करने के पश्चात् तीन वर्ष तक जीवित रहा। नवम सर्ग में हम्मीर की दिग्विजय का वर्णन है। देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति हम्मीर जैसे प्रतापी योद्धा के अभियानों के लिये अनुकूल थी, परन्तु उसके बलवन—शिलालेख (सम्बत् १३४५) के साथ नयचन्द्र के विवरण की तुलना करने से प्रतीत होता है कि हम्मीर की दिग्विजय उस क्रमबद्ध रूप में सम्पन्न नहीं हुई थी जैसे हम्मीरमहाकाव्य में वर्णित है। शिलालेख में हम्मीर के दो कोटियज्ञों का उल्लेख है पर उसकी दिग्विजय का सूक्ष्म संकेत भी नहीं है। मालव-राज अर्जुन पर विजय ही हम्मीर की शिलालेख में उल्लिखित सैनिक उपलब्धि है^{१८}। हम्मीर की तथाकथित दिग्विजय में यही एकमात्र ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। इस सर्ग (नवम) में नयचन्द्र ने जिस आक्रमण का उल्लेख किया है, वह, वस्तुतः जलालुद्दीन खल्जी के समय में हुआ था^{१९}। भीमसिंह की मृत्यु के कारण बाद्यवादन से

७२. तबकाते नासिरी, तारीखे फरिस्ता तथा तबकाते अकबरी

७३. हम्मीरकाव्य, ३.६४ तथा तबकाते अकबरी, १. पृ. ३६

७४. हम्मीरमहाकाव्य, ३.५८-६२

७५. तबकाते नासिरी, पृ. २३४

७६. हम्मीरमहाकाव्य, ४.१०१

७७. यः कोटिहोमद्वितयं चकार श्रेणीं गजानां पुनरानिनाय ।

निर्जित्य येनार्जनमाजिमूर्ध्नि श्रीमालवस्योज्जगृहे हृटेन ॥ बलवन-शिलालेख, पद्य ११.

७८. हम्मीरायण की भूमिका, पृ० ११६

कहीं अधिक गम्भीर रहे होंगे। धर्मसिंह को दिया गया असानुषिक दण्ड भी पराजय के कारणों की असाधारणता का सूचक है। धर्मसिंह की कथा को कात्पनिक मानने का कोई कारण नहीं है, यद्यपि हम्मीरविषयक अन्य किसी ग्रन्थ में उसकी चर्चा नहीं हुई है।

नयचन्द्र ने हम्मीर की राजनीतिक भूलों तथा गलत आर्थिक नीतियों का विशद वर्णन किया है, जिनसे हष्ट होकर प्रजा धीरे-धीरे उससे विमुख होती गयी। अन्य ग्रन्थों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि हम्मीर के अन्तिम समय में प्रजा उससे बहुत कुछ विरक्त हो चुकी थी^{१०}। दसवें सगं में वर्णित खल्जी सेना की पराजय तथा मुगल बंधुओं द्वारा जमरा की लूटपाट का वर्णन मुसलमानी तबारीखों में नहीं मिलता। उनके लिये यह कोई गौरव की बात नहीं थी। ग्यान्हर्वे सगं में वर्णित विफल गढ़रोध तथा निसुरतखान की मृत्यु की प्रायः समूची कथा हिन्दू और अहिन्दू लेखकों द्वारा समर्थित है। नयचन्द्र के कथनानुसार उल्लुखान और निसुरतखान सन्धि-वार्ता के व्याज से पहाड़ी घाटी में घुसने में समर्थ हुए^{११}, किन्तु वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि यवन-सेना की अत्यधिक संख्या के कारण राजपूतों ने गढ़रोध सहना अधिक हितकर समझा^{१२}। जिस वीरता से राजपूतों ने अलाउद्दीन के आक्रमण का मुंहतोड़ उत्तर दिया, उसका विशद वर्णन हम्मीरमहाकाव्य के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्यग्रन्थों तथा मुसलमानी तबारीखों में भी प्राप्त है। अमीर खुसरो के अनुसार यवनसेना रजब से जीकाद (मार्च-जुलाई) तक किले को घेरे रही। किले से बाणों की वर्षा होने के कारण पक्षी भी नहीं उड़ सकते थे। इस कारण शाही बाज भी वहाँ तक न पहुँच सके^{१३}।

हम्मीरमहाकाव्य से स्पष्ट है कि अन्ततः अलाउद्दीन गढ़रोध से थक गया था। प्रकाशस्तर से यह कथन तारीखे फिरोजशाही से समर्थित है। यदि रतिपाल, रणमल्ल आदि हम्मीर से विश्वासघात न करते तो घेरा अवश्य उठ जाता। उसके अतिरिक्त दुर्ग में वस्तुतः दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अमीर खुसरो ने लिखा है कि वे पत्थर खा रहे थे। चावल का एक दाना वे दो स्वर्णमुद्राओं से खरीदने को तैयार थे और यह उन्हें न मिलता था^{१४}। अतः नयचन्द्र का यह कथन कि भण्डार अन्न से परिपूर्ण था और जाहड़ कोठारी ने गलत सूचना दी थी, ठीक

७६. हम्मीरमहाकाव्य, प्रास्ताविक परिचय, पृ. १६

८०. हम्मीरमहाकाव्य, ११.२३

८१. हम्मीरायण, भूमिका, पृ. १२१

८२. वही, पृ. १२७

८३. वही, पृ. ४७

नहीं है।

हम्मीरकाव्य के अनुसार दुर्ग का पतन श्रावण कृष्णा ६, रविवार, सम्वत् १३५८ को हुआ। अमीर खुसरो की तिथि उससे दो दिन पूर्व है^{५५}। हम्मीर के स्वर्गारोहण के बाद जाजा ने दो दिन तक और युद्ध किया था। नयचन्द्र ने उसी दिन दुर्ग का पतन माना है। तारीखे फरिश्ता में भी महिमासाहि के वीरोचित उत्तर का उल्लेख है। क्रोधाविष्ट होकर अलाउद्दीन ने उसे मस्त हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया; किन्तु उसके शव को अच्छी तरह दफनवाया। साहस और स्वामिभक्ति का वह सम्मान करता था^{५६}।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि नयचन्द्र के सृजन में तत्त्वग्राही इतिहाकार तथा कुशल कवि का रासायनिक सम्मिश्रण है। इसीलिये हम्मीरमहाकाव्य, कवित्व की दृष्टि से, उच्चकोटि की रचना है जो संस्कृत के उत्तम काव्यों से होड़ कर सकता है। दूसरी ओर, संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यों में कदाचित् यही एकमात्र ऐसा काव्य है जिसे 'इतिहासग्रन्थ' कहा जा सकता है। काव्य और इतिहास के इस सन्तुलन में ही 'ऐतिहासिक महाकाव्य' संज्ञा की सार्थकता निहित है। खेद है, संस्कृत-साहित्य में अधिक नयचन्द्र नहीं हुए।

८४. हम्मीरमहाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री, पृ. ४१

८५. हम्मीरमहाकाव्य में वर्णित रणथम्भोर के इतिहास (सर्ग ४-१४) के विवेचन के लिए देखिये मेरा लेख—*Hammīramahākāvya : A Unique Source of the History of Ranathambhor, Avagāhana, Saradarshahar, Vol. II. 1, P. 41-46.*

१४. कुमारपालचरित : चारित्रसुन्दरगणि

प्रख्यात चालुक्यनरेश कुमारपाल की धर्म-प्रभावना का जिन प्रबन्धों में कृतज्ञतापूर्वक प्रशस्तिगान किया गया है, उनमें चारित्रसुन्दरगणि का कुमारपाल-चरित^१ अधिक ज्ञात नहीं है। इतिहास-प्रथित नायक के चरित पर आश्रित होने के कारण कुमारपालचरित की गणना सामान्यतः ऐतिहासिक काव्यों के अन्तर्गत की जाती है, किन्तु इसका इतिहास-तत्त्व बहुधा अस्पष्ट तथा भ्रामक है। काव्य का अधिकांश कुमारपाल तथा उसके आध्यात्मिक गुरु हेमचन्द्रसूरि के सम्बन्धों तथा कलि-कालसर्वज के निर्देशन में उसके द्वारा किये गये जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के विस्तृत वर्णनों में खपा दिया गया है।

कुमारपालचरित का महाकाव्यत्व

कुमारपालचरित आलोच्य युग की उन रचनाओं में है, जिनमें महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का आंशिक पालन हुआ है। इसकी रचना समृद्ध काव्य के रूप में हुई है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके सर्गों को आगे वर्गों में विभक्त किया गया है, जो स्वतन्त्र सर्गों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। काव्य का कथानक कुमारपाल के जीवनवृत्त पर आधारित है, जो इतिहास का प्रतापी धीरोदात्त शासक तथा जैन धर्म का बहुमानित पोषक है। कुमारपालचरित में वीररस की प्रधानता है, यद्यपि इसे काव्य के अंगी रस के पद पर आसीन करना सम्भवतः कवि को इष्ट नहीं है। करुण, रौद्र, बीभर्ष तथा अद्भुत रसों को भी यथोचित स्थान मिला है। प्रस्तुत काव्य का उद्देश्य 'धर्म' माना जा सकता है। महापण्डित आचार्य के आदेशानुसार समूचे शासनतन्त्र की सहायता से आर्हत धर्म का अप्रतिहत प्रसार करना काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। छन्दयोजना में चारित्रसुन्दर ने मान्य परम्परा का पालन नहीं किया है। काव्य के अधिकतर सर्गों में ही नहीं, वर्गों में भी, नाना वृत्तों का प्रयोग किया गया है। महाकाव्य की रूढ़ परम्परा के अनुसार कुमारपालचरित का आरम्भ आशीर्वादात्मक मंगलाचरण से होता है, जिसमें महावीर स्वामी, वाग्देवी तथा आचार्य हेमचन्द्र की स्तुति की गयी है। काव्य का शीर्षक तथा सर्गों का नामकरण और नम्रवर्णन, सज्जन-प्रशंसा आदि रुढ़ियों का निर्वाह भी शास्त्र के अनुकूल है।

१. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से पत्राकार प्रकाशित, सम्बत् १९७३

इन लक्षणों को छोड़कर कुमारपालचरित में महाकाव्य का कोई अन्य तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। काव्य में मुख्यतः कुमारपाल के धार्मिक उत्साह का वर्णन होने के कारण इसके कथानक में अन्विति तथा विकास-क्रम का अभाव है। काव्य के कुछ सर्ग तो एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। अतः काव्य की कथावस्तु में नाट्य-संधियाँ खोजना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कुमारपालचरित में न वस्तुव्यापार के महाकाव्य-सुलभ मनोरम वर्णन हैं, न समसामयिक युग की चेतना का स्पन्दन है, न प्रकृति-वर्णन की सरसता है। इसकी भाषा-शैली में महाकाव्योचित प्रौढ़ता तथा उदात्तता नहीं है। कुमारपालचरित में वे सभी शाश्वत तत्त्व वर्तमान नहीं हैं, जिनके कारण महाकाव्य अमर पद को प्राप्त करता है। फिर भी इसे महाकाव्य मानना अन्याय्य नहीं क्योंकि दण्डी के शब्दों में कतिपय तत्त्वों के अभाव में किसी रचना का महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो जाता, यदि अन्य तत्त्व पुष्ट तथा समृद्ध हों। कवि ने भी इसे प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में महाकाव्य की संज्ञा दी है—“इति भट्टारकश्रीरत्नसिंहसूरिशिष्योपाध्यायश्रीचारित्र-सुन्दरगणिविरचिते श्रीकुमारपालचरिते महाकाव्ये वंशवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः।”

कविपरिचय तथा रचनाकाल

काव्यप्रशस्ति में चारित्रसुन्दर ने कुछ आत्मपरिचय दिया है। वृद्धतपोगण के प्रख्यात आचार्य रत्नाकरसूरि ज्ञान के साक्षात् सागर थे। उनके नाम के आधार पर तपोगण ने रत्नाकरगण के नामान्तर से ख्याति प्राप्त की। रत्नाकरसूरि के अनुक्रम में क्रमशः अभयसिंह तथा जयचन्द्र पट्ट पर आसीन हुए। कुमारपालचरित के प्रणेता चारित्रसुन्दर जयचन्द्र के पट्टधर रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे।^१ कुमारपालचरित के इस विवरण की पुष्टि चारित्रसुन्दर के महीपालचरित्र की प्रशस्ति से भी होती है।^२ चारित्रसुन्दर के साहित्य-गुरु सम्भवतः जयभूति पाठक थे, इसका संकेत कुमारपालचरित के निम्नोक्त पद्य से मिलता है।

ये मज्जाइयतमोऽहरन्निजबचोभाभिः प्रभावांचितः,

विश्वोद्योतकरा प्रतापनिकरा दोषापहाः सूर्यवत् ।

ते मोदं ददताममन्वमुदितानन्दाः सदानन्दनाः

श्रीमच्छ्रीजयभूतिपाठकवरा योगीश्वराः सर्वदा ॥ १०.३८

कुमारपालचरित की रचना शुभचन्द्रगणि के अनुरोध पर की गयी थी, इसका

२. न्यूनमप्यत्र येः कस्मिन्वंशेः काव्यं न दुष्यति ।

यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥ काव्यादर्श, १.२०

३. कुमारपालचरित, १०.३५

४. महीपालचरित्र (पत्राकार), जामनगर, सं० १९८८, प्रशस्ति, ४-६

उल्लेख स्वयं कवि ने किया है।

चक्रे यदभ्यर्थनया पवित्रं चरितमेतन्मया विचित्रम् ।

प्रवर्तिताशेषशुभः स नित्यं जीयाद् गणीशः शुभचन्द्रसंज्ञः ॥ १०.३६

कुमारपालचरित का रचनाकाल निश्चित करने का कोई आधारभूत साधन उपलब्ध नहीं है। काव्य भी इस विषय में सर्वथा मौन है। जिनरत्नकोश के अनुसार प्रस्तुत काव्य की रचना सम्वत् १४८७ (सन् १४३०) में हुई थी।^१ जिनरत्नकोश के इस निष्कर्ष का क्या आधार है, यह ज्ञात नहीं।

चारित्रसुन्दर की अन्य कृतियों में शीलदूत, आचारोपदेश तथा महीपालचरित्र प्रसिद्ध हैं। शीलदूत मेघदूत का समस्यापूर्ति-रूप विज्ञप्तिपत्र है।

कथानक

कुमारपालचरित दस सर्गों का महाकाव्य है। प्रथम सर्ग में भीमदेव से जयसिंह तक कुमारपाल के पूर्वजों का वर्णन है। दिग्विजय से लौटने पर जयसिंह को जैनाचार्यों की ओर से दशवर्षीय शिशु सोमचन्द्र आशीर्वाद देता है। यही सोमचन्द्र पदाधिराज के पश्चात् हेमचन्द्र के नाम से ख्याति प्राप्त करता है। द्वितीय सर्ग में सिद्धराज जयसिंह संतानहीनता से विकल होकर भगवान् शंकर की आराधना करता है। महादेव कुमारपाल को उसका राज्यधर घोषित करते हैं। यह सोचकर कि कुमारपाल के जीवित रहते हुए मुझे पुत्र-प्राप्ति नहीं हो सकती, जयसिंह उसके समूचे परिवार को ध्वस्त करने का षड्यंत्र बनाता है। पहले वह उसके पिता का वध करवा देता है, जिससे भीत होकर कुमारपाल को अपने प्राणों की रक्षा के लिये जगह-जगह असहाय भटकना पड़ता है। तृतीय सर्ग में सिद्धराज के देहावसान के पश्चात् कुमारपाल के राज्याभिषेक तथा मन्त्रि-पुत्र आम्बड़ एवं कोंकणनरेश मलिकार्जुन के युद्ध का वर्णन है। आम्बड़ चालुक्यनरेश को कोंकणराज का मिर भेंट करता है। चतुर्थ सर्ग में कुमारपाल तथा हेमचन्द्र के सम्पर्क और आचार्य की प्रेरणा से उसके जैनधर्म स्वीकार करने का निरूपण है। वह मांस, मदिरा आदि समस्त दुर्व्यसनों को छोड़ देता है तथा राज्य से भी उन्हें बहिष्कृत कर देता है। पंचम सर्ग में कुमारपाल को जैनधर्म में दीक्षित हुआ सुन कर एक काशीवासी शैव योगी उसे पुनः पतृक धर्म में प्रवृत्त करने के लिये आता है। वह मन्त्र-बल से उसके दिवंगत माता-पिता को प्रकट करता है, जो उसके धर्म परिवर्तन के कारण अपनी दुर्दशा का बखान करते हैं। हेमचन्द्र द्वारा ध्यानशक्ति से पुनः प्रकट किये जाने पर वे देवलोक में अपनी सुखशान्ति का वर्णन करते हैं। मन्त्र-तन्त्र आदि से आचार्य को जीतने में असफल होकर योगी देवबोध ने उन्हें तर्कवाद से पराजित करने का निश्चय किया, किन्तु, छल-बल का प्रयोग करने पर भी, उसे पराजय का

अपमान सहना पड़ा। छोटे सर्ग में यवनराज के आक्रमण, कुमारपाल के हाथों ह्याकम्भरी-नरेश अर्णोराज की पराजय और सौराष्ट्र के शासक सुंसर तथा कुमारपाल के मन्त्री उदयन के युद्ध का वर्णन है। उदयन सौराष्ट्र-नरेश का वध करने में सफल होता है परन्तु बाणों से क्षत-विक्षत होकर स्वयं भी वीरगति प्राप्त करता है। सातवें सर्ग में कुमारपाल वाग्भट को मंत्री तथा आम्बड़ को दण्डपति नियुक्त करता है। कुमारपाल पुत्रतुल्य मन्त्री को राज्यभार सौंप कर धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। आठवें सर्ग में कुमारपाल की दानशीलता, गुरुभक्ति, धार्मिक उत्साह, प्रजारंजन एवं उदारता का वर्णन किया गया है। हेमचन्द्र की प्रेरणा से वह प्रजा की निष्ठा पूर्वक जैनधर्म में दीक्षित करता है तथा अमानुषिक सम्पत्ति-अधिकार समाप्त कर देता है। नवें सर्ग में कुमारपाल के आग्रह पर आचार्य हेमचन्द्र उसके पूर्व-भव का वर्णन करते हैं, जो उन्हें देवी पद्मा के द्वारा अर्हत्पति सीमन्धर से ज्ञात हुआ था। दसवें सर्ग में कुमारपाल विमलगिरि तथा रैवतक तीर्थों की यात्रा करता है। तीर्थ-यात्रा से पूर्व डाहल-नरेश कर्ण के भावी आक्रमण की सूचना मिलती है, किन्तु, आक्रमण करने से पूर्व ही, उसकी मृत्यु हो जाती है। सर्ग के शेषांश में वाग्भट, आम्बड़ (आम्बड़), हेमचन्द्र और कुमारपाल की मृत्यु तथा उससे उत्पन्न व्यापक शोक का चित्रण है।

काव्य के उपर्युक्त सार से स्पष्ट है कि कवि ने अपने चरितनायक के जीवन वृत्त को लेकर दस सर्गों का बितान खड़ा किया है। यह बितान शिथिल तन्तुओं से बंधा हुआ है। इसलिये काव्य के कथानक में सुसम्बद्धता तथा अग्निति का अभाव है। काव्य के कतिपय वर्गों तथा सर्गों में तो कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है।

रसयोजना

धर्मवृद्धि के सीमित उद्देश्य के पोषक कवि के लिये काव्य का महत्व रोचक माध्यम से अधिक नहीं है, पर चारित्र्यसुन्दर ने धार्मिक आवेश के कारण काव्य की आत्मा की उपेक्षा नहीं की, यह सन्तोष की बात है। उसने मनोभावों के सरस चित्रण के द्वारा काव्य में धार्मिक स्थलों की श्लाघ्य सृष्टि की है। यद्यपि उसकी कल्पना तंग परिधि में वेष्टित है तथापि विभिन्न रसों का चित्रण करने में उसने दक्षता का परिचय दिया है। इतिहास के पराक्रमी शासक के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण कुमारपालचरित में वीररस की प्रधानता मानी जा सकती है, भले ही यह काव्य की समग्र प्रकृति तथा वातावरण के बहुत अनुकूल न हो। तृतीय सर्ग में आम्बड़ तथा कोंकणराज और छोटे सर्ग में कुमारपाल एवम् अर्णोराज के युद्धों के वर्णन में वीररस का भव्य परिपाक हुआ है। चारित्र्यसुन्दर के वीररस में योद्धाओं का एक दूसरे पर दृढ़ता, अट्टहास करना, हाथियों का चिबाड़ना आदि वीररसात्मक रुढ़ियों का संकेत मिलता है, जो कालान्तर में युद्धचित्रण की विशेषताएँ बन गयीं।

निम्नलिखित पंक्तियाँ जिनमें वीररस की मनोरम छटा दृष्टिगत होती है, उक्त प्रवृत्ति का आभास देती हैं ।

आलोक्ष्यारान्मन्त्रिराट् तं समेतमारुह्योच्चैर्हस्तिनं प्रत्यधावत् ।

विश्वं विश्वा व्यापयन्नात्मसैन्यैर्ध्वद्वर्पात्पन्नगं ब्रूतेयः ॥ ३.३.२४

पूर्णं पूर्णं काहुलानां निनादयुद्धारम्भे व्योम सैन्यद्वयस्य ।

दुग्धं दुग्धान्तर्गतं लक्ष्यते नो यद्वत्तद्वत्सैन्ययुग्मं तवासीत् ॥ ३.३.२५

शुचन्त्येके चाट्टट्टहासान् भटौघा नश्यन्त्येके कातरा राववन्तः ।

तन्वन्त्येके युद्धमिद्धोद्धतांगाः पश्यन्त्येके पातितानात्मनेव ॥ ३.३.२७

पाँचवें सर्ग में कुमारपाल के दिवंगत माता-पिता, शैव योगी के मन्त्रबल से प्रकट होकर, उसके घर्म-परिवर्तन के कारण अपनी दुरवस्था का वर्णन करते हैं । उनके गलित शरीर के चित्रण में बीभत्स-रस की प्रगाढ़ निष्पत्ति हुई है ।

दुर्गन्धरुद्धाखिलदिग्बिभागी कुण्ठेन नष्टावयवौ कृशांगौ ।

भृशं खवत्पूतिभराबलिप्ती विकीर्णकेशावृत्तीनवक्त्रौ ॥ ५.१.२७

नाना प्रहारव्रणजर्जरंगौ पृष्ठिदेशे दृढबद्धहस्तौ ।

दीनं रटन्तौ च निरीक्ष्य तौ ते शोकं च कुत्सां च दधुर्नृपाद्याः ॥ ५.१.२८

कुमारपाल के कुण्ठगलित विकलांग माता-पिता यहाँ आलम्बन विभाव हैं । उनके शरीर की दुर्गन्ध, अंगों से टपकती पीक, अस्त-व्यस्त केश, भ्रान्त मुख तथा आर्त क्रन्दन उद्दीपन विभाव हैं । उपस्थित लोगों के द्वारा शोक तथा कुत्सा प्रकट करना अनुभाव है । आवेग, व्याधि, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे समर्थित स्थायी भाव, जुगुप्सा, बीभत्सरस में परिणत हुआ है ।

इसके विपरीत हेमाचार्य के ध्यानयोग से पुनः भूलोक में आकर वे अपने देवलोक के सुखमय जीवन का वर्णन करते हैं और उस सुख-शान्ति को कुमारपाल के नव-धर्म का फल मानते हैं । उनके यान के अवतरण का वर्णन अद्भुत रस की सृष्टि करता है ।

विजितविधुरचिम्बां पाशर्वयोश्चामराभ्याम्

अतिललिततनुभ्यां बीज्यमानं सुरीभ्याम् ।

शिरसि विधृतचंचच्छत्रमालोक्य लोकाः

किमिदमिति मुहूर्तं तेऽभवन्मोहवन्तः ॥ ५.२.११

छठे सर्ग में देवलदेवी, पाटन आकर, पति द्वारा किये गये अपने अपमान की दुःखपूर्ण कहानी अपने भाई कुमारपाल को सुनाती है । बहनोंई अर्णोराज की उद्दण्डता तथा दुर्व्यवहार की गाथा सुन कर कुमारपाल क्रोध से पागल हो जाता है । उसकी क्रोधपूर्ण चेष्टाओं के चित्रण में रोद्र-रस के अनुभावों की बांकी भांकी देखने को मिलती है ।

तं तं तेन कृतं कृतान्तसद्देशमागश्च यं शृण्वतो
रोषेणारुणदारुणाक्षिपुगलस्योर्ध्वोत्थितरोमावसे : ।

शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः केतुस्ततानास्पदं

तस्यास्मे भ्रुकुटिच्छलेन विपुले व्योम्नीव भ्रूमीपते: ॥ ६.३.२४

यहाँ कुमारपाल का हृदयवर्ती क्रोध स्थायीभाव है। अर्णोराज आलम्बन विभाव है। बहिन देवलदेरी का अपमान तथा उनके द्वारा कुमारपाल के सामने उसका वर्णन उद्दीपन विभाव है। बहिन की दुर्दशा सुनकर कुमारपाल की आँखों का लाल होना, शरीर का क्रोध से रोमांचित होना तथा भीहों का चढ़ना अनुभाव हैं। अमर्ष, मोह, आक्षेप आदि संचारी भाव हैं। इन विभावों तथा संचारी भावों से पुष्ट होकर स्थायी भाव क्रोध की परिणति रौद्ररस में हुई है।

अधिकतर जैन कवियों ने जहाँ रोने-धोने में करुणरस की सार्थकता मानी है, वहाँ चारित्र्यसुन्दर ने उसकी पैनी व्यंजना से हृद्गत शोक का संकेत किया है। समरभूमि में मन्त्री उदयन की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा कुमारपाल का मुँह शोक से म्लान हो गया। 'श्यामवक्त्र' शब्द में करुणा की असीम गहनता छिपी है।

ज्ञात्वा वृत्तं कुमारो मृतमिति शोचयन् (?) श्यामवक्त्रः ।

प्रोत्कुलास्थो जयेनाजयदसिततमामण्डमीं रात्रिमेवम् ॥ ६.४.३१

चरित्रचित्रण

कुमारपालचरित में काव्यनायक के अतिरिक्त हेमचन्द्र, उदयन, वाग्भट, कृष्ण, आम्बड़ आदि कई पात्र हैं, परन्तु उनके चरित्र का समान विकास नहीं हुआ है। कुमारपाल तथा हेमचन्द्र के व्यक्तित्व की भी कुछ रेखाएँ ही काव्य में अंकित हुई हैं।

कुमारपाल

कुमारपाल काव्य का नायक है। काव्य में उसके चरित्र की दो विरोधी विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—राजोचित पराक्रम एवं नीतिमत्ता और अविचल धार्मिक तत्परता। सिंहासनासीन होने से पूर्व उसे, जयसिंह की वैरपूर्ण दुर्नीति के कारण, विकट परिस्थितियों तथा हृदयबेधक कठिनाइयों से जूझना पड़ता है, किन्तु अपनी सूझबूझ तथा साधन-सम्पन्नता से वह उन सब पर विजय पाता है और कष्टों की उस भट्टी से कुन्दन बनकर निकलता है। राज्याभिषेक के पश्चात् उसकी नीति-निपुणता को उन्मुक्त विहार का अवसर मिलता है। सिंहासनारूढ़ होते ही वह, कुशल तथा दूरदर्शी प्रशासक होने के नाते, अपनी शक्ति को दृढ़ बनाने में जुट जाता है। वह विरोधी शासकों को स्वयं अथवा मन्त्रियों के माध्यम से धराशायी करता है। आज्ञा की बार-बार अवहेलना करने वाले कृष्ण को, भरी सभा में, प्राणदण्ड देकर वह अपनी कठोर प्रशासनिक नीति तथा कार्य-तत्परता की निर्दय मिसाल पेश करता है।

अस्त्वेवमेवं निगदन्मरेशोऽलुनाच्छिरस्तस्य शितासिना सः ।

कृतान्ततुल्यं तमवेत्य सर्वः सभाजनः क्षोभमवाप बाढम् ॥ ३.२.२६

आचार्य हेमचन्द्र से सम्पर्क होने के पश्चात् उसकी जीवनधारा नया मोड़ लेती है । उनके आदेशानुसार वह पाटन में अपने कुलदेवता भगवान् शंकर का मन्दिर बनवाता है । कालान्तर में वह परम्परागत शैव धर्म छोड़ कर आर्हत धर्म स्वीकार करता है । उनकी सत्प्रेरणा से वह जीवहिंसा पर प्रतिबन्ध लगाता है, स्वयं मांस-मदिरा आदि दुर्व्यसन छोड़ देता है, तीर्थयात्रा करता है तथा सम्पत्ति-अधिकार का पाषाणिक नियम तथा पशुबलि की क्रूर प्रथा समाप्त कर देता है और आचार्य के मुख से तिरैसठ शलाकापुरुषों का चरित सुनता है । नव-धर्म के प्रति उसके उत्साह तथा निष्ठा का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वह नाना पारितोषिक देकर प्रजाजनों को तत्परता से जैनधर्म में दीक्षित करता है । वह जैनधर्म की अहिंसा का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने को आतुर है । इसके लिये बल-प्रयोग करने में भी उसे हिचक नहीं ।

कुमारपाल के चरित में क्रूरता तथा दयालुता का विचित्र समन्वय है ।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्रसूरि कुमारपाल के आध्यात्मिक गुरु तथा पथप्रदर्शक हैं । वे महान् पण्डित तथा विभूतिसम्पन्न महापुरुष हैं । शैशव में ही उनकी दिव्यता का परिचय मिलता है । दस वर्ष की अल्पावस्था में विजयी जयसिंह को भावपूर्ण आशीर्वाद देकर वे सबको विस्मित कर देते हैं । वे अपनी ध्यानशक्ति से कुमारपाल के दिवंगत माता-पिता को प्रकट करते हैं, मंत्रबल से देवी कण्टेश्वरी तथा यवनराज को बांधते हैं तथा कुमारपाल के पूर्वजन्म का वर्णन करते हैं ।

कुमारपाल को जैनधर्म में दीक्षित करने तथा उसे दुर्व्यसनों से उबार कर जनहित में प्रवृत्त करने का श्रेय हेमचन्द्र को है । कुमारपाल उन्हें अपना सच्चा हितैषी तथा मार्गदर्शक मानता है और गाढ़े समय में सदैव उनके परामर्श के अनुसार आचरण करता है । कुमारपाल के जीवन में आचार्य इतने घुले-मिले हैं कि उनके बिना उसकी कल्पना करना सम्भव नहीं है । वह उनकी छाया-मात्र है । उनके स्वर्गारोहण से कुमार को जो प्रबल आघात लगा, वह आचार्य के गौरव तथा उनके प्रति कुमारपाल की असीम श्रद्धा का प्रतीक है ।

उदयन

उदयन चालुक्यनरेश का प्रिय मन्त्री है । वह रणकुशल तथा वीर योद्धा है । वह बलशाली सौराष्ट्रनरेश को परास्त करने में सफल होता है किन्तु इस सफलता के लिये उसे अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है । कुमारपाल को उसके निधन से बहुत दुःख होता है, जो उसकी स्वामिभक्ति का द्योतक है ।

कृष्ण

कृष्ण कुमारपाल का बहनोई तथा सेनापति है। सिद्धराज के निधन के पश्चात् राज्य प्राप्त करने में वह कुमारपाल की पर्याप्त सहायता करता है। परन्तु जब वह कुमारपाल को उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय में उपालम्भ देकर लज्जित करने लगा और समझाने-बुझाने पर भी नहीं माना तो कुमारपाल अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए उसका सिर काट देता है।

भाषा

चारित्रसुन्दर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भाषा-सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। कुमारपालचरित की भाषा प्रौढ़ता से वंचित है। काव्य में सरल तथा सुगम भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे वह साधारण पाठक के लिए भी बोधगम्य हो सके। इसीलिए वह क्लिष्टता तथा दुरुहता से सर्वथा मुक्त है। अपनी भाषा को सर्वजनगम्य बनाने के लिए कवि ने उसकी शुद्धता की बलि देने में भी संकोच नहीं किया है। काव्य में व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं। 'प्राप्य' के स्थान पर 'आप्य' का (७.१.३३), सिद्धराजस्य तथा मलिकार्जुनराजस्य के लिए 'सिद्धराज्ञः' तथा 'मलिकार्जुनराज्ञः' (१.२.३६, ३.३.१) का प्रयोग कवि ने इस सहजता से किया है मानो इसमें कुछ भी आपत्तिजनक न हो। यहाँ वह काव्यदोष है, जिसे साहित्यशास्त्र में 'व्युत्संस्कार' कहा गया है। चारित्र-सुन्दर की भाषा में 'अधिक' दोष भी दृष्टिगत होता है। तारतम्यबोधक 'श्चिरतर' के साथ आधिक्यवाचक 'अति' का प्रयोग अनावश्यक है (२.३.४)। इसी प्रकार छन्दपूर्ति के लिए शब्दों के वास्तविक रूप को विकृत करने में भी कवि को कोई हिचक नहीं है। कुमार के लिए अधिकतर कुमार का प्रयोग छन्द-प्रयोग में कवि की असमर्थता का परिणाम है (२.२.७०; २.३.३७)। इसी अक्षमता के कारण कवि ने कहीं-कहीं सन्धि को भी तिलाञ्जलि दी है। 'वर्षाश्रुती' पद केवल छन्दपूर्ति के आधार पर क्षम्य हो सकता है। कुमारपालचरित की भाषा में 'निस्सान' (२.४.१४) तथा चंग (७.१.६) आदि कुछ देशी शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं। चारित्रसुन्दर के काव्य में धायावर पद्यों का समावेश करने की विचित्र प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः' तथा 'विजेतव्या लंका चरणतरणीयश्च जलधिः' आदि ऐसे पद्य हैं, जो साहित्य में पहले ही सुविज्ञात हैं।

फिर भी कुमारपालचरित की भाषा प्रसंगानुकूल है। उसकी विशेषता यह है कि ओजपूर्ण प्रसंगों में भी उसकी सरलता यथावत् बनी रहती है। अधिकतर एकरूप होने पर भी उसमें वर्ण्य भाव के अनुरूप वातावरण निर्मित करने की क्षमता है। हेमचन्द्र की मृत्यु तथा उससे उत्पन्न शोक के वर्णन की भाषा भाव की अनुगामिनी है।

अहह सृजसि घातविश्वविद्वावतंसं

पुरुषमखिलविद्यावन्तमुद्यत्प्रशंसम् ।

तमपि यमसमीपं प्रापयन्नात्मनैव

व्रजसि बत ! विनाशं किं कृतघ्नेषु न त्वम् ॥ १०.२.१२

नीतिपरक प्रसंगों में सरलतम भाषा प्रयुक्त की गयी है। जनसाधारण में नीतिकथनों को तुरन्त आत्मसात् करने तथा दैनिक जीवन में उनका उपयोग करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अतः इनकी भाषा का सहज तथा सुबोध होना परम आवश्यक है।

विवेकदीपो हवि तावदेव स्फुरत्यहो दर्शितधर्ममार्गः ।

उन्मूलिताचारविचारवृक्षो न वाति यावत्किल कामवायुः ॥ १.२.६

उपकारोऽपकारो वा यस्य व्रजति विस्मृतिम् ।

पाषाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥ ४.१.१२

मितम्पन्नधोरधमोत्तमेच्छा सुरंगधूली कुसुमं वनस्थ ।

छाया च कूपस्य विनाशमेते पञ्चापि तत्रैव किल प्रयान्ति ॥ १०.१.३४

कुमारपालचरित्र में विभिन्न प्रसंगों में, कुछ सटीक सूक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। उनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं—पुत्रस्नेहो हि दुस्त्यजः (१.३.४१), परकृते कुर्वन्ति किं नोत्तमाः (७.१.४१), अधिना कः समस्तेन यद्वेला अपि दुस्तरा (८.२.३०), कर्माभुवत् क्षीयते नो (९.२.३८) ।

कुमारपालचरित की भाषा में भले ही प्रौढता न हो, उसमें सरलता का सौन्दर्य है। यही उसका आकर्षण है।

अलंकार-विधान

कुमारपालचरित के कर्त्ता का उद्देश्य सरल-सुबोध भाषा में जैनधर्म के एक समर्थ प्रभावक का चरित वर्णित करना है। इसलिये यह विद्वत्ता-प्रदर्शन के एक प्रमुख उपकरण, अनावश्यक अलंकरण, से आक्रांत नहीं है। उसकी शैली में अलंकार स्वाभाविकता से प्रयुक्त हुए हैं। वे सदा भावभिव्यक्ति में सहायक हों, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उन्होंने काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित अवश्य किया है।

शब्दालंकारों में, कुमारपालचरित में, अनुप्रास का बाहुल्य है। अनुप्रास काव्य में मधुरता का जनक है। जयसिंह की दिग्विजय-समाप्ति के निम्नोक्त पद्य में अत्यानुप्रास का माधुर्य देखिये—

इति जितनिखिलाशः सर्वसम्पूरिताशः कृतसुकृतविकाशः शत्रुकेतुप्रकाशः ।

कलितसकलेशः सौत्सवं गुर्जरेशः स्वपुरमथ नरेशः स्वर्गतुल्यं विवेश ॥ १.२.३६

यमक और श्लेष से भाषा में अनावश्यक क्लिष्टता आती है तथा वे रसचर्बणा

में बाधक होते हैं, अतः कुमारपालचरित में उनका बहुत कम प्रयोग किया गया है। विजयी जयसिंह का यह प्रशस्तिगान यमक पर आधारित है।

जीव जीवसम । विद्या सदानन्द । नन्दनसमान । समान ।

नन्द नन्दसम । दाननिरस्तकर्ण । कर्णसुत । सिद्धनरेन्द्र ॥१.२.६७

अर्थालंकारों में रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति, अतिशयोक्ति, ध्याजस्तुति, विरोध, परिसंख्या, समासोक्ति आदि प्रसिद्ध अलंकारों को भाव प्रकाशन का माध्यम बनाया गया है। कुमारपाल के पूर्व-भव के वर्णन के प्रसंग में रूपक का यह रोचक प्रयोग दर्शनीय है।

गुरुवचनमुष्माभिस्तामिरेवं प्रसिक्तो

हृदयगहनवर्ती निर्बन्धो कोपवह्निः । ६.२.११

योगी देवबोध की आत्मविकल्पना अतिशयोक्ति में प्रकट हुई है। उसकी वाक्पटुता के समक्ष बृहस्पति, ब्रह्मा और महेश्वर भी मूक हैं।

बृहस्पतिः किं कुरुतां वराको ब्रह्मापि जिह्वो भवति क्षणेन ।

अग्नि स्थिते वाविकरीन्द्रसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽपि ॥४.३.४

निम्नोक्त पद्य में कुमारपाल की प्रीति, प्रतीति, प्रभुता तथा प्रतिष्ठा का क्रमशः गुरु, धर्म, शरीर तथा त्रिलोकी के साथ सम्बन्ध होने के कारण यथासंख्य अलंकार है।

प्रीतिः प्रतीतिः प्रभुता प्रतिष्ठा तस्यामबद् भूमिपतेः प्रकृष्टा ।

गुरो घ धर्मं धपुषि त्रिलोक्यां पक्षे सिते चन्द्रकलेव नित्यम् ॥१०.१.२

आम्बड़ ने कोंकणराज के छत्र के साथ ही उसकी कीर्ति को भूमिसात् कर दिया। यह सहोक्ति है।

कीर्त्या साकं कंकपत्रेण धात्र्यां शत्रोश्छत्रं पातयामास पश्चात् । ३.३.४६

छन्द योजना

छन्दों के प्रयोग में कुमारपालचरित्र में धीरे अराजकता है। इसके अधिकतर सग्यों में ही नहीं, बग्यों में भी, नाना वृत्तों का प्रयोग किया गया है। जिन सग्यों तथा बग्यों में एक छन्द का प्राधान्य है, उनमें भी कवि ने बीच-बीच में अन्य छन्दों का समावेश कर ऐसा बोटाला कर दिया है कि इस द्रुत छन्द-परिवर्तन से पाठक झुंझला उठता है। छन्द-योजना में कवि ने जिस श्रम का व्यय किया है, यदि उसका उपयोग वह अन्यत्र करता तो उसकी रचना अधिक आकर्षक बन सकती थी।

कुमारपालचरित में, कुल मिलाकर, तेईस छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, स्वागता, भुजंगप्रयात, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता,

शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, दण्डक, स्रग्विणी, वंशस्थ आर्या, और माथा । दो छन्दों के नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं । काव्य में उपजाति की प्रधानता है । इसके बाद अनुष्टुप् का स्थान है ।

कुमारपालचरित में ऐतिहासिक सामग्री

कुमारपालचरित का ऐतिहासिक वृत्त सर्वत्र असंदिग्ध अथवा विश्वसनीय नहीं है, किन्तु इसमें अनहिलवाड़ के चोलुक्यवंश, विशेषकर कुमारपाल के इतिहास की कुछ जानकारी मिलती है, जिसके सत्यासत्य का परीक्षण, वस्तुस्थिति से अवगत होने के लिये आवश्यक है ।

काव्य का ऐतिहासिक वृत्त भीमदेव से प्रारम्भ होता है, जो गुजरात के चालुक्यवंश के संस्थापक मूलराज का प्रतापी वंशज था । चारित्रसुन्दर का कथन है कि उसके पुत्र क्षेमराज ने, राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी होते हुए भी, राज्य-सत्ता स्वेच्छा से अपने विमातृज भाई कर्ण को सौंप दी थी ।^१ यद्यपि प्रबन्धचिन्तामणि आदि में भी ऐसा विवरण मिलता है, किन्तु क्षेमराज को सम्भवतः अपनी माता की चारित्रिक पृष्ठभूमि के कारण राज्याधिकार से वंचित रहना पड़ा था, जो वस्तुतः वारचिन्ता थी पर उसके रूप पर रीझ कर भीमदेव ने उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया था । काव्य में कर्ण के लिये प्रयुक्त 'वर्णव्रजपूजितस्य' (१.१.४०) विशेषण की कदाचित् यही ध्वनि है कि क्षेमराज अभिजातवर्ग को मान्य नहीं था । उसे राज्यदान का श्रेय देना अतिरंजना मात्र है । चारित्रसुन्दर के कथन से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि क्षेमराज तथा कर्ण के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे और वे सौतेले भाइयों की परम्परागत ढाह से मुक्त थे ।

जयसिंह के वृत्तान्त में भी सत्यासत्य का मिश्रण है । अष्टवर्षीय शिशु जयसिंह के ऊपर राज्य का दुर्वह भार लादने की कर्ण के लिये क्या विवशता थी, यह काव्य से स्पष्ट नहीं है । सिद्धराज की मालवविजय की घटना सत्य तथा प्रमाण-पुष्ट है ।^२ वदनगरप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जयसिंह ने मालवप्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया था । किन्तु दिग्विजय के अन्तर्गत उसके द्वारा पराजित देशों की सूची-कणटिक, लाट, मगध, अंग, कलिङ्ग, वङ्ग, कश्मीर, कीर तथा मरुप्रदेश^३—परम्परागत प्रतीत होती है ।

कुमारपाल के प्रति जयसिंह का अमानुषिक वैर इतिहास-प्रसिद्ध है । यह वैर

१. कुमारपालचरित, १.१.४०-४१

२. वही, १.२.२८

३. वही, १.२.३४-३५

४. वही, १.२.३८

कुमारपाल के नर्तकी का बंशज होने के कारण नहीं था, जैसा मेरुतुंग ने माना है । इसके गम्भीरतर कारण थे । जयसिंह की सन्तानहीनता ने कुमारपाल को उसका भावी उत्तराधिकारी बना दिया था । यह सम्भावना सिद्धराज को सह्य नहीं थी । अतः उसने कुमारपाल को समाप्त करने का षड्यन्त्र बनाया, जिससे भीत होकर उसे सतत सात वर्ष अज्ञातवास करना पड़ा । कुमारपाल के इस प्रवास की पुष्टि मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों से भी होती है ।^{१०} उसके पिता त्रिभुवनपाल का वध सिद्धराज के इसी ध्वंसकारी कुचक्र का परिणाम था ।

जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् राज्य प्राप्त करने में कुमारपाल को अपने बहनोई सेनापति कृष्ण से यथेष्ट सहायता मिली थी । यह इतिहास की विद्वम्बना है कि जिस कृष्ण ने गाढ़े समय में कुमारपाल का मार्गदर्शन तथा सहायता की थी, उसे ही चालुक्यराज की तलवार का शिकार बनना पड़ा ।^{११} प्रबन्धचिन्तामणि से कुमारपाल की इस राजनीतिक कठोरता की पुष्टि होती है (पृ. ७६) ।

काव्य में कुमारपाल के विजय-अभियानों की भी चर्चा है । कोंकणनरेश मलिकार्जुन को कुमारपाल का मन्त्री आम्बड़ द्वितीय आक्रमण में ही पराजित कर सका था । यह घटना सन् ११६२ से पूर्व की है क्योंकि उसी वर्ष मलिकार्जुन के उत्तराधिकारी अपरादित्य का शासन प्रारम्भ होता है ।^{१२} सौराष्ट्र-युद्ध को जैन कवि ने धार्मिक चश्मे से देखा है । अजहत्या का युद्ध का कारण मानना हास्यास्पद है । श्री भगवानलाल का मत है कि यह युद्ध सन् ११४८ के करीब हुआ था ।^{१३}

कुमारपालचरित में कुमारपाल तथा शाकम्भरी-नरेश अर्णोराज के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन है । चारित्रसुन्दर के विवरण के अनुसार कुमारपाल की बहिन देवलदेवी अर्णोराज की पत्नी थी । शतरंज खेलते समय एक दिन अर्णोराज ने गोटी के लिये मारि (हिंसा) शब्द का प्रयोग किया जिससे देवलदेवी की अहिंसात्मक भावना को ठेस पहुँची । उसके प्रतिवाद करने पर शाकम्भरी-नरेश ने उस पर पांव से प्रहार किया । अपनी बहिन के इस अपमान से उत्तेजित होकर कुमारपाल ने शाकम्भरी पर आक्रमण कर दिया । युद्ध में अर्णोराज पराजित हुआ, पर बहिन के अनुरोध पर कुमारपाल ने उसका प्राणान्त नहीं किया ।^{१४}

साधनों का बाहुल्य होते हुए भी इस चालुक्य-चौहान युद्ध का स्वरूप स्पष्ट नहीं

१०. आईने अकबरी, खण्ड २, पृ. २६३.

११. कुमारपालचरित, ३.२.२-११.

१२. लक्ष्मीशंकर व्यास: चौलुक्य कुमारपाल, पृ. ११४

१३. वही, पृ. ११५.

१४. कुमारपालचरित, ६.३.६-४५.

है। हेमचन्द्र तथा मेरुतुंग के भिन्न विवरणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कुमारपाल तथा अर्णोराज के दो युद्धों की कल्पना की है। उनका विचार है कि प्रथम आक्रमण अर्णोराज की ओर से हुआ था। इसमें कुमारपाल पराजित हुआ और उसे आक्रान्ता शाकम्भरी-नरेश को अपनी बहिन देवलदेवी देने का अपमान सहना पड़ा। पराजय के अपमान का बदला लेने के लिये चालुक्यराज ने, अवसर पाकर, शाकम्भरी को घेर लिया। इस बार विजय उसे प्राप्त हुई।^{१५}

खेल के परिहास को युद्ध का कारण मानना जैन कवि के धार्मिक उत्साह का विद्रूप है। देवलदेवी का उक्त युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः कुमारपाल की देवलदेवी नामक कोई बहिन नहीं थी। सिद्धराज जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी अर्णोराज से विवाहित अवश्य थी परन्तु चालुक्य-चौहान संघर्ष में उसकी कोई भूमिका नहीं रही है। देवलदेवी, जिस पर युद्ध का दायित्व थोपा गया है, जैन कवियों तथा प्रबन्धकारों की कल्पना की उपज है।^{१६}

कुमारपाल तथा अर्णोराज की भिड़न्त अवश्य ही दो बार हुई थी, किन्तु उसके कारण शुद्ध राजनीतिक थे, जिनका रोचक विवेचन अन्यत्र पढ़ा जा सकता है।^{१७} बडनगरप्रशस्ति (श्लोक १४, १८) से विदित होता है कि यह युद्ध सम्वत् १२०८ (सन् ११५१) से पूर्व समाप्त हो चुका था।

चारित्रसुन्दर ने कुमारपाल के मालवयुद्ध का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि मालवविजय उसके राजनीतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। गजनी के मलेच्छ को हेमचन्द्र द्वारा मन्त्रबल से बांधने की कल्पना सर्वथा अनैतिहासिक है।

इस प्रकार कुमारपालचरित में, कतिपय प्रामाणिक तथ्यों को छोड़कर, बहुधा इतिहास का विपर्यास प्रस्तुत किया गया है। चारित्रसुन्दर ने जनश्रुति तथा जैन प्रबन्धों से कुमारपाल के विषय में जो कुछ ज्ञात हुआ, उसे यथावत् स्वीकार कर लिया। उसके धार्मिक आवेश ने इतिहास के साथ न्याय नहीं किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चारित्रसुन्दर की प्रतिभा उसके उद्देश्य की बन्दिनी है। यदि वह धर्मोत्साह के तंग घेरे से निकल कर उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने का प्रयास करता तो उसकी काव्यकला का उत्कृष्ट रूप सामने आता और वह इतिहास के साथ भी न्याय कर पाता।

१५. हरबिलास सारवा : स्पीचेस एण्ड राइटिंग्स, २८५-२८६

१६. भारतकौमुदी, भाग २, पृ. ८७८-८७९

१७. वही, पृ. ८८२-८८४

१५. वस्तुपालचरित : जिनहर्षगणि

जिनहर्ष का वस्तुपालचरित भी ऐतिहासिक महाकाव्य माना जाता है। इसके आठ विशालकाय प्रस्तावों में चौलुक्य-नरेश वीरधवल के नीतिनिपुण महामात्य वस्तुपाल की वीरता, उदारता, कूटनीतिक कौशल, लोककल्याण, साहित्य-प्रेम तथा जैन धर्म के प्रति अपार उत्साह तथा उसकी गौरव-वृद्धि के लिए किये गये अथक प्रयत्नों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। वस्तुतः काव्य में वस्तुपाल तथा उसके अनुज तेजपाल दोनों का जीवनचरित गुम्फित है, किन्तु वस्तुपाल के गरिमापूर्ण व्यक्तित्व के प्रकाश में तेजपाल का वृत्त मन्द पड़ गया है, यद्यपि दोनों के चरितों का काव्य में ऐसा मिश्रण है कि एक को दूसरे से पृथक् करना प्रायः असम्भव है। वस्तुपाल की प्रधानता के कारण ही काव्य का नाम वस्तुपालचरित रखा गया है। ऐतिहासिक पात्रों को धर्मोत्थान का माध्यम बनाने की रीति नयी नहीं है, किन्तु जिस प्रकार कवि ने काव्य को अपने धार्मिक उत्साह का दास बनाया है, वह काव्य तथा इतिहास दोनों के प्रति अन्याय है।

वस्तुपालचरित का महाकाव्यत्व

वस्तुपालचरित की रचना में जिन मानदण्डों का पालन किया गया है, उनका सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा की अपेक्षा शरीर से अधिक है। काव्य का कथानक वस्तुपाल के उदात्त चरित पर आश्रित है, जो मध्यकालीन भारतीय इतिहास का देदीप्यमान नक्षत्र है। वस्तुपाल बीरोदात्त श्रेणी का नायक है, यद्यपि वह क्षत्रियकुल-प्रसूत नहीं, वणिक्कुल का रत्न है। अन्य कतिपय जैन काव्यों की भाँति वस्तुपालचरित में तीव्र रसव्यंजना का अभाव है। प्रसंगवश वीर तथा कर्णरस का पल्लवन काव्य में हुआ है। वीररस को ही वस्तुपालचरित का अंगी रस माना जा सकता है, जो शास्त्र के अनुकूल है। शास्त्रीय नियम के अनुसार वस्तुपालचरित के कथानक को आठ विभागों में विभक्त किया गया है, जिनकी संज्ञा यहाँ 'प्रस्ताव' है। प्रत्येक प्रस्ताव का कलेवर पर्याप्त विस्तृत है। वस्तुपालचरित को सामान्यतः सर्गबद्ध कहा जा सकता है, यद्यपि उसके हर प्रस्ताव में नियमानुसार किसी एक प्रसंग का प्रतिपादन नहीं हुआ है बल्कि उनमें विविध प्रकार की सामग्री भरी पड़ी है। छन्दों के प्रयोग में जिनहर्ष को शास्त्रीय विधान मान्य नहीं है। काव्य के प्रत्येक प्रस्ताव में नाना वृत्तों का प्रयोग किया गया है, जो स्पष्टतः मान्य परम्परा का उल्लंघन है

१. जामनगर से पत्राकार प्रकाशित, सम्बत् १९६८

क्योंकि महाकाव्य में छन्द-वैविध्य एक-दो सग्यों में ही काम्य है। जिनहर्ष की भाषा महाकाव्योचित प्रौढता से रहित है। महामात्य के समकालीन कवियों तथा साहित्य के अन्य बहुप्रचलित शताधिक पद्यों का काव्य में समावेश करने से इसकी मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। इसकी यथावद्वर्णनात्मक तथा अपरिमाजित शैली भी महाकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है। काव्य की रचना जैनधर्म के माहात्म्य के प्रकाशन तथा उसके प्रचार के सीमित उद्देश्य से हुई है। इस प्रकार वस्तुपालचरित में महाकाव्य के स्वरूपविधायक कुछ तत्त्व ही दिखाई देते हैं। तो भी, जैन महाकाव्यों के सन्दर्भ में, वस्तुपालचरित को सामान्यतः महाकाव्य मानने में अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वस्तुपालचरित का स्वरूप

वस्तुपालचरित को ऐतिहासिक रचना माना जाता है। निःसंदेह इससे चौलुक्य-वंश, धौलका-नरेश वीरधवल, विशेषकर उसके प्रखरमति अमात्य वस्तुपाल तथा तेजःपाल के विषय में कुछ उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु इन सूक्ष्म ऐतिहासिक संकेतों को पौराणिकता के चक्रव्यूह में बन्द कर दिया गया है। ४५५६ पद्यों के इस बृहत् काव्य में कवि ने ऐतिहासिक सामग्री पर २००-२५० से अधिक पद्य श्रव्य करना उपयुक्त नहीं समझा है। वस्तुपालचरित में पौराणिक काव्यों की विशेषताएँ इतनी प्रबल तथा पुष्ट हैं कि इसकी ऐतिहासिकता उनकी पतों में पूर्णतः दब गयी है।

पौराणिक काव्यों की भाँति वस्तुपालचरित जैनधर्म की गरिमा का वाहक है। प्रत्येक प्रस्ताव में धर्मदेशना की योजना करना इसी दृष्टिकोण का दयनीय परिणाम है। धर्मोपदेश की यह प्रवृत्ति पंचम प्रस्ताव में पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। इन देशनाओं के द्वारा कवियों को अपने प्रचारात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिये अबाध स्वतन्त्रता मिल जाती है। जिनहर्ष ने इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग किया है। जैनधर्म को सर्वोत्तम तथा अन्य मतों को हेय^१ बतलाने का आधार यही प्रचारवादी दृष्टिकोण है। इसी धार्मिक दुराग्रह के कारण नरवर्मा की सभा में उपस्थित अन्य मतानुयायियों की विचारधारा अस्वीकार कर दी जाती है। वस्तुपालचरित में, पुराणों की भाँति, पूर्व-भवों का वर्णन किया गया है। पाँचवें प्रस्ताव में गणधर, सुर की अकारण हर्षानुभूति की व्याख्या उसके पूर्व-जन्म के वर्णन के द्वारा करते हैं। शत्रुजय, रैवतक आदि धार्मिक स्थानों, तीर्थयात्राओं तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का वर्णन भी ठेठ पौराणिक शैली में हुआ है। वस्तुतः काव्य का अधिकांश तीर्थ-

२. (अ) प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनम् । वस्तुपालचरित, ४.५०३

(आ) अथ मिथ्यादृशः क्रूरस्वान्ताः शंखतपोधनाः । वही, ८.४८

माहात्म्यों, चैत्यनिर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार आदि के अविराम वर्णनों से आच्छन्न है। काव्य में अलौकिक घटनाओं की प्रचुरता है। जिनहर्ष के पात्र मन्त्र-बल से आकाश में विहार करते हैं। दिव्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिये देवताओं की आराधना की जाती है। अलौकिक शक्तियाँ स्वप्न में प्रकट होकर पात्रों का मार्ग-दर्शन करती हैं। पुराणों की तरह वस्तुपालचरित में अतीत तथा वर्तमान की घटनाओं को भविष्यत् काल के द्वारा वर्णित किया गया है; अपने मन्त्रव्य के समर्थन में आगमों से उद्धरण दिये गये हैं तथा 'मदन उवाच', 'अत्र श्लोकसंग्रहः', 'यतः' आदि गद्यांशों को नवीन वक्तव्य प्रारम्भ करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। वस्तुपालचरित की समूची प्रकृति पौराणिक काव्यों के समान है। ऐतिहासिक इतिवृत्त के कारण केवल सौकर्यवश इसका विवेचन यहाँ ऐतिहासिक महाकाव्यों के अन्तर्गत किया जा रहा है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

वस्तुपालचरित के अन्त में जिनहर्ष ने, काव्य-प्रशस्ति में, अपनी गुरु-परम्परा तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी दी है। तपागच्छ के प्रवर्तक जगच्चन्द्र के पट्टधर देवेन्द्र गुरु थे। उनके देशना-समाज का सभापतित्व स्वयं गृहमात्य वस्तुपाल किया करते थे। उनकी समृद्ध शिष्य-परम्परा में सोमसुन्दर का नाम उल्लेखनीय है। उत्कृष्ट गुणों के कारण उनकी तुलना गणधर सुधर्मा से की जाती थी।^१ उनके दो शिष्यों ने विशेष ख्याति अर्जित की। मुनि सुन्दरसूर अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के फलस्वरूप बृहस्पति नाम से ख्यात हुए। उनके दूसरे शिष्य जयचन्द्र-सूर वस्तुपालचरित के कर्ता जिनहर्ष के गुरु थे। प्रस्तुत काव्य की रचना जिनहर्ष ने चित्रकूटपुर (चित्तौड़) के जिनेश्वर मन्दिर में, सम्वत् १४६७ (सन् १४४०) में की थी।

विष्णुमार्कान्दिये वर्षे विश्वनन्दार्धसंख्यया ।

चित्रकूटपुरे पुण्ये श्रीजिनेश्वरसन्नि ॥^२

वस्तुपालचरित में उसने अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती अनेक कवियों के संकड़ों पद्यों का समावेश किया है (८.६७४)। काव्य का प्रथम आदर्श जिनहर्ष के सुवी शिष्य सोमनन्दिगणि ने लिखा था।

सोमनन्दिगणीशिष्यो विनयी विदुराग्रणीः ।

गुरुभक्त्या लिखेत्स्य वृत्तस्य प्रथमां प्रतिम् ॥^३

वस्तुपालचरित के अतिरिक्त उनकी रत्नशेखरकथा (चित्तौड़ में रचित),

३. वस्तुपालचरित, प्रशस्ति, ८

४. वही, ११

५. वस्तुपालचरित, ८।६७४ (अ)

विंशति-स्थानक-विचारामृत (सम्बत् १५०२), प्रतिक्रमणविधि (सम्बत् १५२५) तथा आरामशोभाचरित्र अन्य रचनाएँ हैं।

कथानक

वस्तुपालचरित आठ प्रस्तावों की बृहत्काय काव्यरचना है। प्रथम प्रस्ताव में महामन्त्री वस्तुपाल-तेजःपाल के पूर्वजों, वीरधवल के पूर्ववर्ती शासकों, वीरधवल तथा वस्तुपाल के मिलन और वस्तुपाल-तेजःपाल को महामात्य पद पर नियुक्त करने का वर्णन है। वस्तुपाल इस शर्त पर यह पद स्वीकार करता है कि राज्य का संचालन न्यायपूर्ण रीति से किया जाए। द्वितीय प्रस्ताव में वीरधवल के युद्धों तथा वस्तुपाल के धार्मिक कृत्यों का निरूपण किया गया है। वस्तुपाल प्रजारंजन को शासक का लक्ष्य मानकर राजकाज में प्रवृत्त होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह राज-कोश को सम्पन्न बनाता है, सेना को सुगठित करता है और वीरधवल को दुष्टों को दण्डित करने के लिये प्रेरित करता है। वीरधवल वर्धमानपुर के शासक को युद्ध में परास्त कर अपना करद बनाता है तथा धनस्थली के शासकों—सांगण और चामुण्ड—को मारकर विजय प्राप्त करता है। मरुदेश के तीन पराक्रमी राजकुमार, अपने अग्रज के दुर्व्यवहार से तंग होकर, भद्रेश्वरनरेश प्रतिहारवंशीय भीमसिंह की शरण लेते हैं। वीरधवल उसपर भी आक्रमण करता है किन्तु रणकुशल राजकुमार सामन्तपाल के प्रहार से वह युद्धभूमि में घोड़े से गिर पड़ता है। वस्तुपाल अपनी नीति से उन राज-कुमारों को अपने पक्ष में मिला लेता है जिससे वह भीमसिंह का उच्छेद करने में सफल होता है। प्रस्ताव के शेषांश में वस्तुपाल के धार्मिक कार्यों की विस्तृत तालिका दी गयी है। तृतीय प्रस्ताव में गोघ्नानरेश की पराजय तथा तेजःपाल के लोकोपकारी कार्यों का वर्णन है। गोघ्ना का शासक वीरधवल की प्रभुता स्वीकार नहीं करता जिससे क्रुद्ध होकर वह तेजःपाल को उसे बन्दी बनाने का आदेश देता है। तेजःपाल उसे पिंजड़े में डालकर, अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ, अपने स्वामी को भेंट करता है। इस अपमान को सहन न कर सकने के कारण गोघ्नानरेश आत्महत्या कर लेता है। प्रस्ताव का शेष भाग तेजःपाल द्वारा किये धर्मोद्धार के कार्यों के विस्तृत वर्णन से भरा पड़ा है। चतुर्थ प्रस्ताव में वस्तुपाल को खम्भात का राज्यपाल नियुक्त किया जाता है। वहाँ वह भ्रष्ट समुद्री व्यापारी सादीक तथा उसके पक्षधर शंख को दण्डित करता है। पाँचवें प्रस्ताव में धर्मदेशनाओं तथा तीर्थयात्राओं की भरमार है। छठे प्रस्ताव में महाभारतों की तीर्थयात्राओं का ८०१ पद्यों में अतीव विस्तृत तथा नीरस वर्णन है। सातवें प्रस्ताव में दिल्लीपति मोजदीन के आक्रमण की सूचना पाकर वस्तुपाल, आबूनरेश धारावर्ष की सहायता से, यवनसेना को दुर्गम घाटियों में घेर लेता है। सामूहिक प्रहार से स्लेच्छ सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है। मुसलमान

तोबा-तोबा करने लगते हैं। वस्तुपाल मोजदीन के मित्र पूर्णसिंह को राजधानी में बुलाकर उसे सम्मानित करता है तथा उसके साथ तीर्थयात्रा करता है। तेजःपाल संघसहित भृगुकच्छ की यात्रा पर जाता है। मोजदीन की माता हज के लिये जाती हुई खम्भात आयी। वस्तुपाल की शह से उसके अनुचर उसे लूट लेते हैं। उसके शिकायत करने पर वस्तुपाल उसका सारा घन वापिस करवा देता है तथा उसका माता के समान सत्कार करता है। वह महामात्य के व्यवहार से इतनी प्रसन्न हुई कि वापिस जाते समय वह उसे अपने साथ दिल्ली ले गयी। मोजदीन ने वस्तुपाल का भव्य स्वागत किया। आठवें प्रस्ताव में अर्बुदगिरि का माहात्म्य सुनकर वस्तुपाल उसके शिखर पर नेमिनाथ का मन्दिर बनवाता है। पिता वीरधवल द्वारा निर्वासित करने पर वीरम ने अपने स्वसुर, जाबालिदुर्ग के स्वामी उदयसिंह की शरण ली किन्तु उसकी दुर्नीति से तंग होकर उदयसिंह ने उसकी हत्या करवा दी। वीरधवल के पश्चात् उसका पुत्र विश्वल सिंहासन पर बैठा। वस्तुपाल अपने अनुज तथा पुत्र को प्रशासन का भार सौंप कर शत्रुंजय की यात्रा के लिये गया पर मार्ग में, कापालिक ग्राम में, उसका निधन हो गया। तेजःपाल ने शत्रुंजय पर उसकी अन्त्येष्टि की और उसकी स्मृति में स्वर्गरोह नामक चैत्य बनवाया। तेजःपाल शंखेश्वर की यात्रा के मार्ग में दिवंगत हो गया।

धर्मोपदेशों, माहात्म्यों, चैत्यनिर्माण आदि धार्मिक अनुष्ठानों के गोरखध्वंसे से निकाल कर वस्तुपालचरित का मूलभूत कथानक यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि काव्य में मूल कथानक इतना स्पष्ट तथा सुसम्बद्ध है। वस्तुतः जैसा ऊपर-ऊपर कहा गया है, काव्य की कथावस्तु विषयान्तरों की भारी पतों में दबी पड़ी है और उसका पुनर्निर्माण करना अतीव कष्टसाध्य कार्य है। जिनहर्ष का कथानक अस्तव्यस्त तथा विश्रुंखलित है। विषयान्तरों ने कथानक को नष्ट कर दिया है। वस्तुपाल का कर्त्ता पाठक से जिस धैर्य की आकांक्षा करता है, वह आधुनिक पाठक में नहीं है। वास्तव में कवि का ध्यान कथानक के विनियोग की ओर नहीं है। वह धर्मानुष्ठानों के वर्णनों में आकण्ठ डूबा हुआ है।

धर्म तथा दर्शन

जिनहर्ष का मुख्य (वस्तुतः एकमात्र) लक्ष्य काव्य के द्वारा आर्हत धर्म की प्रभावना करना है। इस तथाकथित ऐतिहासिक काव्य में धर्मोपदेशों की अबाध योजना करना कवि की प्रचारवादी वृत्ति का स्रोतक है। इन धर्म देशनाओं में कहीं-कहीं जैन धर्म तथा दर्शन के कुछ तत्त्वों का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से पंचम प्रस्ताव विशेष उल्लेखनीय है। इसमें कवि का दार्शनिक स्वर अधिक मुखर है।

जिनहर्ष के अनुसार आर्हत धर्म मुख्यतः सम्यक्त्व, दया, शील तथा तप के चार स्तम्भों पर आधारित है। सद्दर्शन इस धर्मतरु का मूल है। शंका आदि दोषों से मुक्त मानस में देव, गुरु तथा विशुद्ध धर्मविधि के प्रति जो अंतरंग रुचि उदित होती है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व पाँच प्रकार का है—औपशमिक, सास्वादन, तार्त्तीयिक, वेदक तथा क्षायिक। औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—जीवाजित-ग्रन्थिभेद तथा महोपशम। ग्रन्थिभेद, ज्ञानदृष्टि से प्राणियों की परम स्थिति है। जीव के रागद्वेष के परिपाक को ग्रन्थि कहते हैं। काठ की भाँति वह दुर्बल तथा दुश्छेद्य है। ग्रन्थि का भेदन होने से जो क्षणिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे औपशमिक कहा जाता है। यह नैसर्गिक औपशमिक है। ग्रन्थिभेद यदि गुरु के उपदेश से हो, वह आधिगमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जीव का मोह शान्त होने से द्वितीय औपशमिक की उत्पत्ति होती है। सम्यक्त्व का उत्कृष्ट परिणाम जब एक-साथ जघन्य षडबलि को धारण करता है, वह सास्वादन सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व तथा क्षय के उपशम से जो सम्यक्त्व पुद्गलोदय के वेत्ता जीव में उत्पन्न होता है, उसे तार्त्तीयिक कहते हैं। जीव जिस क्षीणप्रायः चरमांशक सम्यक्त्व को जानता है, वह वेदक है। पूर्व युक्ति से सप्तक के क्षीण होने पर क्षायिक संज्ञक पाँचवाँ सम्यक्त्व है। यह पंचविध सम्यक्त्व गुणों के आधार पर तीन प्रकार का है—रोचक, दीपक तथा कारक। दृष्टान्त आदि के बिना ही जो तीव्र श्रद्धा होती है, वह रोचक सम्यक्त्व है। दूसरों के लिये प्रकाश करने के कारण वह दीपक कहलाता है। पंचाचार क्रिया के अनुष्ठान के कारण उसे कारक कहते हैं^६।

जैन धर्म दो प्रकार का माना गया है—यतिधर्म तथा श्रावकधर्म। जिनोदित यतिधर्म के दस तत्त्व हैं—अमा, अक्रोध, मार्दव, आर्जव, मानमर्दन, छलत्याग, निर्लोभ, बारह प्रकार का तप तथा दस प्रकार का संयम। श्रावकधर्म में बारह व्रतों का पालन करने का विधान है।^७

दान

वस्तुपालचरित में दान की महिमा का रोचक निरूपण किया गया है। ऋषिभिः सर्वज्ञ-धर्म में दान सर्वोपरि है। वह तीन प्रकार का है। समस्त सम्पदाओं का कारणभूत तथा तत्त्वातत्त्व का विवेचक ज्ञानदान सर्वोत्तम है। अभयदान जनप्रिय तथा लोकोपयोगी है। अभयदान से आरोग्य, आयु, सुख, सौभाग्य की प्राप्ति होती है। दया के बिना धर्मकार्य व्यर्थ है। आहारादि दान की अपेक्षा दयादान अधिक महत्त्वपूर्ण है। समस्त दानों का फल कुछ समय के बाद क्षीण हो जाता है किन्तु दयादान

६. वही, ५.२०-४५

७. वही, ५.२५६-२६१

के फल का कभी क्षय नहीं होता । धर्मोपष्टम्भदान शय्या, चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्रादि भेद से नाना प्रकार का होता है । पात्र सात प्रकार का माना गया है—
जैन बिम्ब, भवन, पुस्तकसंचय तथा चतुर्विध संघ ।

रसयोजना

वस्तुपालचरित में काव्यसौन्दर्य को वृद्धिगत करने वाले रसाद्रं प्रसंग बहुत कम हैं । सम्भवतः जिनहर्ष का असेघटित कथानक इसके लिये अधिक अवसर प्रदान नहीं करता । काव्य में एक-दो स्थलों पर प्रसंगवश, वीर तथा करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है । यह भी 'ग्रामं गच्छन् तूणं स्पृशति' वाली बात है । वीर रस को, पौराणिकता से भरपूर इस रचना का मुख्य रस मानना तो काव्य का उपहास होगा किन्तु पल्लवित रसों में इसकी प्रधानता है, यह मानने में आपत्ति नहीं हो सकती ! द्वितीय, चतुर्थ तथा सप्तम प्रस्तावों में, युद्ध वर्णन के प्रसंगों में, वीर रस की छटा वृष्टिगत होती है पर इसका सफल परिपाक केवल तृतीय प्रस्ताव के अन्त, वर्ती तेजःपाल तथा गोधानरेश के युद्ध के निरूपण में हुआ है । मन्त्रिराज तेजःपाल, योद्धाओं के देखते-देखते, गोध्रा के राजा को क्रीचबन्ध में बांध कर काठ के पिण्डों में बन्द कर देता है ।

अथ दिव्यवलोल्लासालीलया मन्त्रिपुंगवः ।

अपातयत्क्षणादेव तमश्वाद्भिश्चकष्टकम् ॥ ३.३३०

भुजोपपीडमापीड्य तं ततः पापपूरितम्

क्रीचबन्धं बद्ध्वासौ जवेन सचिवाग्रणीः ॥ ३.३३२

तं पश्यत्सु भयभ्रान्तसुभटेष्वखिलेत्वपि ।

शार्दूलमिव चिक्षेप जीवन्तं काष्ठपंजरे ॥ ३.३३३

वस्तुपाल के स्वर्गारोहण से उत्पन्न दुःख के चित्रण में करुणरस की मार्मिक व्यंजना हुई है । वस्तुपाल का पुत्र, जैत्रसिंह, उसके आश्रित कवि तथा चालुक्य-नरेश सभी इस वज्रपात से स्तब्ध रह जाते हैं ।

शुष्कः कल्पतरुर्मदाङ्गणगतश्चिन्तामणिश्चाजरत्

क्षीणा कामगवी च कामकलशो भग्नो हहा देवत ।

किं कुर्मः किमुपालभेमहि किमु ध्यायामः कं वा स्तुमः

कस्याप्ये स्वमुखं स्वदुःखमलिनं संदर्शयामोऽधुना ॥ ८.५७८

स्वर्गस्थ वस्तुपाल यहाँ आलम्बन विभाव है । उसके उपकारों तथा दानशूरता आदि की स्मृति उद्दीपन विभाव है । कवियों का स्वयं को असहाय तथा किकर्तव्य-विमूढ़ अनुभव करना और विधि को उपालम्भ देना अनुभाव हैं । ग्लानि, स्मृति आदि संचारी भाव हैं । इनसे समर्थित होकर कवियों के हृद्गत स्थायी भाव शोक की परिणति करुण रस में हुई है ।

चरित्रचित्रण

काव्य में वस्तुपाल तथा तेजःपाल के चरित्र का ही कुछ पल्लवन हुआ है। इन दोनों का चरित्र भी इस प्रकार मिश्रित है कि उनका पृथक् पृथक् चित्रण करना सम्भव नहीं है। अतः यहाँ दोनों के व्यक्तित्व की विशेषताओं का एक-साथ निरूपण किया जा रहा है।

वस्तुपाल (तथा तेजःपाल) के समूचे चारित्रिक गुण निम्नांकित पद्य में समाहित हैं।

अन्वयेन विनयेन विद्यया विक्रमेण सुकृतक्रमेण च ।

क्वापि कोऽपि न पुमानुपति मे वस्तुपालसदृशो दृशोः पथि ॥ १.७

वे कुलीन, शिष्ट, विद्वान्, पराक्रमी तथा विनयसम्पन्न हैं। उनके सद्गुण दैनिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित हैं। प्रथम मिलन में ही वे वीरधवल को अपने आभिजात्य से प्रभावित करते हैं। वह उनके शिष्टाचार तथा कुलीन व्यक्तित्व की प्रशंसा इन शब्दों में करता है।

आकृतिर्गुणसमृद्धिसूचिनी नम्रता कुलविशुद्धिशंसिनी ।

वाक्कमः कथितशास्त्रसंक्रमः संयमश्च युवयोर्वयोऽधिकः ॥ १.२३४

वस्तुपाल तथा तेजःपाल का व्यक्तित्व मुख्यतः राजनीति तथा धर्म की भित्ति पर आधारित है। वे वीरधवल के नीतिकुशल तथा न्यायप्रिय मन्त्री हैं। वे उसका मन्त्रित्व तभी स्वीकार करते हैं जब वह उन्हें न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करने का आश्वासन देता है^१। यह उनकी राजनीतिक आदर्शवादिता का द्योतक है। महामात्यों की संहिता में राजव्यापार के पाँच फल हैं—सज्जनों का पोषण, दुष्टों का दमन, धन एवं धर्म की वृद्धि तथा लोकरंजन। प्रजापालन राजा का पुनीत कर्त्तव्य है। जो शासक प्रजा के कल्याण में तत्पर रहता है, उसे प्रजा के धर्म का षष्ठांश प्राप्त होता है किन्तु कर्त्तव्य से विमुख राजा को प्रजा के अधर्म का छठा भाग भोगना पड़ता है। उसके राज्य में धर्म तथा नीति का क्षय होता है तथा मात्स्यन्याय संसार को घस लेता है^२। वे इन उदात्त आदर्शों के अनुसार ही राजतन्त्र का संचालन करते हैं। समय-समय पर अधिकारियों से आयशुद्धि मांग कर वे प्रशासन से भ्रष्टता दूर करने का प्रयत्न करते हैं, राजकीय ऋणों को शीघ्र वापिस लेने की व्यवस्था करते हैं, राजकोश को सम्पन्न बनाते हैं तथा सेना को सुसंगठित कर विपक्षी राजाओं का उन्मूलन करते हैं।

वस्तुपाल-तेजःपाल रणबांकुरे वीर हैं। उनकी वीरता कूटनीति से परिचित है। भद्रेश्वरनरेश भीमसिंह, शंख तथा गोघ्नानरेश के विरुद्ध अभियानों में उनकी रणनीति तथा शूरवीरता का यथेष्ट परिचय मिलता है। दुर्द्धर्ष मोजदीन के आकस्मिक

६. वही, १.२५५

१०. वही, २.२१४, २२४, २२६

आक्रमण को रोक कर म्लेच्छसेना को विक्षत कर देना वस्तुपाल के कुशल संचालन का प्रतीक है। उनकी कूटनीति सदा सक्रिय रहती है। वीरधवल जिन भीमसिंह को युद्धक्षेत्र में पराजित न कर सका, वस्तुपाल उसे अपनी कूटनीति से परास्त कर देता है। दिलीपति मोजवीन को युद्ध में दण्डित करके पुनः उसका विश्वास तथा प्रेम प्राप्त कर लेना उसकी कूटनीति की अन्य सफलता है।

वस्तुपाल-तेजःपाल साहित्य-रसिक मन्त्री हैं। उनकी साहित्यिक चेतना प्रशंसन के मरुस्थल में लुप्त नहीं हुई है। वे विद्वानों तथा कवियों को प्रश्रय देकर एक ओर साहित्य का पोषण करते हैं, दूसरी ओर अपनी काव्यमर्मज्ञता का परिचय देते हैं। काव्य में जिन कवियों की सूक्तियों का संकलन हुआ है, उनमें से अधिकतर को उनका उदार आश्रय प्राप्त था। वस्तुपाल का विद्यामण्डल प्रसिद्ध है। वह स्वयं ख्यातिप्राप्त कवि था। सुमधुर पद्यों पर स्वर्णकोश लुटा देना उनकी काव्य-रसिकता का द्योतक है। इस दृष्टि से वे विक्रम, मुंज, भोज आदि साहित्यरसिक दानवीरों की स्मृति ताजा करते हैं।

श्रीकर्ण-विक्रम-दधीचि-मुंज-भोजाद्युर्वीश्वरा भुवनमण्डन वस्तुपाल ।

दानकवीरपुरुषा सममेव नीताः प्रत्यक्षतां कलियुगे भवता कवीनाम् ॥ ४.११५

महामात्य से बहुमूल्य उपहार पाकर विद्वानों का रूप इतना बदल जाता है कि उन्हें अपनी पत्नियों को भी विविध शपथों के द्वारा अपने व्यक्तित्व की वास्तविकता का विश्वास दिलाना पड़ता है^{११}। अपने साहित्य-प्रेम के स्मारक-स्वरूप पुस्तकालयों की स्थापना करके वे जनता में बौद्धिक चेतना जाग्रत करने में प्रशंसनीय योग देते हैं।

उनकी यह दानशीलता लोकोपयोगी कार्यों में भी प्रत्यक्ष है। अपने प्रजा-वात्सल्य तथा जनकल्याण की भावना को मूर्त रूप देने के लिये वे स्थान-स्थान पर प्रपाओं, धर्मशालाओं तथा कूपों का निर्माण करवाते हैं तथा सत्रागारों की व्यवस्था करते हैं।

वस्तुपाल-तेजःपाल के चरित्र की मुख्य विशेषता यह है कि वे आर्हुत धर्म के महान् प्रभावक हैं। इस दृष्टि से, जैन धर्म के इतिहास में, हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। कवि के शब्दों में उनका जन्म ही जैन धर्म के उत्थान के लिए हुआ है (७.३६१)। आबू का नेमिनाथ-मन्दिर वस्तुपाल की धर्म-निष्ठा का शाश्वत स्मारक है। काव्य में उनकी तीर्थ-यात्राओं, बिम्ब-प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार आदि धार्मिक अनुष्ठानों की विस्तृत तालिका दी गयी है।

इस प्रकार वस्तुपाल-तेजःपाल के चरित्र में साहित्यप्रेम, वीरता, दानशीलता, धर्म तथा राजनीति का अपूर्व समन्वय है।

भाषा

जिनहर्ष की भाषा उसके उद्देश्य के अनुरूप है। इस कोटि के साहित्य में जिस सर्वजनगम्य भाषा का प्रयोग उपयुक्त है, वस्तुपालचरित में आद्यन्त वही सरल-सुबोध भाषा दृष्टिगत होती है। काव्य में पात्रों के मनोगत भावों के चित्रण का अधिक अवकाश नहीं है, इसलिये इसकी भाषा में एकरूपता है। उसमें महाकाव्योचित वैविध्य का अभाव है। काव्य में संगृहीत पररचित पद्यों की भाषा का जिनहर्ष की पदावली से भिन्न होना स्वभाविक है। जिनहर्ष की अपनी भाषा बहुधा कान्तिहीन है। उसका एकमात्र गुण सरलता है। वस्तुपालचरित की सरल भाषा की सुगमता विशेष उल्लेखनीय है। नीतिसाहित्य के अतिरिक्त साहित्य के नीतिपरक अंश समाज के सभी वर्गों की सम्पत्ति हैं। उसकी हृदयंगमता का आधार उसकी सुबोधता है। वस्तुपालचरित के नीति-प्रसंग, भाषा की सरलता के कारण पढ़ते ही हृदय में अंकित हो जाते हैं।

यथा नेत्रं विना वक्त्रं विना स्तम्भं यथा गृहम् ।

न राजते तथा राज्यं कदाचिन्मन्त्रिणं विना ॥ १.२.७

अदत्तिभयमंत्यानां मध्यानां मरणाद् भयम् ।

उत्तमानां च मत्यानामपमानात्परं भयम् ॥ २.३.८४

अनुचितकर्मारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा ।

प्रमदाजनविश्वासो मृत्युद्वाराणि चत्वारि ॥ २.५.१६

शीलसम्यक्त्वमुक्तात्मा त्याज्यो गुरुरपि स्वकः ।

दण्डोऽहिना यथांगुष्ठो मलः स्वांगमवो यथा ॥ ६.१.७

जैन संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार वस्तुपालचरित में देशी शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं। यह मातृभाषा के कारण हो अथवा काव्य को सुबोध बनाने की आतुरता के कारण, यह प्रवृत्ति काम्य नहीं है। निस्सान, बीटक, बलानक, तोबा आदि शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं। जिनहर्ष ने काव्य में यत्र-तत्र भावपूर्ण सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। अवीक्ष्य परसामर्थ्यं सर्वोऽपि खलु गर्जति (२.२.७७), नीचा एव नीचागुपासते (४.१.३५), नो निद्रा योगीन्द्राणां भवेत्स्वचित् (६.६.६), सन्तो नांचन्त्यनोचिताम् [७.१.११] आदि बहुत रोचक हैं।

अलंकारविधान

वस्तुपालचरित का प्रचार-पक्ष इतना प्रबल है कि उसने काव्य के अन्य सभी धर्मों को आच्छन्न कर लिया है। इसमें सामान्य अलंकारों का ही प्रयोग किया गया है। अलंकार-कौशल का प्रदर्शन कवि का ध्येय नहीं है। शब्दालंकारों में अनु-प्रास, श्लेष तथा यमक को स्थान मिला है। मूलनायक के स्नानोत्सव-वर्णन के इस पद्य में अनुप्रास की मनोरमता है।

अभिषेकतोयधारा धारैव ध्यानमण्डलाग्रस्य ।

भवभवनभित्तिभागान् भूयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥ ६.३३१

प्रस्तुत पंक्तियों में योगिनीपुर [दिल्ली] के वासियों का चित्रण श्लेष पर आधारित है ।

नवीनाः पुण्यलावण्यगभीरा धीवरप्रियाः ।

समुद्राः पुरुषाः सर्वे जनकान्नसंपदः ॥ ७.४

तेजःपाल द्वारा अश्वबोधतीर्थ में निमित्त पुष्पवाटिका का वर्णन कवि ने पाद-यमक से इस प्रकार किया है ।

पुराव् बहिरसौ पुष्पवनं तालतमालवत् ।

चक्रे जिनाचनविद्यावनंतालतमालवत् ॥ ४.६५६

धरणीतिलक के श्रेष्ठी के पुत्रजन्म के दुष्प्रभाव का प्रतिपादन करने में उपमा का आश्रय लिया गया है । उसके जन्म से सम्पत्तियां कुलटाओं की तरह तत्क्षण नष्ट हो गयीं ।

क्रमेण सम्पदो नेघुः कुलटा इव तत्क्षणात् । ३.८८

महामात्य वस्तुपाल का तत्त्वचिन्तन कवि ने रूपक के द्वारा अभिव्यक्त किया है । विषय तथा संसार पर क्रमशः मांस तथा श्वान का आरोप करने से यहाँ रूपक अलंकार है ।

विषयामिषमुत्सृज्य वण्डमादाय ये स्थिताः ।

संसारसारमेयोऽसौ बिभ्यत्तेभ्यः पलायते ॥ २.२०३

निम्नांकित पद्य में पूर्व के सामान्य कथन की पुष्टि उत्तरार्द्ध की विशेष उक्ति से की गयी है । यह अर्थान्तरन्यास है ।

कलावतां नृणां संपज्जायते हि पदे पदे ।

समुद्रान्निर्गतश्चन्द्रः सम्भूमौलिमशिथियत् ॥ २.४१८

वस्तुपालचरित में उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, विशेषोक्ति, परिसंख्या, विरोध, सहोक्ति आदि भी अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं ।

छन्द-योजना

छन्दों के प्रयोग में जिनहर्ष ने शास्त्रीय विधान का स्पष्ट उल्लंघन किया है । वस्तुपालचरित संस्कृत के उन इने-गिने काव्यों में है, जिनमें प्रत्येक सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है । इसके आठों प्रस्तावों में अनुष्टुप् की प्रधानता है, जो कवि के उद्देश्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है । किन्तु जिनहर्ष ने बीच-बीच में अनेक छन्द डालकर पाठक के मार्ग में अनावश्यक विघ्न पैदा किया है । प्रथम प्रस्ताव में जो बारह छन्द प्रयुक्त हुए हैं, अनुष्टुप् के अतिरिक्त वे इस प्रकार हैं—शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, उपजाति, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, शिखरिणी, रथोद्धता, शालिनी, वंश-

स्थ, वियोगिनी, मालिनी, तथा उपजाति (इन्द्रवंशा + वंशस्थ) । द्वितीय तथा तृतीय प्रस्ताव में नौ-नौ छन्द रचना के माध्यम बने हैं । द्वितीय प्रस्ताव के छन्दों के नाम हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, पृथ्वी, मालिनी, स्रग्धरा, स्वागता, वसन्ततिलका । द्वितीय प्रस्ताव के शिखरिणी, पृथ्वी तथा मालिनी का स्थान तृतीय प्रस्ताव में आर्या, वंशस्थ तथा इन्द्रवज्रा ने ले लिया है । शेष छन्द दोनों में समान हैं । चतुर्थ प्रस्ताव में अनुष्टुप्, वियोगिनी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, उपजाति, आर्या, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा तथा हरिणी, इन दस छन्दों को अपनाया गया है । पाँचवाँ प्रस्ताव ग्यारह छन्दों में तिबद्ध है । इसमें पूर्व-प्रयुक्त छन्दों से कोई नया छन्द दृष्टिगत नहीं होता । छठे प्रस्ताव में सबसे अधिक, अठारह, छन्द प्रयुक्त हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वसन्त-तिलका, मन्दाक्रान्ता, स्वागता, इन्द्रवंशा, स्रग्धरा, पृथ्वी, आर्या, शिखरिणी, रथोद्धता, उपजाति (इन्द्रवंशा + वंशस्थ + इन्द्रवज्रा) । तीन छन्दों (३१६, ६६०, ६६४ अ) के नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं । सातवें प्रस्ताव में जिन नौ छन्दों का प्रयोग किया गया है, वे अनुष्टुप् के अतिरिक्त ये हैं—शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, वसन्त-तिलका, स्वागता, इन्द्रवज्रा तथा मालिनी । अष्टम प्रस्ताव में अनुष्टुप्, शार्दूल-विक्रीडित, उपजाति, आर्या, द्रुतविलम्बित, मालिनी, स्रग्धरा, वसन्ततिलका, रथोद्धता और इन्द्रवज्रा छन्द प्रयुक्त हैं । वस्तुपालचरित की रचना में सब मिला कर चौबीस छन्दों का प्रयोग किया गया है ।

वस्तुपालचरित का इतिहास-पक्ष

वस्तुपालचरित का काव्यगत मूल्य भले ही अधिक न हो, इसमें काव्यनायक से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक सामग्री समाहित है । बहुमुखी उपलब्धियों तथा दुर्लभ मानवीय गुणों के कारण महामात्य वस्तुपाल का व्यक्तित्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास के मंच पर सबसे अलग दिखाई देता है । अनेक समवर्ती तथा परवर्ती कवियों ने उसकी प्रशासनिक निपुणता, काव्य-रसिकता, असीम उदारता तथा रण-कौशल का गौरवगान किया है । वस्तुपालचरित की रचना में इन समूची पूर्ववर्ती कृतियों का उपयोग किया गया है (८.६७४), जिसके फलस्वरूप इसका ऐतिहासिक अंश स्पष्ट तथा प्रमाणपुष्ट है ।

वस्तुपाल अणहिलवाड़ के घनाढ्य प्राग्वाट-वंश का भूषण था । काव्य में उल्लिखित उसका आदि पूर्वज, चण्डप, चौलुक्यनरेश का मन्त्री था । उसके पुत्र चण्डप्रसाद का हाथ राजमुद्रा से कभी खाली नहीं रहता था । रत्नों के पारखी, उसके पुत्र सोम को, सिद्धराज जयसिंह ने अपना रत्नाध्यक्ष नियुक्त किया था । वस्तुपाल का पिता अश्वराज इसी सोम का पुत्र था । अपने पूर्वजों की भाँति अश्वराज भी चौलुक्यनरेश का मन्त्री था । वस्तुपाल की माता कुमारदेवी, प्राग्वाटवंशीय वणिक्,

दण्डपति आभू की पुत्री थी^{१३}। इस प्रकार वस्तुपाल के कुल का चौलुक्यशासकों से पुराता सम्बन्ध था। जिनहर्ष के इस विवरण की कीर्तिकौमुदी से अक्षरशः पुष्टि होती है^{१४}।

अणहिलवाड़ के प्रथम शासक (चापोत्कट-चावड़ा) कुल के नरेशों की वंशावली भी प्रथम प्रस्ताव में उपलब्ध है, जिसके अन्तर्गत वनराज से लेकर सामन्त-सिंह तक सात शासकों का सामान्य वर्णन है। काव्य के अनुसार वनराज ने वि० सम्बत् ८०२ में अणहिलवाड़ की स्थापना की थी। उसने साठ वर्ष तक शासन किया^{१५}। अरिसिंहकृत सुकृत-संकीर्तन में दी गयी वंशावली तथा उपर्युक्त अनुक्रम में पर्याप्त भिन्नता है। यद्यपि सुकृतसंकीर्तन वस्तुपाल की समकालीन रचना है, पर उसकी वंशावली अधिक विश्वसनीय है, यह कहना सम्भव नहीं क्योंकि चावड़ावंश के नरेशों के शासन का अनुक्रम अभी तक निश्चित नहीं है^{१६}।

चावड़ावंश के अन्तिम शासक सामन्तसिंह की बहिन लीलादेवी कान्यकुब्जे-श्वर राज से विवाहित थी। उनके पुत्र मूलराज से चौलुक्यवंश का प्रवर्तन होता है। मूलराज ने अणहिलवाड़ के सिंहासन पर कैसे अधिकार किया, इसका उल्लेख काव्य में नहीं है। चौलुक्यनरेशों की, काव्य में दी गयी वंशावली प्रायः शुद्ध है। भीमराज तथा अर्णोराज के मध्यवर्ती शासकों को, सम्भवतः महत्त्वहीन समझ कर छोड़ दिया गया है। प्रतीत होता है कवि ने इस वंशावली का निर्धारण करने में पूर्ववर्ती समस्त साधनों का उपयोग किया था। इसलिये यह अशुद्धियों से मुक्त है।

वस्तुपालचरित के अनुसार वीरधवल ने राजपुरोहित सोमेश्वर से वस्तुपाल तथा तेजपाल का परिचय पाकर उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया था^{१७}। कीर्तिकौमुदी, वसन्तविलास, प्रबन्धचिन्तामणि तथा प्रबन्धकोश में भी ऐसा वर्णन है, किन्तु वस्तुपाल के स्वरचित नरनारायणानन्द से ज्ञात होता है कि वह पहले भीमराज द्वितीय की सेना में था। धौलका-नरेश वीरधवल को उसकी सेवाएँ कालान्तर में प्राप्त हुई थीं। धौलका के राजदरबार में वस्तुपाल की महामात्य पद पर नियुक्ति १२२० ई० में की गयी थी^{१८}।

१२. वही, १.२२-६५.

१३. कीर्तिकौमुदी, ३.६-२२

१४. वस्तुपालचरित, १.१५८-१६१

१५. भोगीलाल सांडेसरा : लिट्टेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ६५ तथा

इसी पृष्ठ पर पा० टि० १

१६. वस्तुपालचरित, १.२३१-४२

१७. लिट्टेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल (पूर्वोक्त), पृ० २८

द्वितीय तथा तृतीय प्रस्ताव में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ सच्ची हैं। प्रबन्ध-कोश से पता चलता है कि वीरधवल ने वनस्थली के शासकों को पराजित किया था। भद्रेश्वरनरेश भीमसिंह को समरांगण में परास्त करने में असफल होकर वीरधवल के द्वारा उसके साथ सन्धि करने का उल्लेख भी प्रबन्धकोश में हुआ है। मरुस्थल के राजकुमारों को अपने पक्ष में मिला कर भीमसिंह को जीतने की घटना के सत्यासत्य का परीक्षण करने का कोई साधन नहीं है। तेजपाल द्वारा गोघ्नानरेश घूघुल को युद्ध में बन्दी बनाने तथा पिंजड़े में डालकर चौलुक्यनरेश के सामने लाने तथा अपमान न सह सकने के कारण घूघुल द्वारा आत्महत्या करने की पुष्टि भी प्रबन्धकोश से होती है^{१८}।

कीर्तिकामुदी, प्रबन्धकोश, पुरातन-प्रबन्धसंग्रह आदि ग्रन्थों से तुलना करने पर चतुर्थ प्रस्ताव में वर्णित प्रसंगों की प्रामाणिकता में संदेह नहीं रह जाता। वस्तुपाल-चरित की भाँति इनसे भी विदित होता है कि वस्तुपाल खम्भात का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। उसने अयोग्य, प्रमादी तथा घूसखोर अधिकारियों को दण्ड देकर प्रशासन में व्याप्त मात्स्यन्याय का उच्छेद किया तथा इसी निमित्त धनाढ्य समुद्री व्यापारी नादीक तथा उसके पक्षपोषक लाटनरेश शंख को दण्डित किया।

वीरधवल के शासनकाल में दिल्ली के सुल्तान ने गुजरात पर आक्रमण किया था किन्तु नीतिनिपुण वस्तुपाल की कूटनीति ने उसे विफल कर दिया था, इस तथ्य के समर्थन के लिये प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। जैन कवि जयसिंहसूरि ने अपने 'हम्मिरमर्दन' नाटक में इस घटना को रूपायित किया है। काव्य के अनुसार वस्तुपाल ने आबू के परमार-शासक धारावर्ष के सहयोग से म्लेच्छ-सेना को आबूपर्वत की दुर्गम घाटी में घेर लिया। सामूहिक प्रहार से वह छिन्न-भिन्न हो गयी।^{१९} यही वर्णन प्रबन्धकोश में पढ़ा जा सकता है।^{२०} मोजदीन की पहचान विद्वानों ने सुल्तान इल्तमिश (१२११-१२३६ ई०) से की है। समकालीनता की दृष्टि से यह बहुत उपयुक्त है^{२१}।

वस्तुपालचरित तथा प्रबन्धकोश में इस बात पर भी मर्तव्य है कि हजयात्रा के लिये जाती हुई मोजदीन की माता को वस्तुपाल के अनुचरों ने, उसके ही भड़काने से, लूट लिया था किन्तु बाद में वस्तुपाल ने उसके साथ सद् व्यवहार किया था। उक्त स्रोतों से यह भी ज्ञात होता है कि वस्तुपाल के बर्ताव से वह इतनी प्रसन्न हुई

१८. प्रबन्धकोश: पृ० १०३, १०४, १०७

१९. वस्तुपालचरित, ७.३४

२०. प्रबन्धकोश, पृ० ११७

२१. लिट्टेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल (पूर्वोक्त), पृ० ३१, पा. टि. ४.

कि हज से लौटते समय वह उसे अपने साथ दिल्ली ले गयी। मोजदीन ने महामात्य का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। वस्तुपाल ने अपनी व्यवहारकुशलता से पूर्व-पराजित शत्रु को मित्र बना लिया। उसकी इस कूटनीति के कारण धौलका का राज्य एक शक्तिशाली शत्रु के आतंक से मुक्त हो गया^{२२}।

आठवें प्रस्ताव में वर्णित वीरम का वृत्त कवि की कल्पना से प्रसूत है। इतिहास वीरधवल के वीरम नामक पुत्र से अनभिज्ञ है। अतः वस्तुपाल के साथ उसके दुर्य्यवहार तथा अपने पिता के निधन के पश्चात् राज्य पर बलपूर्वक कब्जा करने के प्रयास की बात^{२३} मिथ्या है।

वस्तुपालचरित से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वीरधवल के अधिकारी वीसलदेव तथा वस्तुपाल में वैमनस्य पैदा हो गया था। काव्य में उल्लिखित कारण तथा वैमनस्य की घटनाएँ^{२४} (जैन साधु को दण्डित करना) तो अतिरंजित प्रतीत होती हैं, किन्तु इनसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि वस्तुपाल तथा नवीन शासक के बीच मनमुटाव हो गया था। शासन-परिवर्तन के साथ राजा तथा मन्त्री के सम्बन्धों में परिवर्तन होना आश्चर्यजनक नहीं है।

जिनहर्ष का कथन है कि अपने मामा की दुष्प्रेरणा से वीसलदेव ने तेजपाल को मन्त्रित्व से च्युत कर दिया था तथा उसके स्थान पर नागड़ को नियुक्त किया था^{२५}। अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि नागड़ को मन्त्रिपद तेजपाल के निधन के पश्चात् ही प्राप्त हुआ था^{२६}।

वस्तुपालचरित के अनुसार वस्तुपाल का देहान्त सम्वत् १२६८ में हुआ था^{२७}। महामात्य के समवर्ती बालचन्द्र ने यह घटना सं० १२६६ की मानी है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि एक-दो स्थलों को छोड़कर वस्तुपालचरित का ऐतिहासिक पक्ष प्रामाणिक तथा विश्वसनीय है।

काव्य की दृष्टि से वस्तुपालचरित का मूल्य नगण्य है किन्तु यह वस्तुपाल तथा गौणतः तेजपाल और चौलुक्यवंश के इतिहास का अत्यन्त उपयोगी स्रोत है। जिनहर्ष में समर्थ ऐतिहासिक बुद्धि है।

२२. वस्तुपालचरित, ७.२२१-२८, प्रबन्धकोश, पृ० ११६

२३. वही, द. ३७४-६१, तथा द. ४३०-४३१

२४. वही, द. ३२०, ३२२, ५२१

२५. वही, द. ४७८-४७९

२६. लिट्टेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ३४

२७. वस्तुपालचरित, द. ५३६

१६. सोमसौभाग्य : प्रतिष्ठासोम

प्रतिष्ठासोम का सोमसौभाग्य' द्विवेद्य युग का एक अन्य ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें, हमीरकाव्य अथवा कुमारपालचरित की भाँति, इतिहास के किसी पराक्रमी शासक के उत्थान-पतन या विजय-अभियानों की गाथा वर्णित नहीं है बल्कि इसके दस सर्गों में तपागच्छीय आचार्य सोमसुन्दरसूरि के धार्मिक जीवन का ललित शैली में निरूपण किया गया है। धर्माचार्य के वृत्त पर आधारित काव्य को ऐतिहासिक रचना मानने में आपत्ति हो सकती है, किन्तु इतिहास को वैभवशाली सम्राटों, युद्धों तथा कूटनीतिक उपलब्धियों तक सीमित रखना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। एक धर्मनिष्ठ संयमधन साधु भावी पीढ़ियों के लिये उतना ही मान्य तथा स्मरणीय है जितना एक दिग्विजयी सम्राट्। जैन धर्म के इतिहास में वैसे भी ये आचार्य सम्राट् की भाँति मान्य थे तथा उनकी आज्ञा राजशासन के समान अटल एवम् अनुलंघनीय थी। वास्तविकता तो यह है कि इस कोटि के काव्यों में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा अन्य अधिकांश तथाकथित ऐतिहासिक महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक तत्परता से की गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन काव्यों के प्रणेता राजाश्रयी चाटुकार कवि नहीं अपितु निस्पृह साधु हैं, जो तथ्य के यथावत् प्रतिपादन में ही अपनी भारती की सार्थकता मानते हैं। उन्हें धन, माा आदि सांसारिक प्रलोभनों की आकांक्षा नहीं है। अतः सम्बन्धित आचार्यों का जीवनवृत्त जानने के लिए ये कृतियाँ बहुत उपयोगी हैं।

सोमसौभाग्य का महाकाव्यत्व

जहाँ तक सोमसौभाग्य के महाकाव्यत्व का प्रश्न है, इसमें प्राचीन भारतीय आलंकारिकों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के प्रायः सभी स्थूल तत्त्वों का निष्ठापूर्वक पालन किया गया है। सोमसौभाग्य में महाकाव्य के लिये आवश्यक अष्टाधिक—दस—सर्ग हैं। इसका आरम्भ सात पद्यों के मंगलाचरण से हुआ है, जिनमें क्रमशः आदि-प्रभु, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, सरस्वती तथा विद्यागुरु की स्तुति है। इनमें कुछ पद्य आशीर्वादात्मक हैं, कुछ नमस्कारात्मक। काव्य का शीर्षक काव्य-नायक के नाम पर आधारित है। सर्गों के नाम उनमें प्रतिपादित विषयों के अनुरूप रखे गये हैं। प्रह्लादनपुर के ललित वर्णन से, महाकाव्य के आरम्भ में, सन्नगरीवर्णन की परम्परा का निर्वाह किया गया है। क्षेत्र के सीमित होते हुए भी सोमसौभाग्य में

१. जैन ज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई से गुजराती अनुवाद-सहित प्रकाशित, सन् १९०५

नगर, सरोवर, मानवसौन्दर्य, तीर्थयात्रा आदि के अभिराम वर्णन मिलते हैं। छन्दों के प्रयोग में भी प्रतिष्ठासोम ने शास्त्रीय विधान का पालन किया है।

महाकाव्य के स्वरूप-विधायक आन्तरिक तत्त्वों का प्रतिष्ठासोम ने इस तत्परता से पालन नहीं किया। सोमसौभाग्य का नायक वणिक्कुलोत्पन्न सोमसुन्दर हैं, जिन्हें उनकी संयमपूर्ण चर्या तथा वीतराग प्रकृति के कारण धीरप्रशान्त कोटि का नायक माना जायगा। यह पूर्णतया शास्त्र के अनुकूल नहीं है किन्तु देवों अथवा इतिहास-प्रसिद्ध प्रतापी राजाओं के अतिरिक्त चरित्रवान् कुलीन महापुरुषों को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करके जैन कवियों ने संस्कृत-महाकाव्य को यथार्थता का धरातल प्रदान किया है। धर्माचार्य के उदात्त जीवनवृत्त तथा उसकी धर्मप्रभावना से सम्बन्धित होने के कारण सोमसौभाग्य के कथानक को, शास्त्रीय शब्दावली में, 'सदाश्रित' माना जा सकता है। रस की दृष्टि से सोमसौभाग्य की स्थिति असंतोषजनक है। इसमें, मुख्य रस के रूप में, शास्त्रसम्मत किसी रस का पल्लवत नहीं हुआ है। शान्तरस का स्वर काव्य में यदा-कदा अवश्य सुनाई पड़ता है। वात्सल्यरस शान्त का पोषक है। चतुर्वर्ग में से धर्म को इसका उद्देश्य माना जा सकता है। धर्मोपदेशों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों का निरूपण करके आर्हत धर्म का प्रचार करना सोमसौभाग्य का मुख्य लक्ष्य है। इन स्थूलास्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त इसमें समसामयिक समाज का यत्किंचित् चित्रण भी दृष्टिगत होता है। इसकी भाषा सौष्ठव तथा माधुर्य से परिपूर्ण है। वास्तव में, धार्मिक व्यक्ति से सम्बन्धित काव्य को धर्मकथा बनने से बचाने का अधिकांश श्रेय इसकी सरस भाषा-शैली को है। सोमसौभाग्य की भाषा आधुनिक रस के बहुत अनुकूल है। स्वयं कवि ने दसवें सर्ग की पुष्पिका में काव्य को 'सुललित' विशेषण से अभिहित किया है।

इस प्रकार सोमसौभाग्य में महाकाव्य के प्रायः सभी तत्त्व कमवेश विद्यमान हैं। किन्तु जहाँ जैन कवि धर्मकथाओं तथा चरितों को भी महाकाव्य घोषित करने में संकोच नहीं करते, वहाँ प्रतिष्ठासोम ने अपनी कृति को कहीं भी महाकाव्य नाम से अभिहित नहीं किया है। पुष्पिकाओं में तथा अन्यत्र इसे केवल 'काव्य' कह कर सन्तोष कर लिया गया है^१। क्या प्रतिष्ठासोम के महाकाव्य-सम्बन्धी कुछ अन्य मत-दण्ड थे ? अथवा उसने नञ्प्रतावश सोमसौभाग्य को काव्य की संज्ञा दी है ?

कवि तथा रचनाकाल

सोमसौभाग्य के अन्तिम पद्यों में इसके प्रणेता तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचना निहित है। प्रतिष्ठासोम काव्यनायक सोमसुन्दर के विनीत शिष्य

२. प्रज्ञाप्रकर्षरहितः स्वहिताय सोम-

सौभाग्यनाम सुभगं रचयामि काव्यम् ॥ सोमसौभाग्य, १.१०

थे । उन्होंने इस मनोरम तथा सुगम काव्य का प्रणयन सम्बत् १५२४ (सन् १४६७) में किया था ।

पारावारकरस्मरेषुहिमस्क्वर्षेतिहर्षाद् व्यधात्
विज्ञानां हृदयंगमं च सुगमं क्लृप्तैदिरासंगमम् ।

काव्यं नव्यमिदं विदम्भहृदयः शिष्यः प्रतिष्ठाविभः

सोमः श्रीयुतसोमसुन्दरगुरोर्मैरोर्गरिम्भः श्रिया ॥ १०.७३

कवि के शब्दों में यह काव्य दोषों से मुक्त है । यह कथन सामान्यतः सत्य माना जा सकता है । सोमसौभाग्य का संशोधन सुमतिसाधु ने किया था । ये वही सुमति-साधु हैं, जिनके जीवनवृत्त पर आधारित 'सुमतिसम्भव' काव्य की विवेचना इसी अध्याय में आगे की जाएगी ।

धीगुणप्रगुणरत्नसिधुता साधुता सुमतिसाधुनादरात् ।

नव्यकाव्यमिदमस्तवूषणं प्राप्तभूषणगणं च निर्ममे ॥ १०.७४

कथानक

सोमसौभाग्य दस सर्गों का महाकाव्य है । काव्य का आरम्भ प्रह्लादनपुर के ललित वर्णन से हुआ है, जिसकी स्थापना अर्बुदाचल के अधिपति प्रह्लादन ने की थी । प्रथम सर्ग के शेष भाग में वहाँ के धनाढ्य व्यापारी सज्जन तथा उसकी सुन्दरी पत्नी मातृहृणदेवी के गुणों तथा धार्मिक वृत्ति का वर्णन है । मातृहृणदेवी सज्जन को उसी प्रकार प्रिय थी जैसे चातक को पावस, हाथी को शल्लकी तथा मुमुक्षु को मुक्ति । द्वितीय सर्ग में सज्जन की पत्नी को स्वप्न में चन्द्रमा दिखाई देता है जो उसके चन्द्रतुल्य पुत्र के भावी जन्म का सूचक था । सम्बत् १४३० में मातृहृणदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया । पिता ने उसके रूप के अनुरूप उसका सार्थक नाम सोम रखा । पाँच वर्ष की अवस्था में, लेखशाला में प्रविष्ट होकर उसने शीघ्र ही विविध शास्त्रों के सागर को पार कर लिया । तृतीय सर्ग में महावीर प्रभु, उनके कतिपय गणधरों तथा जैन धर्म के अन्य महापुरुषों के सरसरे वर्णन के पश्चात् जगच्चन्द्र से जयानन्द तक तपागच्छ के पूर्वाचार्यों की परम्परा का निरूपण है । चन्द्रगच्छीय आचार्य सर्व-देव ने आबू पर्वत की उपत्यका में, वटवृक्ष की सघन छाया में, आठ महाबुद्धि श्रमणों को सूरि पद पर प्रतिष्ठित किया जिससे चन्द्रगच्छ का नाम वटगच्छ अथवा बृहद्गण पड़ा । इसी गच्छ के जगच्चन्द्रसूरि के द्वादशवर्षीय कठोर तप के कारण उनका गण तपागच्छ नाम से प्रख्यात हुआ । चतुर्थ सर्ग में सोम अपनी बहिन के साथ, मातृ वर्ष की अल्पावस्था में, सम्बत् १४३७ में, आचार्य जयानन्द से दीक्षा ग्रहण करता है । पंचम सर्ग में जयानन्द के निधन के पश्चात् देवसुन्दर के गच्छनायक बनने, ज्ञान-सागरसूरि द्वारा सोमसुन्दर की विधिवत् शिक्षा तथा उसके (सोमसुन्दर के) क्रमशः गणी, वाचक तथा सूरिपद पर प्रतिष्ठित होने का वर्णन है । वे सम्बत् १४५० में,

बीस वर्ष अल्पावस्था में, वाचक पद पर आसीन हुए। सात वर्ष पश्चात्, सम्बत् १४५७ में, इभ्य नरसिंह के अनुरोध से देवसुन्दर उन्हें अणहिल्लपत्तन में सूरिमन्त्र प्रदान करते हैं। छठे सर्ग में, देवसुन्दर के स्वर्गारोहण के बाद सोमसुन्दर गच्छ के नेतृत्व का भार संभालते हैं और एक अनाम नगर में महेभ्य देवराज की अभ्यर्थना पर, अपने विद्वान् शिष्य वाचक मुनिसुन्दर को सूरिपद पर अभिषिक्त करते हैं। मुनिसुन्दर तर्कपूर्ण संस्कृत भाषा के मेधावी वक्ता तथा आशुकवि थे। उनके काव्य की गंगा कलिकाल के कलुष का प्रक्षालन करती थी तथा उनके स्तवन आचार्य सिद्धसेन की कृतियों का स्मरण कराते थे! श्रेष्ठी देवराज ने नवाभिषिक्त आचार्य के साथ शत्रुंजय तथा रैवतक तीर्थों की यात्रा की। सातवें सर्ग में ईडरनरेश रणमल्ल के पुत्र पुंज का कृपापात्र यथार्थनामा गोविन्द तारणगिरि पर कुमारपाल द्वारा निर्मित विहार का जीर्णोद्धार करवाता है। गच्छनायक सोमसुन्दर उसकी प्रार्थना से जयचन्द्र वाचक को सूरिपद प्रदान करते हैं। जयचन्द्र की पदप्रतिष्ठा के पश्चात् गोविन्द ने संघसहित शत्रुंजय, रैवतक तथा सोपारक तीर्थों की यात्रा की। उनके अधिष्ठाता देवों, आदिनाथ तथा नेमिप्रभु की वन्दना करके उसे भवसागर गोष्पद के समान प्रतीत होने लगा। गोविन्द ने आचार्य से तारणगिरि पर अजितनाथ की प्रतिमा की स्थापना भी करवाई। वहीं उटकपुरवासी शकान्हड ने गच्छनायक से तपस्या ग्रहण की तथा बादिराज श्रीपण्डित को वाचक पद प्रदान किया गया। इन अवसरों पर गोविन्द ने गुरु की अभूतपूर्व अर्चा तथा संघ की परिधापनिका की। आठवें सर्ग में आचार्य सोमसुन्दर सर्वप्रथम, देवकुलपाटक (देलवाड़ा) में, संघपति निम्ब के अनुरोध पर, वाचक भुवनसुन्दर को सूरिपद पर प्रतिष्ठित करते हैं। कर्णवती के बादशाह के आदरपात्र गुणराज के बन्धु आन्नसाधु ने गुरु के मुद्रावर्षी उपदेश से प्रबोध पाकर उनसे प्रव्रज्याग्रहण की। गुणराज ने आचार्य के साथ शत्रुंजय की यात्रा की। वापिस आते समय सोमसुन्दरसूरि ने मधुमती (महुवा—सौराष्ट्र) में जिनसुन्दर को सूरिमन्त्र प्रदान किया। रैवतक पर्वत पर संघपति ने गुरु के साथ नेमिप्रभु को प्रणिपात किया। नवां सर्ग गुरु, सोमसुन्दर के निर्देशन तथा नेतृत्व में सम्पादित अनेक धार्मिक कृत्यों की विशाल तालिका से परिपूर्ण है। दसवें सर्ग में उनके पट्टधरों तथा अन्य शिष्यों की परम्परा का वर्णन है।

सोमसौभाग्य में आचार्य सोमसुन्दर के जीवनवृत्त के परिप्रेक्ष्य में दीक्षा, पद-प्रतिष्ठा, प्रतिमास्थापना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विस्तृत वर्णन किये गये हैं, जिन्हें पढता-पढता जैनेतर पाठक ऊब सकता है, किन्तु जैनाचार्य के जीवन की सार्थकता तथा गरिमा इन्हीं कृत्यों में निहित है। धार्मिक उपलब्धियों से शून्य धर्मनेता का जीवन निरर्थक है। उधर प्रतिष्ठासोम ने अपनी मुहूर्तपूर्ण शैली से काव्य को सरस बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है, और इसमें वह सफल भी हुआ है। जिन-

दृष्ट की भाँति उसने अनियन्त्रित तथा अनावश्यक वर्णनों से मूल कथा को अवरुद्ध नहीं किया है। कालिदास की तरह वह पाठक की मनःस्थिति से परिचित है। इससे पूर्व कि पाठक का धीरज छूटे वह कथासूत्र को पकड़ कर आगे बढ़ा देता है। इसी लिए धार्मिक इतिहास से सम्बन्धित होते हुए भी इस काव्य में रोचकता का अभाव नहीं है। कथानक को गतिमान रखने के प्रति कवि की सजगता का यह स्पष्ट प्रमाण है कि आठवें सर्ग में शत्रुंजयमहात्म्य का अवकाश होते हुए भी उसने उसका संकेत करके ही संतोष कर लिया है। कठिनाई यह है कि सोमसौभाग्य महाकाव्य के लिए आवश्यक विविधता से शून्य है। इसके अधिकांश सर्गों में धार्मिक कार्यों के एक समान वर्णन हैं जिन्हें कवि ने विभिन्न शब्दावली में प्रस्तुत किया है। इसलिए सोम-सौभाग्य के ये सर्ग प्रबन्ध से विच्छिन्न स्वतन्त्र काव्यखण्ड प्रतीत होते हैं। कवि ने इन्हें आज्ञार्थ सोमसुन्दर के गौरवशाली व्यक्तित्व के सूत्र में बांध कर समन्वित करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षा

सोमसौभाग्य के धार्मिक परिवेश में काव्यधर्मों का अधिक महत्त्व नहीं है। प्रकृतिचित्रण के नाम पर समूचे काव्य में समेला-तटाक का वर्णन है, जिसकी स्वाभाविकता उल्लेखनीय है (६.७-९)। अज्ञातनामा नगर के वर्णन में स्वाभाविक तथा अलंकृत जैलियों का सम्मिश्रण है (६.१४-१६)। सोमसौभाग्य में शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण अधिक तत्परता से किया गया है यद्यपि इसमें परम्परागत पद्धति से कोई नवीनता दिखाई नहीं देती। काव्यनायक की माता का सौन्दर्य व्यतिरेक द्वारा चित्रित किया गया है (१।५६-६१)। कुमार के चित्रण में नखशिखविधि का आश्रय लिया गया है।

रसात्मकता की दृष्टि से सोमसौभाग्य को सफल नहीं कहा जा सकता। इसमें किसी वास्त्वहित रस का, धंगी रस के रूप में, परिपाक नहीं हुआ है। वैराग्य, विषयत्याग आदि के अधिक महत्त्व के कारण एक-दो स्थानों पर शान्तरस की व्यंजना हुई है। शिशु सोम की बालकेलियों में वास्तव्य रस की मधुरता है (३.४४)।

चरितचित्रण

सोमसौभाग्य में असंख्य पात्र हैं। उनमें से कुछ का तो काव्य में उल्लेख मात्र हुआ है, कुछ की विशेषताओं का संकेत मात्र किया गया है, कुछ अन्य के चरित्र का विकास नहीं हो सका है। सज्जन, माल्हणदेवी तथा काव्यनायक सोमसुन्दर के चरित्र भी अधिक स्पष्ट नहीं हैं।

सज्जन प्रह्लादनपुर का धनवान् व्यापारी है। वह धर्मपरायण व्यक्ति है।

श्रमरस से परिपूर्ण उसके हृदय में जिनधर्म उसी प्रकार विहार करता है जैसे मान-सरोवर में हंस^३। अपनी धर्मनिष्ठा के कारण वह मुनिजनों की देशनाएँ सुनता है। शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा से उसने आर्हत धर्म को ऐसे दीप्त कर दिया जैसे मगन को सूर्य।^४

सज्जन गुणों का पुंज है। औदार्य, धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य आदि गुण उसमें आकर ऐसे बस गये मानो अन्यत्र उनके लिये कोई स्थान न हो। वह शैशव से ही मिथ्यात्व आदि दूषणों से मुक्त है। सम्यक्त्व उसकी बहुमूल्य निधि है। उसकी दान-शीलता से कल्पवृक्ष भी लज्जित हो जाते हैं। याचक-जनों के प्रति उसकी उदारता के कारण उसकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गयी है।^५

सज्जन पुत्रवत्सल पिता है। पुत्रजन्म का समाचार सुनकर वह आनन्द से झूम उठता है। इसके उपलक्ष्य में वह प्रीतिभोज का ठाटदार आयोजन करता है तथा याचकों को मुक्तहस्त से दान देता है। इसी पुत्रप्रेम के कारण वह सोम को श्रामण्य की दुर्वृत्ता का आभास देकर, प्रद्वज्या ग्रहण करने से रोकने का प्रयत्न करता है।

मालहणदेवी सज्जन की पत्नी है। वह परम सुन्दरी तथा गुणों से सम्पन्न है। उसमें सीता, दमयन्ती, सुलसा, अंजना आदि प्राचीन इतिहास की गौरवशाली नारियों के गुणों का समन्वय है। उसके अनवद्य सौन्दर्य के सामने देवांगनाएँ तथा विद्याधरियाँ भी निष्प्रभ हैं। अपने विविध गुणों के कारण वह पति को इस प्रकार प्रिय है जैसे भुमुक्षु को मुक्ति। इन्द्र तथा शची की भाँति उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय तथा प्रेमपूर्ण है।^६

सोमसुन्दर काव्य का नायक है। वह चन्द्रमा (सोम) की तरह सुन्दर है। उसका जन्म यद्यपि वैभवशाली परिवार में हुआ था किन्तु उसे सांसारिक आकर्षणों तथा विषयों में कोई रुचि नहीं है। मुनि जयानन्द की देशना के जल से सिक्त होकर उसमें वैराग्य का अंकुर फूट पड़ता है। फलतः वह सात वर्ष की अल्पावस्था में ही चारित्र्यव्रत ग्रहण कर लेता है। क्रमशः सूरिपद प्राप्त करके वे ४२ वर्ष तक गच्छ का कुशल नेतृत्व करते हैं। सोमसुन्दर अद्भुत प्रतिभाशाली हैं। उनकी प्रतिभा का अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि लेखशाला में तथा दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् गुरु के सान्निध्य में रहकर वे अविलम्ब विविध शास्त्रों में सिद्धहस्तता प्राप्त कर लेते हैं। सोमसुन्दर के जीवन की कहानी आर्हत धर्म के उत्थान की गौरवपूर्ण

३. वही, १.४१-४३

४. वही, १.४६

५. वही, १.४५

६. वही, १.६२-६३

गाथा है। जिनधर्म के व्यापक प्रसार के लिये उनके कृत्यों की काव्य में विस्तृत तालिका है।

भाषा

सोमसौभाग्य की भाषा आद्यन्त लालित्य तथा सौष्टव से ओतप्रोत है। वस्तुतः, जैसा पहले कहा गया है, धर्माचार्य के इतिहास पर आश्रित इस काव्य की परिणति यदि माहात्म्यग्रन्थ अथवा धर्मकथा में नहीं हुई है, इसका सबसे अधिक श्रेय इसकी सहज-मधुर भाषा को है। सर्वत्र प्रांजलता से विशिष्ट होती हुई भी प्रतिष्ठासोम की भाषा कथामक की विभिन्न स्थितियों को, तदनुकूल शब्दावली में, अभिव्यक्ति देने में समर्थ है। इसलिये वह पात्रों की मनःस्थिति के समान कहीं हर्ष से प्रफुल्ल है, कहीं श्रद्धा से तरलित तथा कहीं तर्क से परिपुष्ट। दीक्षावधू का पाणिग्रहण करने के लिये जाते हुए कुमार सोम का चित्र उसके मानसिक आह्लाद के अनुरूप सरलता तथा उल्लास से परिपूर्ण है तो जयानन्दसूरि को सम्बोधित किये गये शब्द शिष्योचित श्रद्धा तथा नम्रता को व्यक्त करते हैं। पुत्र को प्रस्तावित दीक्षा से विरत करने के लिये सज्जन जिस पदावली का प्रयोग करता है, उसमें तर्क की प्रधानता है।

आमण्यभारः कथमुह्यते त्वया विमुह्यते यत्र महतरं नरैः ।

प्रौढोक्षभिर्बोद्धुमशक्यमप्यवानस्तर्णकैः पुत्र कथं हि चास्यते ॥

यो खड्गधारोपरि चक्रमीत्यथो यो दुस्तरं वा तरतीह वारिधिम् ।

यो वा कुरारोहमुपवंपर्वतं पद्भ्यां समारोहति पुष्करस्पृशम् ॥

राधाभिर्वेषं विदधाति यो बुधो ज्वालावलीयौ ज्वलनस्य वा पिबेत् ।

अतुच्छबुद्धे सुत सोऽपि संयमं धर्तुं हि मर्त्यश्चरिर्कति साहसम् ॥ ४.३७-३९

सोमसौभाग्य की भाषा में वर्ण्य विषय का यथातथ्य चित्र अंकित करने की पर्याप्त क्षमता है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण से उपस्थित किये गये उसके शब्दचित्रों में वर्ण्य वस्तु मूर्त हो जाती है। खागहड़ी के जैन मन्दिर का प्रस्तुत वर्णन पढ़कर मानस-पटल पर मन्दिर का यथार्थ रूप अंकित हो जाता है।

रूप्याचलप्रोज्ज्वलतुंपभृंगमृत् सुवर्णकुंभोच्छ्रितदण्डमण्डितम् ।

ध्वजाग्रजःप्रद्वरकिकिणीस्वनः प्रमोदितप्रेक्षकलोकमण्डलम् ॥

अभ्रंलिहैः खण्डितपापमण्डलैः श्रीमण्डपमण्डितमुज्ज्वलैः कर्लैः ।

सर्वेन्द्रिासुन्दरजैनमन्दिरं यः खागहृष्टां पुरि चार्चकारयत् ॥ ८.४-५

सोमसौभाग्य का रचयिता उपयुक्त शब्दों के चयन तथा गुम्फन में सिद्धहस्त है। यथोचित पदशय्या के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य में श्रुतिमधुर नाद का समावेश

७. वही, ४.५२-५४

८. वही, ४.५६.

हुआ है। अनुप्रास तथा यमक इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। ईश्वरनरेश रणमल्ल का प्रस्तुत वर्णन, इस सन्दर्भ में, उल्लेखनीय है।

तस्याधिपः समभवद् भवदेवमक्षतो

युक्तो गुणैरविधुरो विधुरोचिरिद्वः ।

दोर्वोर्यनिजितरणो रणमल्लभूपः

कंदर्परूपकलितः कलितापमुक्तः ॥ ७.४

प्रतिष्ठासोम ने एक पद्य के द्वारा अपना रचना-कौशल अथवा शाब्दी क्रीडा प्रदर्शित करने की चेष्टा भी की है। इस पद्य में पुल्लिङ्ग 'यत्' के सातों विभक्तियों के एकवचन के रूपों का प्रयोग किया गया है। इसे चित्रकाव्य कहना तो न्यायोचित नहीं किन्तु यह प्रवृत्ति उसी ओर संकेत करती है।

दध्रे कृष्णसरस्वतीति विरुद्धं यो, यं च विद्वत्प्रभुं

प्राहुर्विज्ञनरा, महार्णवसमस्तीर्णो भवो येन च ।

यस्मै भूपगणो नमस्यति, शुभं यस्माच्च, यस्योज्ज्वला

मूर्तिः स्फूर्तिपुता, परा गुणभरा यस्मिंश्च वासं व्यधुः ॥ १०.५१

सोमसौभाग्य में प्रायः सर्वत्र प्रसादगुणसम्पन्न पदावली का प्रयोग हुआ है, जो नियमतः समासरहित अथवा अल्पसमास-युक्त होती है। परन्तु काव्य में, कतिपय स्थलों पर, समासान्त पदावली भी दृष्टिगम्य होती है। यह अवश्य है कि उसकी समासान्त भाषा में भी क्लिष्टता नहीं है। पूर्वोद्धृत समेला-तटाक का वर्णन समासान्त पदावली में होता हुआ भी सरल तथा सुबोध है।

सोमसौभाग्य की भाषा में कुछ दोष भी विद्यमान हैं। प्रतिष्ठासोम के कुछ प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य हैं। 'गाहमाने नभोगणम्' के स्थान पर 'नभोगणे' (२.५७), हृदयं दयेद्धं.....प्रवरोऽध्युवास' के लिए 'हृदये दयेद्धे', (५.६) 'द्वक्पथमायाताः' की जगह 'द्वक्पथेष्वयायाताः' (५.५६) 'जजिरे' के स्थान पर 'जजुः' (६.१, २६), वरसूरिपदप्रतिष्ठाकारणेन के लिए.....कारणणे (७.२२), तथा 'विभुना समः' की जगह 'विभोः समः' (८.६१) का प्रयोग पाणिनीय शास्त्र का उल्लंघन है। 'विचिन्त्येति ततः पुण्यस्ततः' (२.२५), अन्यदोर्व्यां गुर्व्यां (३.४०), भ्रातानुजः (६.२०), शुचिवाचमूचे (६.२३), पीयूषयूषमपि तं मधुरत्वयुक्तम् (७.८०), सौवमात्मानं (६.१), स्वात्मानं न हि केवलं (१०.६१) तथा बहुधामभृद्भाक् (१.६०) पदों में अधिक दोष है। 'रमाश्रितांगः' के लिए 'कंसमथनांगनयाश्रितांगः' (४.६२) का विचित्र प्रयोग 'क्लिष्टत्व' दोष से दूषित है। चेल्लाति दीक्षाम् (४.२८) तथा चेत्स्थापयामि (५.२७) पदों में 'चेत्' का पद के आरम्भ में प्रयोग वामन के विधान—न पदादौ खल्वदयः—का अतिक्रमण होता हुआ भी जैन कवियों को मान्य है।

अन्य जैन काव्यों की तरह सोमसौभाग्य में नफेरी, घोल, जेमनवार, ढौल,

सेर, चंग, नारंग, बुरग, घुटन, चूरण आदि देशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा कतिपय लोकोक्तियों का भी समावेश किया गया है, जो इसे रोचकता प्रदान करती हैं। कुछ सूक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

१. दुस्सहो हि महतामिह मानभंगः । १.४४

२. स्याल्लज्जितश्च विजितश्च हि दूरवर्ती । १.५७

३. विद्या ह्यन्तर्गतं वित्तम् । २.५०

४. महतामीहितमखिलं सफलं सम्पद्यते । ८.६३

अलंकारविधान

सोमसौभाग्य ग्रन्थ के प्रति कवि की साहित्यिक श्रद्धांजलि है। चित्र-विचित्र अलंकारों के द्वारा अपनी विद्वत्ता बघारना अथवा पाठक को चमत्कृत करना उसे अभीष्ट नहीं। भावाभिव्यक्ति को विशद बनाने के लिए सोमसौभाग्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों को प्रयुक्त किया गया है। अनुप्रास तथा यमक के प्रति कवि का विशेष अनुराग है। वस्तुतः काव्य के अधिकांश में इनकी अन्तर्धारा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि काव्य का लालित्य एवं नाद-सौन्दर्य अनुप्रास तथा यमक की नींव पर ही आधारित है। इनके हृदयावर्जक उदाहरणों से काव्य भरा पड़ा है। पूर्वार्चार्थों की परम्परा के वर्णन में अनुप्रास का साधुर्य है।

एतेभ्य इभ्येग्नतेभ्य आसन् गच्छा अनुच्छा भुवि वार्द्धिसंस्थाः ।

नामानुश्रुयाः बिलसस्वरूपाः बिलन्नभूपाः शमवारिकृपाः ॥ ३.१८

प्रतिष्ठासोम का यमक अनुप्रास की भाँति ही मधुर तथा स्पष्ट है। अतः उससे काव्यबोध में बाधा नहीं आती। काव्य में अधिकतर सभंग यमक का प्रयोग किया गया है। अभिनव गच्छनायक देवसुन्दर का यह वर्णन यमक पर आधारित है।

ये भाग्यभंगिसुभगाः सुभगानयोग्य-

स्फूर्जद्गुणाः श्रमणसंश्रितपादपदाः ।

पद्माश्रयाः कृतसमस्तमहीविहारा

हारा इवोरसि बभूयुर्धिमलंस्म्याः ॥ ५.४

सोमसौभाग्य में श्लेष का प्रयोग कम हुआ है। कवि की सुखि उसे दुर्लभता से बचाने में समर्थ है। निम्नोक्त पंक्तियों में पुरसुन्दरियों तथा उद्यानों का श्लेष वर्णन बहुत मनोरम है।

रम्भाभिरामा नगरस्य यस्यारामाश्च रामाः सदृशा विरेजुः ।

उज्ज्वैः सनारंगधराः प्रवालश्रियाश्रिताः पत्रलसत्कुचादयाः ॥ ६.१६

शब्दालंकारों की भाँति अर्थालंकार भी काव्यसौन्दर्य को प्रस्फुटित करने में सहायक बने हैं। प्रस्तुत पद्य में उपमा का प्रयोग है। कुमार सोम के सद्गुणों की

तुलना यहां हंसों से की गयी है जो गुणों के श्वेत रंग के कारण बहुत सटीक है। काव्य में अन्यत्र श्लेषोपमा का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है।^१ मालोपमा के भी कतिपय उदाहरण उपलब्ध हैं।^{१०}

प्रगुणः सद्गुणः सोमः शुशुभे स शुभेक्षणः ।

कासार इव वाःसारः सितद्युतिसितच्छदः ॥ २.७१

पदप्रतिष्ठा के लिए सजे हुए, इन्ध देवराज के घर के वर्णन में उत्प्रेक्षा की छटा दर्शनीय है। यहाँ देवराज के घरों में श्रद्धापूर्ण हृदयों की सम्भावना की गयी है।

वातोमिवेल्लच्छुचिकेतनानि निकेतनानि व्यवहारिनेतुः ।

बभ्रासिरे तस्य गुणान्वितस्य श्रद्धोज्ज्वलानीव लसन्मनांसि ॥ ६.४४

निम्नोक्त पंक्तियों में सोमसुन्दर के एक पट्टधर रत्नशेखरसूरि तथा चन्दन-वृक्ष के वर्णन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। अतः यह दृष्टांत अलंकार है।

आशंसावादपि नयी विनयी विभाति विज्ञो मनोजगुणभूतं त्रिजगद्गुरुर्यः ।

किं चन्दनद्रुदयन्मपि नो लभेतोच्चैर्निर्मलं परिमलं मृषनप्रशस्तम् ॥ १०.२६

गुरु सोमदेव की वाग्मिता के जापक इस पद्य में विशेष कथन का सामान्य उक्ति से समर्थन किया गया है। इसलिए इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वादोर्वरां भजति यत्र हि काकनाशं नेतुः प्रवादिनिकरा मुखरा अपि श्वाक् ।

श्वेडां वितन्वति वने प्रबले मृगेन्द्रे निःशूकशूकरगणाः प्रसरन्ति किं ते ॥ १०.३५

प्रह्लादनपुर के प्रस्तुत वर्णन में क्रमशः कथित धनुष से गुणवान् का, शारि से जन का तथा खड्ग से पुरनायक का व्यवच्छेद होने के कारण परिसंख्या अलंकार है।

दृश्येत यत्र धनुषो गुणमंगभावी

लोकस्य नो गुणवतः स कदाचनापि ।

मारिस्तु शारिषु न चैव जनेषु, खड्गे

पूर्नायके भवति नो दृढमुष्टिता च ॥ १.२३

लक्ष्मीसागरसूरि के वाक्कीशल के प्रस्तुत पद्य में उनके वचनों से श्रेताओं के हृदयों के आर्द्र होने तथा कोमल वाणी से पत्थर के फूटने के वर्णन में विरोध अलंकार है।

आर्द्रीकृतानि वचनैर्हि सचेतनानां

चित्तान्यतुच्छतपगच्छपुरन्दरस्य ।

६. भ्रातानुजस्तस्य च हेमराजो रराज राजेव स राजमान्यः ।

स्वगोविलासैर्नयते विकाशं यं कौमुदं पापतमःप्रहंता ॥ सोमसोभाय्य, ६.२०

१०. वही, १.५१, ६२ आदि

किं चित्रमस्य तु गिरा सुकुमारयापि

आक् भिद्यते दूषदिह ध्रुवमेकशोऽपि ॥

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त सोमसौभाग्य में रूपक, व्यतिरेक, सहोक्ति यथासंख्य, भ्रान्तिमान्, संदेह आदि भी अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं।

छन्दयोजना

सोमसौभाग्य के प्रत्येक सर्ग में एक छन्द की प्रधानता है। सर्गान्त में छन्द बदल जाता है। प्रथम दो सर्गों का मुख्य छन्द क्रमशः वसन्ततिलका तथा अनुष्टुप् है। दोनों का अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित में है। तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग में उपजाति की प्रधानता है। तृतीय सर्ग के अन्त में वसन्ततिलका, शिखरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ सर्ग की उपजाति में इन्द्रवंश तथा वंशस्थ का मिश्रण है। सर्गान्त के तीन पद्य वसन्ततिलका तथा शार्दूलविक्रीडित में हैं। पाँचवें तथा सातवें सर्ग में वसन्ततिलका और शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। छठे तथा आठवें दोनों सर्गों में प्रधानतः उपजाति को स्थान मिला है। सर्ग के अन्त में शार्दूलविक्रीडित को अपनाया गया है। नवें सर्ग की रचना आर्या में हुई है। अन्त के छह पद्य शार्दूलविक्रीडित में निबद्ध हैं। दसवें सर्ग में वसन्ततिलका, मालिनी तथा शार्दूलविक्रीडित इन तीन छन्दों को रचना का आधार बनाया गया है। कुल मिला कर सोमसौभाग्य में छह छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें उपजाति की प्रधानता है। तत्पश्चात् वसन्ततिलका का स्थान है।

सोमसौभाग्य में समाजचित्रण

सोमसौभाग्य का साहित्यिक मूल्य कुछ भी हो, इसमें तत्कालीन समाज के कतिपय पक्षों का विशद चित्रण हुआ है। आजकल की भाँति उस समय भी पुत्रजन्म अपूर्व हर्षोल्लास का अवसर था तथा नाना आमोद-प्रमोद एवं नृत्य-गायन से उसका अभिनन्दन किया जाता था। माता-पिता को पुत्रजन्म की बधाई देने वाले व्यक्तियों को अक्षत चावल भेंट किये जाते थे। पिता प्रसन्नतावश अन्य नानाविध दान देता था। स्त्रियाँ सजधज कर मंगल गीत गाती थीं। इस शुभ अवसर पर घनवानों के घरों में मोतियों से शुभ स्वस्तिक चिह्न बनाने की प्रथा थी। आम के पत्तों से मांगलिक तोरण बनाए जाते थे। पेशेवर गायक सरस गीत गाया करते थे तथा वेश्याएँ नृत्य करती थीं। दीक्षाग्रहण, पदप्रतिष्ठा आदि के अन्य प्रसंगों में पण्यगानाओं के नृत्य का उल्लेख काव्य में किया गया है। सम्भवतः समाज में उनके कर्म के विपरीत उनका नृत्यकौशल गहि़त नहीं माना जाता था। जिनालयों में इस अवसर पर विशेष पूजा की जाती थी तथा विविध उत्सवों का आयोजन किया जाता था।^{११}

जन्म के बारहवें दिन शिशु का नामकरण किया जाता था।^{१२} उच्चवर्ग भाव-

११. वही, २.१३-१६

१२. वही, २.२१

पूर्ण तथा सार्थक नाम पसन्द करता था ।^{११} नामकरण के अवसर पर शिशु का पिता अपने बन्धु-बान्धवों को ठाटदार भोज देता था क्योंकि अन्नदान सर्वोत्तम पुण्य है । अन्य दान अन्न-दान के पासंग भी नहीं हैं । सामूहिक भोज में लोग पंगत में बैठ कर भोजन करते थे । भोजन सोने, चांदी तथा कांसे के पात्रों में परसा जाता था ।^{१२} प्रतिष्ठा-सोम ने काव्य में कई स्थानों पर तत्कालीन खाद्य पदार्थों की विस्तृत सूची दी है । उससे विदित होता है कि भोजन में सर्वप्रथम द्राक्षा, अखरोट, चारुवल्ली आदि फल तथा खांड दी जाती थी । मोदक, फणित, खज्जक, घृतपूर्ण बड़े, लपसी, गुड़, सोमाल, कूर, दाल, भात, मंडक, तैल, सुगन्धित धी तथा विविध पकवानों का उल्लेख भी काव्य में आया है ।^{१३} पंगत में बैठे लोगों को गृहपति पंखों तथा वस्त्राचलों से हवा करता था ।^{१४} भोजन के अन्त में अतिथियों को पान देने की प्रथा थी ।^{१५} स्वर्णकणों तथा मणियों से युक्त विशेष पान का भी काव्य में उल्लेख किया गया है ।^{१६} पद-प्रतिष्ठा तथा बिम्ब-स्थापना आदि अन्य विशिष्ट अवसरों पर भी इसी कोटि का सामूहिक भोज आयोजित किया जाता था^{१७} ।

शिक्षा का समाज में बहुत महत्त्व था । विद्या को समस्त सम्पदाओं की जननी तथा कीर्ति का सोपान माना जाता था । समाज विद्याधन से सम्पन्न रंक को भी धनवान् मानता था । चित्त के अभेद्य कोश में स्थित इस धन को बांटना अथवा चुराना सम्भव नहीं । समाज का दृढ़ विश्वास था कि विद्याहीन पुरुष, संस्कारहीन मणि की भाँति ग्राह्य नहीं है^{१८} । विद्या प्राप्ति का नियमित स्थान स्वभावतः विद्यालय था । स्वयं पिता शिशु को प्रविष्ट कराने के लिये जाता था । विद्यारम्भ आमोद-प्रमोद तथा दान-गान का पवित्र अवसर था । शिशु घोड़े पर बैठकर ठाट से प्रवेश के लिए लेखशाला जाता था । वहाँ पिता अपने पुत्र के अभ्युदय के लिए वारदेवी सरस्वती की वन्दना करता था, याचकों को धन-वस्त्र आदि देता था और अध्यापकों तथा छात्रों को मधुर खाद्य पदार्थ भेंट करता था । विद्याध्ययन पाँच वर्ष की अवस्था में आरम्भ किया जाता था ।^{१९}

१३. सान्वर्था ह्युत्तमानां स्यादाख्या ख्याता क्षमातले । वही, २.३६

१४. वही, २.२६ तथा ७.७८

१५. वही, २.२७-३२, ५.५८, ६.५५, ७.७७

१६. वही, २.३३

१७. भोजनान्ते च ताम्बूलवीटकानि समर्प्य सः । वही, २.३५ तथा ८.१२

१८. कलघोतहेमटंकीः कलितं ताम्बूलमतुलमदात् । वही, ६.६४

१९. वही, ५.५८, ६.५५ आदि

२०. वही, २.४७-५३

२१. वही, २.५६-६२

पाठशाला में अध्ययन का प्रारम्भ स्वभावतः वर्णमाला से किया जाता था। वर्णज्ञान से पूर्व ॐ का उच्चारण मांगलिक माना जाता था।^{१३} तत्कालीन पाठ्यक्रम में धर्मसूत्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र, लिङ्गानुशासन, नाममाला, शारीरिक धातुओं का ज्ञान, अंकगणित तथा गायनकला निर्धारित थी।^{१४} यह लेखशाला का पाठ्यक्रम था। दीक्षित होने के पश्चात् मुनि सोमसुन्दर ने दशवैकालिक सूत्र तथा नंदिसूत्र, इन जैन शास्त्रों के अतिरिक्त शब्दशास्त्र, साहित्य, छन्द, तत्त्वज्ञान, तर्क, अलंकार तथा उपनिषदों का विधिवत् अध्यास किया था।^{१५} ये विषय यद्यपि दीक्षित साधु के लिये निश्चित थे किन्तु इन्हें सामान्यतः तत्कालीन पाठ्यक्रम माना जा सकता है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में छात्र के बौद्धिक विकास के लिये बहुमुखी पाठ्यक्रम निर्धारित था। सोमसौभाग्य में 'काव्यप्रकाश' के अध्यापन का उल्लेख (१०.६) साहित्यशास्त्र, विशेषतः मम्मट के ग्रन्थ के प्रचलन तथा महत्त्व का सूचक है। अध्ययन के लिये तीव्र स्मरणशक्ति का महत्त्व निर्विवाद है। सोम ने स्मरणशक्ति के कारण ही, अल्पायु में, शास्त्रसागर को पार कर लिया था।^{१६}

सोमसौभाग्य में कतिपय वस्त्रों तथा आभूषणों की चर्चा हुई है। पद-प्रतिष्ठा के समय प्रभातना आदि के अतिरिक्त आचार्य तथा संघ की परिधापनिका की जाती थी, जिसमें समूचे संघ को बहुमूल्य वस्त्र भेंट किये जाते थे। भुवनसुन्दर वाचक की सूरिपद पर प्रतिष्ठा के अवसर पर विदेशी वस्त्र दिये जाने का उल्लेख काव्य में हुआ है।^{१७} प्रचलित आभूषणों में हार, अर्धहार, मुकुट, कुण्डल, केयूर, वीरबलय, मणि, मुद्रिका तथा वर्णचूल सम्मिलित थे।

प्रतिष्ठासोम के समसामयिक समाज का शकुनों तथा मुहूर्तों पर दृढ़ विश्वास था। सभी कार्य मौहूर्तों द्वारा निश्चित शुभ दिन अथवा लग्न में किए जाते थे। कुछ जैनार्चार्थ भी ज्योतिर्विद्या के पारंगत आचार्य थे। धार्मिक अनुष्ठान उन्हीं की सम्मति से शुभ समय पर सम्पन्न होते थे। सज्जन ने जिस दिन अपने पुत्र को पाठशाला में प्रविष्ट कराया था, वह ज्योतिषी द्वारा निर्धारित किया गया था। मांगलिक मुहूर्त आदि के प्रति समाज की इस आस्था के कारण स्वभावतः ज्योतिषियों को सम्मानित पद प्राप्त था। शुभाशुभ शकुनों के विचार का इतिहास भी बहुत प्राचीन है। सोमसौभाग्य में सधवा स्त्री का जलपूर्ण घट लेकर सामने आना, सुभूषित पण्यागना का दीखना तथा खर, शण्ड और अश्व का बायीं ओर शब्द करना शुभ शकुन

२२. ॐकारमातृकापाठप्रारम्भं समकारयत् । वही, २.६०

२३. वही, २.६४-७०

२४. ५.६. ११-१२, ४६

२५. वही २.६८

२६. वही, ८.१२

२७. वही, ५.५५, ७.६७

माने गए हैं।^{१२} श्रेष्ठी गुणराज के ससंघ यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय ये सभी उत्साहवर्द्धक शकुन हुए थे।

धर्म

सोमसौभाग्य यद्यपि जैन धार्मिक इतिहास से सम्बन्धित रचना है किन्तु इसमें जैन दर्शन अथवा धर्म के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन नहीं हुआ है। जयानन्दसूरि की देशना में जैन धर्म की सामान्य चर्चा है। आर्हुत धर्म के अन्तर्गत श्रमणों तथा श्रावकों के लिए पृथक् आचारों का विधान था। औपासिक धर्म से तो क्रम से ही मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु यतिधर्म व्रतधारियों को इसी लोक में मोक्ष प्रदान करता है। जैन समाज में, आजकल की भाँति, उस समय भी दीक्षा को मोक्ष का द्वार माना जाता था। समाज को विश्वास था कि दीक्षा कल्पवल्ली के समान मानव की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है।^{१३}

सोमसौभाग्य में अन्य महत्त्वपूर्ण संकेत

प्रतिष्ठासोम के काव्य में प्रसंगवश प्राचीन इतिहास के कतिपय प्रतापी सम्राटों, मन्त्रियों, जैनाचार्यों तथा कवियों एवं विद्वानों का उल्लेख किया गया है। गुजरात-नरेश कुमारपाल तथा महामात्य वस्तुपाल जैन धर्म के अद्वितीय प्रभावक तथा साहित्य-पौषक थे। वस्तुपाल को काव्य में सबसे अधिक—तीन बार—स्मरण किया गया है। वस्तुपाल देवेन्द्रसूरि की वाक्कला से इतने अभिभूत थे कि व्याख्यान सुनते समय उनका सिर झूमने लगता था।^{१४} रैवतक पर स्थित उनके 'प्रासाद' का जीर्णोद्धार अहमदाबाद के धनाढ्य व्यापारी समरसिंह ने किया था।^{१५} कुमारपाल का प्रथम उल्लेख उनके तारणगिरि के विहार के जीर्णोद्धार के प्रसंग में हुआ है।^{१६} प्रतिष्ठासोम ने लक्ष्मी की अस्थिरता को नव तन्दों, विक्रम, नल, मंज, भोज तथा हाल—इन इतिहास-प्रसिद्ध सम्राटों के नामशेष वैभव के उदाहरण से रेखांकित किया है।^{१७} गुणराज की उदारता तथा दानशीलता की तुलना राजा सम्प्रति के अतिरिक्त कुमारपाल तथा वस्तुपाल के साथ की गयी है।^{१८} मेवाड़-नरेश कुम्भकर्ण (राणा कुम्भा) गुरु सोमदेव की काव्यकला के प्रबल समर्थक थे।^{१९} जैन धर्म के महापुरुषों तथा

२८. वही, द. ३३-३५

२९. वही, ४. १३-१४

३०. वही, ३. २८

३१. वही, ९. ७७

३२. वही, ७. १०-११

३३. वही, ६. २६-२७

३४. वही, द. ४९-५०

३५. वही, १०. ३८

विद्वानों में मानदेव, मानतुंग, बप्पभट्टि, हेमचन्द्रसूरि, सिद्धसेन तथा वज्रस्वामी को आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। स्थूलभद्र द्वारा कोशा को प्रतिबोध देने का भी काव्य में प्रत्यक्ष संकेत है।

सोमसुन्दरसूरि का शिष्यमण्डल : उसकी उपलब्धियां

सोमसौभाग्य के दसवें सर्ग में गच्छपति सोमसुन्दर के पट्टधरों का संक्षिप्त वर्णन तथा उनकी साहित्यिक एवं धार्मिक उपलब्धियों का निरूपण है। इस सर्ग में तपागच्छ के इन आचार्यों के विषय में अतीव मूल्यवान् सामग्री निहित है। सोमसुन्दरसूरि के प्रथम पट्टधर आचार्य मुनिसुन्दर ने अपने निर्मल चरित्र तथा अदम्य धर्मोत्साह से जैन शासन के अभ्युदय में अद्भुत योग दिया। उनकी प्रेरणा से रोहिणी नगर के शासक ने स्वयं मृगया का परित्याग किया तथा अपने राज्य में प्राणिहिंसा पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुनिसुन्दर देलवाड़ा में शान्तिस्तवन से महामारि के भयंकर प्रकोप को शान्त करके पहले ही विलक्षणता प्राप्त कर चुके थे। उनकी धर्म-प्रभावना की तुलना मानदेव तथा मानतुंग जैसे प्राचीन आचार्यों से की जाती थी।^{१४} जयचन्द्रसूरि विभिन्न शास्त्रों के पारगामी विद्वान् थे। उनकी साहित्यशास्त्र, विशेषतः काव्य-प्रकाश, की भूमज्ज्ञता की काव्य में विशेष चर्चा हुई है। बहुमुखी पाण्डित्य के कारण उन्हें 'कृष्णवाग्देवता' की अनुपम उपाधि से अलंकृत किया गया था।^{१५} जिनसुन्दर ग्यारह अंगसूत्रों के अधिकारी तथा सर्वमान्य विद्वान् थे! अंगसूत्र उनके मानस में ऐसे स्थित थे जैसे (प्रलयकाल में) समस्त लोक विष्णु के उदर में समा जाते हैं।^{१६} सूरिराज लक्ष्मीसागर तपागच्छ के विलक्षण आचार्य थे। वे महान् शास्त्रार्थी, वाक्कला के बृहस्पति, सद्गुणों के भण्डार तथा परम धर्मोत्साही यति थे। काव्य में उनकी विविध उपलब्धियों का ग्यारह पद्यों में सविस्तार निरूपण किया गया है। उन्होंने जूनागढ़ के शासक की सभा में, शास्त्रार्थ में, विजय प्राप्त करके अपनी बहुश्रुतता तथा वाक्कौशल प्रमाणित किया था। उनकी कोमल वाणी में सुधावर्षी व्याख्यान सुनकर श्रोताओं का हृदय द्रवित हो जाता था। राजा सोमदास के विश्वासपात्र सल्लसाधु द्वारा रचित महोत्सव में उन्होंने लक्ष्मी की पीतल की प्रौढ़ (भारी) प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, दक्षिण देश के महादेव के अनुरोध पर चलाटापल्ली में दो साधुओं को वाक्कपद प्रदान किया, ७२ जिनालयों में चौबीस तीर्थंकरों के बिम्बपट्ट प्रतिष्ठित किए तथा वाक्क शुभरत्न को प्रवर सूरिपद पर अभिषिक्त किया।^{१७} सोमदेव

३६. वही, १०.१-४

३७. विदुस्तया प्रथितयामितयात्र कृष्णवाग्देवतेति विरुदं गुरु यो दधार। वही १०.५

अव्यापयद्विपुलमतिषदां महार्थं काव्यप्रकाशवरसम्मतिमुख्यशास्त्रम्। वही, १०.६

३८. अंगानि योऽनुरुदं दरहुद्धार रद्रप्रमाणि भुवनानि यथा मुकुन्दः। वही, १०.८

३९. वही, १०.२१-२१

प्रतिभावान् कवि तथा शास्त्रार्थ की कला में पारंगत थे। शास्त्रार्थ-मण्डप में उनके प्रविष्ट होने पर प्रवादियों का दर्प चूर हो जाता था। काव्यकला के कारण उन्हें राजदरबार में सम्मान प्राप्त था। राणा कुम्भा उनकी काव्य-प्रतिभा के इतने प्रशंसक थे कि वे उन्हें श्रीहर्ष से भी श्रेष्ठ कवि मानते थे। जूनागढ़ के राजा के भाण्डलिक उनके समस्यापूति के कौशल से चमत्कृत हो उठते थे। दुरुह ग्रन्थों को हृदयंगम करने की उनमें अद्वितीय क्षमता थी। वस्तुतः वे पृथ्वी लोक के बृहस्पति थे।^{४०} रत्नमण्डित विद्वद्गोष्ठी के रत्न थे। उनमें मधुर-गम्भीर पद्य तथा हृदयग्राही गद्य की अविराम रचना करने का अद्भुत कौशल तथा सामर्थ्य था।^{४१} शुभरत्नसूरी ने अपनी दार्शनिक प्रतिभा से वाचस्पति को भी पछाड़ दिया था। सप्त गूढ़ नयों में उनकी प्रवीणता अतुल्य थी।^{४२} वाचक हेमहंस संस्कृत भाषा के पटु वक्ता तथा वादियों के दर्प के वैद्य थे।^{४३} पण्डित विवेकसागर विपक्षी शास्त्रार्थियों की गजघटा के लिए साक्षात् मिह थे। तर्कशास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी।^{४४} पण्डित रत्नप्रभ दुरुह एवं क्लिष्ट शास्त्रों के अध्यापन में विशेष कुशल थे।^{४५}

सीमसौभाग्य प्रतिष्ठासोम की काव्यप्रतिभा का उन्मेष है। इसमें तत्कालीन समाज का व्यापक चित्र समाहित है और इससे तपागच्छ के विभिन्न आचार्यों की धार्मिक तथा साहित्यिक उपलब्धियों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। सीमित-सा कथानक चुनकर भी प्रतिष्ठासोम ने अपनी सुवचिता तथा ललित शैली से काव्य को रोचक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कठिनाई यह है कि काव्य में उसकी प्रतिभा के विहार के लिए अधिक अवकाश नहीं है। यदि वह किसी व्यापक कथानक को लेकर काव्य-रचना करता तो उसकी प्रतिभा साहित्य को उत्कृष्ट कृति प्रदान कर सकती थी।

४०. वही, १०.३२-४३

४१. वही, १०.४४-४५

४२. वही, १०.४६

४३. वही, १०.५३

४४. वही, १०.५४

४५. वही, १०.६०

१७. सुमतिसम्भव : सर्वविजयगणि

तपागच्छाय आचार्यों के जीवनवृत्त पर रचित महाकाव्यों की शृंखला में सर्वविजयगणि का सुमतिसम्भव, काव्यात्मक गुणों तथा ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। काव्य के शीर्षक में, आपाततः, जैन तीर्थंकर सुमति तथा सम्भव के नाम ध्वनित हैं किन्तु उनका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। सोमसौभाग्य की भांति इसमें भी तपागच्छ के एक आचार्य, सुमतिसाधु, के धर्मनिष्ठ चरित को निबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा के अनुरूप सुमतिसम्भव में जैनाचार्य का वृत्त अलंकृत काव्य-शैली का आचल एकड़ कर आया है जिसके फलस्वरूप इसमें काव्य-रुद्धियों का तो तत्परता से पालन किया गया है किन्तु सोमसौभाग्य की तरह इसमें काव्य-नायक की सामाजिक एवं धार्मिक चर्या की अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। सुमतिसाधु के श्रद्धालु भक्त, माण्डवगड के धन्वान् श्रावक, जावड़ के अनुव वैभव, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धर्मपरायणता के बारे में, काव्य में, कहीं अधिक उपयोगी तथा अत्यन्त रोचक सामग्री निहित है।

सुमतिसम्भव की एकमात्र ज्ञात हस्तलिखित प्रति (७३०५) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता में सुरक्षित है।^१ आठ सर्गों का यह काव्य उन्नीस पत्रों पर लिखा गया था। इनमें से पाँचवां तथा छठा, दो पत्र अनुपलब्ध हैं। आठवें सर्ग का एक अंश (पद्य ३०-४३ तथा चवालीसवें पद्य के प्रथम तीन चरण) भी नष्ट हो चुका है। अन्यत्र भी काव्य कई स्थलों पर खण्डित तथा अशुद्धियों से दूषित है। प्रत्येक पृष्ठ पर तेरह पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में चालीस अक्षर हैं। कहीं-कहीं व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी लिखी हुई हैं। प्रस्तुत विवेचन सुमतिसम्भव की उक्त हस्तप्रति की फोटो-प्रति पर आधारित है, जो हमें श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।

सुमतिसम्भव का महाकाव्यत्व

काव्यशैली के प्रति कवि की प्रतिबद्धता के कारण सोमसौभाग्य की अपेक्षा सुमतिसम्भव का महाकाव्यत्व अधिक पुष्ट तथा प्रभावी है, यद्यपि इसमें भी महाकाव्य

१. द्रष्टव्य : संतरलाल नाहटा 'श्रीसुमतिसम्भव नामक ऐतिहासिक काव्य की उपलब्धि', जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २०, अंक २-३, पृ. ४४-४५.

के समूचे परम्परागत तत्त्व विद्यमान नहीं हैं। मंगलाचरण, सर्ग-संख्या उनके नाम-करण, काव्य-धीर्गक, छन्दों के विधान आदि महाकाव्य के बाह्य तत्त्वों में सर्वविजय ने शास्त्र का यथावत् पालन किया है। चित्रकूट तथा काव्यनायक के जन्मस्थान ज्वायपुर के विस्तृत वर्णन से नगर-वर्णन की रूढ़ि की पूर्ति की गयी है। पर्वतमाला सन्ध्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, आदि वस्तुव्यापार के क्लृप्त वर्णन एक ओर काव्य में वैविध्य का संचार करते हैं और दूसरी ओर काव्य-शैली के प्रति कवि की निष्ठा के सूचक हैं।

महाकाव्य के आन्तरिक स्वरूप विधायक तत्त्वों की दृष्टि से सुमतिसम्भव की स्थिति मोमसीभाग्य से अधिक भिन्न नहीं है। सोमसुन्दर के समान प्रतिष्ठित इन्द्र कुल में उत्पन्न सुमतिसाधु इसके नायक हैं जिन्हें, उनकी शमवृत्ति के प्राधान्य के कारण, धीरप्रशान्त मानना अधिक उचित होगा। काव्य में वर्णित उनका चरित, गरिमा तथा ख्याति के कारण, शास्त्रीय विधान के अनुकूल है। चतुर्वर्ग में से सुमति-सम्भव का उद्देश्य धर्म है। धनकुबेर जावड़ की धर्मचर्या के निरूपण के द्वारा मानव जीवन में, अर्थ तथा काम को मर्यादित करते हुए, धर्म की सर्वोपरि महत्ता का प्रतिपादन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य की भाषा में प्रसाद तथा प्रौढ़ता का मनोरम मिश्रण है। चित्रकाव्य के द्वारा सर्वविजय ने अपनी भाषा में चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रयास भी किया है। इस स्थूल शरीर के होते हुए भी सुमतिसम्भव आत्मा से प्रायः पूर्णतया वंचित है। महाकाव्योचित रसवत्ता का न होना इसकी बहुत बड़ी वृद्धि है। चरित्र-विश्लेषण के प्रति भी कवि अधिक सजग नहीं है। परन्तु सुमतिसम्भव को, उक्त तत्त्वों के अभाव में भी, महाकाव्य मानना उचित होगा।^१ प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में कवि ने इसे आग्रहपूर्वक महाकाव्य की संज्ञा दी है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

सुमतिसम्भव के कर्ता के विषय में काव्य से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह पण्डित शिवहेम का शिष्य तथा जिनमाणिक्य का छात्र था। सर्वविजय ने प्रव्रज्या शिवहेम से ग्रहण की थी, किन्तु उसके विद्यागुरु जिनमाणिक्य थे।

शिवहेमपण्डितानां शिष्यशिष्युर्वाचकेन्द्रचन्द्राणाम्।

श्रीजिनमाणिक्यानां छात्रः शास्त्रं व्यधत्तेदम् ॥ ८.४५

सर्वविजय तपागच्छ का अनुयायी था। उसकी मुनि परम्परा तपागच्छ के पचासवें गच्छधर आचार्य सोमसुन्दरसूरि तक पहुँचती है। पूर्ववर्ती गच्छनायकों के जीवन-वृत्त पर काव्य लिखने की परम्परा जैन साहित्य में चिरकाल से चली आ रही है।

२. न्यूनमपि यैः कश्चिदंगैः काव्यमग्रं न दुष्यति।

यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥ काव्यादर्श, १.२०

काव्य में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर इसका रचनाकाल निश्चित करना कठिन नहीं है। सुमतिसम्भव की एकमात्र ज्ञात हस्तप्रति सम्बत् १५५४ में इलदुर्ग (ईडर) में लिखी गयी थी।^१ काव्य में, जावड़ द्वारा सम्बत् १५४७ में की गयी प्रतिमा-प्रतिष्ठा^२ का वर्णन होने के कारण यह उस वर्ष (संवत् १५४७) तथा पूर्वोक्त हस्तप्रति के प्रतिगिति-काल, सम्बत् १५५४, के मध्य लिखा गया होगा। अन्तिम भाग के नष्ट हो जाने से यह कहना सम्भव नहीं कि काव्य में नायक के निधन का उल्लेख था अथवा नहीं। किन्तु इसके शीर्षक को देखते हुए अधिक सम्भव यही है कि यह वर्णन काव्य में नहीं था। अतः काव्य-रचना की अन्तिम सीमा सम्बत् १५५१ निश्चित होती है। सर्वविजय का अन्य काव्य, आनन्दसुन्दर, इससे पूर्व की रचना है क्योंकि उसमें सुमतिमाधु, जिनका स्वर्गारोहण सम्बत् १५५१ में हुआ था, के जीवित होने का संकेत है।^३

कथानक

सुमतिसम्भव के आठ सर्गों में जैनाचार्य सुमतिसाधु का जीवनवृत्त वर्णित है। काव्य का प्रारम्भ दो पद्यों के मंगलाचरण से हुआ है, जिनमें क्रमशः आदिदेव तथा वाग्देवी की स्तुति की गयी है। तत्पश्चात् प्रथम सर्ग में मेवाड़, उसकी राजधानी चित्रकूट (चित्तौड़), उसके शासकों तथा पर्वतमाला का कवित्वपूर्ण वर्णन है। अपने अतुल वैभव के कारण मेवाड़ सम्राट्-सा प्रतीत होता है। उसके शासकों में राजा कुम्भकर्ण (राणा कुम्भा) के पराक्रम, दानशीलता तथा अन्य सद्गुणों का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वितीय सर्ग के उपलब्ध भाग में ज्वायपुर, वहाँ के धनवान् श्रावकों, श्रेष्ठी सुदर्शन तथा उसकी रूपवती पत्नी संपूरदेवी का रोचक वर्णन है। सुदर्शन तथा संपूरदेवी सम्भवतः काव्य-नायक के माता-पिता थे। इस सर्ग के सुप्त भाग में संपूरदेवी के स्वप्नदर्शन तथा गर्भाधान का वर्णन रहा होगा। तृतीय सर्ग की मुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसके प्रथम तीस पद्यों में, जो नष्ट हो चुके हैं, कुमार के जन्म तथा शैशव का चित्रण किया गया था। प्राप्त अंश में कुमार प्रारम्भिक विद्याभ्यास के पश्चात् चारित्र्यलक्ष्मी का पाणिग्रहण करने का निश्चय करता है। चतुर्थ सर्ग में कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये प्रस्थान करता है। यहीं उसे देखने को लालायित और युवतियों की चेष्टाओं का मनोरम चित्रण हुआ है। दुर्भाग्यवश उसके प्रव्रज्या-ग्रहण के वर्णन वाले पद्य का वह अंश नष्ट हो चुका है, जिसमें सम्बत्

३. सम्बत् १५५४ वर्षे श्रीइलदुर्गमहानगरे हर्षकुलगणयः सुमतिसम्भवग्रन्थमली

लिखल्लेखकेन । — लिपिकार की अन्त्य टिप्पणी।

४. अर्थेष्ट वर्षे तिथिवेदलोकप्रतिमे । सुमतिःसम्भव, ४.७

५. द्रष्टव्य : डॉ० क्राउझे—'जावड़ ऑफ माण्डू' मध्यप्रदेश इतिहास-परिषद् की पत्रिका, अंक ४, पृ० १३४-१३५

दिन आदि का उल्लेख था। यह सोचकर कि यह अपनी सुमति से कल्याण-साधन करेगा तथा उत्तम साधु बनेगा, गुरु ने उसका नाम सुमतिसाधु रखा। उसने शीघ्र ही हैमव्याकरण, तर्क, उपनिषद्, सिद्धान्त, ज्योतिष तथा साहित्य में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली। शास्त्रार्थ तथा काव्यरचना में भी उसकी प्रशंसनीय गति थी। स्मरपराजय नामक पंचम सर्ग में काम तथा संयमधन साधु के प्रतीकात्मक युद्ध तथा काम के वध का अतीव रोचक वर्णन है। छठे सर्ग के पूर्वार्ध में पूर्वाचार्यों की पट्ट-परम्परा का वर्णन है। उत्तरार्ध में ईडर के शासक भानु के अनुरोध से गुरु लक्ष्मीसागर सुमति-साधु को सूरिपद पर अभिषिक्त करते हैं। अन्तिम दो सर्ग संचपति जावड़ का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इन सर्गों में उसके सामाजिक गौरव तथा धर्मनिष्ठा का सूक्ष्म वर्णन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य में सुमतिसाधु के जीवन की कतिपय घटनाओं का ही दिग्दर्शन कराया गया है। काव्य के लुप्त भाग में भी उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं रही होगी। कवि अधिकतर विषयान्तरो में उलझा रहा है। अन्तिम दो सर्ग तो पूर्णतः जावड़ की धार्मिक गतिविधियों का गिरूपण करते हैं, यद्यपि उनके पीछे भी आचार्य की सत्प्रेरणा निहित है। अन्य सर्गों में भी देश, नगर, चन्द्रोदय, प्रभात, युद्ध आदि के प्रासंगिक-अप्रासंगिक वर्णनों की भरमार है। वास्तविकता तो यह है कि सुमतिसम्भव काव्यनायक की अपेक्षा जावड़ के इतिहास का स्रोत है।

रसयोजना

सुमतिसम्भव में यद्यपि जैनाचार्य का वृत्त काव्य का आकर्षक परिधान पहन कर आया है, किन्तु उसमें मनोभावों के विश्लेषण अथवा निरूपण के लिये स्थान नहीं है। इसीलिये इसमें किसी भी रस का यथेष्ट पल्लवन नहीं हो सका है। महाकाव्योचित तीव्र रसव्यंजना की आकांक्षा करना तो यहाँ निरर्थक होगा। काव्य की मूल प्रकृति तथा इस कोटि के अन्य जैन काव्यों की परम्परा के अनुसार इसमें शान्त-रस का प्राधान्य अपेक्षित था किन्तु कवि ने उसका स्मरण मात्र करके सन्तोष कर लिया है—रमोऽथ शान्तः (४.४२)। काव्य में इसकी क्षीण आभा भी दिखाई नहीं देती। रसार्द्रता का यह अभाव सुमतिसम्भव की गरिमा को आहत करता है।

पंचम सर्ग में, रतिपति काम तथा सुमतिसाधु के प्रतीकात्मक युद्ध में वीररस का पल्लवन माना जा सकता है, यद्यपि इस युद्ध की परिणति वैरशोधन में नहीं अपितु निर्वेद में होती है। इसका कारण वीतराग साधु की अतिवृद्धि है। फिर भी यहाँ सामान्यतः वीर रस का उद्रेक मानने में हिचक नहीं होनी चाहिए। कवि ने इस संघर्ष को ठेठ संग्राम का रूप देने की चेष्टा की है। विश्वविजेता काम संयमी साधु को

अपने सर्वभक्षी अंकुश से मुक्त जानकर तत्काल सम्राट् की भाँति उसके विरुद्ध प्रयाण करता है ! दूत द्रोह के द्वारा प्रतिपक्षी को सचेत करके वह युद्ध के धर्म का पालन करता है । दूत की अमर्यादित उक्तियों का उत्तर संयमधन यति 'ब्रह्मास्त्र' से काम का प्राणान्त करके देता है !

तत्रानयोः प्रबलयोर्बलयोः प्रयोगवृत्ते रणः प्रववृत्ते प्रलयोपमेयः ।

यत्रोत्पत्तत्पतदनेकपकुम्भकूटं भूमीतटं स्फुटदिति प्रतिभासु भाति ॥ ५.४३

केचिद् भटा घनघटा इव तीव्रतेजोविद्युलतावलयितास्ततर्गजितोर्जाः ।

तत्रोन्मतेर्निगमयन्ति शरावलीभिर्बुध्नि द्विषकटकयव्भटकण्ठसीम्नि ॥ ५.४४

सैन्यद्वयेऽपि बहुधा बहुधावदश्च सकोपयोधयदुदीरितपांशुपुरैः ।

आच्छादिते दिनकरे न करेणवोऽपि दृग्गोचरं चरचरेति चरन्ति किं नु ॥ ५.४७

एवंविधे युधि विरोधिसिरोधिहारो मारोऽपि सन्तवधिरेष घनुर्घरेषु ।

ब्रह्मायुधादवधि येन ततः प्रसिद्धस्तेनैव स त्रिभुवने स्मरसूदनेति ॥ ५.४८

काव्य में एक-दो स्थलों पर शृंगार के आलम्बन पक्ष का भी चित्रण हुआ है ।

कुमार को देखने को उत्सुक पुरसुन्दरियों के चित्रण तथा काम के प्रयाण के प्रसंग में शृंगार का यह पक्ष दृष्टिगत होता है ।

परा कटिन्यस्तकरा सरागमालोकयन्ती स्वकटाक्षलक्ष्यम् ।

चक्रे प्रचक्रे किमु काम-नाम-गुरोः पुरो धन्वकलाविलासम् ॥ ४.२६

काव्यनायक तथा जावड़ के इतिवृत्त ओर विषयान्तरों में कवि इतना लीन है कि काव्य के गर्म, रस की ओर उसका ध्यान नहीं गया है । द्वितीय सर्ग के लुप्त अंश में कुमार के शैशव के चित्रण के अन्तर्गत वात्सल्यरस की अभिव्यक्ति हुई होगी, इस श्रेणी के अन्य काव्यों के शिल्प को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन नहीं है ।

प्रकृतिचित्रण

सुमतिसम्भव के ऐतिहासिक इतिवृत्त में प्राकृतिक दृश्यों तथा उपकरणों का तत्परता से चित्रण किया गया है । यह, एक ओर, काव्यशैली के प्रति कवि की प्रतिबद्धता का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य में रोचकता तथा वैविध्य के लिये प्रकृति-चित्रण को अनिवार्य माना गया है, दूसरी ओर, उसके प्रकृति-प्रेम को व्यक्त करती है । काव्य के आठ में से चार सर्गों में, किसी न किसी प्रकार प्रकृति-वर्णन का प्रसंग है । प्रथम सर्ग में पर्वतमाला, तृतीय में सन्ध्या, चतुर्थ में चन्द्रोदय तथा सूर्योदय और पाँचवें सर्ग में वसन्त का हृदयप्राही कवित्वपूर्ण वर्णन है । सर्व विजय का प्रकृतिवर्णन परम्परागत रुढ कोटि का है । इस दृष्टि से उसमें नवीनता का अभाव है । सर्वविजय ने शैली की नवीनता की कमी को अपनी काव्य-प्रतिभा से

पूरा करने का प्रयास किया हैं। विविध अलंकारों तथा कल्पनाओं के द्वारा प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र अंकित करने में वह मिद्धहस्त है। प्रकृति का अलंकृत चित्रण उस युग की बद्धमूल प्रवृत्ति थी जिसकी उपेक्षा करना प्रतिभाशाली कवियों के लिये भी सम्भव नहीं था। सर्वविजय के प्रकृति-चित्रण की विशेषता यह है कि वह प्रौढो-क्तिमय होता हुआ भी उसकी कल्पनाशीलता के कारण बराबर रोचकता से परिपूर्ण है।

मेवाड़ की पर्वतमाला, चन्द्रोदय आदि के चित्रण में प्रौढांक्ति की ओर कवि का आग्रह रहा है। पर्वत की गुफाओं में स्थित किन्नरियों के गान की मधुर तान पर मुग्ध होकर चन्द्रमा का मृग आत्मविभोर हो जाता है जिससे चन्द्रमा को चलने में विलम्ब हो जाता है। मेवाड़ की पर्वत-शृंखला पर रात भर चांदी छाई रहने का कारण सर्वविजय ने ढूँढ लिया है। पर्वतों के स्फटिक-पाषाणों की किरणों से चन्द्र-मण्डल के आच्छादित हो जाने के कारण राहु उसे नहीं पहचान सकता। उसके भय से मुक्त होकर चन्द्रमा वहाँ आनन्द भनाता रहता है, यद्यपि पर्वत-वासिनी विद्याधरियों के मुख के सौन्दर्य से पराजित होकर उसे लज्जित होना पड़ता है। सूर्य की किरणें प्रातःकाल पर्वतों के अधोभाग पर क्यों पड़ती हैं? कवि की कल्पना है कि उनकी गगनचुम्बी चोटियों में अपने घोड़ों के अटकने की आशंका से सूर्य अपने करों (किरणों-हाथों) से उनका चरणस्पर्श करके उन्हें विचलमुक्त करने के लिये भनाता है। गुफाओं में स्थित सपों, तलहट्टियों में ध्यानमग्न योगियों तथा अधिस्थिता पर वर्तमान देवताओं के कारण वह पर्वतमाला तीनों लोकों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है।

यद्गुहागहनगर्भसंचरकिन्नरीकलितकाकलीरवः ।

व्यस्रिते सति मृगे निजांकगे शक्तिः किल विलम्बितो सिधुः ॥ १.३६

स्फटिकाश्मकिरणैः कारम्बितो राहुणा दुरधयोधबिम्बभृत् ।

व्यन्तरोबदनलज्जितोऽप्यसौ यत्र तु तुष्यति तुषारदोधितिः ॥ १.४०

यस्य सानुचयवृद्धिमुच्चकैर्भाविनी ननु विभाव्य भाविनुः ।

वाजिनामनूजुशंकया करस्पृष्टपाद इव सांत्वनेऽभवत् ॥ १.४३

भोगिभिस्तलगुहाभिर्योगिभिर्मखलाबलय.....लिभनरैः ।

निर्जरैरुपरिभूमिगतचरैः यस्त्रिलोकविषयो दिलोक्यते ॥ १.४८

चन्द्रोदय का कवित्वपूर्ण वर्णन भी बहुधा प्रौढोक्ति पर अधारित है। चन्द्रमा के उदित होने से सूर्य क्यों छिप जाता है? कवि ने प्रजापति दक्ष तथा उनके जामाता (शंकर) द्वारा यज्ञध्वंस के पौराणिक रूपक से इसका स्पष्टीकरण किया है। सूर्य दक्ष है, चन्द्रमा उसका जामाता। सूर्य (दक्ष) अपने जामाता (चन्द्रमा) का मृग देखकर, ध्वंस से बचने के लिये, भाग जाता है। कवि को सूर्य के अस्त होने का निश्चित कारण मिल गया है! उधर उसे विश्वास है कि ओषधपति चन्द्रमा नित्यप्रति

किसी दिव्य औषधि का सेवन करता है। इसीलिये यद्यपि चकोर उसका सतत पान करते रहते हैं तथापि उसका क्षय नहीं होता।

प्रवाजघिष्यन्निध दक्षमुख्यं तं दक्षजाया दयितो हितैषी।

अदर्शयस्सस्य न कृष्णसारं चरन्तमन्तस्तूणवत्समासि ॥ ४.२

दिल्योषधीं कामपि सौषधीनामधोऽवरः किं बिभरं चकार।

न चकोरकं र्यन्ति जनेत्रपत्रपेपीयमानोऽपि न याति हानिम् ॥ ४.७

अलंकृत चित्रण के आवरण के नीचे सुमतिसम्भव में यदा-कदा प्रकृति के आलम्बनपक्ष का चित्रण भी दिखाई देता है। केवल चतुर्थ सर्ग में, सूर्योदय के वर्णन में, यह प्रवृत्ति मिलती है। कवि ने यद्यपि यहाँ भी अलंकारों का सहारा लिया है किन्तु इसे प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण माना जा सकता है।

पूर्वाचलोच्चैस्तरच्चूलिकायां व्यभाटिभानां निलयः स भानुः।

पोरसूर्यते वासरसिन्धुरस्य सिदूरपूरः शिरसीव दीव्यन् ॥ ४.१३

निर्वास्यदन्तविरहानलोष्ठां घूमाग्रधारां निस्सरन्तीम्।

सेवालमालां कलयन् किलास्ये समाजगामांगनया रथंगः ॥ ४.१५

सर्वे वैजय ने प्रकृति को मानवी रूप भी दिया है। सुमतिसम्भव की प्रकृति कई स्थानों पर गानय की तरह विविध भावनाओं तथा चेष्टाओं से स्फुटित है। बाल्मीकि से आरम्भ होकर प्रकृति का मानवीकरण कालान्तर में एक रूढ़ि बन गया जिसका पालन करते हुए उत्तरवर्ती कवियों ने इसे काव्य-परम्परा का रूप दे दिया है। सुमतिसम्भव में काम के दूत वसन्त के प्रयाण के समय लताएँ, पौरांगनाओं की भाँति, पृष्ठों के अधत वरसा कर तथा भ्रमर-गुंजन के मांगलिक गीत गाकर उसका अभिनन्दन करती हैं। वनदेवियाँ चम्पक के दीपों से उसकी आरती उतारती हैं। वनपत्तिः किसलय रूपी हाथ हिला कर, नदी के समान, उसके सामने नृत्य करती है। इस अपूर्व स्वागत में गर्वित हुआ वसन्त आश्रमञ्जरी के बाण का संधान करके युद्ध के लिये तैयार हो जाता है।

अनुवनमवनं ताः किल लताः पौरकान्ताः पतदसमसुमंश्चावाकिरन्मक्षतंस्तम्।

भ्रमरविरवणैस्तदगानमानन्ददात्या विदधाति दलदीव्यन्नीलचेलावृताश्च ॥

निरुपमतमसंयच्छम्पकं दीपकैः किं विरलतरविसर्पत्तृष्टपदस्तीमधूमः।

ज्वलति पथिकचित्तंः किशुकोद्यत्कुशानी तमनु च वनदेव्यो मञ्जु नीराजयन्ति ॥

प्रतिपदमनिलेनांदोल्यमाना वनाली प्रकटयति नदीवन्नाटकं पुरस्तात्।

किशलकरतलाग्रं चालयन्ती समंतात् समसमयसमुद्यद्भृंगवरांगहारैः ॥

इति नवनवनसेनासंगमर्जांतरंगः परभृतशतबन्ध्वस्तूयमानोऽभिमानो।

मधुरयमरुधत्तं योद्धुमुद्धतचूतान्कुरनिकरमनुत्यं शल्यमुल्लालयंश्च ॥ ५.२८-३१

चाण्डाल के सम्पर्क से अपवित्र हुआ व्यक्ति जिस प्रकार अपवित्रता को दूर

करने के लिये तुरन्त स्नान करता है, वैसे ही दिशाओं के मातंगों (हाथियों-चाण्डालों) को अपने हाथ से छूने वाले सूर्य के सम्पर्क से तारे अपवित्र हो गये हैं। उस पाप को धोने के लिए वे अमृतसागर (सुधांशु) में स्नान कर रहे हैं।

विस्तृतमगतं गलत्करात्.....मालिन्यमुपाजि सूर्यात् ।

तरापघस्तद्व्ययनाय नार्यं सायं मुघा स्नानमद्यत्सुधांशौ ॥४.३

सौन्दर्य-वर्णन

सर्वविजय की सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि मानव के नश्वर शारीरिक सौन्दर्य से विमुख नहीं है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के पार्वती के लावण्य के हृदयहारी वर्णन ने परवर्ती कवियों के हाथ में पड़ कर एक रूढ़ि का रूप धारण कर लिया है। उत्तरवर्ती कवियों के सौन्दर्य-चित्रण में अलंकृति तथा विच्छिन्नता की प्रवृत्ति अधिक है। कालिदास की भाषिकता तथा ताजगी का उसमें अभाव है : सर्वविजय ने भी अपने काव्य में मानव-सौन्दर्य का चित्रण करके इस रूढ़ि का पालन किया है। सुमति-सम्भव में नारी-सौन्दर्य का चित्रण श्रेष्ठी सुदर्शन की रूपसी पत्नी संपूरदेवी के वर्णन में दृष्टिगत होता है। दुर्भाग्यवश सम्बन्धित सर्ग इस वर्णन के बीच ही समाप्त हो गया है। प्राप्त अंश से स्पष्ट है कि कवि को नखशिखविधि से इष्यपत्नी के विभिन्न अवयवों का वर्णन करना अभीष्ट था। संपूरदेवी के सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिये कवि ने यद्यपि बहुधा परम्परागत उपमान ग्रहण किये हैं किंतु उसका सौन्दर्यचित्रण सजीवता से रहित नहीं है।

संपूरदेवी की वेषी अप्रतिहत योद्धा काम की तलवार है, जिमकी तीक्ष्णता तीनों लोकों को जीतने से और बढ़ गयी है। उसके माथे पर तिलक, सैन्धुभूमि में भाग्य-तुरंग के पगचिह्न के समान प्रतीत होता है। उसकी भ्रौंह को देखकर गर्वीला काम अपने धनुष पर डोरी नहीं चढ़ाता। दन्तावली में मानो लक्ष्मी का माणिक्य-कोष छिपा हो। और कटाक्षावली विश्वविजेता पुष्पायुध के स्वागतार्थ बांधी गयी भांगलिक बन्दनवार-सी प्रतीत होती है।

यद्वेणिदम्भात्मिकमयं कृपाणः सप्राणपुष्पायुधयोधपाणैः ।

जगत्त्रयनिर्जयनात्तेजाः सूषतं (?) द्विधाराजितकेशवेशः ॥२.३६

विभाति यद्भालतलछलायां खलूरकायां तिलकालिकूटात् ।

परिस्फुरद्भाग्यतुरंगमस्य पद्मालिषा खुरलीकृतः किमु ॥ २.३७

नाकी जितः सोऽपि मया पिनाकी सज्जं धनुः किं नु मुघा दधामि ।

इतीव यद्भूनिमतः स्मरोऽस्त्रं गर्वी स मौर्वीरहितं वितेने ॥ २.३८

दन्तावली दाडिमबीजदीप्तिर्वेदीप्ति नित्या वदने यदीया ।

माणिक्यकोशः किमगोपि कोऽपि पद्मे निजे सद्यति पद्मयेह ॥ २.४०

कटाक्षलक्षं क्षणमायसाक्षी चिक्षेप लक्ष्यं प्रति या बलक्षाम् ।

मेने सुमेधुस्त्रिजगज्जिगीषुस्तां सीनमात्मानिब मंगलार्थम् ॥ २.४१

कुमार का सौन्दर्य-वर्णन पुरुष-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ भी कवि ने परम्परागत नखशिख-प्रणाली को सौन्दर्य-चित्रण का माध्यम बनाया है, किन्तु इसमें व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग अधिक तत्परता से किया गया है। इस विधि से निरूपित कुमार के सौन्दर्य के सम्मुख काम का लावण्य भी मन्द पड़ जाता है।

किमधिकं बहुभिः किल जल्पितेस्तदुपमा स्वपरैरपि कल्पितैः ।

स भुवि तादृग्भूतसुषमाधिसूर्यदणुतां वृणुतां कमनः स नः ॥ ३.४४

चरित्रचित्रण

सुमतिसम्भव की कथावस्तु में केवल तीन उल्लेखनीय पात्र हैं, किन्तु उनके चरित्र का भी यथेष्ट विकास नहीं हो सका है, यह बहुत खेद की बात है। काव्य-नायक सुमतिसाधु धनकुबेर परिवार में जन्म लेकर तथा मुख-वैभव में पलकर भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हैं। माता-पिता के विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव को ठुकरा कर वे चारित्र्यलक्ष्मी का वरण करते हैं। उनका जीवन संयम, साधना तथा त्याग का कठोर जीवन है। वे निरन्तर धर्मोद्धार में तत्पर हैं। पदप्रतिष्ठा, प्रतिभास्थापना आदि उनके धार्मिक कृत्य आर्हत मत के उन्नायक हैं।

माण्डू का धनी व्यापारी जावड़ सुमतिसाधु का श्रद्धालु भक्त है। वह आबू तथा जीरपल्ली की संघयात्रा करके संघपति की गौरवशाली उपाधि प्राप्त करता है। गुरु की प्रेरणा से वह श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता है, मूर्ति-प्रतिष्ठा करवाता है तथा उदारतापूर्वक दान देकर पुण्यार्जन करता है। उसका समूचा जीवन गुरु के बुद्धिपूर्ण मार्गदर्शन से परिचालित है।

गजराज जयापुर का यशस्वी शासक है। उसका यश स्वर्गांग के तट तक फैला हुआ है। वह धनाढ्य इभ्य है। उसकी धन-सम्पदा असीम है। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मी अपने कष्टपूर्ण आवास (सागर) को छोड़कर उसके घर में रह रही हो ! गजराज के लिए धन की सार्थकता दान में है। उसके त्याग के क्षीरसागर में न वाडवाम्नि है, न कालकूट। वह जैन धर्म के उद्धार के प्रति इतना जागरूक है कि उसकी तुलना सम्प्रति आदि प्राचीन प्रभावकों से की गई है।

भाषा

(अ) सुमतिसम्भव की कथावस्तु की प्रकृति ऐसी है कि उसमें विविध मनः-स्थितियों के चित्रण का अधिक अवकाश नहीं है। इसीलिए इसकी भाषा में महा-काव्योचित वैविध्य नहीं है। काव्य में प्रायः सर्वत्र प्रसादगुणसम्पन्न प्रांजल भाषा का

प्रयोग हुआ है। भाषा में भावानुकूल परिवर्तन कवि के भाषाधिकार का द्योतक है। प्रकृति-वर्णन, सौन्दर्यचित्रण आदि प्रसंगों में कवि के भाषा-कौशल का दिग्दर्शन किया गया है। सर्वविजय ने भाषा के प्रयोग में परम्परा को दयावत् ग्रहण किया है। काव्य में सर्वत्र प्रसाद की अन्तर्धारा प्रवाहित है। प्रसादगुण पर आधारित वैदर्भी रीति में माधुर्यव्यञ्जक वर्णों तथा समासरहित अथवा अल्पसमासयुक्त पदावली के प्रयोग का विधान है। वसन्त, शृङ्गार, पौर युवतियों के सम्भ्रम-चित्रण आदि प्रसंगों में सरल, मुदुल, अनुप्रासमय तथा अल्पसमासयुक्त भाषा से वैदर्भी के प्रति कवि का पक्षपात स्पष्ट है। काम का दूत वसन्त मलयमारुत के मदमस्त हाथी पर बैठ कर, सम्राट् की तरह, पूरे ठाटबाट से सुमतिनाथु को विचलित करने के लिए प्रस्थान करता है।

स किल मलयवातं मतमातंगनाथं प्रकटपरिमलोद्यद्भृंगमालासनाथम् ।

तमधि समधिरह्य प्राचलत्कोकिलालिक्वणितनिभृतभेरीभाङ्कृतिपूरिताभ्रः ॥

चलति सबलमस्मिन् विस्मितानेकलोके मयमयहृदयाः के के न चेलुस्त्रिलोषयाम् ।

तद्वनघनकंप्रेश्चोपपन्नाः कुलेन प्रतिकुलमचलास्ते प्राक् चलन्तीति शङ्के ॥

तरहिह सहकारः कोकिलार्किणीभिः सह वहति विनीलछत्रतामस्य मौली ।

प्रतिदिशमुडुपालीपांडरा पुण्डरीकावलिरलभत चंचच्चाभरत्वं च तस्य ॥४.१६.१८

भावानुकूल भाषा की दृष्टि से कुमार को देखने को लाभायित पौर नारियों की अधीरता का चित्रण उल्लेखनीय है। यद्यपि सर्वविजय ने इसे केवल कविसमय के रूप में, काव्य में, स्थान दिया है और यह पूर्ववर्ती कवियों के वर्णनों से अनुप्राणित तथा प्रभावित है तथापि कवि ने जिस पदावली के द्वारा उसे चित्रित किया है, वह पुर-सुन्दरियों की उत्सुकता, सम्भ्रम तथा अधीरता को व्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम है।

उच्चार्य चाटूनि चिरं वचांसि भोमोचयेत् कुत्रचनावकाशम् ।

काचिन्मृगाक्षी स्वसखीजनेन गवाधया संक्षु निरीक्षणाय ॥ ४.२५

काचिच्च कान्ता निजनेत्रमेकं शलाकया सांजनमारचय्य ।

अनंजनेनापरलोचनेन विलोकनार्थं कुतुकावचालीत् ॥ ४.२७

गर्बिले काम तथा वीतराग सुमतिसाधु के प्रतीकात्मक युद्ध के वर्णन की भाषा को सामान्यतः ओजपूर्ण कहा जा सकता है, किन्तु, वास्तव में, वह भी प्रमाद से ओत-प्रोत है। इसका कारण यह है कि यह राज्यलोलुप राजाओं का युद्ध नहीं है, न इसकी परिणति नरसंहार में हुई है।

(आ) पाण्डित्य-प्रदर्शन : चित्रकाव्य

ललित तथा सुबोध भाषा सर्वविजय की सुरुचि की परिचायक है। किन्तु वह चित्रकाव्य-शैली के आकर्षण से पूर्णतः नहीं बच सका है। भारवि से प्रारम्भ होकर

शाब्दी-क्रीड़ा उत्तरवर्ती महाकाव्यों में एक रूढ़ि के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। जैन कवि भी इन भाषात्मक कलावाजियों में पीछे नहीं रहे हैं। सुमतिसम्भव के छठे सर्ग में, पट्टपरम्परा के वर्णन में, कवि ने भाषा के उत्पीड़न के द्वारा अपना रचनाकौशल प्रदर्शित किया है। इस सर्ग में उसने कुछ ऐसे पद्यों की रचना की है, जिनमें केवल एक, दो अथवा अवर्गीय वर्णों का ही प्रयोग हुआ है। यह भाषायी जादूगरी काव्य में चमत्कार तो उत्पन्न करती है किन्तु इससे काव्य की बोधगम्यता में अनावश्यक बाधा आती है। टीका के बिना इस चित्रकाव्य के मर्म को समझना प्रौढ़ पण्डितों के लिए भी सम्भव नहीं। सुमतिसम्भव में ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं, यह सन्तोष की बात है। कतिनय पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं, जिनसे सर्वविजय के भाषाधिकार का आभास मिल सकेगा।

रत्नशेखर के पट्टधर गुरु लक्ष्मीसागर के वर्णन-प्रसंग के निम्नोक्त पद्य में मुख्यतः केवल एक व्यंजन 'त्' प्रयुक्त किया गया है।

तत्तत्तं तततात्तास्ति ततो नु ते ततांततम् ।

अतंति ते तं तांतौ तं तोमुत् नूततेतिता ॥ ६.२७

प्रस्तुत पद्य की रचना केवल दो व्यंजनों—ट तथा ट् के आधार पर हुई है। इसमें देवसुन्दरसूरि का वर्णन किया है। काव्य में इस कोटि के तीन अन्य पद्य उपलब्ध हैं।

ईदिंदरोऽवरोदारादर दारेदिरोदरे ।

अदाददारेदो दारे दुरोदरादिरोदरे ॥ ६.१६

लक्ष्मीसागरसूरि के चरित के सन्दर्भ में सबसे अधिक चित्रकाव्यात्मक पद्यों की रचना की गयी है। उपर्युक्त पद्यों के अतिरिक्त, यह पद्य स्पर्श व्यंजनों से पूर्णतया रहित है।

लीलावल्लयवल्लास्यविलासी लावशाशये ।

शशालि यस्य शालोऽसाविलशैलो रसालयः । ६.३१

निम्नोक्त पद्य में दन्त्य व्यंजनों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यंजन का प्रयोग नहीं हुआ है।

अनाददानो निदानं निदानं दाननोदने ।

अनेनो नंदनोऽदीनो नदीननिनदंदेषः ॥ ६.४६

अलंकारविधान

किन्तु विद्वत्ता का प्रदर्शन करना कवि को अभीष्ट नहीं है। उसका प्रमुख उद्देश्य जैनाचार्य के गौरवगान के द्वारा धर्म की प्रभावना करना है। इसीलिए सुमति-सम्भव अलंकारित के भार से आक्रान्त नहीं है। काव्य में बहुत कम अलंकारों का प्रयोग हुआ है। जहाँ वे सहज भाव से आए हैं, वहाँ भावाभिव्यक्ति को स्पष्टता मिली

है। अनुप्रास तथा श्लेष कवि के प्रिय अलंकार हैं। काव्य के अधिकतर भाग में ये दोनों अलंकार स्वतंत्र अथवा अन्य अलंकारों के अवयवों के रूप में विद्यमान हैं। प्रपञ्चया ग्रहण करने के लिए गुरु से प्रार्थना करते हुए कुमार के वर्णन में अनुप्रास की मधुरता है।

इत्याद्युद्यन्तं समुवं वदन्तमेतं समेतं स्वजनैरनेकैः।

विमायथाचापि स निश्चिकायाचिराय चारित्रधुराधुरीणम् ॥ ४.३५

सुमतिसम्भव में यद्यपि श्लेष को पर्याप्त स्थान मिला है किन्तु उसका स्वतंत्र प्रयोग केवल चित्रकूट के वर्णन में हुआ है। प्रस्तुत पद्य में यौवन एवं भवन तथा नूपुर एवं पुर का श्लिष्ट निरूपण किया गया है।

यौवनानि भवनानि यत्प्रजाः शोभयन्ति परमत्तवारणैः।

नूपुराणि च पुराणि चक्रिरे सर्वदारचितमोहनान्यहो ॥ १.२१

पीर ललनाओं के सम्पन्न के चित्रण में एक युवती, कुलीन होती हुई भी पण्यांगना का-सा व्यवहार कर रही है। उसके आचरण में विरोधाभास है।

योषा मुखान्तर्गतनागवल्लीदला चलकुण्डलकर्णदोला।

काञ्चिकुलीनापि कुतूहलेन पण्यांगनारंगमरं ररंग ॥ ४.३०

इस प्रसंग में कुछ सुन्दर स्वभावोक्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। कोई स्त्री पैर पर महावर लगा रही थी। तभी उसे कुमार के आगमन की सूचना मिली। वह महावर बीच में छोड़कर गवाक्ष की ओर दौड़ गयी। गीले यादक से गवाक्ष तक उसके पगचिह्नों की कतार बन गयी।

अग्या च धन्या पदयोः प्रवाय तदायतं यावकमाद्रंभावात्।

तद्वीक्षणालक्षितयाऽऽगवाक्षादभूधयद् भूतलमंत्रिप्रायतः ॥ ४.२८

निम्नलिखित पद्य में श्रेष्ठी गजराज के यश को आकाशगंगा के तट पर क्रीड़ा करते हुए चित्रित किया गया है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति है।

यदीयदीव्यद्यशसां कलापः स्वर्वापिकासैकतकेलिलोलः।

रवंः किर्भरावणमिट करोति वानाय विद्वन्मधुपानुदास्यान् ॥ २.२८

इनके अतिरिक्त सुमतिसम्भव में उत्प्रेक्षा, मालोपमा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टांत, यमक, यथासंख्य, सन्देह आदि को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। कुछ अलंकारों का संकर भी हुआ है।

छन्दयोजना

सुमतिसम्भव में छन्दों का विधान शास्त्र का अनुगामी है। कुल मिलाकर काव्य में २२ छन्द प्रयुक्त किये गये हैं। इनमें उपजाति की प्रधानता है।

प्रथम सर्ग का मुख्य छन्द रथोद्धता है। प्रारम्भ के दो तथा अन्तिम दो पद्य क्रमशः शार्दूलविक्रीडित, पृथ्वी, पुष्पिताग्रा तथा आर्या में हैं। द्वितीय सर्ग का उपलब्ध

सारा भाग उपजाति में लिखा गया है। तृतीय सर्ग के प्राप्त अंश में द्रुतविलम्बित की प्रधानता है। अन्त में उपजाति, पुष्पिताशा, औपच्छन्दसिक, मन्दाक्रान्ता तथा आर्या छन्द प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ सर्ग की रचना उपजाति में हुई है। सर्गान्त के पद्य शार्दूल-विक्रीडित तथा आर्या में हैं। पांचवें, छठे तथा सातवें सर्ग में क्रमशः मालिनी, अनुष्टुप् तथा वियोगिनी की रचना का आधार बनाया गया है। छठे सर्ग का प्रथम पद्य गीति में है। सर्गान्त में रामगिरी राग, अनुष्टुप् तथा आर्या का प्रयोग किया गया है। सप्तम सर्ग के अन्तिम तीन पद्य क्रमशः द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित तथा आर्या में निबद्ध हैं। अष्टम सर्ग के प्राप्त भाग में जो छन्द प्रयुक्त हुए हैं, वे इस प्रकार हैं - द्रुतविलम्बित, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, लग्निणी, भुजंगप्रयात, रथोद्धता, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, मालिनी, पृथ्वी तथा आर्या। इस सर्ग में दो पद्य इस प्रकार खण्डित हैं कि उनका छन्द ज्ञात करना कठिन है।

सुमतिसम्भव में ऐतिहासिक वृत्त

पहिले कहा गया है कि सुमतिसम्भव संघपति जावड़ के इतिहास का प्रामाणिक स्रोत है। सर्वविजयगणि जावड़ और उसके परिवार का विश्वसनीय इतिहासकार है। काव्य में उसने संघपति के वंश, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धार्मिक गतिविधियों का यथार्थ चित्र अंकित किया है।

सुमतिसम्भव के लेखक ने अपना विवरण जावड़ के पितामह गोल्ह से प्रारम्भ किया है। जावड़ का पिता राजमल्ल लक्ष्मी का साक्षात् कोश था^६। कवि के अन्य काव्य आनन्दसुन्दर में जावड़ के परिवार की पूरी वंशावली दी गयी है। उसकी यहाँ आवृत्ति करना कवि ने आवश्यक नहीं समझा। सुमतिसम्भव जावड़ के पूर्वजों की सामाजिक तथा राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में मौन है, किन्तु अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि हापराज को छोड़कर उसके सभी पूर्वज संघपति थे। जावड़ के तीन पूर्वज तो मादव के शासकों के दरबार में प्रतिष्ठित पदों पर आसीन थे^७। इन्हीं स्रोतों से पता चलता है कि जावड़ को भी राजदरबार में सम्मानित पद प्राप्त था। सुल्तान थासुद्दीन ने उसे 'उत्तम व्यवहारी' की उपाधि से विभूषित तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त किया था^८। सुमतिसम्भव में उसके लिए प्रयुक्त 'लघुशालिभद्र'^९ विरुद्ध उसकी असीम समृद्धि को व्यक्त करता है।

जावड़ ने, विशाल संघ के साथ, आबू तथा जीरपल्ली की यात्रा की थी।

६. निधानलच्छियाम्। सुमतिसम्भव, ७.१६

७. आनन्दसुन्दर, पृ० ७, ६, ११

८. व्यवहारिशिरोरत्नानुकारि तथा गंजाधिकारी। आनन्दसुन्दर की पुष्पिका

९. सुमतिसम्भव, ७.२१

सुमतिसम्भव के अनुसार इस संघ-यात्रा पर उसने अतन्त धन व्यय किया था^{१०}। इस यात्रा के फलस्वरूप ही उसे संघनायक की गौरवसूचक उपाधि प्राप्त हुई थी^{११}। सेठ जावड़ ने कोई और तीर्थयात्रा की थी अथवा नहीं, यह उसके इतिहास के किसी आधारग्रंथ से ज्ञात नहीं होता।

अपने पिता की भाँति जावड़ ने भी अपने गुरु, सुमतिसाधुसूरि को गुजरात से माण्डू में निमन्त्रित किया तथा एक भव्य आयोजन के द्वारा उनका अभिनन्दन किया था। इस अवसर पर किस प्रकार सजे हुए हाथियों तथा धोड़ों का जलूस निकाला गया, किस प्रकार वादकों ने विविध वाद्य बजा कर गुरु का स्वागत किया, किस प्रकार समाज के सभी वर्ग—हिन्दू, मुसलमान आदि—उनके आगमन से हर्षित हुए तथा सेठ ने किस उदारता से याचकों में बहुमूल्य परिधान तथा अन्य वेशकीमती वस्तुएँ वितरित कीं, इसका रोचक वर्णन सुमतिसम्भव में विस्तारपूर्वक किया गया है^{१२}।

गुरु के सान्निध्य तथा देशना से जावड़ को सर्वप्रथम जो कार्य करने की प्रेरणा मिली, वह था श्रावक के बारह व्रतों का ग्रहण करना। इनमें से प्रथम पाँच 'अणुव्रत' के नाम से ख्यात हैं। 'गुणव्रत' नामक द्वितीय व्रत-समुदाय के अन्तर्गत छठा, सातवाँ तथा आठवाँ व्रत आता है। अन्तिम चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। जावड़ ने इन सभी व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन किया। किन्तु कुछ व्रतों का पालन करने की उसकी विधि बहुत विचित्र थी। उदाहरणार्थ चतुर्थ व्रत, ब्रह्मचर्य के अंतर्गत उसने दाम्पत्य निष्ठा को निभाते हुए बत्तीस स्त्रियाँ रखने का अपना अधिकार सुरक्षित रखा^{१३}। निस्सन्देह यह उसने पूर्वोक्त शालिभद्र के अनुकरण पर किया। जावड़ की वस्तुतः चार धर्मपत्नियाँ थीं^{१४}। प्राचीन राजपूती परम्परा के अनुरूप, जो कुछ पीढ़ियों पूर्व तक राजपूत-मूलक जैन परिवारों में भी प्रचलित थी, अन्य स्त्रियाँ उसकी रखलें रही होंगी।

अपरिग्रह नामक पंचम व्रत से, जिसके अनुसार निजी सम्पत्ति को सीमित करना होता है, जावड़ ने निम्नोक्त क्रम में, इन वस्तुओं को अपने अधिकार में रखा—
 १००,००० मन अनाज, १००,००० मन तेल तथा घी, १००० हल, २००० बैल,
 १० भवन तथा मण्डियाँ, ४ मन चाँदी, १ मन सोना, ४ मन मोती, ३०० मन मणियाँ, १० मन साधारण धातुएँ (ताँबा, पीतल आदि), २० मन प्रवाल,
 १००,००० मन गुड़, २०० मन अफीम, २००० गधे, १०० गाड़ियाँ, १५०० घोड़े,
 १०. बही, ७.२४
 ११. बही, ७.८६
 १२. बही, ७.२६-३३
 १३. बही, ७.३६
 १४. आतन्दसुन्दर, पृ० १७

५० हाथी, १०० ऊँट, ५० खच्चर, २,०००,००० टंक^{१५}। इन अंकों से प्राचीन माण्डू के 'व्यवहारिश्चिरोरत्न' की समृद्धि का अन्दाज किया जा सकता है।

सातवें व्रत के अनुसार, जो दैनिक खपत तथा प्रयोग की वस्तुओं की संख्या और परिमाण को सीमित करता है, उसने प्रतिदिन अधिकाधिक इन वस्तुओं का प्रयोग करने का प्रण किया—चार सेर घी, पांच सेर अनाज, पेयजल के पांच सौ बड़े, सौ प्रकार की सब्जियाँ, संख्या में पांच सौ तथा तेल में एक मन फल, चार सेर सुपारी, २०० पान, एक लाख मूल्य के आभूषण, सौ टंक कीमत के प्रसाधन, एक मन फून, स्नानीय जल के आठ कलश, परिधान के सात जोड़े तथा इसी प्रकार सीमित अन्य वस्तुएँ, जिनकी सूची बहुत लम्बी है^{१६}।

अपनी धर्मनिष्ठा के अनुरूप जावड़ ने सम्वत् १५४७ में, माण्डू में जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई। इनका अभिषेक उसके गुरु, आचार्य सुमतिसाधु ने किया था। वे प्रतिमाएँ संख्या में १०४ थीं—अतीत के २४ तीर्थंकरों की एक-एक, भविष्य के २४ तीर्थंकरों की एक-एक, वर्तमान २४ तीर्थंकरों की एक-एक, २० विहरमाण तीर्थंकरों की एक-एक, उक्त प्रति २४ तीर्थंकरों के तीन सामूहिक मूर्तिपट्ट, बीस विहरमाण तीर्थंकरों का एक सामूहिक मूर्तिपट्ट तथा ६ पंचतीर्थियाँ। २३ सेर की एक चाँदी की मूर्ति तथा ११ सेर की एक स्वर्ण-प्रतिमा को छोड़कर शेष सभी मूर्तियाँ पीतल की बनी हुई थीं। उन्हें मणि-खचित छत्रों तथा बहुमूल्य आभूषणों से सजाया गया था। मूर्ति-स्थापना के उपलक्ष्य में आयोजित उत्सवों, जावड़ द्वारा दिये गये उपहारों तथा भारत के कोने-कोने से आए हुए संघों का भी सूक्ष्म वर्णन काव्य में किया गया है^{१७}।

इससे महेष्म्य जावड़ की सम्पन्नता, उदारता, संयम, सामाजिक सम्मान तथा धर्मपरायणता की कल्पना सहज ही की जा सकती है^{१८}।

अपनी परिसीमाओं में सुमितसम्भव अच्छा काव्य है। इस श्रेणी के काव्यों में किसी व्यापक जीवन-दर्शन अथवा उदात्त कवित्व की आशा नहीं की जा सकती। फिर भी, सर्वविजय साहित्य को ऐसा काव्य देने में समर्थ हुआ है, जो कवित्व की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है। जावड़ के इतिहास की तो यह अमूल्य निधि है।

१५. सुमितसम्भव ७.४०-४६

१६. वही, ७.४६-५७

१७. वही, ८.३-२४

१८. जावड़ का इतिहास प्रस्तुत करने में हमें 'मध्यप्रदेश इतिहास-परिषद्' की पत्रिका, अंक ४, १९६२, पृ० १३१-१४४ में प्रकाशित डॉ० काउशे के उत्तम निबन्ध 'जावड़ ऑफ माण्डू' से पर्याप्त सहायता मिली है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

१८. विजयप्रशस्तिमहाकाव्य : हेमविजयगणि

वर्तमान रूप में विजयप्रशस्तिमहाकाव्य^१ इक्कीस सर्गों की बृहत्काय कृति है। इसके आरम्भिक सोलह सर्ग ही हेमविजय की लेखनी से प्रसूत हैं, शेष पांच सर्ग उनके सहपाठी के शिष्य गुणविजयगणि की रचना है। इस प्रकार कादम्बरी की भाँति विजयप्रशस्ति द्विकर्तृक रचना है। भूषणभट्ट ने कादम्बरी के उत्तरार्द्ध के द्वारा जहाँ अपने पिता का साहित्यिक तर्पण किया है, वहाँ विजय-प्रशस्ति की पूर्ति करके गुणविजय ने पितृतुल्य गुरु की आज्ञा का पालन किया है^२। लेकिन पांच सर्गों की चन्द्रशाला उसारने के बाद भी इस महल की अपूर्णता में विशेष कमी नहीं आई है।

विजयप्रशस्ति का प्रतिपाद्य तपायच्छ के प्रभावी आचार्य विजयसेनसूरि का साधुजीवन है पर जिस रूप में उसे निरूपित किया गया है, उसमें वह हीर-विजय के व्यक्तित्व के प्रखर प्रकाश के सामने मन्द पड़ गया है। हीरसीमाश्रय, देवानन्दाभ्युदय, दिग्विजयमहाकाव्य आदि धर्माचार्यों के जीवन पर आधारित चरित्रात्मक काव्यों के विपरीत विजयप्रशस्ति में विजयसेन का विवरण काव्य-सज्जा के परिपार्श्व में प्रस्तुत नहीं किया गया है। काव्यमाधुरी का परित्याग करने पर भी विजयप्रशस्ति का चरित्रपक्ष समृद्ध नहीं बन सका है।

विजयप्रशस्ति का महाकाव्यत्व

विजयप्रशस्ति आलोच्य युग के उन महाकाव्यों में है, जिनमें शास्त्रीय नियमों का पूर्णतया पालन नहीं हुआ है। मेवाड़ तथा काव्यनायक की जन्मभूमि नारदपुरी के वर्णन से, काव्य के प्रारम्भ में, कवि ने सन्नगरीवर्णन की आवश्यकता की पूर्ति की है, जो मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा आदि के साथ काव्य की सन्धानुकूलता को द्योतित करती है। अभिजात वैश्यवंश में उत्पन्न विजयसेन, शमवृत्ति की प्रधानता के कारण, काव्य के धीर-प्रशान्त नायक हैं। यद्यपि विजयसेन का नायकत्व निर्विवाद है, किन्तु उनके गुरु हीरविजय का व्यक्तित्व काव्य में इतना तेजस्वी तथा गरिमापूर्ण है कि उसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। वे निश्चित

१. गुणविजयगणि की विजयप्रदीपिका-सहित, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित, ग्रंथंक २३, वीरसम्बत् २४३७

२. इतस्तस्य कवीन्द्रस्य देवाद् विबभूषेपुषः ।

पश्चाद् मयाथ विवृतं तत्काव्यं गुरुशासनात् ॥ टीकाप्रशस्ति, ५६

रूप से नायक-पद के अधिकारी हैं। महाकाव्य में एकाग्रिक नायकों के अस्तित्व की परम्परा बहुत प्राचीन है। निस्स्पृह धर्माचार्य के सर्वत्यागी जीवन से ओतप्रोत काव्य में शान्तरस की प्रधानता स्वाभाविक है। रौद्र, वात्सल्य, कर्षण आदि रसों का भी विजयप्रशस्ति में यथास्थान चित्रण हुआ है, जो अंगी रस से मिलकर काव्य में रसवत्ता की यथेष्ट सृष्टि करते हैं। विजयसेन के तपागच्छ के महान् प्रभावकों में प्रतिष्ठित होने के कारण विजयप्रशस्ति के कथानक को 'प्रख्यात' मानना न्यायोचित है। इसकी रचना का मूलाधार धर्म-प्राप्ति का उदात्त उद्देश्य है। कवि के शब्दों में 'धर्म भवसागर का पान करने वाला अगस्त्य है'। धन-वैभव की अनित्यता तथा निस्सारता को रेखांकित करके समाज को धर्म में प्रवृत्त करना काव्य का लक्ष्य है। विजयप्रशस्ति में महाकाव्य के अन्य तात्त्विक लक्षणों का नितान्त अभाव है। इतिवृत्त में ललित्य तथा माधुर्य का संचार करने वाले प्रकृति तथा वस्तुव्यापार के रोचक वर्णनों के लिए काव्य में अवकाश नहीं है। चित्र-विश्लेषण से भी कवि पूर्णतया उदासीन है। सारा काव्य प्रज्ञा-ग्रहण, विहार, प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनों से परिपूर्ण है, जो कहीं-कहीं कवित्वपूर्ण होते हुए भी बहुधा नीरस हैं। किन्तु विजयप्रशस्ति को सामान्यतः महाकाव्य मानने में आपत्ति नहीं हो सकती।

रचनाकाल

विजयप्रशस्ति में प्रान्तप्रशस्ति का अभाव है, अतः इसका निश्चित रचना-काल ज्ञात नहीं है। गुणविजय ने टीकाप्रशस्ति में इसका कुछ संकेत किया है। टीका-प्रशस्ति के अनुसार विजयप्रशस्ति हेमविजय के साहित्यिक प्रासाद का स्वर्ण-कलश है। इसका सीधा अर्थ है कि यह कवि की अन्तिम रचना है, जो उसकी मृत्यु के कारण अधूरी रह गयी थी। गुणविजय ने अन्तिम पांच सर्ग जोड़ कर इसे पूरा करने की चेष्टा की है। उसने इस पर 'विजयप्रदीपिका' टीका भी लिखी, जिसकी पूर्ति स्वयं उसके कथनानुसार, सम्वत् १६८८ में हुई थी।

विजयप्रशस्तिकाव्यप्रकाशिका विजयदीपिका टीका।

विदधे विक्रमनूपतेर्वर्षे वसुवसुनूपप्रमिते ॥५॥

हेमविजय का पार्श्वनायकरित सम्वत् १६३२ की रचना है। ऋषभशतक की पूर्ति सं० १६५६ में हुई। कथारत्नाकर सम्वत् १६५७ में लिखा गया। विजय-प्रशस्ति के हेमविजय द्वारा रचित सौत्रह सर्गों में सम्वत् १६५५ तक की घटनाएँ वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि ऋषभशतक, कथारत्नाकर, विजयप्रशस्ति आदि कई

३. संसारनीराकरकुम्भजन्मा धर्मस्तथाभ्यां बहुमन्यते स्म। विजयप्रशस्ति, ११.२६

४. इत्यादिग्रन्थविधौ सीधे कलशाधिरोपणस्वर्णम्।

विजयप्रशस्तिकाव्यं तेन कृतं विजयसेनगुरोः ॥ टीकाप्रशस्ति, ५५

ग्रन्थों का प्रणयन एक साथ चल रहा था। ऋषभशतक तथा कथारत्नाकर तो पूरे हो गये, विजयप्रशस्ति कवि के निधन के कारण अधूरी रह गयी। अतः हेमविजय का मूल काव्य निश्चित रूप से १६५५ सं० के बाद की रचना है। सतरहवें सर्ग का आरम्भ सम्बत् १६५६ में विद्याविजय को पट्टधर प्रतिष्ठित करने के प्रसंग से होता है। अन्तिम पाँच सर्ग स्पष्टतः सम्बत् १६५६ के पश्चात् लिखे गये होंगे। समूचे काव्य को सम्बत् १६५५ तथा १६८८ (टीका का रचना काल) अर्थात् सन् १५६८ तथा १६३१ ई० की मध्यवर्ती रचना मानना युक्तिपूर्ण होगा।

कथानक

काव्य का प्रारम्भ मेवाड़ की प्रसिद्ध नगरी नारदपुरी (नडुलाई) तथा वहाँ के धनवान् व्यापारी कमा तथा उसकी रूपसी पत्नी कोडिमदेवी के वर्णन से होता है। द्वितीय सर्ग में उक्त दम्पती के पुत्र काव्यनाथक का जन्म, शैशव तथा विद्या-भ्रमण वर्णित है। तृतीय सर्ग में पूर्वाचार्यों, विशेषतः विजयदानसूरि तक तपागच्छ के आचार्यों की परम्परा का निरूपण किया गया है। चतुर्थ सर्ग में विजयदानसूरि के भावी पट्टधर हीरविजय के जन्म, प्रश्रय्या तथा क्रमशः पण्डित, उपाध्याय एवं आचार्य पद प्राप्त करने का वर्णन है। हीरहर्ष (हीरविजय) को, भार्गशीर्ष शुक्ला दशमी, सम्बत् १६१० को सिरौही में आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। पाँचवें सर्ग में जयसिंह, सूरत में, अपनी माता के साथ विजयदानसूरि से तापस-व्रत ग्रहण करता है। यहीं कुमार जयसिंह को देखने को लालायित पुरसुन्दरियों के सम्भ्रम का रोचक चित्रण किया गया है। छठे सर्ग में विजयदान, जयविमल (जयसिंह का दीक्षोत्तर नाम) की शिक्षा तथा अनुशासन का दायित्व हीरविजय को सौंपते हैं। विजयदान के निर्वाण (सम्बत् १६२१) के पश्चात् हीरविजय गच्छ के सूत्रधार बनते हैं। शासनदेव के आदेश से वे जयविमल को क्रमशः उपाध्याय तथा आचार्य पद प्रदान करते हैं। इसके बाद जयविमल विजयसेन नाम में ख्यात हुए। आठवें सर्ग में हीरविजय, अहमदाबाद में, पौष कृष्ण दशमी, सम्बत् १६३० को अपने पट्टधर विजयसेन का वन्दनोत्सव सम्पन्न करते हैं। चतुर्मास के लिये हीरविजय गन्धार प्रस्थान करते हैं, विजयसेन पाटन की ओर। नवें सर्ग में मुगल सम्राट् अकबर के निमन्त्रण पर हीरविजय, सम्बत् १६३६ की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को, गन्धार से फतेहपुरी पहुँचते हैं। अकबर ने परमात्मा के स्वरूप के विषय में हीरसूरि के साथ दो बार गम्भीर विमर्श किया तथा आचार्य की प्रेरणा से वर्ष में बारह दिन के लिये राज्य में जीवहत्या वर्जित कर दी। दसवें सर्ग में विजयसेन, पाटन में, खरतरगच्छीय श्रीसागर को चौदह-दिवसीय विवाद में परास्त करते हैं। ईडरवामी महेन्द्र स्थिर का पुत्र, वासकुमार, अपनी माता के साथ अहमदाबाद में, सम्बत्

१६४३, माघ शुक्ला दशमी को विजयसेन से तापसन्नत ग्रहण करता है। ग्यारहवें सर्ग में अकबर के अनुरोध से हीरविजय विजयसेन को, सम्राट् को प्रतिबोध देने के लिये लाहौर भेजते हैं। अकबर शत्रुजय-यात्रा को करमुक्त कर देता है और उसका अधिकार हीरसूरि को प्रदान करता है। बारहवें सर्ग में विजयसेन लाहौर पहुँचकर जैनधर्मविषयक परमात्मा के स्वरूप के बारे में सम्राट् का सन्देह दूर करते हैं तथा भानुचन्द्र का नन्दि-उत्सव सम्पन्न करते हैं जिस पर अकबर के प्रधानमन्त्री अबुल-फजल ने मुक्तहस्त से व्यय किया। तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में क्रमशः उन्नतपुर (ऊना) में हीरविजय की रुग्णता तथा निधन (सं० १६५३, भाद्रपद शुक्ला एकादशी) का वर्णन है। शोकाकुल विजयसेन गच्छ का अधिपत्य ग्रहण करते हैं। अगले दो सर्गों में विजयसेन अहमदाबाद तथा सिकन्दरपुर में जिनप्रतिमाओं की स्थापना करते हैं और विद्याविजय (वासकुमार) को पण्डित-पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। गुणविजयकृत अन्तिम पाँच सर्गों में विजयसेन द्वारा विद्याविजय को पट्टधर अभिषिक्त करना, प्रतिमा, प्रतिष्ठा, फिरंगियों के समक्ष आर्हेन धर्म का तत्त्व-विवेचन करना आदि घटनाएँ वर्णित हैं। अपने शासनकाल में आचार्य विजयसेन ने आठ शिष्यों को उपाध्यायपद प्रदान किया तथा सैकड़ों को पण्डित-पद पर प्रतिष्ठित किया, जो विभिन्न विषयों के दिग्गज विद्वान् हुए।

विजयप्रशस्ति में इस प्रकार हीरविजय तथा उनके पट्टधर विजयसेन का धार्मिक चरित्र निरूपित है। मूल रचना (१६ सर्ग) में आचार्य हीरसूरि का व्यक्तित्व प्रमुख है। इस भाग में विजयसेन के जीवन की कुछ ही घटनाओं की चर्चा हुई है। अन्तिम पाँच सर्ग विजयसेनसूरि के इतिवृत्त को आगे बढ़ाते हैं।

रसयोजना

विजयप्रशस्ति इतिवृत्तप्रधान काव्य है। इसके कथानक की प्रकृति तथा वातावरण के अनुरूप इसमें महाकाव्यसुलभ तीव्र रसवृत्ता का अभाव है। यह इसकी बहुत बड़ी त्रुटि है। शान्तरस के प्रति कवि के पक्षपात के कारण इसे काव्य का अंगी रस माना जा सकता है। शान्तरस की अभिव्यक्ति के काव्य में अनेक स्थल हैं। विविध पात्रों के प्रव्रज्या ग्रहण करने तथा धर्मोपदेशों आदि के अन्तर्गत काव्य में शान्तरस की व्यञ्जना हुई है। कवि के साहित्यशास्त्र में शान्तरस रसरस के पद पर आसीन है (श्रीशान्तो रसाधिपः-१२-१५३)। संवेगोत्पत्ति के पश्चात् कुमार जयसिंह को संसार असार, नारी मोक्षमार्ग की अगला तथा गृहस्थता मदिरा के समान भ्रमजनक प्रतीत होती है। उसे संयम में ही सच्चा सुख दिखाई देता है। उसकी यह शमवृत्ति शान्तरस में परिणत हुई है।

अथ शिवाग्नि निवद्धधियां नृपानघनिदानमभाणि जिनेन या।

मम तदम्ब ! गृहस्थतया तया किमधुना मधुना महतामिव ॥ १.१०

न विरसासु मरुष्विव हस्तिनां भवति यासु रतिः सुखकृद् नृणाम् ।

बुधजनैः पथिकाः पथि पाप्मनः सुनयना नयनाशङ्कितः स्मृताः ॥ ५.११

विजयप्रशस्ति में रौद्र, वात्सल्य तथा करुण अंगी रस के पोषक हैं, यद्यपि रौद्र की शान्तरस से स्पष्ट विसंगति है। हेमविजय ने रौद्ररस को पल्लवित करने की चेष्टा भी नहीं की है। स्वप्नदृष्ट सिंह वन्य हाथियों को डराने के लिये दहाड़ छोड़ता हुआ, आँखों से आग बरसाता हुआ और जीभ लपलपाता हुआ साक्षात् रौद्र रस प्रतीत होता है।

स्तम्बेरमत्रासनिदाननादक्षुब्धाखिलक्षोणितलं सहेलम् ।

सोद्ध्योतविद्युद्द्युतिजित्वराक्षिद्वयीकमद्वैततरोवरोरुम् ॥ २.२

गुंजातुले तालुनि पद्मपत्रमित्रं रसज्ञांकुरमादधानम् ।

व्यात्ताननं काननकुंजराजं रौद्रं रसं मूर्त्तमिवोत्प्रमूर्त्तिम् ॥ २.३

शैशव-वर्णन वात्सल्य की निष्पत्ति की उर्वर भूमि है। शिशु जयसिंह की बालकेलियों के चित्रण में वात्सल्यरस की मधुर अभिव्यक्ति हुई है। वह अपनी भोली तथा अस्पष्ट वाणी, बालसुलभ चपलताओं तथा अन्य चेष्टाओं से माता-पिता का मन मोहित कर लेता है।

रिखन् प्रजल्पन्निपतन् प्रपश्यन्नश्नन् विनिघ्नन् प्रहसन् पिबंश्च ।

पित्रोर्मुदेऽभूज्जयसिंहशावः सतां समस्तं हि मुदा निधानम् । २.५६

हंसीव फुल्लं नवपुण्डरीकं हृष्टा हृदाम्बाऽथ समालिखितम् ।

पुष्पं सदामोदमिवाल्लिनी तं माता मुहुश्चारु चुचुम्ब मूर्ध्नि ॥ २.६७

मध्ययुगीन साहित्य में करुणरस का चित्रण एक निश्चित ढर्रे पर हुआ है। उसका आदर्श भवभूति है, जिन्हें करुण रस के मुकुटहीन सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। भवभूति के समान मध्यकालीन कवियों की करुणा तीव्रता तथा मार्मिक व्यंजना से शून्य है। क्रन्दन को ही उसका पर्याय मान लिया गया है। विजय-प्रशस्ति का करुणरस भी इसी कोटि का है। आचार्य हीरविजय की मृत्यु से उद्भूत व्यापक शोक को कवि ने विजयसेन तथा श्रावकों के विलाप के रूप में व्यक्त किया है।

विहाय नित्यं मलिनामिहत्यां तनुं मनोज्ञां च सुपर्वयोनेः ।

गुरुगुणी ग्रामधुनीं विमुच्य नभोनदीं हंस इव प्रपेदे ॥ १४.३६

पवे पदे मूर्च्छदवारबाण्डा महेभ्यमुल्या गृहमेधिनश्च ।

महोत्सवाडम्बरसुन्दरं ते सुरा इवैनां शिविकामथोदुः ॥ १४.४१

सगःघसारागुरुमुख्यदारुभराक्षितायां शुचिमच्चित्तयाम् ।

तदाथ संस्कारमकार्षुरेते प्रभोस्तनोः किं तमसो निजस्य ॥ १४.४२

यहाँ आचार्य के अनुयायियों का मनोगत शोक स्थायीभाव है। हीरविजय

का शव आलम्बन विभाव है। अर्धी उठाना, चिता बनाना तथा गुरु की अन्त्येष्टि करना उद्दीपन विभाव हैं। श्रावकों का आसू बहाना तथा पग-पग पर मूर्च्छित होना अनुभाव हैं। विषाद, जड़ता, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनके घात-प्रतिघात से स्थायी भाव शोक, करुण रस में परिणत हुआ है।

सौन्दर्यवर्णन

विजयप्रशस्ति के विस्तृत फलक पर प्राकृतिक सौन्दर्य की एक रेखा भी अंकित नहीं, यह बहुत आश्चर्य की बात है। प्रकृति से गृहीत अप्रस्तुतों के द्वारा कवि ने इस अभाव की पूर्ति करने का कुछ प्रयास किया है, यद्यपि उन्हें प्रकृतिचित्रण का स्थानापन्न नहीं माना जा सकता। हेमविजय ने मानव-सौन्दर्य के अंकन में अधिक रुचि ली है। यह उसके सौन्दर्यबोध का परिचायक है। काव्य में स्त्री तथा पुरुष दोनों का सौन्दर्य चित्रित किया गया है। हेमविजय की सौन्दर्यचित्रण की निश्चित प्रणाली नहीं है। परम्परागत नखशिखविधि के अतिरिक्त उसने व्यतिरेक तथा अन्य अलंकारों के माध्यम से मानव सौन्दर्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है।

नारी-सौन्दर्य का चित्रण काव्यनायक की माता कोडिमदेवी के वर्णन का सहज अवयव है। इसमें मुख्यतः व्यतिरेक के द्वारा उसके अनवद्य सौन्दर्य की ध्वजना की गयी है। उसके मुख तथा नयनों से विजित चन्द्रमा तथा मृग आकाश में छिप गये (२.५६), मधुर कण्ठ से परास्त कोकिलाओं ने वन की शरण ली (२.६०), रम्भा, लक्ष्मी, गौरी आदि तो उसकी तुलना कैसे कर सकती हैं? (२.६७)। कोडिमदेवी के पांवों के नखों का सौन्दर्य, उरोजों की पुष्टता तथा कटि की क्षीणता क्रमशः उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास का स्पर्श पाकर और चमत्कारजनक बन गयी है। शुभ चिह्नों से अंकित उसके अरुण नख ऐसे प्रतीत होते थे मानो चरण-वन्दना करते समय दिक्कुमारियों के ललाट के सिन्दूर से तिलक अंकित हो गये हों। उसके स्तनों की पुष्टता की सम्पदा देखकर कटि ईर्ष्या से क्षीण हो गयी। जड़ तथा दुर्मुख लोगों की विभूति से किसे ईर्ष्या नहीं होती?

चक्राङ्कुशध्वजसरोजमुखाङ्किते य-

त्पादद्वये दशनखा अरुणाः स्म भांति ।

लगनाः समं किमु दिग्गजदृशां ललाट-

पट्टात्प्रणत्यवसरे वरधीरपुण्ड्राः ॥ २.६१

पोनत्वविह्वलतिशयि निरीक्ष्य यस्या

वक्षोजयोः कश्चिन्माक कटिरीर्ष्ययेव ।

स्तब्धात्मनामसिततुण्डभृतां विभूति-

मालीक्ष्य कस्य भुवि न प्रभवत्यसूया ॥ २.६२

कुमार जयसिंह का सौन्दर्यचित्रण काव्य में पुरुष-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व

करता है। इसका आधार परम्परागत जख सिख प्रणाली है। इसमें कुमार के विभिन्न अंगों के वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है, जो विविध अलंकारों की योजना से और प्रस्तुत हो गया है (२.३२-३६)। सौन्दर्य-चित्रण के अन्तर्गत कवि ने सहज सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले प्रसाधनों तथा आभूषणों का भी काव्य में वर्णन किया है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिये जाते समय कुमार जयतिह के भूषणों का वर्णन, इस दृष्टि से, उल्लेखनीय है।

रूपमस्तु सुभगं खलु मा वृन्दोषवृषितमस्य मुखस्य ।

अंजनं न्यधित पीरपुरन्ध्री काचिवस्य दशि धन्यधियेति ॥ ५.६४

अस्य कुम्बकुमुदेन्दुनुकारः शोभते स्म हृदि हार उदारः ।

उल्लसत्तलवणिर्मकपयोधेः फेनपिण्ड इव पाण्डिमपूर्णः ॥ ५.६७

कुण्डले कनककान्तमणीरुग्मण्डले शिशुमुले शुशुभाते ।

राहुभीतिचकितौ रविचन्द्रौ निर्भयं शरणमेनमितौ किम् ? ॥ ५.६८

चरित्रचित्रण

हेमविजय ने जिन पात्रों से सम्बन्धित बथानक को काव्य का विषय बनाया है, वे सुविज्ञात हैं। अन्य अनेक कवि पहले ही उनके चरित्र पर काव्य-रचना कर चुके थे। अतः हेमविजय ने उन्हें जिस परिवेश से ग्रहण किया, काव्य में उन्हीं रेखाओं की सीमा में प्रस्तुत किया है जिसके फलस्वरूप उनके चरित्र-चित्रण में नवीनता नहीं है।

विजयसेन

विजयसेन यद्यपि काव्य के नायक हैं, किन्तु उनका चरित्र हीरविजय के व्यक्तित्व की गरिमा के भार से दब गया है। विजयसेन प्रतिभासम्पन्न नायक हैं। शैशव में ही उनकी प्रतिभा की कुशलता का परिचय मिलता है। वे समस्त विद्याओं को इस प्रकार हृद्गत कर लेते हैं, जैसे दर्पण विम्ब को (२.६१)। हीरविजय जैसे विद्वान् आचार्य भी इस मेघावी शिष्य को पाकर धन्य हो जाते हैं। वे प्रत्युत्पन्नमति तथा अध्ययनशील व्यक्ति हैं। गुरु हीरविजय के सान्निध्य में उनकी प्रतिभा और परिपक्व हो जाती है। अपनी बहुश्रुतता के कारण विजयसेन सरस्वती के साक्षात् अवतार के रूप में मान्यता प्राप्त करते हैं।

विनेय एष प्रभुपूज्यपुंगवमनेतमां सूक्तिमती सरस्वती ॥७.१८

गुरु के प्रति उनके हृदय में असीम श्रद्धा है। वे अनन्य भाव से आचार्य की सेवा करते हैं और तत्परता से उनके आदेशों का पालन करते हैं। गुरु के निधन से उन्हें जो वेदना हुई, उसे उनका हृदय ही जानता है (अलं स एवावगमे तदीये-१४.४६)।

दीक्षित जीवन में विजयसेन आर्हुत धर्म के सच्चे सन्देशवाहक हैं। वे प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, धर्मोपदेश आदि से जैन धर्म की प्रभावना करते हैं। उनके व्यक्तित्व की पवित्रता तथा उपदेशों की निर्मलता से अकबर जैसे अन्यधर्मी सम्राट् के मानस में भी करुणा का उद्रेक होता है जिसके फलस्वरूप वह राज्य के समस्त बन्धियों की मुक्ति कर देता है और निस्सन्तान व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी क्रूर नियम को समाप्त कर देता है। फिरंगियों द्वारा उन्हें धर्म-गोष्ठी में निमन्त्रित करना उनकी चारित्रिक उदात्तता तथा धार्मिक उपलब्धि का द्योतक है।

हीरविजय

काव्यनायक विजयसेन के गुरु आचार्य हीरविजयसूरि निस्पृहता तथा त्याग की जीवन्त प्रतिमा हैं। कुलागत वैभव तथा अतुल्य समृद्धि को तृणवत् त्याग कर वे प्रव्रज्या का कष्टीया मार्ग ग्रहण करते हैं। हीरविजय की प्रतिभा का अद्भुत वरदान प्राप्त है। उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति शास्त्रशीलन तथा मच्छ के कुशल संचालन में हुई है। उन्होंने शास्त्ररस का इस आतुरता से पान किया जैसे ग्रीष्म से सन्तप्त घरती वर्षा की प्रथम बौछार को तत्काल पी जाती है।

सोऽप्रमत्ताः पपौ सर्वं शास्त्रं स्वं स्वगुरोः सुधीः ।

ग्रीष्मतप्तो भुवां भाग इवाब्दान्निवतत् पयः ॥१४.६८

उनकी विद्वत्ता, चारित्रिक उदात्तता एवं धार्मिक उपलब्धियों की ख्याति सम्राट् अकबर तक पहुँचनी है। वह यतिराज को धर्मगोष्ठी के लिये निमन्त्रित करता है तथा परमत्मा के स्वरूप के विषय में उनके साथ गम्भीर चर्चा करता है। सम्राट् हीरसूरि की तर्क-प्रणाली तथा व्यक्तित्व की गम्भीरता तथा शालीनता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने, जैन साधु की इच्छा के अनुसार, वर्ष में कुछ दिनों के लिये जीव-हेत्वा वस्त्र कर दी, बन्धियों को मुक्ति कर दिया, जजिया ममाप्त कर दिया और हीरविजय को शत्रुञ्जयतीर्थ का अधिकार प्रदान किया। व्यक्तिगत जीवन में भी अकबर को अहिंसा की ओर प्रवृत्त करना हीरविजय जैसे वीतराग तपस्वी के लिये ही सम्भव था।

हीरविजय के व्यक्तित्व की समूची उदात्तता उनकी अपरिग्रह भावना में प्रतिभासित होती है। उन्हें जीवन में कुछ भी ग्राह्य नहीं है। वे अकबर के सर्वथा निर्दोष उपहार — ग्रंथसंग्रह — को भी मर्यादाविरोधी मानकर अस्वीकार कर देते हैं। सम्राट् के अत्यधिक आग्रह से जब वे ग्रंथ ग्रहण करते हैं, तो उन्हें सार्वजनिक प्रयोग के लिए आगरा के एक पुस्तकालय में रख देते हैं। अकबर जैन साधु की निरीहता से गद्गद हो जाता है।

नृपो विशेषाद् मुमुदे निरीहतां

निरीह्य सूरेरतिशायिनीमिमाम् ॥ १४.४१

कमा

कमा काव्यनायक का पिता है। वह मुख्यतः धार्मिक व्यक्ति है, जिनेन्द्र के चरणकमलों का भ्रमर। उसके संयत सेवन के कारण अर्थ और काम भी उसके लिये धर्ममय बन गये हैं (१.४८)। वह धनाढ्य व्यापारी है, किन्तु उसके लिये धन की सार्थकता दान द्वारा पुण्यार्जन में है। इसीलिये धनवत्ता तथा उदारता, परस्पर विरोधी होती हुई भी, उसके पास एक-साथ रहती हैं।

देवों तथा यतियों के प्रति उसकी गहन श्रद्धा है। जिनभक्ति, यति-प्रणति तथा सुपात्रदान—ये तीनों गुण उसमें एक-साथ विद्यमान हैं। सचमुच उसमें असंख्य गुण ऐसे प्रविष्ट हो गये हैं, जैसे अनगिन नदियाँ सागर में लीन हो जाती हैं (१.५२)। वह कर्ण के समान दानी तथा कात्तिकेय की भाँति सच्चरित्र है (१.५०)।

समाजचित्रण

विजयप्रशस्ति महाकाव्य से तत्कालीन समाज की कतिपय गतिविधियों तथा विश्वासों का आभास मिलता है, जो, सीमित अर्थ में, कवि की संवेदनशीलता का द्योतक है।

पुत्रजन्म सदैव की भाँति हर्षोल्लास का अवसर था। धनाढ्य लोग दान-मान से पुत्रजन्म का अभिनन्दन करते थे। कमा ने जयसिंह के जन्म के समय याचकों को इतना दान दिया कि वह साक्षात् कल्पवृक्ष प्रतीत होता था^५। पुत्र को पाठशाला में प्रविष्ट कराने से पूर्व धनवान् पिता भव्य उत्सव आयोजित करता था। नया विद्यार्थी सर्वप्रथम पाठशाला में वाग्देवी की अर्चना करता था क्योंकि उसकी कृपा के बिना विद्या-प्राप्ति सम्भव नहीं है^६। वह गुरुजन तथा सहपाठियों को भी यथोचित उपहार देता था, जो गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा तथा छात्र बन्धुओं के प्रति उसके सौहार्द के प्रतीक थे।

तत्कालीन समाज में स्वप्नों तथा शकुनों पर अटूट विश्वास था। सूर्योदय के समय देखा गया स्वप्न शुभ फल का दायक माना जाता था^७। शुभ शकुन अक्षय क्षेम के पूर्वसूचक थे (क्षेमस्य चिह्नैः शकुनैश्च शोभनैः—७.४६)। जयविमल के प्रस्थान तथा पाटन में प्रवेश के समय अनेक शकुन हुए थे। बैल की गर्जना, दर्पण, दधि, पकवान से भरा बर्तन, सधवा नारी का मिलना सुखद समझा

५. पुरुष एष त्रिदशद्रुमस्तैर्मने यथा भूवलयावतीर्णः। वही, २.३६

६. यदाचिता कल्पलतेव दत्ते

सद्यः सतां बांछितमर्थमेषा ॥ वही २.८८

७. गुर्वी गुरुः प्रापदपापदृग्मुदं

दृष्ट्वा शुभं स्वप्नमिषोदये रवेः। वही १०.६६

जाता था ।

दर्शन

काव्य में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है । मुगल सम्राट् अकबर की सभा में धर्मचर्चा के अन्तर्गत परमात्मा के स्वरूप के विषय में विजयसेन जैन धर्म की भाव्यता का निरूपण करते हैं । जैन दर्शन में परमात्मा कण्ठा से परिपूर्ण, रागद्वेष से रहित, त्रिकालज्ञ तथा प्रमाणज्ञ है । वह अजन्मा, अशरीरी, अच्छेद्य, अभेद्य अव्यय, चिदात्मा, अचिन्त्य-स्वरूप तथा अनघ है (७.१५१-७४) । जिस परमात्मा को शैव शिव कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्मा, बौद्ध बुद्ध, मीमांसक कर्म, नैयायिक कर्त्ता, जैन उसी को अर्हत् कहते हैं । जैन दर्शन में परमात्मा को दो प्रकार का माना गया है । प्रथम कोटि का परमात्मा समवसरण में स्थित केवलज्ञानी है । वह साकार, नाना अतिशयों से युक्त तथा गौरवपूर्ण है ।

तत्राद्यः सोऽस्ति समवसरणे शरणं श्रियाम् ।

मुरामुरनरश्रेणिसेवितांप्रिद्वयः स्थितः ॥१२.१८०

दूसरी कोटि का परमात्मा निराकार, अनादि, अजन्मा, मुक्तात्मा तथा चिन्मय है ।

सदानादिमजन्मानं मुक्तात्मानं च चिन्मयम् ।

द्वितीयमद्वितीयं तं वदामः परमेश्वरम् ॥१२.२११

भाषा

हेमविजय का मुख्य उद्देश्य स्वधर्म की प्रभावना करना है । इसके लिये उसने काव्य का जो माध्यम अपनाया है, उसे बोधगम्य बनाने के लिये कवि ने आद्योपान्त सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग किया है । उसके पार्श्वनाथचरित में भी भाषा की यही प्रांजलता दृष्टिगत होती है । विजयप्रशस्ति की भाषा की सुगमता में ऐसा परिष्कार है, जो इसके नीरस इतिवृत्त में रोचकता बनाए रखता है । टीकाकार गुण-विजय ने कवि के जिस वाग्लानित्य की प्रशंसा की है, वह इसी भाषात्मक परि-मार्जन का दूसरा नाम है । वस्तुतः भाषा के इस सौष्ठव ने ही काव्य को अपठनीय बनने से बचाया है ।

विजयप्रशस्ति में विविध स्थितियों अथवा मानसिक द्वन्द्वों का चित्रण करने का कोई अवकाश नहीं है । इसीलिये इसमें भाषा की उस विविधता का अभाव है, जो महाकाव्य की महार्थ विशेषता है । काव्य में आद्यन्त एक समान भाषा प्रयुक्त हुई है । प्रसाद से परिपूर्ण होने के कारण उसमें लालित्य तथा प्रांजलता है । उसमें प्रौढ़ता की भी कमी नहीं है ।

काव्य में अधिकतर प्रसादगुण-सम्पन्न भाषा का प्रयोग किया गया है । उसमें दीर्घ समासों तथा विलष्ट पदावली का अभाव है । पुत्रजन्म से आनन्दित

होकर कमा वैभव का कोश लुटा देता है। उसके दान के वर्णन की भाषा सरलता तथा प्रांजलता से ओतप्रोत है। गृहशोभा के वर्णन की भाषा में भी यही गुण विद्यमान है।

आकर्ष्यं कर्णोत्सवमात्मजन्मजन्मातिशर्मार्थ मेहभ्यमुख्यः ।

हर्षं स लेभे प्रसन्नं प्रवर्हं बर्हीव गर्जरवमम्बुदस्य ॥ २.३४

द्वाःपाश्वर्योस्तस्य गृहस्य रम्भास्तम्भौ व्यभातां नवपर्णपूणौ ।

धम्मिल्लफुल्लोत्पलशालिमौली सरस्वतीसिन्धुसुते किमेते ॥ २.४२

हेमविजय विविध भावों को अनुकूल पदावली में अभिव्यक्त करने में समर्थ है, इसका आभास आचार्य हीरविजय के निधन पर विजयसेन के विलाप के प्रसंग में मिलता है। यहाँ समासहीन तथा कातर पदावली के द्वारा शोक की समर्थ अभिव्यक्ति की गयी है।

ममाभवद् या भगवंस्त्ववंप्रिसरोजयोः श्रीः पुरतः स्थितस्य ।

त्वदाननग्यस्तविलोचनस्य सुदुर्लभा साथ नभोलतेव ॥ १४.४६

त्वयि प्रयातेऽस्तमनन्तकान्तौ पयोजिनीभर्तारि भव्यपद्मे ।

ध्रुवं भवित्री भरतावनीयं क्षुपाक्षिकोल्लूकतमःप्रसारः ॥ १४.५६

विजयप्रशस्ति में सबसे सरल भाषा संवादों में दृष्टिगत होती है। विजयसेन-सूरि तथा सम्राट् अकबर के वार्तालाप में भाषा की यही सहजता है।

अस्ति शस्तं शरीरे वः परिवारे च पेशले ।

इहागतिकृतमासीद् युष्माकं क्षेममध्वनि ॥ १२.११४

क्व सन्ति सकलप्राणिप्रीणनप्रवणाशयाः ।

श्रीहीरविजयाः सूरिसिन्धुराः साधुबन्धुराः ॥ १२.११५

विजयप्रशस्ति की भाषा सुबोध तथा परिष्कृत है। काव्य की सुगमता के कारण ही विद्वान् इस पर टीका लिखना अनावश्यक समझते थे।

केचित् सुगमा हेमो कृतिरिति तस्याष्टीका निरर्थक ॥"

अलंकारविधान

ग्रामवधूटी की भाँति हेमविजय की कविता अपने स्वाभाविक लावण्य से अलंकृत है। कवि ने उस पर अलंकार लादने की चेष्टा नहीं की है। यह उसका उद्देश्य भी नहीं है। हेमविजय के लिये अलंकार भावाभिव्यक्ति का माध्यम है।

हेमविजय उपमा के मर्मज्ञ हैं। पार्श्वनाथचरित से भी उपमा के प्रयोग में उनके कौशल का यथेष्ट परिचय मिलता है। वर्ण्य भाव की स्पष्टता के लिये वे मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों का समान अधिकार तथा सहजता से प्रयोग कर सकते हैं। लोक से ग्रहण किये गये अप्रस्तुत विशेष रोचक हैं। उपमान

के सुपरिचित होने से वर्णनीय विषय तुरन्त हृदयंगम हो जाता है। कमा के हृदय को विरवित ने इस प्रकार प्रकाशित कर दिया जैसे तेल से भरे दीपक की बाती घर को आलोकित करती है (१.५७)। जयसिंह माता के साथ ऐसे शोभित हो रहा था जैसे दया से पुण्यवान् व्यक्ति (५.५१)। परदर्शन में गति प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना धन के बिना वेश्यागृह में प्रविष्ट होना (५.१०)।

हेमविजय ने अधिकतर उपमान प्रकृति से लिए हैं। ये उनकी प्रकृति के प्रति सहानुभूति के परिचायक हैं। दोहद की अपूर्ति से उत्पन्न पीड़ा तथा भावी पुत्रजन्म की प्रसन्नता ने कोडिमदेवी को ऐसे व्याप्त कर लिया जैसे दिन-रात एक-साथ मेरु पर्वत पर छा जाते हैं (२.२४)। विजयसेन पर गुरु की अनुज्ञा के साथ गच्छ की चिन्ता का भार इस प्रकार आ गया जैसे अनुरागवती रात्रि के साथ चाँदनी, चन्द्रमा को प्राप्त होती है।

अनुज्ञया साकमत्र गच्छचिन्तात्मको भार इयाय शिष्ये ।

ज्योत्स्नागमः शीतमरीचिबिम्बे त्रियामयेवानुरागमय्या ॥ ८.३१

हेमविजय ने शास्त्र से भी कुछ अप्रस्तुत ग्रहण किए हैं। निम्नोक्त उपमा गणित पर आधारित है। नास्तिकों का मार्ग अंकरहित बिन्दु (जीरो) के समान निरर्थक है।

जगन्मूलं न मन्यन्ते ये मूढाः परमेश्वरम् ।

तेषां पन्थाः द्यूतांकेन विना बिन्दुरिब ध्रुवम् ॥ १२.१४४

विजयप्रशस्तिकार की उत्प्रेक्षाएँ भी उसकी अप्रस्तुतविधान की निपुणता को प्रकट करती हैं। गमा के घर के आंगन में दूब के अंकुर ऐसे लगते थे मानो गृह-लक्ष्मी के केश हों।

विरेजिरे द्वारजिरे तदीये दूर्वाकुरास्तत्र भृशं लसन्तः ।

निकेतनाम्भोनिधिनन्दनाया मनोहराः केशमरा इवामी ॥ २.४३

अप्रस्तुत कार्तिकेय की अपेक्षा प्रस्तुत विजयदानसूरि की विशिष्टता बताने के कारण निम्नोक्त पद्य में व्यतिरेक अलंकार है।

न ब्रह्मचार्यप्यजनिष्ट तुल्यः शीलेन यैर्जङ्गसुतासुतोऽत्र ।

यतो यमश्चंसिनि बद्धरागो बभार यस्तारकवैरितां च ॥ ३.५२

प्रह्लादनपुर की नारियों के प्रस्तुत वर्णन में आपाततः उनकी निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः इस निन्दा के व्याज से उनकी प्रशंसा की गयी है। यह व्याज-स्तुति श्लेष पर आधारित है।

मत्तमातंगगामिन्यः सुरार्थाश्चलदर्शनाः ।

निन्दा अपि मुदे सन्ति यत्र त्रस्तमृगीदृशः ॥ ४.११

जूनागढ़ के क्रूर शासक खुर्रम के स्वभाव का वर्णन दृष्टान्त के द्वारा किया गया है। गुरु के भग्य से वह निर्दय राजा शान्त हो गया। चन्द्रमा के सम्पर्क से

चन्द्रकान्तमणि द्रवित होकर शान्त हो जाती है। यहाँ प्रस्तुत शासक तथा अप्रस्तुत चन्द्रमा के आचरण में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

स क्रूरोऽपि गुरोर्भाष्याद् भूकान्तः शान्ततामगात् ।

चन्द्रसम्पर्कतश्चन्द्रोपलः किं नाम्बु मुञ्चति ॥ २०.५८

अकबर की सभा में स्त्रीत्व को प्राप्त विजयसेन की स्थिति को प्रतिद्वन्द्वियों की कामशक्ति को समाप्त करते हुए चित्रित किया गया है, अतः यहाँ विरोध है।

महेलामावमापन्ना स्थितिस्तत्र व्रतीशितुः ।

हन्ति स्म कामशक्तिं यद् वादिनामेव विस्मयः ॥ १२.२२२

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त विजयप्रशस्ति में जिन अलंकारों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है, उनमें श्लेष, अनुप्रास, यमक, तद्गुण, यथासंख्य, अद्भुत, विभावना, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, सन्देह प्रमुख हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

यथासंख्य—तदा प्ररोहावसतां सतां च चेतस्यभूताममुदां मुदां च ॥ ८-२२

अद्भुत—सिंहकटिर्गतिर्हस्ती मुखं चन्द्रो दृग्म्बुजम् ।

नाभूनि कलाहयन्ते मिथो वरेऽपि यत्तनौ ॥ ४.३७

सन्देह—गंगाप्रवाहः किमुतापहारी, कल्पद्रुमः किं सकलोपकारी ।

श्री सूरिसिंहः समुपागतोऽसावज्ञायि देशेऽत्र समस्तलोकैः ॥ ११.२

छन्दयोजना

विजयप्रशस्ति में शास्त्रीय नियम के अनुसार छन्दों का प्रयोग किया गया है। अठारहवें सर्ग में छन्दों की बहुलता है। विजयप्रशस्ति में १६ छन्दों को काव्यरचना का आधार बनाया गया है। अठारहवें सर्ग में प्रयुक्त छन्दों के नाम इस प्रकार हैं—द्रुतविलम्बित, शालिनी, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, भुजंगप्रयात, सखिणी, स्वागता, मालिनी, मोटनक, शार्दूलविक्रीडित। इनके अतिरिक्त काव्य में अनुष्टुप्, हरिणी, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवंशा, स्रग्धरा तथा वंशस्थ, इन आठ छन्दों को अपनाया गया है। काव्य में अनुष्टुप् की प्रधानता है। इसके बाद उपजाति का स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हेमविजय में कवि-प्रतिभा है, पर सीमित प्रचारवादी उद्देश्य ने उसकी प्रतिभा को पनपने नहीं दिया है। फलतः, वह एक तंग घेरे में छटपटा कर रह गयी है। कतिपय कवित्वपूर्ण उद्यानों की छोड़कर समूचा काव्य इतिवृत्तात्मक महल है। अपनी दुर्दमनीय धार्मिक वृत्ति की वेदी पर काव्य-प्रतिभा की बलि देने वाले जैन कवियों में हेमविजय भी एक है।

पंचम अध्याय

पौराणिक महाकाव्य

१९. श्रीधरचरित : माणिक्यसुन्दरसूरि

अंचलगच्छ के प्रख्यात आचार्य तथा प्रतिभावान् कवि माणिक्यसुन्दरसूरि का श्रीधरचरित^१ दिवेद्य युग का अनूठा महाकाव्य है। इसके नौ माणिक्यांक सर्गों में मंगलपुर-नरेश जयचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र का जीवनचरित, पौराणिक तथा रोमांचक परिवेश में, निबद्ध है। विजयचन्द्र पूर्वजन्म का श्रीधर है।^२ काव्य का शीर्षक उसके भवान्तर के इस नाम पर आधारित है। इस दृष्टि से यह काव्य के प्रतिपादित विषय की समग्रता को ध्वनित करने में समर्थ नहीं है। कवि का उद्देश्य चरित-निरूपण के साथ संस्कृत छन्दशास्त्र के अपने असंदिग्ध पाण्डित्य तथा उसे यथेष्ट रूप से उदाहृत करने की क्षमता की प्रतिष्ठा करना है। इसीलिए काव्य में वर्णवृत्तों तथा मात्रावृत्तों के ऐसे भेदों-प्रभेदों तथा कतिपय अज्ञात अथवा अल्पज्ञात छन्दों का प्रयोग किया गया है, जो साहित्य में अन्यत्र शायद ही प्रयुक्त हुए हों। छन्दशास्त्र के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण श्रीधरचरित शास्त्रकाव्य का स्पर्श करता है; किन्तु माणिक्य-सुन्दर का यह लक्ष्य, शास्त्र अथवा नानार्थक काव्यों की भाँति, काव्य के लिए घातक नहीं है क्योंकि उसकी काव्यप्रतिभा को छन्दों के परकोटे में भी स्वतंत्र विहार के लिए विशाल गगन उपलब्ध है।

श्रीधरचरित का महाकाव्यत्व

श्रीधरचरित की रचना में महाकाव्य के स्वरूपविधायक सभी स्थूलास्थूल तत्त्वों का पालन किया गया है। इसका कथानक 'प्रख्यात' है। नायक धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न राजवंशोत्पन्न कुमार है। श्रीधरचरित का अंगी रस शृंगार माना जाएगा यद्यपि काव्य का पर्यवसान शान्तरस में होता है। वीर, अद्भुत, भयानक, रोद्र आदि इसकी रसवत्ता को सघन बनाने में, गौण रूप से, सहायक हैं। काव्य का उद्देश्य 'मोक्ष' है। दैहिक भोगों में लिप्त विजयचन्द्र केवलज्ञानी मुनि जयन्त की धर्म-देशना से राज्यादि समस्त सांसारिक विषयों को त्याग कर परम पद को प्राप्त होता है।^३

१. सम्पादक : मुनि ज्ञानविजय, श्रीचरित्रस्मारकग्रन्थमाला, ४८, अहमदाबाद, सम्बत् २००७

२. पूर्व जन्मनि भूपतिर्भुवि बभौ नाम्ना किल श्रीधर—

स्तातोर्यैकभवे स एव विजयश्चन्द्रोत्तरोऽभून्पुनः। श्रीधरचरित १.३१

३. चिरं सोढयं भेजे शिवपदगतः सम्मदमथम्। वही, ६.२४६

महाकाव्यसुलभ कुमारजन्म, दूतप्रेषण, युद्ध, प्रभात, सूर्योदय, नगर, पर्वत आदि के रोचक वर्णन काव्य में यथास्थान विद्यमान हैं। छठे तथा नवें सर्ग में चित्रकाव्य के द्वारा कवि ने अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रयास किया है जिसमें भारवि से प्रचलित इस परम्परा का निर्वाह हुआ है। काव्य का आरम्भ आठ पद्यों के मंगलाचरण से हुआ है जिनमें कतिपय तीर्थंकरों, जैनभारती तथा गणधर गौतम की स्तुति की गयी है। श्रीधरचरित की विशेषता यह है कि इसका प्रत्येक सर्ग मंगलाचरण से शुरू होता है। काव्य का शीर्षक 'पूर्णतय' शास्त्रसम्मत तो नहीं है, किन्तु इससे शास्त्र की पूर्ण अवहेला भी नहीं होती। छन्दों के विधान की दृष्टि से श्रीधरचरित निराली रचना है। ज्ञाताज्ञात छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए निबद्ध काव्य में शास्त्रीय नियम की परिपालना का प्रश्न ही नहीं है।

श्रीधरचरित का कथानक व्यापक अथवा सुसम्बद्ध नहीं है, तथापि इसे यथा-शक्य अन्वितिपूर्ण बनाने के लिए, इसमें, शास्त्रविहित पाँच नाट्यमन्त्रियों का विनियोग करने की चेष्टा की गयी है। द्वितीय सर्ग से तृतीय सर्ग तक सिद्धपुरुष के राज-प्रासाद में अवतीर्ण होने तथा उसके द्वारा सन्तातहीन जयचन्द्र को पुत्रदायिनी गुटिका देने के वर्णन में मुखसन्धि है क्योंकि यहाँ कथावस्तु के बीज का वपन हुआ है। चतुर्थ सर्ग से पंचम सर्ग तक विजयचन्द्र के जन्म, उद्धत अश्व के उसे वीहङ्ग वन में ले जाने, वहाँ उसके अमहाय भटकने, हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त करने तथा पिता के निमन्त्रण पर उसके राजधानी लौटने के प्रसंगों में बीज का कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है, अतः यहाँ प्रतिमुखसन्धि है। छठे सर्ग से आठवें सर्ग के प्रारम्भिक अंश तक एक ओर सुलोचना के साथ विवाह होने से विजयचन्द्र के हृदय में आशा का उद्रेक होता है, दूसरी ओर कश्मीरराज प्रताप से युद्ध होने के कारण चिन्ता उत्पन्न होती है। प्रसन्नता और चिन्ता के इस द्वन्द्व में यहाँ गर्भसन्धि का निर्वाह हुआ है। इसी विशालकाय सर्ग में सुलोचना के अपहरण तथा अनेक उत्थान-पतन और चित्र-विचित्र घटनाओं के पश्चात् वज्रवाद को परास्त करके उसकी पुनःप्राप्ति तथा नवें सर्ग के आरम्भिक भाग में उसके साथ विजयचन्द्र के अविराम विषयोपभोगों के वर्णन में प्रकारान्तर से फल-प्राप्ति की पृष्ठभूमि के अधिक निश्चित होने से विमर्शसन्धि मानो जा सकती है। नवम सर्ग के शेष भाग में निर्बहणसन्धि की योजना हुई है। यहाँ विजयचन्द्र तेजपिण्ड नारी के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से जगत् की अनित्यता तथा भोगों की निस्तारता से त्रस्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है और अन्ततः शिवत्व प्राप्त करता है। यही श्रीधरचरित का फलागम है। मनोरम काव्यकला, गम्भीर रसव्यंजना, महाकाव्योचित प्रौढ भाषा, विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति आदि गुण उक्त परम्परागत लक्षणों को परिपुष्ट कर श्रीधरचरित को सम्मानित पद पर आरुढ़ करते हैं।

श्रीधरचरित का स्वरूप

श्रीधरचरित में महाकाव्य की पौराणिक, शास्त्र तथा शास्त्रीय शैलियों का अविच्छेद्य गठबन्धन है। भवान्तर-वर्णन तथा व्यक्ति के वर्तमान आचरण तथा परिस्थितियों को पूर्वजन्मों के कर्मों एवं संस्कारों से परिचालित मानने की पौराणिक प्रवृत्ति श्रीधरचरित की मुख्य विशेषता है। काव्य में प्रायः सभी पात्रों के पूर्व अथवा भावी भवों का वर्णन किया गया है। जयचन्द्र के राजमहल में अवतरित मिद्धपुरुष पूर्व-जन्म में वेदज्ञ ब्राह्मण अग्निमित्र का पुत्र था। राजा दुर्ललित के पुत्र तथा पुत्री का युगल छह भवों में घूम कर रत्नपुर के शासक रत्नांगद के पुत्र-पुत्री के रूप में जन्म लेता है। अष्टम सर्ग में ही विजयचन्द्र तथा सुलोचना के पूर्ववर्ती सात जन्मों का विस्तृत वर्णन है। विजय तथा वज्रदाढ पूर्वजन्म के सहोदर श्रीधर तथा चन्द्र हैं। श्रीधर की पत्नी गौरी सात भवों के उपरान्त सुलोचना के रूप में उत्पन्न होती है। पूर्वजन्म के अनुराग के कारण श्रीधर का अग्रज चन्द्र मेरुपर्वत पर गौरी से रति की याचना करता है तथा विद्याधर वज्रदाढ के रूप में विजयचन्द्र की नवोढा प्रिया सुलोचना को हर ले जाता है। श्रीधरचरित में मुख्य कथा के भीतर अवान्तर प्रसंग गुम्फित करण की पुराणसम्मत रीति का विदूष दिखाई देता है। चतुर्थ सर्ग में विजयचन्द्र के वनगमन की कथा में हस्तिनापुर-नरेश गजभद्र, नरमेधी योगी तथा रत्नावली की कथाएँ अन्तर्निहित हैं। अष्टम सर्ग में, यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच जाती है, जहाँ, सुलोचना-हरण के प्रसंग में, कवि ने अगणित कथासूत्रों को लेकर आख्यानों का विचित्र तानाबाना बुन दिया है। पौराणिक महाकाव्यों की प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत काव्य में अलौकिक तथा अतिप्राकृतिक घटनाओं की भरमार है। सिद्धपुरुष आकाश से उतर कर जयचन्द्र को एक गुटिका प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप उसे पुत्र की प्राप्ति होती है। चेटक तो विजयचन्द्र के लिये रामबाण है जो गाढे समय में, स्मरण मात्र से, तत्काल उपस्थित होकर उसके सम्भव-असम्भव सब काम सिद्ध कर देता है। विजयचन्द्र गरुड़ मन्त्र से, मृत कनकमाला को पुनर्जीवित करता है, अवस्थापिनी विद्या से शत्रु-सेना को सुला कर निश्चेष्ट बना देता है पर करुणा से द्रवित हो कर स्वपर-पक्ष के मृत सैनिकों को मृतजीवनी-विद्या से प्राणदान देता है। विजया (पहले जन्म की विजयचन्द्र की माता) कुमार (विजयचन्द्र) को अपने पति के पास नागलोक में ले जाती है तथा उसे यथासमय रूप परिवर्तित करने के लिये एक गुटिका देती है। काव्य के अन्तिम दो सर्ग इन्हीं अतिमानवीय घटनाओं से आच्छन्न हैं। श्रीधरचरित में कतिपय लोककथा की रूढ़ियों का भी प्रयोग हुआ है, जो इसकी पौराणिकता को रोमांचकता की सीमा तक पहुँचा देती हैं। विजयचन्द्र के शुक का रूप तथा श्रीधर की पत्नी गौरी के हंसी का रूप धारण करने और मानववत् वार्ता-

लाप करने^४, नारीहरण^५, पक्षी को पत्रवाहक बनाने^६, मनुष्य के भूतों से साक्षात् बातचीत करने^७ तथा पक्षियों के पुनः वास्तविक आकार में प्रकट होने में^८ लोक-कथाओं का प्रभाव स्पष्ट है। इष्टसिद्धि के लिये मन्त्रसाधना करने तथा नरबलि देने और संयमश्री के दिव्य नारी के रूप में अवतीर्ण होने आदि में भी लोककथाओं की उपजीव्यता लक्षित होती है। पुराणों की भाँति प्रस्तुत काव्य में भावी घटनाओं का वर्णन किया गया है। अष्टम सर्ग में यज्ञों के पुनः प्रचलित होने की भविष्यवाणी के अन्तर्गत सुलसा तथा याज्ञवल्क्य का प्रसंग इसका उदाहरण है। इसमें प्रचारवादी धर्मदेशनाओं को व्यापक स्थान मिला है तथा जैन धर्म की सर्व श्रेष्ठता^९ एवं अन्य धर्मों की हीनता^{१०} का तत्परता से निरूपण किया गया है। श्रीधरचरित की कथा का पर्यवसान शान्त रस में होता है जो पौराणिक काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति है। इन पौराणिक तत्त्वों के अतिरिक्त श्रीधरचरित में वर्ण्य विषय तथा वर्णन-शैली में विषमता, भाषा-शैलीगत उदात्तता, तीव्र रसानुभूति, वस्तुव्यापार के मनोज्ञ वर्णन आदि शास्त्रीय काव्य के लक्षण भी विद्यमान हैं जिनके कारण इसे शास्त्रीय काव्य माना जा सकता है। छन्दों की उदाहृत करने से इसकी शास्त्रकाव्यों में गणना करना न्यायोचित होगा। परन्तु पौराणिकता की प्रबलता के कारण इसे पौराणिक काव्यों में स्थान दिया गया है। श्रीधरचरित को पौराणिक काव्य बनाने वाले इसके अन्तिम दो सर्ग हैं।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

प्रस्तुत महाकाव्य तथा अपनी अन्य कृतियों में माणिक्यसुन्दर ने विस्तृत आत्म-परिचय दिया है जिससे उनकी गुरु-परम्परा तथा स्थिति-काल के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त है। आचार्य चन्द्र की परम्परा में दोषान्धकार के उच्छेत्ता तथा सूर्य के समान तेजस्वी आर्यरक्षित ने विशेष ख्याति अर्जित की थी। उनके पट्टानुक्रम में मेहतुंगसूरि हुए जो परम वाग्मी, प्रतिष्ठित शास्त्रार्थी, आचार्यों के चूडामणि तथा अंचल गच्छ के साक्षात् मार्तण्ड थे^{११}। श्रीधरचरित के रचयिता ने इसी महान्

४. वही, द. १३०, १३४, १३५, ४८६, ५०३-५०६, ५२५, ५३३

५. पूर्वानुरागभाग् जह्ने वज्रदादः सुलोचनाम्। वही, ५. ५५७

६. अद्राष्टां नभसा यान्तं पत्रिणं पत्रिकामुखम्। वही, द. १७३

७. वही, द. २१६-२१७

८. पक्षिरूपं परित्यज्य सोऽयं सिद्धिनरोऽभवत्। वही, द. १७५ तथा द. ५३३ आदि

९. सर्वमेव सुलभं भवेऽंगिनां जैनधर्मं इह दुर्लभः पुनः। वही ३. २८

१०. वही, द. २३४-३०८

११. वही, १. ६-१०

आचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी^{१३}। इस तथ्य की पुष्टि कवि के अन्य ग्रन्थों से भी होती है^{१४}। अंचलगच्छ-पट्टावली के अनुसार मेरुतुंग का जन्म सम्वत् १४०३ में माणाग्राम में हुआ था तथा वे सम्वत् १४७३ में, जूनागढ़ में, दिवंगत हुए^{१५}। पूर्व-विवेचित जैनकुमारसम्भव के यशस्वी प्रणेता जयशेखरसूरि माणिक्यसुन्दर के विद्यागुरु थे। माणिक्यसुन्दर का कविजीवन इन्हीं गुरुवर की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का पाशेय लेकर विकसित हुआ^{१६}।

प्रान्त-प्रशस्ति के अनुसार श्रीधरचरित की रचना सम्वत् १४६३ (सन् १४०६) में, मेवाड़ के प्रख्यात नगर देवकुलपाटक (देलवाड़ा) में, सम्पन्न हुई थी।

श्रीमेदपाटदेशे ग्रन्थो माणिक्यसुन्दरेणाद्यम्।

देवकुलपाटकपुरे गुणरसवार्धन्विबर्षे व्यरच्चि ॥^{१७}

काव्य की स्वोपज्ञ दुर्गमपदव्याख्या सम्वत् १४८८ में, मूलरचना के पच्चीस वर्ष पश्चात्, श्रीपत्तन में लिखी गयी थी। व्याख्या-सहित काव्य का प्रथम आदर्श उनके मेधावी शिष्य कीर्त्तिसागर ने तैयार किया था^{१८}। कवि के गुणवर्म-चरित की रचना सम्वत् १४८४ में हुई थी^{१९}। मूल श्रीधरचरित इससे पूर्व की तथा काव्य की व्याख्या इसके बाद की रचना है।

माणिक्यसुन्दर सर्वशास्त्रविशारद विद्वान् थे। श्रीधरचरित के अतिरिक्त उनके शुकराजकथा, गुणवर्मचरित, पृथ्वीचन्द्रचरित, धर्मदत्तकथा, अजापुत्रकथा ग्रन्थ तथा कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कथानक

श्रीधरचरित का कथानक नौ सर्गों में विभक्त है, जिनमें पूरे १३१३ पद्य हैं। अन्तिम दो सर्ग, परिमाण में, शेष सात सर्गों से बूने हैं।

प्रथम सर्ग काव्य की प्रस्तावना मात्र है। इसमें कवि ने अपनी गुरु-परम्परा तथा छन्दशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। द्वितीय सर्ग में एक सिद्ध पुरुष भंगलपुर-नरेश जयचन्द्र के सभाभवन में अवतीर्ण होता है। तृतीय सर्ग में औपचारिक शुभाशंसा तथा कुशलप्रश्न के पश्चात् वह जयचन्द्र की जिनभक्ति से

१२. वही, १.१२ तथा उसकी वृत्ति

१३. गुणवर्मचरित, १.४,८ तथा शुकराजकथा, प्रशस्ति, १

१४. श्रीधरचरित, प्रास्ताविकम्, पृ० १

१५. श्रीधरचरित, १.१४

१६. वही, ग्रन्थकार-प्रशस्ति, २

१७. वही, व्याख्याकारप्रशस्ति, २-३

१८. गुणवर्मचरित, प्रान्तप्रशस्ति, ३

प्रसन्न होकर उसे एक पुत्रदायिनी गुटिका प्रदान करता है। चतुर्थ सर्ग में गुटिका के प्रभाव से मंगलपुरनरेश को एक पुत्र की प्राप्ति होती है, जिसका नाम विजयचन्द्र रखा गया। यौवन के आने पर वह जंगम कल्पतरु की भाँति प्रतीत होने लगा। विजयचन्द्र ने एक दिन सभाभवन में उपहार-स्वरूप प्राप्त एक घोड़े की गति की परीक्षा के लिये ज्योंही रास खींची, वह तीर की भाँति भाग कर एक गहन वन में जा पहुँचा। विजयचन्द्र नौ दिन भूखा-प्यासा उस वन में असहाय भटकता रहा। दसवें दिन उसका परिचय मृगया-विहारी हस्तिनापुरनरेश गजभ्रम से हुआ, जो उसके पिता का मित्र था। वह गजभ्रम के आश्रय के लिये घेरे गये निरीह मृगों को मुक्त करके उसे अहिंसा की ओर उन्मुख करता है। गजभ्रम कुमार को अपनी राजधानी ले जाता है। वह रत्नावली को नरमेघी योगी की कूरता से बचाने के लिये आत्मबलि देने को तैयार ही था कि वहाँ सहसा चेटक प्रकट होता है। चेटक उसे गारुड़ मन्त्र प्रदान करता है तथा हर जटिल स्थिति में सहायता का वचन देता है। विजयचन्द्र सर्पदंश से मृत कनकमाला को गारुड़ मन्त्र से पुनर्जीवित कर सबको विस्मित कर देता है। पंचम सर्ग में गजभ्रम कुमार को राज्यलक्ष्मी सौंपकर आचार्य आर्यरक्षित से तापसव्रत ग्रहण करता है। विजयचन्द्र सन्तान की भाँति प्रजा का पालन करता है। पिता का निमन्त्रण पाकर वह मंगलपुर लौट आता है। छठे सर्ग में रत्नांगद का दूत राजकुमारी सुलोचना के स्वयम्बर में जयचन्द्र को निमन्त्रित करने के लिये आता है। जयचन्द्र वृद्धावस्था के कारण स्वयं न जाकर राजकुमार को रत्नपुर भेजता है। सप्तम सर्ग में स्वयम्बर का रोचक वर्णन है, जो रघुवंश के इन्दुमती-स्वयम्बर से प्रेरित तथा प्रभावित है। सुलोचना समस्त राजाओं को छोड़कर विजयचन्द्र का वरण करती है। अष्टम सर्ग में, प्रत्याख्यान से अपमानित राजा, कश्मीर-राज प्रताप के नेतृत्व में, उस पर आक्रमण करते हैं किन्तु विजयश्री भी विजय को ही प्राप्त होती है। सर्ग के शेष भाग में सुलोचना के हरण तथा असंख्य विचित्र तथा रोमांचक, अतिमानवीय एवं अलौकिक घटनाओं के अनन्तर उसके पुनर्मिलन का अतीव विस्तृत वर्णन है। नवम सर्ग में विजयचन्द्र सुलोचना के साथ यौवन के मादक भोगों में लीन हो जाता है। एक दिन वह अपने महल में तेजपिण्ड से उद्भूत एक कचनवर्णी युवती देखता है। केवलज्ञानी मुनि जयन्त से यह जानकर कि वह संयमश्री थी, जो उसे विषयों से विमुख करने आयी थी, वह राजपाट छोड़कर^१, सुलोचना तथा मन्त्रियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करता है और परमसिद्धि को प्राप्त होता है^२।

पौराणिक काव्य होने के नाते श्रीधरचरित में वर्णनों तथा विषयान्तरों का १६. यस्मै कस्मै तथापीदं राज्यं देयं मया प्रगे । श्रीधरचरित, ६.२०४

२०. प्रभुश्रीमत्पार्श्वचरणसुरभाणिवलभना —

चिह्नं भजे सौख्यं शिवपदगतः सम्मदमयम् ॥ वही, ६.२४६

बाहुल्य है। इसे महाकाव्योचित परिवेश देने के लिये कवि ने अपना कथानक विविध वस्तु-वर्णनों से मांसल बनाकर ग्रथित किया है। काव्य के उत्तरार्द्ध में कवि की वर्णनात्मक प्रवृत्ति विकराल रूप धारण कर लेती है यद्यपि पूर्वार्द्ध में भी गजभ्रम, रत्नावली तथा कनकमाला की अवान्तर कथाओं का समावेश किया गया है। छठा सर्ग पर्वत, प्रभात, सूर्योदय तथा रत्नपुर के वर्णनों से तथा सप्तम सर्ग स्वयम्बर-वर्णन से परेपूर्ण है, जो रोचक होते हुए भी कथानक के प्रवाह में बाधक हैं। आठवें सर्ग के सार हम काव्य के विचित्र वातावरण में पदार्पण करते हैं। आठवें तथा नवें सर्ग का संसार यक्षों, विद्याधरों, सिद्धों, नागों, युद्धों, नरमेघ, स्त्रीहरण, विद्या-साधना, रूप परिवर्तन तथा चमत्कारों का अजीब संसार है। इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्वों, अवाद्य वर्णनों तथा विषयान्तरों का इतना प्राचुर्य है कि ये सर्ग (विशेषतः अष्टम सर्ग) काव्य की अपेक्षा रोमांचक कथा प्रतीत होते हैं। ८३२ पद्यों के इन सर्गों की वेदी पर कवि को बलिबिरोधी होते हुए भी मूलकथा की बलि देनी पड़ी है। काव्य की जो कथा सातवें सर्ग तक लंगडाती चली आ रही थी, वह आठवें सर्ग में आकर एकदा ढेर हो जाती है। अपने चरितनायक की शूरता, साधनसम्पन्नता; कष्टमहिष्णुता तथा कार्यनिष्ठा की प्रतिष्ठा करने के लिये कवि ने इस सर्ग का अनावश्यक विस्तार किया है तथा सार्वजनिक वाहन की भाँति इसमें विविध प्रकार की सामग्री भर दी है। ऐसा करके वह कथानक से भटक गया है।

माणिक्यसुन्दर की प्राप्त पूर्ववर्ती कथियों का दाय

श्रीधरचरित के कुछ अंशों की रचना में माणिक्यसुन्दर कालिदास के रघुवंश तथा माघकाव्य के ऋणी हैं। शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में सिंहासनासीन श्रीकृष्ण आकाश से अवतरित होते नारद को देखकर उनके विषय में नाना तर्क-वितर्क करते हैं। कुशल-प्रश्न तथा स्वागत-अभिवादन के पश्चात् नारद श्रीकृष्ण को शिशुपाल का वध करने को प्रेरित करते हैं। श्रीधरचरित के द्वितीय सर्ग में मंगलपुरनरेश के सभाभवन में, गगन से एक सिद्धपुरुष के अवतीर्ण होने का वर्णन है। जयचन्द्र तथा उसकी सभासद उसकी वास्तविकता जानने के लिये ऊहापोह करते हैं। नारद की भाँति उसका भी यथोचित अभिनन्दन किया जाता है।

कालिदास का प्रभाव काव्य के सातवें सर्ग में परिलक्षित होता है, जहाँ राजकुमारी सुलोचना के स्वयम्बर का वर्णन किया गया है। महाकवि की तरह माणिक्यसुन्दर ने भी, कुमारी के मण्डप में प्रविष्ट होने पर, पहले आगन्तुक राजाओं की कामजन्य चेष्टाओं का चित्रण किया है जो सुलोचना को पाने की उनकी अधीरता की समर्थ अभिव्यक्ति है। तत्पश्चात् सुनन्दा के समान वेत्रधारिणी यशोधरा कुमारी को उपस्थित राजाओं का वैशिष्ट्ययुक्त परिचय देती है। देश के जिन भूभागों के राजा स्वयम्बर में आए थे, उनमें से कुछ के नाम रघुवंश तथा श्रीधरचरित की

सूचियों में एक समान हैं। दोनों काव्यों में सर्वप्रथम मगधराज का परिचय दिया गया है। इस वर्णन के अन्तर्गत दोनों काव्यों में, कई स्थलों पर, भाव-सादृश्य भी दृष्टिगत होता है। चूरसेन देश के अधिपति के विषय में कालिदास का कथन है—

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शंलेयगन्धोनि शिलातलानि ।

कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ रघु० ६.५१
द्वारिकाधीश का वर्णन करते समय माणिक्यसुन्दर ने कालिदास के उद्युक्त भाव को ग्रहण किया है।

किन्नरीवृन्दगांधर्वगीर्बन्धुरे नित्यपर्जन्यतूर्यरवाडम्बरे ।

केकिनृत्यं यदि प्रेक्षितं रैवते चित्रमेतं भज द्वारकेशं ततः ॥ श्रीधर०, ७.४३
कालिदास इन्दुमती को महेन्द्राद्रि के शासक को चुनकर उनके साथ सागरतट पर बिहार करने का प्रलोभन देते हैं तो यशोधरा अपनी सखी को कोमलनरेश का वरण करके सरयू के तीरवर्ती कानन का उपभोग करने को प्रेरित करती है।

अनेन सार्धं बिहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनममरेषु ।

द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ रघुवंश, ६.५७

अभिरतिर्यदि ते सरयूजलप्लवनशाङ्खलकाननकेलिषु ।

क्षितिपतेस्तदमुष्य भव प्रिया मुररिपोरिव गौरि ! हरिप्रिया ॥

श्रीधर०, ७.३६

परित्यक्त नरेशों की म्लानता का चित्रण दोनों काव्यों में संचारिणी दीप-शिखा के उपमान द्वारा किया गया है^{१२}। दोनों कवियों ने स्वयम्बर के पश्चात् विजयी राजकुमार तथा हताश राजाओं के युद्ध का वर्णन किया है। यह ज्ञातव्य है कि इन्दुमती-स्वयम्बर के वर्णन पर आधारित होता हुआ भी माणिक्यसुन्दर का स्वयम्बर-वर्णन उसका अन्धानुकरण नहीं है बल्कि मानव-हृदय के सूक्ष्म चित्रण, कमनीय कल्पना तथा भाषा-माधुर्य के कारण वह सजीवता तथा रोचकता से ओतप्रोत है। इस कोटि के वर्णनों में सुलोचना-स्वयम्बर का निश्चित स्थान है।

रसयोजना

रसात्मकता की दृष्टि से श्रीधरचरित आलोच्य युग के महाकाव्यों में गौरव-मय पद पर प्रतिष्ठित है। काव्य में प्रायः सभी प्रमुख रसों की अभिव्यक्ति हुई है, जो पाठक को वास्तव में प्रपानक-रस का आस्वादन कराते हैं। श्रीधरचरित का अंगी रस शृंगार है। शान्तरसपर्यवसायी काव्य में शृंगार की प्रधानता स्वीकार करने में हिचक हो सकती है, किन्तु जैन पौराणिक महाकाव्यों की प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि २१. रघुवंश, ६.६७ तथा श्रीधरचरित, ७.६२

इनमें नायक तथा अन्य पात्र पहले विषयों का जी भर कर भोग करते हैं किन्तु, कालान्तर में, किसी घटना-विशेष के कारण विरक्ति का उदय होने से वे भोग-विलास आदि समूची आसक्तियों को छोड़कर संयमव्रत ग्रहण करते हैं और उस सोपान से मुक्ति की अट्टालिका में प्रवेश करते हैं। श्रीधरचरित में शृंगार की यही स्थिति है और इसी अर्थ में वह काव्य का अंगी रस है। माणिक्यसुन्दर शृंगार के विविध पक्षों तथा स्थितियों का चित्रण करने में निष्णात हैं। स्वयम्बर में आगत राजाओं की कामजन्य चेष्टाओं के वर्णन में उनके सात्त्विक भावों का मनोरम वर्णन किया गया है किन्तु उनका सर्वोत्तम निरूपण सुलोचना की उस स्थिति के चित्रण में हुआ है, जब वह विजयचन्द्र को वरमाला पहिना कर आनन्दातिरेक से अभिभूत हो जाती है।

सा रोमालिस्तम्भे तुंगस्तनकलश उरसि भवने निवेश्य यमस्मरत्

तं ध्यानादध्यलोभूतं विजयनृपतिकुसुमविशिखं समीक्ष्य सुलोचना ।

स्वेदाम्भोभिः क्लृप्तस्तानेव विमलवरतरवरणस्त्रजा प्रमदाकुला

चंचद्रोमांचा तं च द्राक् समुचितमिदमिति चतुरः शशंस न तां च कः ॥ ७.७७

उनकी विवाहोपरान्त कामकेलियों के मधुर चित्रण में सम्भोग-शृंगार का हृदयग्राही चित्रण है। विजयचन्द्र, परिवर्तित ऋतुओं के अनुसार, सुलोचना के साथ भोग-विलास में मग्न रहता है।

भुजोपपीडं भेजे तां व्यक्तरागधरामिव ।

शीतकाले स कालेयपंकालेपपरां भृशम् ॥ ६.१२

तपसौ वर्तुलव्यक्तमुक्ताप्रलम्बशीतले ।

शिथ्येऽसौ चन्द्रशालासु तस्याः काम्यकुचस्थले ॥ ६.१३

स नाभीदधननीरासु दीर्घाक्षीं दीर्घिकासु तां ।

कदापि रमयामास मराल इव वारलाम् ॥ ६.१४

अन्य अधिकांश जैन कवियों की तरह माणिक्यसुन्दर का यह शृंगार-चित्रण केवल औपचारिकता का निर्वाह प्रतीत होता है क्योंकि उसने काव्य में जी भरकर नारी की निन्दा की है। शृंगार की आसक्ति तथा जैन साधु की विरक्ति में पूर्ण तादात्म्य सम्भव नहीं है। फलतः माणिक्यसुन्दर की दृष्टि में नारी मलमूत्र के पात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है^{३३}। इसीलिये कामकेल में आचूड़ निमग्न विजयचन्द्र भी विषयभोग के पश्चात्ताप के द्वारा शृंगार की निस्सारता प्रमाणित करता है^{३४}।

श्रीधरचरित में वीररस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। कश्मीरनरेश प्रताप

२२. पुरीषमूत्रमूषासु योषासु जडताभूतः ।

मुह्यन्ति मोहनव्यथाः महामोहविमोहिताः ॥ श्रीधरचरित, ६.१४४

२३. वही, ६.१६८-१७३

के नेतृत्व में निराकृत राजाओं और विजयचन्द्र के युद्ध में वीररसात्मक कृदियों को अधिक महत्त्व दिया गया है। कवि ने घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की विधाड़, योद्धाओं के भुजास्फोट तथा द्वन्द्व-युद्ध के वर्णन में ही वीररस की चरितार्थता मानी है। देवी शक्तियों के हस्तक्षेप तथा अतिप्राकृतिक तत्त्वों ने युद्ध को यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक बना दिया है (न. १७, १९) ! और विजय की दयालुता तथा शत्रु को पराजित करने की लालसा के अन्तर्द्वन्द्व ने युद्ध को हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँचा दिया है (न. २४)। विजय द्वारा प्रयुक्त अवस्थापिनी विद्या से जन्म प्रमीला से अभिभूत होकर विपक्षी सेना उसका प्रभुत्व स्वीकार करती है। यह अविश्वसनीय स्थिति है, जिसे पाठक से स्वीकार करने की अपेक्षा की गयी है। अलौकिक शक्तियों के हस्तक्षेप ने विजय तथा वज्रदाह के युद्ध को भी कल्पनालोक की वस्तु बना दिया है। उधर विजय की 'कृपा' युद्ध के उद्देश्य पर पानी फेर देती है। वह मृतजीवनी-विद्या से स्वपर दोनों पक्षों के मृत सैनिकों को पुनर्जीवित कर देता है और पुनः नरसंहार के पाप से बचने के लिये सैन्ययुद्ध का परित्याग करता है किन्तु द्वन्द्वयुद्ध में दोनों ओर से आग्नेय, वायव्य आदि संहारक अस्त्रों का खुलकर प्रयोग किया जाता है^{२४}। यह चलायमान आचरण उसकी हिंसा के प्रति जन्मजात घृणा तथा काव्यनायक के वीरोचित दर्प का समन्वय करने की चेष्टा के द्वन्द्व को प्रतिबिम्बित करता है।

श्रीधरचरित के कथानक का पर्यवसान शान्तरस में हुआ है। काव्य के प्रायः सभी पात्र राज्य-वैभव, विषयभोग आदि सांसारिक बन्धनों को छोड़कर संयम का मार्ग ग्रहण करते हैं। इसके लिये मुनि के धर्मोपदेश अथवा अन्य किसी वैराग्यजनक घटना की प्रेरणा पर्याप्त है। भोगविलास में पूर्णतया लिप्त व्यक्ति के हृदय में विरक्ति के उदय के लिये इस प्रकार की घटना अपर्याप्त अथवा असमर्थ प्रतीत हो सकती है किन्तु यह मानव-मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। अतिशय भोग की परिणति योग में होती है। जैन काव्यों का उद्देश्य पाठक को कद्रिता के सरस माध्यम से वैराग्य की ओर उन्मुख करना है। शृंगार का पर्याप्त चित्रण होने पर भी श्रीधरचरित का मूल स्वर निर्वेद का स्वर है। सांसारिक वैभव तथा भोग तात्कालिक सुख दे सकते हैं किन्तु शाश्वत आनन्द संयम एवं त्याग में निहित है, यह प्रस्तुत काव्य का संचित सार है। काव्य के इस उद्देश्य के अनुरूप जयन्त मुनि ही निवृत्तिप्रधान धर्मदेशना सुन कर तथा उनसे संयमश्री के स्वरूप की यथार्थता जानकर, दैहिक भोग में लीन विजयचन्द्र सर्वस्व त्याग कर मोक्ष के द्वार, प्रव्रज्या में प्रवेश करता है। उसकी यह मनःस्थिति निर्विघ्न भोग से उद्धिग्न व्यक्ति के भानस की द्योतक है। उसकी इस मानसिक स्थिति की भूमि में शान्तरस की उद्धान धारा प्रवर्गहित है।

अक्षः केलिकृता कामकितयेन समं कथम् ?
 नारीनितम्बफलके हा मया जन्म हारितम् ॥६.१७०
 स्पृहयामि ततो नाहं बाह्यराज्याय सर्वथा ।
 अयामी मेतिरे चित्ते विषया विषवन्मया ॥६.१७६
 भवाम्बुधेस्तितीर्षा मे बुवूर्णा संयमश्चियः ।
 मारमोहादिशत्रूणां संजिहीर्षा च साम्प्रतम् ॥६.१८०
 ध्वजांचलाब्धिकल्लोलचपलागोलवच्चलः ।
 असार एष व्यापारः सारो धर्मश्च निश्चलः ॥ ६.१९०
 तपःखड्गधरो जित्वा स्मरारिं सति धोवने ।
 संयमं संजिघृक्षामि प्रवयाः किं करिष्यति ॥ ६.१९१
 नवें सर्ग में, कामासक्त विजयचन्द्र को भोगविलास से विरत करने के लिये
 संयमश्री दिव्यनारी के रूप में प्रकट होती हैं । तेजपिण्ड से प्रादुर्भूत उस गौरांगी
 युवती के चित्रण में अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है ।
 जगजं गगनं कर्णकटुमिर्गजितस्ततः ।
 नेत्रे निमीलयन्तस्य तेजःपिण्डः पपात च ॥६.८२
 कान्तिविद्युत्लताभ्रान्तिकारिणीं तारहारिणीम् ।
 चन्द्रास्यां शुभ्रभृंगारां चलत्कंकणकुण्डलाम् ॥ ६.८४
 शुकहस्तां श्रितस्कन्धमरालद्वयशालिनीम् ।
 कांचित् कांचनगौरीं स वशां वीक्ष्य विसिष्मये ॥६.८५

श्रीधरचरित में करुण^{११}, रोद्र^{१२} तथा भयानक^{१३} रसों का भी अव्य परिपाक
 हुआ है, जो इन रसों के चित्रण में कवि की कुशलता का परिचायक है ।

प्रकृतिचित्रण

श्रीधरचरित के फलक पर प्रकृतिचित्रण को अधिक स्थान नहीं मिला है ।
 प्रथम पांच तथा अन्तिम तीन सर्गों में तो प्रकृति की एक भी झलक दिखाई नहीं
 देती । अन्तिम दो सर्ग जिस कोटि की सामग्री से भरपूर हैं, उसमें प्रकृतिचित्रण जैसी
 सौन्दर्याभिरुचि की अभिव्यक्ति का अवकाश ही नहीं है । छठे सर्ग में कवि ने अष्टा-
 पद, सूर्योदय तथा रत्नपुर के ललित वर्णनों से महाकाव्य के इस अभाव की पूर्ति
 करने की चेष्टा की है । प्रतिष्ठित परम्परा के अनुरूप माणिक्यसुन्दर ने प्रकृतिचित्रण में
 बहुधा कलात्मक शैली का प्रयोग किया है । श्रीधरचरित में प्रकृति के सहज पक्ष के

२५. वही, प. १०४-१०६

२६. वही, प. १२७

२७. वही, प. २४१-२४३

चित्र अत्यन्त दुर्लभ हैं। सूर्योदय का प्रस्तुत वर्णन काव्य में शायद एकमात्र ऐसा चित्र है जिसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। सूर्य के उदय से कुमुद बन्द हो जाते हैं, कमल खिल उठते हैं और उदयाचल का शिखर सूर्य की नव किरणों से लाल हो जाता है। इस पद्य में प्रातःकालीन प्रकृति का यह सहज रूप अंकित है।

निमोलकः करंविणीवनानामुन्मोलकः पद्मवनालीषु ।

बालांशुकिर्मोरितशैलसानुहृदेति राजेन्द्रसहस्रभानुः ॥ ६.६५

प्रकृति के सहज-संश्लिष्ट चित्र श्रीधरचरित में इतने दुर्लभ नहीं हैं। इस श्रेणी के चित्रों में विविध अलंकारों की भित्ति पर प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण किया जाता है। अलंकार प्रकृति को आक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं किंतु कुशल कवि उनमें समतुलन बैठकर प्रकृति-चित्रण की प्रभविष्णुता में वृद्धि करता है। श्रीधरचरित में प्रकृति के कुछ ऐसे चित्र अंकित हुए हैं। सूर्य के गगनागन में प्रवेश करते ही अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह अति सामान्य दृश्य है जिसे कवि ने रूपक, अनुप्रास तथा उपमा की सुस्चिपूर्ण योजना से ऐसे अंकित किया है कि इसका सौन्दर्य अनायास प्रस्फुटित हो गया है।

उज्ज्वैः करं प्राच्यगिरेर्विहारी चिकेलिषुर्व्योममहातडागे ।

उन्मूलयन्नेष तमस्तमालीविभाति हस्तीव गमस्तिमाली ॥ ६.६३

माणिक्यसुन्दर ने प्रकृति को अधिकतर मानवी रूप दिया है। समासोक्ति अलंकार इस दृष्टि से अतीव उपयोगी है। मानव-प्रकृति की गहन परिचिति तथा प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन के कारण कवि मानव-जगत् तथा प्रकृति की भावनाओं एवं चेष्टाओं में आश्चर्यजनक तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुआ है। सूर्योदय के प्रस्तुत चित्रण में चन्द्रमा, सूर्य तथा आकाश (द्यौः) पर क्रमशः जार, पति तथा नायिका का आरोप किया गया है। पति के सहसा आगमन से जैसे जार जान बचा कर भाग जाता है, उसी प्रकार रात भर आकाश-नायिका को भोगने वाला चन्द्रमा, उसके स्वामी (पति) सूर्य को देखकर सम्भ्रमवश भाग गया है और आकाश-नायिका रति के कारण अस्तवस्त अपने अन्धकार-रूपी केशों को समेट रही है। मानवीकरण से, चन्द्रमा के अस्त होने तथा सूर्योदय से अन्धकार के मिटने की साधारण घटना में अद्भुत सजीवता का समावेश हो गया है।

दिवं शशांकः परिभुज्य मित्रागमात् पलायिष्ट रयात् त्रपालुः ।

धम्मिलतां सापि तमःशिरोजभारं नयत्याशु रतिप्रकीर्णम् ॥ ६.६८

प्रकृति को मानवी रूप देने में कवि ने इतनी तत्परता दिखाई है कि उसके अधिकांश चित्रों में मानवहृदय की थिरकन सुनाई पड़ती है। निम्नोक्त पद्य में कमलिनिर्या रागवती नायिकाओं की भाँति भ्रमरांजन आंज कर प्रवास से लौटे अपने

पति का स्वागत कर रही हैं ।

समागतं बोध्य विदूरवेशादिनं दिनादौ किल पद्मिनीमिः ।

सौरभ्यलीनभ्रमरालिदम्भादानंजिरे पंकजलोचनाभिः ॥ ६.६१

इस संक्षिप्त प्रकृतिवर्णन से स्पष्ट है कि प्राकृतिक सौन्दर्य का अंकन करने में भाणिक्यसुन्दर सिद्धहस्त है । काव्य का प्रकृतिचित्रण उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति तथा प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है ।

सौन्दर्यवर्णन

भाणिक्यसुन्दर की तूलिका ने मानव-सौन्दर्य के भी अभिराम चित्र अंकित किये हैं, जो प्रकृतिचित्रण की भाँति, उसकी कलात्मक अभिरुचि तथा सौन्दर्य-बोध के द्योतक हैं । श्रीधरचरित में नारी-सौन्दर्य का चित्रण किया गया है । कवि ने परम्परागत नखशिखप्रणाली से नारी के अंगों-प्रत्यंगों का चित्रण नहीं किया है बल्कि विविध अलंकारों का आश्रय लेकर उसके सौन्दर्य के समग्र प्रभाव की अभिव्यक्ति की है । इस रीति से वर्णित कलावती का सौन्दर्य रम्भा और गौरी के लावण्य को भी मात करता है ।

शशिमण्डलीय सकला सकलकलाकेलिकेलिगृहममला ।

कमला हरेरिव कला कलावती तस्य कान्तासीत् ॥२.११

भोतो हृदि स कलकं किं नो बिभर्ति शशी ।

बोध्य यदाननकमलं न न कमलं कलयति स्म दुर्गजलम् ॥२.१४

यद्रूपेऽनुरूपे निरूपिते बोधयति स्म ।

रम्भाऽरं भारहिता गौरी गौरी रभाप्यरमा ॥ २.१५

चरित्रचित्रण

श्रीधरचरित में अनेक देवी तथा मानवी पात्रों का जमघट है किन्तु उनमें से अधिकतर क्षण भर के लिये काव्य के मंच पर आते हैं और दृष्टि से ओझल हो जाते हैं । पिता-पुत्र जयचन्द्र तथा विजयचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी पात्र के चरित्र का विकास नहीं हो सका है ।

जयचन्द्र

जयचन्द्र मंगलपुर का कुशल तथा न्यायप्रिय शासक है । न्यायपरायणता के कारण उसे प्रजा का अविचल विश्वास प्राप्त है । उसके प्रताप के सूर्य के समक्ष शत्रु दीपक की भाँति निष्प्रभ हैं । जयचन्द्र धर्मपरायण व्यक्ति है । जिनभक्ति की कलहंसी ग्रीष्म में भी उसके हृदय-सरोवर में यथावत् क्रीड़ा करती है । उसकी धर्म-निष्ठा से प्रसन्न होकर सिद्धपुरुष स्वयं उसके सभाभवन में आकर उसे एक गुटिका प्रदान करता है, जिसके प्रभाव से उसे पुत्र की प्राप्ति होती है । सिद्धपुरुष का वह

जो सम्मानपूर्वक अभिनन्दन करता है, वह उसके आतिथ्य, शिष्टता तथा पूज्य-पूजा का प्रतीक है ।

विजयचन्द्र

काव्यनायक विजयचन्द्र का चरित्र राजोचित विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय दुर्लभ मानवीय सद्गुणों से विभूषित है । वह अतीव सुन्दर है । यौवन-कोकिल के कूकने पर उसका शरीर लावण्य की वसन्तश्री से व्याप्त हो जाता है । वस्तुतः वह शरत्पापहीन काम है । अनुपम सुन्दरियाँ उसे देखने मात्र से कामाभिभूत हो जाती हैं ।

विजयचन्द्र पितृवत्सल पुत्र है । उसकी आचारसंहिता में पिता की आज्ञा अनुलंघनीय है । पिता का सन्देश मिलते ही वह हस्तिनापुर का समृद्ध राज्य तृणवत् छोड़कर तुरन्त पिता की राजधानी लौट आता है । पिता के आदेश से ही वह सुलोचना के स्वयंवर में भाग लेने के लिए रत्नपुर जाता है ।

विजयचन्द्र का हृदय पर-दुःखकातरता तथा दया के अदम्य प्रवाह से आप्लावित है । वह रत्नावली को नरमेघ के बचाने के लिए निष्ठुर योगी को, उसके बदले में, अपना मांस देने को तैयार है । मृत युवती कतकमाला के स्वजनों के करुण क्रन्दन से उसका कोमल हृदय द्रवित हो जाता है । फलतः वह उसे गारुडमंत्र से पुनर्जीवित कर देता है । पर-दुःखकातरता के कारण ही वह शरणागत की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है । निशाचर महाकाल की समस्त धमकियों तथा प्रलोभनों को ठुकरा कर वह शरणागत हव्य पुरुषों को नरमेघ से बचाने के लिए कृतसंकल्प है और इसके लिए अपने प्राणों की आहुति देने को भी तैयार है । दूसरे के प्राणों से अपनी रक्षा करना तो उसके लिए विषभक्षण के समान है (६.६१)।

वह राजोचित तेज से सम्पन्न है । वाराणसी-नरेश तो उसके अतिशय की सूचना-मात्र से आत्म-समर्पण कर देता है । वज्रदाढ आदि भी उसकी वीरता से भूमिसात् हो जाते हैं । अवश्य ही उसे चेटक की सहायता उपलब्ध है, किन्तु इन विजयों का श्रेय उसके भुजबल तथा सूक्ष्मबुद्धि को कम नहीं है ।

वह धर्मपरायण युवक है । यौवन में मुनीश्वर से अप्रतिभावी भव तथा शिवत्वप्राप्ति की भविष्यवाणी सुनकर वह तत्परता से पाशर्वभक्ति में लीन हो जाता है । जयन्त मुनि से संयमश्री का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमें विरक्ति का उद्रेक होता है और वह राजसुलभ वैभव छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेता है ।

अन्तिम दो सर्गों में उसके चरित्र में अनेक वैचित्र्यों तथा विरोधों का समावेश दृष्टिगम्य होता है । भूतों की वाणी सुनना, मन्त्रसाधना करना, स्वेच्छा से रूप-परिवर्तन करना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो एक लोककथा के नायक के लिए अधिक उपयुक्त हैं । इन सर्गों में उसका आचरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी तर्कसंगत नहीं

है। वह स्वाभिमान की रक्षा के लिए युद्ध करता है किन्तु पराजित होते समय (और विजयी होते हुए भी) उसमें सहसा दया का उद्रेक हो जाता है जिससे उसमें युद्ध से विरत होने की लालसा बलवती हो जाती है। इसी प्रकार वह धीरे विलास में मग्न रहता है किन्तु कालान्तर में, मुनि के धर्मापदेश से ही सही, वह संसार से श्रृणा करने लगता है, अपने पूर्व आचरण पर पश्चात्ताप करता है और अन्ततः जगत् से विरक्त हो जाता है। सम्भवतः इसका कारण कवि की दोलायमान चित्तवृत्ति है। वह अपने नायक को महाकाव्य-नायक के अनुरूप शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी बनाना चाहता है किन्तु उसकी धार्मिक आस्था उसे तुरन्त हिंसा तथा संसार की नश्वरता के प्रति विद्रोह करने को विवश कर देती है।

वज्रदाह

वज्रदाह को काव्य का प्रतिनायक माना जा सकता है। वह विजयचन्द्र का पूर्वजन्म का अप्रज चन्द्र है। श्रीधर (पूर्वभव का विजयचन्द्र) की पत्नी गौरी के प्रति अनुरक्ति के कारण वह सुलोचना (गौरी) को हर ले जाता है। वज्रदाह पराक्रमी तथा बलवान् है। विजयचन्द्र की तरह उसे भी दैवी सहायता प्राप्त है। उसके भुजबल से एक धार तो विजय की सेना में भगदड़ मच जाती है। मुनि से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर वह सर्वविरति स्वीकार करता है।

समाज-चित्रण

श्रीधरचरित में तत्कालीन समाज के कतिपय विश्वासों, मान्यताओं तथा अन्य गतिविधियों का कुछ संकेत मिलता है। शकुनों की फलवत्ता पर समाज को अटूट विश्वास था। अपशकुनों का परिणाम भयावह तथा अन्तर्धकारी माना जाता था। वज्रदाह ने अपशकुनों की उपेक्षा करके विजयचन्द्र के विरुद्ध प्रयाण किया था। फलतः उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा।^{१८} आजकल की भाँति उस समय भी काक का स्वर प्रिय के आगमन का सूचक माना जाता था। प्रिय-मिलन के लिए अधीर युवतियाँ इसीलिए कव्वे को स्वर्ण-पिजरे में डालकर उसकी आवाज सुनने को लालायित रहती थीं।^{१९}

रत्नांगद के पुत्र-पुत्री के पूर्वभव के प्रसंग में, काव्य में सहजात भाई-बहिन के विवाह का उल्लेख है। आश्चर्य यह है कि यह विवाह उनके पिता द्वारा आयोजित किया गया था। परन्तु यह सर्वमान्य सामाजिक नियम का अपवाद प्रतीत होता है। समाज में इसे घृणित तथा धर्मनाशक कुकर्म माना जाता था।^{२०}

२८. वही, ८.३६३

२९. वही, ८.१४१

३०. वही, ८.५५, ६१

काव्य में नरमेध तथा पशुमेध का विस्तृत वर्णन यद्यपि वैदिक धर्म की, विशेषतः यज्ञव्यवस्था की, खिली उड़ाने के लिए किया है, किन्तु इससे इस क्रूर प्रथा के किसी रूप में प्रचलन का संकेत अवश्य मिलता है। राजा चन्द्रबल द्वारा एक साथ १०८ व्यक्तियों की बलि देने का उल्लेख काव्य में आया है।^{११}

युद्ध में पहली रात शस्त्रजागरण करने की प्रथा थी।^{१२} शत्रुपक्ष को आतंकित एवं पराभूत करने के लिए युद्ध में अन्यान्य शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त विविध विद्याओं का आश्रय लिया जाता था, जो सदैव निर्दोष नहीं थीं। विजयचन्द्र ने प्रताप के नेतृत्व में लड़ने वाले राजाओं के सैनिकों को अवस्थापिनी विद्या से मुलाकर निश्शस्त्र किया था।^{१३} मृतजीवनी-विद्या के बल से मृत सैनिकों को पुनर्जीवित किया जाता था। वज्रदाह के साथ युद्ध में विजयचन्द्र ने अपने तथा विपक्ष के मृत योद्धाओं को इसी विद्या के द्वारा जीवन प्रदान किया था।^{१४} सैनिकों को समरांगण में प्रयाण करने की सूचना देने के लिए रणमेरी बजाई जाती थी।^{१५}

काव्य से स्त्रीहरण, अगम्यागमन आदि कुरीतियों के प्रचलन का भी संकेत मिलता है, किन्तु उन्हें गंहित तथा निन्द्य माना जाता था। कंठपाश से आत्महत्या करने का उल्लेख भी काव्य में आया है।^{१६}

धर्म

काव्य में धर्मोपदेशों के अन्तर्गत धर्म के कतिपय सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। काव्य में निरूपित विचारधारा के अनुसार मानवजीवन का सार धर्म है और धर्म का मर्म दया। दया को जो आयाम जैन धर्म ने दिया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए जैन धर्म सर्वश्रेष्ठ है। दया के बिना धर्म उसी तरह व्यर्थ है जैसे पुतली के बिना आँख तथा जल के बिना सरोवर। मनुष्य चार व्रतों का पालन करे अथवा पांच का या बारह व्रत धारण करे, इन सब का मूलाधार दया है। अहिंसा (दया) का फल मोक्ष है।^{१७} दूसरे के प्राणों से अपने प्राणों की रक्षा करना विषभक्षण के समान है।^{१८}

३१. वही, ८.२१६-२२०

३२. वही, ८.३६६

३३. वही, ८.२४-२५

३४. वही, ८.४००

३५. वही, ८.३६१

३६. वही, ८.१६७

३७. वही, ४.१६-२० तथा २२

३८. वही, ६.६१

धर्म समस्त मंगल, सुख तथा यश का शाश्वत स्रोत है^{१३}। संसार में मनुष्य के परित्राण के लिए धर्म से बड़ कर कोई अन्य उपाय नहीं है। अतः मनुष्य को पुण्या-जन्त के द्वारा धर्माश्रयण में निष्ठापूर्वक तत्पर रहना चाहिए।^{१४} भवसागर को पार करने के लिये धर्म विश्वसनीय नौका है। सदाचार उसका चप्पू है।^{१५} मोहान्ध लोग यौवन में धर्माचरण छोड़ कर विषयों में आसक्त रहते हैं परन्तु जो विषयों को त्याग कर कालान्तर में भी धर्म का पालन करते हैं, वे भी प्रशंसा के पात्र हैं।^{१६}

दर्शन

श्रीधरचरित में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया गया है। जैन दर्शन के आधारभूत कर्मसिद्धांत की अपरिहार्यता की चर्चा काव्य में अवश्य हुई है। जब तक तप द्वारा कर्म की निर्जरा नहीं होती, मनुष्य को अपने शुभा-शुभ कर्म का फल अनिवार्यतः भोगना पड़ता है।^{१७} सत्कर्मों से प्रेरित धर्म का फल स्वर्ग है।^{१८} असत्कर्मों के कारण धर्म तथा नय से भ्रष्ट होकर मनुष्य को नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।^{१९} इस तथ्य को काव्य में बार-बार रेखांकित किया गया है। कुमार विजयचन्द्र अपनी नववधू के पूर्वभवों का वर्णन सुनकर कर्मगति की प्रभविष्णुता से चकित रह जाता है।

भूपो व्यचिन्तयच्चित्ते कीदृशं भवनाटकम् ।

जन्तवो यत्र नृत्यन्ति बहुधा निजकर्मभिः ॥ ८.६४

काव्य में प्रतिपादित धर्म तथा दर्शन का सार निम्नोक्त पद्य से संचित है।

सुलभं जगति जन्म मानुषं

तत्र जैनवचनं सुदुर्लभम् ।

कश्चिदेव लभते च भाग्यवान्

सिद्धिनायकसुतांगसंगमम् ॥ ८.१४८

श्रीधरचरित में सांख्य के पुरुष, योग के अष्टांगों तथा बौद्धदर्शन के विज्ञान-वाद का भी उल्लेख हुआ है।^{२०}

भाषा

श्रीधरचरित का प्रमुख आकर्षण इसकी मधुर भाषा है। माणिक्यसुन्दर ने

३६. वही, ३.१७

४०. वही, ६.७४, ७६

४१. वही, ८.५४२

४२. वही, ६.१४६-१४७

४३. वही, ८.५०

४४. वही, ८.६६

४५. वही, ८.६५

४६. वही. क्रमशः ८.२३, ६.१५६ तथा ६.२८

महाकाव्य की गरिमा की रक्षा करते हुए जिस प्रांजल भाषा का प्रयोग किया है वह अरस्तू के भाषा-सम्बन्धी आदर्श की पूर्ति करती है। मध्यकालीन संस्कृत-वाक्य में भाषा की यह प्रांजलता कम देखने को मिलती है। श्रीधरचरित की भाषा आद्यन्त सौष्टव तथा माधुर्य से ओत-प्रोत है। इसका आधार अनुप्रास तथा अक्लिष्ट यमक का सविवेक प्रयोग है। काव्य में प्रायः सर्वत्र अनुप्रास की अन्तर्धारा प्रवाहित है। श्रीधरचरित में, विशेषकर अन्तिम दो सर्गों में, कवि का आधारफलक इतना विस्तृत है कि उस पर आकाश-पाताल, नागों, विद्याधरों, भूतों आदि का एकसाथ चित्रण किया गया है। श्रीधरचरित में, इन विविध स्थितियों के अनुपात में, भाषा का वैविध्य नहीं है किन्तु माणिक्यसुन्दर प्रसंग को तदनुकूल भाषा में व्यक्त करने में समर्थ है। कुशल जड़िया की भाँति वह प्रसंग-विशेष में जिस भाषा को टांक देता है, उसे, प्रसंग का सौन्दर्य नष्ट किये बिना, परिवर्तित करना प्रायः असम्भव है। अपने शब्दचयन के कौशल के कारण सिद्धहस्त बुतकर की तरह जब वह प्रसंगानुकूल शब्दावली का गुम्फन करता है, तो स्वतः कान्त पदावली की सृष्टि होती चली जाती है। श्रीधरचरित में अधि-कतर जो भाषा प्रयुक्त हुई है, उसमें वह गुण वर्तमान है जिससे चित्र में द्रवीभाव का उद्रेक होता है। इस प्रांजलता के कारण माणिक्यसुन्दर की भाषा को पढ़ते ही भावाव-बोध हो जाता है। स्वयम्बर में उपस्थित राजाओं के परिचयात्मक वर्णन की भाषा में कहीं-कहीं तो असीम कोमलता तथा मधुरता है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

अमलकमलकोमलवरवदनं स्फुरदुरुचिर्निजिततरमदनम् ।

गजपुरपतिमुनतगुणसदनं भज भज गजगामिनि । नृपमदनम् ॥७.४६

नवयौवनकाननकेलिकरं करपल्लवनिजितपद्मवरम् ।

वररत्नममं वृणु सर्वकलं कलय त्वमतस्तरुणत्वफलम् ॥७.४०

वैराग्यजनक पञ्चात्ताप के चित्रण की भाषा भी इसी सरलता तथा सुबोधता से परिपूर्ण है किन्तु उसमें आत्मरत्नानि का मिश्रण है, जो पात्र की विशिष्ट मनोदशा के अनुरूप है। प्रबोधप्राप्ति के पश्चात् विजयचन्द्र के ये उद्गार इसका अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

कान्तांगदेशं रोमालिकाननं नाभिकन्दरम् ।

व्रजता विषयस्तेनः हा मया जन्म हारितम् ॥६.१७१

सिद्धपुरुष के अवतरण-वर्णन की भाषा सभासदों के कुतूहल को भूत करने में समर्थ है। पार्षदों की विकल्पात्मक मनःस्थिति के अनुरूप उक्त प्रकरण की पदावली ऊहा को व्यक्त करती है।

अयि ! कोऽयमनुत्तरच्छविः किं रविरेति भुवं विहायसः ?

अथ पुस्तकहस्ता तां दधत् पुरुषैव सरस्वती न किम् ? ॥२.२३

भाषा-प्रयोग के कौशल ने माणिक्यसुन्दर की वर्णनशक्ति को सामर्थ्य प्रदान किया है। वह प्रत्येक वर्ण्य विषय का रोचक तथा प्रभावी चित्रण कर सकता है।

अष्टापद तथा रत्नपुर के वर्णन इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अष्टापदपर्वत के शिखरों की नीलमणियों में बिम्बित आकाश की नीलिमा और गहरा गयी है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् विष्णु शेषशय्या पर सो रहे हों।^{१०} रत्नपुर के रत्ननिर्मित महलों में वितानों के मोतियों की प्रतिच्छाया पृथ्वी पर पड़ रही है। लगता है आकाश पृथ्वी पर उतर आया है। प्रतिबिम्बित मोतियों के रूप में तारे ही चमक रहे हैं।^{११}

श्रीधरचरित की भाषा में कतिपय दोष भी विद्यमान हैं, जिनकी ओर संकेत करना आवश्यक है। काव्य में प्रयुक्त कुछ रूप व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य हैं। 'त्वयि रोचते' (५.३०), प्रेक्षतः (६.१०) ह्वातुम् (६.४६), सहन् (८.६८), सुश्रूषयन् (८.१६७), सहन्तः (९.१३४) आदि प्रयोग च्युतसंस्कारत्व से दूषित हैं। माणिक्य-सुन्दर की शुद्धभाषा के प्रयोग की क्षमता को देखते हुए ये व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग आश्चर्यजनक हैं। यह 'गच्छतः स्खलनम्' है अथवा छन्दोभंग से बचने के लिये जान-बूझ कर गढ़े गये प्रयोग, निश्चित कहना सम्भव नहीं। श्रीधरचरित में यत्र-तत्र देशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है—कटारि (३.१६), बाह्याली (४.४३), पीद (५.५४); मार्ढिः (६.९८), चुण्डि (८.४८०), चुणित्वा (९.८८)।

पाण्डित्य-प्रदर्शन

माणिक्यसुन्दर ने खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, गोमूत्रिका आदि चित्रकाव्य से बौद्धिक व्यायाम कराने का प्रयास तो नहीं किया है, किन्तु वह समवर्ती प्रवृत्ति से अप्रभावित नहीं रह सका। पण्डित-वर्ग के बौद्धिक रंजन के लिये उसने छोटे सर्ग में, पार्श्वस्तुति के प्रसंग में, ऐसे पद्यों की रचना की है जो यथार्थतः चित्रकाव्य न होते हुए भी उसी प्रवृत्ति का संकेत देते हैं। इनमें कहीं कर्त्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि छह गुप्त हैं, कहीं तेरह। कोई पद्य नामचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है, तो कोई विश्र-मचित्र का। निम्नांकित पद्य में त्रयोदश गुप्त हैं।

कमलनाथ ! मनोहरहंसवद् भवतमोऽपि विभ्रा विभ्रवालय ।

गुरुगुणव्रजगौरव ! ते गुणान्मम मुदा स्तुवतः स्तुतिगोचरम् ॥ ६.७०

अत्र त्रयोदश गुप्तानि, तथाहि १. कं—कर्मगुप्तम् । २. अल—क्रियागुप्तम् । ३. न—शब्दगुप्तम् । ४. अथ—शब्दगुप्तम् । ५. मनः—कर्मगुप्तम् । ६. हर—क्रियागुप्तम् । ७. हंसवत्—अर्थगुप्तम् । ८. विभ्रा—कर्मगुप्तम् । ९. विभ्रो—सम्बोधनगुप्तम् । १०. आलय—क्रियागुप्तम् । ११. व्रज—अर्थगुप्तम् । १२. गौः—कर्तृविशेषणगुप्तम् । १३. अव—क्रियागुप्तम् ।

निम्नांकित पद्य में 'अपञ्चशभाषाचित्र' है ।

४७. वही, ६.५९

४८. वही, ६.१०६

मोरु हंस महसीहर माडी, राहि मानन शिवेन भवे त्वत् ।

आज देव किरि पाप पखाली मोहमेव न जलाशयपाला ॥ ६.७४

ये पद्य विद्वत्ता को चुनौती हैं। टीका के बिना इनका वास्तविक अभिप्राय समझना विद्वानों के लिये भी सम्भव नहीं है। माणिक्यसुन्दर को धन्यवाद, उसने इन पद्यों को स्वोपज्ञ व्याख्या से सुगम बना दिया है।

आठवें सर्ग में, हंसी तथा विजयचन्द्र के वार्तालाप के अन्तर्गत, प्रहेलिकाओं तथा समस्यापूर्ति से पाठक को चमत्कृत किया गया है। दोनों का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

पूजायाः किं पदं प्रोक्तं कृतज्ञो मन्यते च किम् ?

किं प्रियं सर्वलोकानामुपदेशो मुनेस्तु कः ? ॥ ८.५०३

हंसी—“सुकृतं कार्यम्”

अथ पुरोधः प्रोचे—‘यूकया गलितो गजः’ ।

हंसी—वटपत्रस्थबालस्योदरस्थं चेज्जगत्त्रयम् ।

तदाऽकस्मादिदं न स्याद् यूकया गलितो गजः ॥ ८.५०५

अलंकार-विधान

अलंकार किस सीमा तक भावाभिव्यक्ति में सहायक हो सकते हैं, इसका निदर्शन श्रीधरचरित की अलंकार-योजना में देखा जा सकता है। जो भाव अन्यथा दबे रह सकते थे, वे विविध अलंकारों का स्पर्श पाकर सहसा स्फूर्त हो गये हैं। अनुप्रास तथा यमक कवि के विशेष अलंकार हैं। काव्य के अधिकांश में ये दो अलंकार, किसी न किसी रूप में, सदैव विद्यमान हैं। अन्य अलंकारों में भी बहुधा ये अनुस्यूत हैं। कवि का अनुप्रास उसका मानस-पुत्र है। काव्य के पञ्चानवें प्रतिशत पद्यों में अनुप्रास का प्रयोग मिलेगा। अनुप्रास की सुवचिपूर्ण योजना काव्य में मधुर शंकार को जन्म देती है। विजयचन्द्र के विलासवर्णन में अनुप्रास का माधुर्य दर्शनीय है।

रमणो रमणीयांगी रममाणो रसामयम् ।

रमारमणवन्नेने रमणीनां मणिमिमाम् ॥ ९.३५

अन्त्यानुप्रास का काव्य में इतना व्यापक प्रयोग हुआ है तथा इसके इतने मधुर उदाहरण काव्य में भरे पड़े हैं कि पाठक चयन करते समय असमंजस में पड़ जाता है। दो ललित उदाहरण पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। यमक को भी काव्य में व्यापक स्थान मिला है। कवि ने अभंग तथा सभंग दोनों प्रकार के यमक का उदाहरण से प्रयोग किया है। इस पद्य में दोनों कोटियों का यमक प्रयुक्त किया है। माणिक्यसुन्दर के यमक में प्रायः क्लिष्टता नहीं है। इसीलिये यह काव्य की प्रभावशीलता तथा सौन्दर्यवृद्धि में सहायक बना है।

साभून्ननु मा रजनी मारजनी साप्युदेति मारजनी ।

रुचिर्निजितमारजनी न तत्र तल्पं ममार जनी ॥ ८.१८८

श्लेष से काव्य में क्लिष्टता का भय रहता है, अतः माणिक्यसुन्दर ने श्लेष का बहुत कम प्रयोग किया है । काव्य में यद्यपि अभंग तथा समंग दोनों प्रकार का श्लेष दृष्टिगत होता है किन्तु वह दुरुहता से मुक्त है । अभंग श्लेष का एक रोचक उदाहरण देखिए—

निशि ध्वान्ते भुजंगेन गृहीता करपल्लवे ।

जीवितेनोज्जिता युक्तं सा याति पितृमन्दिरम् ॥ ४-६७

श्रीधरचरित में अर्थालंकार भी भावाभिव्यक्ति के साधन हैं । उन्हें बलपूर्वक काव्य में ठूसने का दुष्प्रयास नहीं किया गया है । उपमा यद्यपि कवि का प्रिय अलंकार नहीं है फिर भी श्रीधरचरित में कुछ मनोरम उपमाएँ प्रयुक्त हुई हैं । कहीं-कहीं अन्य अलंकारों के साथ उमका संकर है (६.४४) । सद्यःस्नाता सुलोचना के वर्णन में उपमा से प्रेषणीयता आई है । स्नान के पश्चात् शरीर से जलकण पीछने पर कंचनवर्णी सुलोचना प्रभातवेला के समान प्रतीत होने लगी जिसमें तारागण अस्त हो गये हैं (७.३) । निम्नोक्त उपमा साहित्यशास्त्र तथा व्याकरण पर आधारित है । इसमें विजयचन्द्र तथा उसके साथ वैराग्य ग्रहण करने वाले मन्त्रियों की तुलना क्रमशः औचित्य एवं गुण तथा सूत्र एवं वात्तिकों से की गई है ।

राजर्षिदुष्टयास्तद्भक्तिदक्षास्तेऽपि तमन्वगुः ।

सर्वे गुणा इवौचित्यं सूत्रं वा वात्तिकादयः ॥ ६.२२६

माणिक्यसुन्दर ने वर्ष्य भावों को स्पष्ट बनाने के लिये काव्य में उल्लेख; असंगति, व्याजोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, सार, कारकदीपक, परिसंख्या; विरोधाभास, प्रतिबस्तूपमा, यथासंख्य तथा रूपक आदि का सटीक प्रयोग किया है । प्रस्तुत श्लोक में स्वेद आदि सात्त्विक भावों के गोपन के लिये स्वयम्बर में आया एक राजा, गर्मी के व्याज से पंखा करने लगता है । यह व्याजोक्ति है ।

धरापतिः कोऽपि स्मरानुरः स्मरन्निमां सात्त्विकधर्मसंकुलः ।

अहो महोष्मेति वदन्नचीचलत् करेण केलिव्यजनं मुहुर्मुहुः ॥ ७.१७

विरोधाभास से मंगलपुरवासियों का स्वरूप साकार हो गया है । वे शिव होते हुए भी रुद्र नहीं, कार्तिकेय होते हुए भी स्वामी नहीं और लक्ष्मीपति होते हुए भी वैकुण्ठवासी नहीं हैं ।

शिवरूपोऽपि न रुद्रो न धनमुहद्वाहनोऽपि स्वामी ।

यत्र न्यविशत लोको लक्ष्मीकान्तो न वैकुण्ठः ॥ २.७

निम्नोक्त पद्य में वर्णित वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष बतलाने के कारण 'सार' अलंकार है ।

अस्मिन् संसारे सारं तावन्नृणां भवः ।

तत्रापि धर्मो धर्मोऽपि कृपां विद्धि नृपांगज ॥४.१८

रत्नांगद के राज्य की सुव्यवस्था का निरूपण परिसंख्या पर आधारित है ।
यहाँ भारभीति का चौरभीति तथा शत्रुभीति से व्यवच्छेद किया गया है ।

नक्तं दिने वा दिवसावसाने तन्मण्डलेऽध्वन्यधूसरन्ती ।

विभूषणं मुञ्चति भारभीत्या न चौरभीत्या न च शत्रुभीत्या ॥६.३०

सूर्योदय के वर्णन में कवि ने प्रकृति पर मानव व्यवहार के आरोप से समा-
सोक्ति का पर्याप्त प्रयोग किया है, इसका संकेत प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में किया जा
चुका है । इस पद्य में प्रस्तुत चन्द्रमा, सूर्य तथा आकाश पर क्रमशः अप्रस्तुत जार,
पति तथा नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है ।

विवं शशांकः परिभुज्य मित्रागमात् पलायिष्ट रयात् त्रपालुः ।

धम्मिलतां सापि तमःशिरोजभारं नयत्याशु रतिप्रकीर्णम् ॥६.८८

श्रीधरचरित का शास्त्रपक्ष—छन्दविधान

शास्त्रकाव्य की भाँति श्रीधरचरित कवि के छन्दशास्त्र के पाण्डित्य का दर्पण
है । माणिक्यसुन्दर का उद्देश्य चरितवर्णन के साथ-साथ छन्दों के प्रायोगिक उदाहरणों
से विद्वानों को चमत्कृत करना है^{११} । इस दृष्टि से श्रीधरचरित की शास्त्रकाव्यों में
गणना करना न्यायोचित होगा । कवि के विचार में लक्ष्यलक्षण-सहित छन्दों का
प्रदर्शन दुग्धतुल्य काव्य में शर्करा के समान है^{१२} । इसीलिये उसने अपने छन्दशास्त्र
का काव्य में विधिवत् विवेचन किया है । प्रथम सर्ग में छन्दशास्त्र के आधारभूत
नियमों का प्रतिपादन किया गया है । इसमें आठ गणों की व्यवस्था तथा उनके क्रम
का विधान, छन्दों का मात्रा तथा वर्णवृत्तों में विभाजन, वर्णवृत्तों के उपभेद, गुरु-
लघु अक्षरों का विधान तथा छब्बीस जातियों का उल्लेख है । एकाक्षर पाद में एक-
एक अक्षर की वृद्धि करके भिन्न-भिन्न छन्द हो जाते हैं । पाद में अक्षरवृद्धि तब तक
हो सकती है जब तक छब्बीस अक्षर वाला पाद न हो जाए । छब्बीस अक्षर की
जाति से आगे चण्डवृष्टि से दण्डक तक छन्द कहे गये हैं । कथित छन्दों से अन्य
छन्द 'गाथा' है, शेष सट्पदिका आदि^{१३} । माणिक्यसुन्दर का यह विवरण वृत्तरत्नाकर
के अनुसार है । केवल संयुक्त र के पूर्ववर्ती अक्षर की स्थिति के विषय में दोनों में
मतभेद है । जहाँ वृत्तरत्नाकर में संयुक्ताक्षर से पूर्व स्थित प्रत्येक अक्षर को गुरु मान
कर संयुक्त र से पहले अक्षर को केवल विशेष परिस्थिति में ह्रस्व मानने का विधान

४९. कृतपण्डितसौहित्यं साहित्यं वच्मि किंचन । वही, १.१५

५०. लक्ष्यलक्षणसंयुक्तं छन्दसो यत्प्रदर्शनम् ।

स्निग्धदुग्धसमे ग्रन्थे नूनं तच्चारुशर्करा ॥ वही, १.१६

५१. वही, १.२४-२५

है, माणिक्यसुन्दर सर्वत्र उसकी ह्रस्वता के पक्ष में हैं^{११}।

प्रथम सर्ग में आधारभूत नियमों के निरूपण के पश्चात् माणिक्यसुन्दर ने द्वितीय सर्ग में आर्या, अत्यार्या, गीति, उद्गीति, उपगीति, आर्यागीति, वैतालीय, प्राच्यवृत्ति, चारुहासिनी तथा अपरान्तिका के लक्षण दिये हैं, जिन्हें दूसरे तथा तीसरे सर्ग में उदाहृत किया गया है। चतुर्थ सर्ग में श्लोक, वानवासिका, मात्रासमक, उपचित्रा, चित्रा, पादाकुलक, वदनक, अडिल्ला और पद्धटिका^{१२} की परिभाषा दी गयी है, जिनके प्रायोगिक उदाहरण पाँचवें सर्ग के अन्त तक चलते हैं। छठे सर्ग में कवि ने एकाक्षरी 'श्री' से लेकर ३५ वर्णों के चण्डकाल तक समवृत्तों, आख्यानकी, विपरीत आख्यानकी, पुष्पिताग्रा, उपचित्र, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र तथा द्रुतमध्या अर्द्ध-समवृत्तों और पदचतुर्ध्व, षट्पदी तथा विषमाक्षरा विषमवृत्तों के लक्षणों की विस्तृत तालिका दी है। इनके उदाहरण सप्तम सर्ग के अन्त तक चलते हैं। आठवें सर्ग के आरम्भ में आर्या आदि छन्दों का प्रस्तार समझाया गया है। तत्पश्चात् उसके 'नष्ट' तथा 'दृष्ट' नामक भेदों का लक्षण और समवृत्तों के प्रस्तार आदि की विधि का निरूपण है। काव्य के कलेवर में इन्हें उदाहृत करना मानव-कौशल तथा क्षमता से बाहर है। अतः माणिक्यसुन्दर ने उनके सैद्धान्तिक विवेचन से ही सन्तोष किया है। इस प्रकार श्रीधरचरित में काव्य तथा छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ (लक्षणग्रन्थ) का अनुठा समन्वय है। सम्भवतः इस उद्देश्य से रचित यही एकमात्र महाकाव्य है।

प्रथम सर्ग की रचना शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, आर्या, उपजाति, रथोद्धता तथा अनुष्टुप् में हुई है। द्वितीय सर्ग में आर्या, अत्यार्या, गीति, उद्गीति, उपगीति, आर्यागीति, वैतालीय, औपच्छन्दसिक, प्राच्यवृत्ति, वैतालीय चारुहासिनी, औपच्छन्दसिक चारुहासिनी, वैतालीयापरान्तिका, औपच्छन्दसिकापरान्तिका, हरिणी तथा भुजंगप्रयात, ये पंद्रह छन्द प्रयुक्त किये गये हैं। तृतीय सर्ग का मुख्य छन्द अपरान्तिका है। अन्तिम दो पद्य क्रमशः उपजाति तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द में हैं। चतुर्थ सर्ग में मुख्यतः अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है। सर्गान्त के दो पद्य क्रमशः मालिनी तथा शिखरिणी में रचित हैं। पंचम सर्ग में प्रयुक्त १४ छन्दों के नाम इस प्रकार हैं— अनुष्टुप्, उपजाति, स्वागता, आर्या (!), वानवासिका, मात्रासमक, उपचित्रा, चित्रा, पादाकुलक, वदनक, अडिल्ला, पद्धटिका, शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी। छठे सर्ग की रचना में २४ छन्दों को आधार बनाया गया है। उनके नाम हैं— उक्ता जाति का श्री, स्त्री, नारी, कन्या, शशिवदना, मधु, विद्युन्माला, हलमुखी, बुद्धविराट्, रुक्मवती, मत्ता, एकरूप, दोधक, ग्यारह अक्षरी श्री, भद्रिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, संकर ५२. वृत्तरत्नाकर, मारद्वाज पुस्तकालय, लाहौर, १९३७, १.६-११, श्रीधरचरित,

(उपजाति), मालिनी, द्रुतविलम्बित, स्वागता, रथोद्धता, अनुष्टुप् तथा शार्दूलविक्रीडित। सप्तम सर्ग में छन्दवैविध्य चरम सीमा को पहुँच जाता है। इसमें प्रयुक्त ५५ छन्द इस प्रकार हैं—समवृत्त : स्वागता, रथोद्धता, शालिनी, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, मौक्तिकदाम, तोटक, भुजंगप्रयात, सखिणी, वैश्वदेवी, ताम्र, रस, चन्द्रवर्त्म, सुदत्त, वसन्ततिलका, प्रहरणकलिका, मणिगुणनिकर, मालिनी, मृदंग, कामक्रीडा, प्रियंवदा, प्रमिताक्षरा, जलधरमाला, मणिमाला, प्रहर्षिणी, नन्दिनी, रुचिरा, वाणिनी, शिखरिणी, हरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, कुसुमितलता, मेघविस्फुजिता, शार्दूलविक्रीडित, सुवदना, स्रग्धरा, भद्रक, अश्वललित, तन्वी, क्रींचपदा, भुजंगविजृम्भित, चण्डवृष्टिदण्डक, चण्डकाल। अर्द्धसमवृत्त : आख्यातकी, द्विपरीताख्यातकी, पुष्पिताग्रा, उपचित्र, हरिणाप्सुता, अपरवक्त्र, द्रुतमध्या। विषमवृत्त : पदचतुर्ध्व, षट्पदी, विषमाक्षरा। अष्टम सर्ग का मुख्य छन्द अनुष्टुप् है। स्रग्धरा, आर्या, वसन्ततिलका, उपजाति, वंशस्थ, शिखरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित इस सर्ग में प्रयुक्त अन्य छन्द हैं। नवें सर्ग में भी श्लोक का प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त इस सर्ग में उपजाति, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी का प्रयोग किया गया है। सब मिलाकर श्रीधरचरित में ६६ छन्द प्रयुक्त किये गये हैं। निस्सन्देह प्रस्तुत काव्य कवि के अगाध छंदशास्त्रीय पाण्डित्य का प्रतीक है। छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण श्रीधरचरित छन्दों के बोध के लिये लक्षणग्रन्थों से भी अधिक उपयोगी है।

श्रीधरचरित पौराणिक काव्य होता हुआ भी शास्त्रीय काव्य का आनन्द देता है। छन्दों के विनियोग की दृष्टि से यह शास्त्र-काव्य का स्पर्श करता है। माणिक्य-सुन्दर प्रतिभाशाली तथा सुरचि-सम्पन्न कवि है। उसके उद्देश्य तथा धार्मिक वृत्ति ने यद्यपि उसकी प्रतिभा को सीमित किया है तथापि वह ऐसे काव्य की रचना करने में सफल हुआ है, जो समर्थ कवित्व, कमनीय कल्पना तथा मधुर भाषा के कारण साहित्य में सम्मानित पद का पात्र है।

परिशिष्ट

श्रीधरचरित में प्रयुक्त कुछ छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण :—

१. वानवासिका : मात्राष्टकात् न्ले जे वा वानवासिका ।

अथो नरेन्द्रः प्रधानवर्गान्, महोत्सवानां विधौ न्यदीक्षत् ।

विभूषितं तैः पुरं च चन्द्रध्वजव्रजाद्यैः सभं समन्तात् ॥ ५.४८

२. वदनक : षट्कलाच्चतुष्कलद्वयं ततो द्वे कले वदनकम् ।

पुरतश्चाचलिरद्भुतरूपं, वर्णयति स्म गुणैरिति भूपम् ।

मागधजनता वलितग्रीवं तं पश्यन्ती महसा पीदम् ॥ ५.५४

३. अडिला : तद्यमितमन्तेऽडिला ।

भुजबलकलिताऽखिलवसुधाकर !

देशस्थितबहुमणिवसुधाकर !

दानकला दिवमिव न सुधा कर-

मुञ्छति तव निजवंशसुधाकर !! ५.५५

४. पद्धटिका : चतुष्कलचतुष्कं पादान्तेऽनुप्रासे पद्धटिका ।

नात्र विषमे जः कार्योऽन्ते तु जः चतुर्लो वा ॥

जयचन्द्रधवलकीर्तिपूर ! जय चन्द्रवदन ! रुचिविजितसूर !

जय चन्द्रकलाम्बुजराजहंस ! जय विजयचन्द्र ! वीरावतंस ! ॥५.५७

५. श्री : जातौ न् श्री ।

गीः श्रीः धीः स्तात् । ६.१

६. हलमुखी : ए न स हलमुखी

पूर्वशैल इव तरणि विन्ध्यशैल इव करिणम् ।

अंकगं क्षणमथ वहन्त्य नरपतिरभात् ॥६.६

७. सुदत्तम् : स्यौ सौ गः सुदत्तम् ।

समरे यशोबीजमिषोप्तमर्वतां, हलवत् खुरैः क्षुण्णमहीतलेऽधुना । ७.४७

८. मृदङ्ग : त भौ जौ रो मृदङ्गः ।

आनन्दयत्वथ मनस्तव सैष मैथिल-

श्चन्द्रानने ! कमलचन्द्र इति क्षितीश्वरः । ७.५२

९. कौंचपदा : भू म स्ना नौ नौ गः कौंचपदा द्विशरैर्बसुमुनिभिश्च ।

शंकरमानन्दादिव गौरीं स्मरपरिभवकरद्युविशुचिनिकरं

वीक्ष्य मरालीजैत्रगति तां विजयनृपतिमभिसरमसचलिताम् । ७.७६

१०. चण्डवृष्टिः : नौ सप्त राश्चण्डवृष्टिः ।

कुलममलमिदं धरामण्डले धन्यमिक्ष्वाकुरत्नांगदक्षमापतेर्बन्धुरं,

जगति खलु मुलोचना कन्यका सापि धन्या वृतं सुष्ठु इत्युदगिरन्तो

गिरम् ॥ ७.७८

११. चण्डकालः :

जलदरवजैत्रनिर्घोषनिर्दोषविश्वौक-

सन्तोषकृच्चंगरंगन्मृदंगादिबाद्यानि नेदुस्तदा,

ललितवचनैर्बुधा मागधास्ते सुधासन्निभं

सारमाशीर्बचः प्रोच्चरन्ते स्म विस्मेरचित्ता मुदा । ७.७९

१२. आख्यानकी : ओजे तौ जो गौ युजि ज त जा गौ आख्यानकी ।

आनन्दयत्राननकैरवाणि वरेण्यराजेन्दुनिरीक्षकाणाम् ।

निस्तन्द्रचन्द्रातपवत् प्रसन्निरिति क्षणस्तत्र बभूव भूयान् ॥ ७.८०

६३. षट्पदी :

अकुण्ठोत्कण्ठमप्यस्याश्लेषसौख्यं सिषेवेषु;
 कण्ठे वरस्रजं न्यस्य वरस्य वलिता वधूः ।
 अल्पारम्भा क्षेमकरा इति रीतिमिवास्मरत् ॥ ७.८६

२०. यशोधरचरित्र : पद्मनाभकायस्थ

यशोधर की सुप्रसिद्ध कथा पर आधारित पद्मनाभकायस्थ का यशोधरचरित्र आलोच्य युग का गौचक पौराणिक महाकाव्य है। यशोधर, जीवहत्या के जघन्य पाप के कारण नाना अधम योनियों में भटक कर, अपनी पुत्रवधू के गर्भ से अभयरुचि के रूप में जन्म लेता है। अभयरुचि का वक्तव्य ही यशोधरचरित्र है। काव्य में अधिकतर अभयरुचि के भवान्तरों की कथा वर्णित होने से वर्तमान शीर्षक इसकी कथावस्तु पर पूर्णतया लागू नहीं होता। पद्मनाभ का लक्ष्य काव्य के व्याज से जैनधर्म के सिद्धान्तों का विश्लेषण करके जनता को आर्हत धर्म की ओर प्रवृत्त करना है। इसीलिए काव्य में कवि का प्रचारवादी स्वर अधिक मुखर है।

यशोधरचरित्र की कुछ हस्तप्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में उपलब्ध हैं। उनमें से एक प्रति (संख्या ६११) हमें अध्ययनार्थ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। १२ × ५½ इंच आकार के चालीस पन्नों की यह प्रति शुद्ध तथा स्पष्ट है। उसी के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

यशोधरचरित्र का महाकाव्यत्व

यशोधरचरित्र के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में इसे आग्रहपूर्वक महाकाव्य कहा गया है। इसके रचयिता ने महाकाव्य के बाह्याबाह्य लक्षणों का पालन भी किया है। यशोधरचरित्र के भंगलाचरण के तीन पद्यों में चंद्रप्रभ तथा रत्नत्रय की वन्दना की गयी है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक कवियों की रचनाओं का विषय होने के कारण इसके कथानक को 'प्रख्यात' मानना उचित है। नायक यशोधर राजवंश में उत्पन्न अवश्य हुआ है, किन्तु काव्य में उसका व्यक्तित्व उसके पूर्वभवों के वर्णनों से इस तरह परिवेष्टित है कि उसमें उन गुणों का विकास नहीं हुआ, जिनके आधार पर उसे परम्परागत नायकों की श्रेणी में रखा जा सके। सामान्यतः उसे धीरप्रशान्त कहा जा सकता है। पौराणिक काव्य होने के नाते इसमें शान्तरस की प्रधानता है। शृंगार, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत रस, अंगी रस से मिलकर, काव्य की रसवत्ता को तीव्र बनाते हैं। यशोधरचरित्र जैनदर्शन की गरिमा के प्रतिपादन तथा जिनधर्म के प्रचार की अदम्य भावना से अनुप्राणित है। काव्य का शीर्षक अभयरुचि के पूर्वजन्म के नाम (यशोधर) पर आश्रित है। यह पूर्णतया शास्त्रसम्मत तो नहीं है किन्तु इससे महाकाव्य के स्वरूप पर आंच नहीं आती। इसके प्रायः सभी सर्ग मुख्यतः अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। यह अरस्तू के छन्द-सम्बन्धी आदर्श के अधिक अनुकूल है। इसकी सहज-

सरल भाषा काव्य के लिए अनुपयुक्त नहीं है। ऋतु, उद्यान, प्रभात, सूर्योदय आदि के महाकाव्योचित वर्णन यशोधरचरित्र के कथानक को नीरसता से बचाने में सहायक हैं। इस प्रकार इसमें, नाट्यसन्धियों को छोड़कर, महाकाव्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। अतः यशोधरचरित्र को महाकाव्य मानना उपयुक्त है।

यशोधरचरित्र की पौराणिकता

यशोधरचरित्र पौराणिक महाकाव्य है। पौराणिक काव्यों की प्रमुख प्रवृत्ति, भवान्तरों का वर्णन, इसमें पग-पग पर परिलक्षित होती है। काव्य में प्रायः सभी पात्रों के पूर्व तथा भावी जन्मों का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा वर्तमान के सदसत् कर्मों तथा प्रवृत्तियों को पूर्वजन्म से नियन्त्रित माना गया है। गन्धर्वराज के मन्त्री का पुत्र, जितशत्रु, यशोधर के रूप में जन्म लेता है। उसकी पत्नी गन्धर्वश्री अमृतमती बनती है। कुबड़ा हाथीवान पूर्वजन्म में गन्धर्वश्री का देवर भीम था। उसके साथ यौन सम्बन्ध होने के कारण अमृतमती उस विकलांग पर अनुरक्त हो जाती है। यशोधर, प्राणिबध के कारण निकृष्ट योनियों में पड़कर, दारुण यातनाएँ झेलता है तथा अजा के रूप में उत्पन्न अपनी माता को भोगता है। मुनिकन्या अपनी विपत्ति को पूर्वभव के किसी कुर्म का फल मानती है। पौराणिक काव्यों की भाँति इसमें 'उक्तं च' कहकर पाराशर, उशनाः आदि शास्त्रकारों के वचन, अहिंसा के समर्थन में, उद्धृत किये गये हैं। यशोधरचरित्र में आर्हत धर्म को सर्वोत्तम धर्म तथा अर्हत् को परम देव की पदवी दी गयी है^१। पौराणिक रचनाओं के समान यशोधरचरित्र की कथा का पर्यवसान शान्तरस में होता है। काव्य के प्रायः सभी पात्र पाप से परित्राण पाने तथा जीवन का चरम सुख प्राप्त करने के लिए चारित्र्यव्रत ग्रहण करते हैं।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

यशोधरचरित्र से इसके लेखक पद्मनाभ के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है कि उसने जैन दर्शन का अध्ययन भट्टारक गुणकीर्ति के सान्निध्य में किया था तथा इन्हीं की प्रेरणा से वह काव्यकला में प्रवृत्त हुआ था^२। यशोधरचरित्र की रचना गोपाद्री (ग्वालियर)-नरेश वीरमेन्द्र के राज्यकाल में^३, उसके महामात्य कुशराज के अनुरोध से की गयी थी। इस तथ्य का उल्लेख कवि ने प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में किया है^४। सर्ग के प्रारम्भ में कुशराज का आग्रहपूर्वक प्रशस्तिगान करने का यही तात्पर्य है। पूर्व-विवेचित हम्मीरमहाकाव्य के प्रसंग में कहा गया है, यह तोमरवंशीय

१. यशोधरचरित्र, ८.१८०

२. वही, ६.१०७

३. काव्यप्रशस्ति, ४

४. इति यशोधरचारित्रे.....महाकाव्ये साधुश्रीकुशराजकारापिते.....।

शासक सन् १४२२ तक वर्तमान था। अमरकीर्ति के पट्कर्मोपदेश की आमेर प्रति में, जो सं० १४७२ (सन् १४२२) में लिखी गयी थी, ग्वालियर में वीरमदेव के राज्य का उल्लेख है। आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वदीपिका (प्रवचनसार की टीका) भी वीरम के शासनकाल में (सन् १४१२ में) लिखी गयी थी। पूर्वनिर्दिष्ट युक्ति के अनुसार वीरम का राज्यकाल १३८२ से १४२२ ई० तक माना जा सकता है। प्रतीत होता है, पद्मनाभ काव्यस्थ तथा आचार्य अमृतचन्द्र, नयचन्द्रसूरि के अवरज सनवर्ती विद्वान् थे। इससे यह मानना तर्कसंगत होगा कि यशोधरचरित्र पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, सन् १४०० से १४२२ ई० तक, किसी समय लिखा गया होगा। इस प्रकार वीरम के राज्यकाल को, साहित्य को दो महत्त्वपूर्ण काव्य प्रदान करने का गौरव प्राप्त है।

कथानक

यशोधरचरित्र नौ सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें पूर्वजन्म के यशोधर की कथा वर्णित है। प्रथम सर्ग में यौधेयदेश के अन्तर्वर्ती राजपुर का शासक मारिदत्त, खेचरी विद्या प्राप्त करने के लिये, योगी भैरवानन्द की दुष्प्रेरणा से, काली को नर-बलि से प्रसन्न करने की योजना बनाता है। उसके अनुचर एक मुनिकुमार तथा मुनिकन्या को पकड़कर लाते हैं। उनकी सौम्य आकृति तथा वाक्कौशल से प्रभावित होकर मारिदत्त उन्हें छोड़ देता है तथा उनका परिचय प्राप्त करने का आग्रह करता है। द्वितीय सर्ग में मुनिकुमार का आत्मपरिचय प्रारम्भ होता है, जो काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। मुनिकुमार पूर्वजन्म का उज्जयिनी-नरेश यशोधर्ध का पुत्र यशोधर है। उसका विवाह विाटनगरी के शासक विमलबाहन की रूपवती कन्या अमृतमती से हुआ था। तृतीय सर्ग में महाराज यशोधर्ध पलित केश को बार्धक्य का अग्रदूत मानकर प्रब्रज्या ग्रहण कर लेते हैं तथा राज्य का शासनसूत्र यशोधर को सौंप देते हैं। अमृतमती से यशोधर को एक पुत्र, यशोमति, की प्राप्ति होती है। अमृतमती कुबड़े हाथीवान की गायन-कला पर मुग्ध होकर उसे आत्मसमर्पण कर देती है। एक दिन स्वयं यशोधर उसे कुबड़े के साथ रमण करती देखता है। चतुर्थ सर्ग में वह इस अपमान से आहत हो जाता है किन्तु अपनी व्याकुलता को दुःस्वप्न का परिणाम बताकर उसके शमन के लिये, हिंसा को घोर पाप मानता हुआ भी, माता के आग्रह से, कुलदेवता को पिष्टि का एक मुर्गा भेंट करता है और उसे देवता का प्रसाद समझ कर खा जाता है। कुलटा अमृतमती अपने पति यशोधर और उसकी माता चन्द्रमती को विष देकर मार देती है। पाँचवें सर्ग में यशोधर तथा चन्द्रमती के भवान्तरों का वर्णन है। जीवहत्या के फलस्वरूप वे श्वान, मत्स्य, अज आदि निष्ठुर योनियों में भटकते हैं। छठे सर्ग में उनका जीव कुक्कुटों के रूप में जन्म लेता है, जिनका पालन-

पोषण एक चाण्डाल करता है। मुनि सुदत्त उनके पूर्व-भवों का वर्णन करता है। वे मरकर यशोमति की पत्नी की कोख से अभयरुचि तथा अभयमती के रूप में पैदा होते हैं। सातवें सर्ग में मुनि से अपने पिता तथा पितामही की, भवान्तरों में, दुर्गति का हृदयद्रावक वर्णन सुनकर यशोमति का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। मुनि से प्रतिबोध पाकर वह तापसव्रत ग्रहण करता है। आठवाँ सर्ग जैन दर्शन के सिद्धांतों की विवेचना से भरपूर है। अभयरुचि से हिंसा के दुष्परिणाम सुनकर देवी चण्डमारी तथा मारिदत्त को भी अपने कुकृत्यों से ग्लानि होती है। नवें सर्ग में, मारिदत्त की प्रार्थना से, मुनि सुदत्त, चन्द्रमती, अमृतमती, मारिदत्त, अशोकलता आदि सबके पूर्व भवों का वर्णन करते हैं। मारिदत्त तथा देवी मुनि से तापस व्रत ग्रहण करते हैं और सभी मरकर सद्गति को प्राप्त होते हैं।

यशोधरचरित्र का कथानक ठेठ पौराणिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः इसमें अश्वत्ति का अभाव है। जो कथासूत्र काव्य के तानेबाने के आधार हैं, वे बहुत ढीले तथा असंभव-से हैं। काव्य के तीन सर्ग मुख्य पात्रों के भवान्तरों के वर्णनों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर व्यय कर दिये गये हैं। अन्य सर्ग भी गौण पात्रों के पूर्व-जन्मों के वर्णनों से भरे पड़े हैं। वस्तुतः, कवि का उद्देश्य कर्मसिद्धान्त की अपरिहार्यता का निरूपण करना है। काव्य के विविध पात्रों के जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों और उनसे प्राप्त फलों का वर्णन करके इसी उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। इस शैली से निरूपित कथानक में सुसम्बद्धता का अभाव स्वाभाविक है। सच तो यह है कि यशोधरचरित्र की कथावस्तु महाकाव्य के अधिक अनुकूल नहीं है, यद्यपि इसका पुराण-प्रथित रूप यही है।

रसविधान

जैन पौराणिक काव्यों का परोक्ष लक्ष्य कविता के व्याज से आर्हत धर्म का प्रचार करना है। इसीलिये इनमें एक ओर पात्रों के पूर्व-भवों का सविस्तार वर्णन किया जाता है, जिससे उनके वर्तमान जन्म की सदसत् प्रवृत्तियों का पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मों के साथ संबंध जोड़कर कर्मवाद की अटलता का प्रतिपादन किया जा जा सके, दूसरी ओर पाठक में संवेगोत्पत्ति के लिए जगत् की असारता तथा धनवैभव की दुःखमयता का निरूपण किया जाता है। यशोधरचरित्र में इन दोनों विधियों को उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाया गया है। इसमें भोगों की भंगुरता तथा वैराग्य के शाश्वत सुख का सप्रयत्न प्रतिपादन किया गया है, जिससे अभिभूत होकर काव्य के प्रायः सभी पात्र शिवत्व-प्राप्ति के लिए व्रज्या ग्रहण करते हैं। इन प्रसंगों के चित्रण में स्वभावतः शान्तरस का पल्लवन हुआ है। इसलिए यशोधरचरित्र में शान्तरस की प्रधानता है। अपने पिता तथा पितामही की यातनाओं का रोमहर्षक वर्णन सुनकर अभयरुचि जन्म-मरण के दारुण दुःखों से त्रस्त हो जाता है। वह सर्वस्व छोड़कर

वैराग्य में सच्चा सुख खोजने का निश्चय करता है। अभयरुचि का यह निर्वेद काव्य में, शान्तरस में, परिणत हुआ है।

मूलं पापस्य भोगोऽयं भोगोऽयं धर्मनाशनः ।

श्वभ्रश्य कारणं भोगो भोगो मोक्षमहार्गला ॥ ७.१५७

एतादृशममं जानन्कथं खलमुपाश्रये ।

एतस्मिन्कः स्पृहां कुर्यात् स्थितिज्ञो मादृशो जनः ॥ ७.१५८

यशोधरचरित्र में शृंगार, करुण, भयानक, बीभत्स आदि का अंगीरस के सहायक रसों के रूप में चित्रण किया गया है। इस पौराणिक काव्य में भी वैराग्यशील साधु ने शृंगार की सरसता का परित्याग नहीं किया, यह उसकी सहृदयता का प्रतीक है। परन्तु इनमें सन्देह नहीं कि पद्मनाभ ने, अन्य अधिकतर जैन कवियों की भाँति, शृंगार का चित्रण रुढ़ि का पालन करने के लिए किया है। इसीलिए शृंगार का जम कर चित्रण करने के तुरन्त बाद उसकी निवृत्ति प्रबल हो जाती है और शृंगार की आलम्बनभूत नारी उसे विपवत्सली, महाभुजंगी तथा व्याघ्री प्रतीत होने लगती है। यशोधरचरित्र में शृंगार के आलम्बनपक्ष के चित्रण के अतिरिक्त यशोधर तथा उसकी रानी अमृतमती के सुरत-वर्णन में सम्भोग-शृंगार का भव्य परिपाक हुआ है। पद्मनाभ ने शृंगार के कला-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। चम्बन, आलिंगन तथा विपरीत-रति आदि चेष्टाएँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं।

तस्माद् विनिर्गत्य नृपात्मजा मे जयस्वनीकृत्य ननाम पश्चात् ।

आलिंग्य कण्ठे सुमुखीं गृहीत्वा हस्ते च शय्यातलमाजगाम ॥ ३.८५

वस्त्रे निरस्ते मुखफूत्कृतेन निर्वातुकामा सुदती प्रवीपम् ।

मणिप्रदोषं प्रति तन्मुखाब्जफूत्कारवातो विफलीबभूव ॥ ३.८६

क्षणं प्रिया तन्मुखमुन्नमय्य चुचुंब मीनध्वजबाणखिन्नः ।

स्थित्वोपरि प्रेमभरातिप्रियस्य क्षणं तु पुंश्चेष्टितमाततान ॥ ३.८७

देवी चण्डमारी के चित्रण में भयानकरस का आलम्बन पक्ष प्रस्फुटित है। अपने कराल मुख, लपलपाती जीभ तथा अंगारतुल्य आंखों के कारण वह यम की दाढ़ प्रतीत होती है (१.८०-८१)। इसी चण्डमारी के मन्दिर का वर्णन बीभत्सरस को जन्म देता है। यहाँ मन्दिर के प्रांगण में बहती रक्त-धारा, मांस, मज्जा आदि आलम्बन विभाव हैं। गीधों का पंख फड़फड़ा कर मांसराशि की ओर दौड़ना, कुत्तों का हड्डियाँ चबाना तथा चर्बी पर मक्खियों का भिनभिनाना उद्दीपन-विभाव हैं। मोह, आवेग, व्याधि आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट होकर अभयरुचि का मनो-गत स्थायी भाव, जुगुप्सा, बीभत्स के रूप में परिणत हुआ है।

मांसस्वेदगतानेकगृध्रपक्षतिलक्षितं ।

रक्ताम्बुवाहिनीमध्यमज्जत्करटकव्रजम् ॥ १.११६

नरककालमालाभिः कलितं पुरतो विशम् ।
 करोटिस्फोटनासक्तधुनां कुलेन ढौकितम् ॥ १.१२०
 क्वचित्कासारखण्डेन क्वचिन्मुण्डेन मण्डितम् ।
 क्वचिन्मज्जावशास्वादभ्रमद्बहुलमक्षिकम् ॥ १.१२१

अभयरुचि से उसके पूर्वभवों तथा हिंसा की घोर परिणति का दारुण वर्णन सुनकर देवी चण्डमारी, अपनी क्रूर प्रकृति छोड़कर, शान्त हो जाती है। वह स्वयं मुनिकुमार को अर्घ्य देती है और उससे क्षमायाचना करती है। उसके इस सहसा परिवर्तन के वर्णन में अद्भुत रस की छटा है।

चक्रोरलोचना चारुचन्दनागुरुचंचिता ।
 वनदेवी तदा शांता अर्चः सर्वविलोकिता ॥ ८.१४६
 अदादर्घं तदा देवी स्वयमेव तयोर्द्वयोः ।
 मणिपात्रस्थितैर्दूर्वाविधिपुष्पविलेपनैः ॥ ८.१४७
 पतित्वा तत्पदद्वन्द्वं भूतलाहितमस्तका ।
 उवाच मृदुतोपेता पापापगतमानसा ॥ ८.१४८

करुणरस की अवतारणा, यशोधर की हत्या पर उसके पुत्र यशोमति के विलाप में हुई है। पद्मनाभ की करुणा, जैन कवियों की परम्परा के अनुरूप, रोने-चिल्लाने तक सीमित है और उसी प्रकार वह मार्मिकता से शून्य है (५.२-४)।

प्रकृतिचित्रण

अपने धार्मिक कथानक की नीरसता को मेटने के लिए पद्मनाभ ने काव्य में प्रकृति का मनोरम चित्रण किया है। पौराणिक काव्य के मरुस्थल में प्रकृति के ये हरे-भरे उद्यान सचमुच श्रान्त पथिक को समुचित विश्राम प्रदान करते हैं।

यशोधरचरित्र के प्रकृति-चित्रण पर तत्कालीन परिवेश की छाप है, किन्तु अधिकतर समवर्ती कवियों के विपरीत पद्मनाभ ने प्रकृति के आलम्बनपक्ष का चित्रण करने में अधिक रुचि ली है। यशोधरचरित्र में नगर, जनपद, ऋतु, उद्यान आदि के वर्णन अधिकतर प्रकृति का स्वाभाविक, अनलंकृत चित्रण है। उस अलंकृत-प्रधान युग में प्रकृति के आलम्बनपक्ष का यह चित्रण कवि के सहज प्रकृति-प्रेम का परिचायक है। तत्कालीन कवियों में प्रकृति के प्रति यह सहानुभूति बहुत कम दिखाई देती है। प्रभात का प्रस्तुत वर्णन स्वाभाविकता से ओत-प्रोत है। चन्द्रमा की आभा मन्द पड़ गयी है, तारे छिपते जा रहे हैं, कमल खिल गये हैं, उनकी सुगन्ध से भरी बयार चारों ओर चल रही है, अभिसारिकाएँ घरों को लौट रही हैं। लो, सूर्य भी उदित हो गया है।

म्लानं शुभ्रांशुबिम्बं नभसि परिमितास्तारकाः कान्तिहीनाः
 प्रोन्मीलत्पद्मसंगात्परिमलसुरभिः सर्वतो वाति वातः ।

एताः शय्यानिशांताद् गुरुगृहमधुना यान्ति कान्ताः निशान्ते

जातः सूर्योदयोऽयं कृतजनकुशलो देव निद्रां जहीहि ॥ ३.१५२

प्रकृति का यही अनलंकृत चित्र उज्जयिनी के हिमवान् पर्वत के वर्णन में देखा जा सकता है। यहाँ कवि ने पर्वत के वृक्षों, निर्झरों, बाँसों के झुरमुटों में सांय-सांय करती पवन आदि के सहज संकेत से पर्वतीय वातावरण को मुखर किया है।

अथान्यबन्तिदेशस्य मध्यस्थो हिमवान् गिरिः ।

जम्बूनारंगपुंनागलबलीवनसुन्दरः ॥ ५.२१

केरलोच्चिकुराकारबहद्बहलनिर्झरः ।

कीचकान्तर्वहद्वातस्वरनिर्जितवेणुकः ॥ ५.२४

नानाधातुभिरापूर्णः सरलागुश्वासितः ।

मणोनामाकरः श्रेयान् रुचिरश्चमरीचयः ॥ ५.२६

पद्मनाभ ने प्रकृति पर चेतना के आरोप के द्वारा उसका मानवीकरण भी किया है। प्रकृति का मानवीकरण उसे मानव के निकट लाने का साहित्यिक प्रयास है। सूर्यास्त के वर्णन में आकाश को नायिका का रूप दिया गया है, जो अपने पति (सूर्य) की मृत्यु पर, विधवा की भाँति बाल फँलाकर करुण क्रन्दन कर रही है।

अस्तंगने स्वामिनि तिमिरशमी विक्षिप्तकेशेव धनांधकारैः ।

नक्षत्रनेत्राम्बुकर्णरयोगदुःखादियं द्युप्रमदा सरोद ॥ ३.६४

चन्द्रमा पर यहाँ सिद्ध की चेष्टाएँ आरोपित की गयी हैं। वह अपनी चन्द्रिका के नखों से अम्बुकार रूपी हाथी को फाड़ कर तारों के मोती बिखेरता हुआ गगन के वन में घूम रहा है।

ज्योत्स्नानखैः ध्वान्तकरीन्द्रवृन्दं भित्त्वा किरंस्तारकमौक्तिकानि ।

नभोवनांतानि विगाहमानः समाविरासीद् विधुपंचवक्त्रः ॥ ३.६६

सौन्दर्यचित्रण

प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति मानव-सौन्दर्य ने भी पद्मनाभ को आकृष्ट किया है। उसने एक ओर नखशिखप्रणाली को वर्ण्य पात्रों के अंगों-प्रत्यंगों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आधार बनाया है, दूसरी ओर उनके शारीरिक सौन्दर्य का सामान्य वर्णन करके मानव-जन पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित किया है। राजकुमारी अमृतमती का चित्रण नखशिखविधि से किया गया है जिसके अन्तर्गत कवि ने उसके उरोजों, गति तथा मुख का सौन्दर्य उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों के आधार पर अंकित किया है (२.७०, ७१, ७३)। उसी के सौन्दर्य-चित्रण में अन्यत्र उपर्युक्त दोनों शैलियों का मिश्रण है। यहाँ उसके रूप का सामान्य वर्णन है किन्तु उसके केशों की बंकिमा और अधराली मधुरता का विशेष उल्लेख किया गया है।

लावण्यशाला किमियं विधातुः किं सानसाकर्षणसिद्धिरेषा ।

किं कामजीवातुरियं कृशांगी किं कौमुदी वा जनलोचनस्य ॥ ३.५८

इमां विनिर्माय कथं कथंचिद् विनिर्निर्माणस्य कचौघमस्याः ।

सवेपथुः पाणिरभूद् विघातुररालतामेति किमन्यथासौ ॥ ३.५६

किं विद्रुमोऽयं मृदुता क्व तस्मिन्नथ प्रवालः क्व सुघालवोऽपि ।

बिम्बं किमेतत्सुरभिः क्वेति शक्या न निर्णेतुमिहाधरश्रीः (?) ॥ ३.६०

चरित्रचित्रण

यशोधरचरित्र में कई पात्र हैं किन्तु नायक यशोधर तथा नायिका अमृतमती के अतिरिक्त किसी का चरित्र अधिक स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि ने उन्हें पौराणिक रेखाओं की चौहद्दी में प्रस्तुत किया है।

यशोधर

काव्यनायक अभयरुचि पूर्वजन्म का यशोधर है। वह उज्जयिनी नरेश यशोधर्म का पुत्र है। उसके लिए पितृसेवा सर्वोपरि है। उसकी तुलना में राज्य के समस्त वैभव तुच्छ हैं। महाराज यशोधर्म जब उसे राज्यभार सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहते हैं, वह, जीमूतवाहन की भाँति, उनके साथ वन जाने को तैयार हो जाता है। पिता के बिना उसके लिए राज्यलक्ष्मी भी अर्थहीन है।

त्वया विना किं मम राजलक्ष्म्या त्वया विना किं मम राजभोगैः ।

त्वया समं तात गृहे वसामि त्वया समं चाथ वनं व्रजामि ॥ ३.१२

किन्तु पितृभाक्त के कारण वह, अन्ततः, पिता का आदेश स्वीकार करता है। उसकी आचार-संहिता में पिता की आज्ञा सर्वोपरि है।

वह अहिंसा का कट्टर समर्थक है और जीवहत्या को नरक का द्वार मानता है, किन्तु तथाकथित दुःस्वप्न को शान्त करने के लिये वह, माता के आग्रह से सही, कुल-देवता को बलि देता है। यह उसके निश्चय की अस्थिरता का सूचक है। यही चारित्रिक विरोध उसके पत्नी के प्रति व्यवहार में दृष्टिगत होता है। अमृतमती की दुश्चरित्रता का विश्वास होने पर तथा हाथीवान के साथ उसे रमण करती देख कर भी वह उसके प्रेम के झूठे प्रदर्शन से इतना विचलित हो जाता है कि उसे अपनी आँखों पर ही सन्देह होने लगता है। वह पत्नी के उद्देश्य पर सन्देह करता है किन्तु उसका भोजन का निमन्त्रण बिना हिचक स्वीकार कर लेता है। इस चलचिह्नता का मूल्य उसे अपने प्राणों से चुकाना पड़ता है।

जीववध के फलस्वरूप वह अनेक अधम योनियों में भटक कर अपनी पुत्रवधू के गर्भ से उत्पन्न होता है। मुनि सुदत्त से व्रत ग्रहण करके वह सद्गति को प्राप्त होता है।

अमृतमती

विराटदेश की सुन्दरी राजकुमारी अमृतमती काव्य की नायिका है। उसके बाह्य सौन्दर्य के पदों में जघन्यतम कुरूपता छिपी है। वह दुश्चरित्रता तथा धूर्तता

की जीवन्त प्रतिमा है। कुल की गरिमा तथा पति की कीर्ति पर पानी फेर कर वह विकलांग हाथीयान के चंगुल में फंस जाती है। अपना मार्ग निष्कण्ठक बनाने के लिये उसे पति को विष देकर मारने में भी संकोच नहीं है।

प्रत्येक चरित्रहीन व्यक्ति की तरह वह ढोंगी है। कुवड़े के हाथों विक कर भी वह पति के सामने प्रेम का ढोंग रखती है और निर्लज्जता से उसके साथ दीक्षा ग्रहण करने का प्रस्ताव करती है। वह दुष्टा उसे पातिव्रत्य की महिमा पर एक भाषण सुनाने से भी नहीं चूकती।

गौण पात्रों में मारिदत्त क्रूर शासक है। पिता के निधन के पश्चात् वह कुसंगति में पड़ जाता है। वह योगी भैरवानन्द के भुलावे में आकर देवी को नर-बलि देने को तैयार हो जाता है, किन्तु प्रतिबोध पाकर तापस-व्रत ग्रहण करता है।

यशोमति काव्यनायक यशोधर का पुत्र है। शासक होने के नाते वह जीववध को अपना राजोचित अधिकार समझता है। मुनि सुदत्त के उपदेश से वह भी चारित्र्य-व्रत ग्रहण करता है।

दर्शन

अपने प्रचारात्मक उद्देश्य के अनुरूप पद्मनाभ ने यशोधरचरित्र में जैन दर्शन के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन किया है। कर्मसिद्धान्त जैन दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। प्राणी को अपने सदसत् कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। अपने कर्म के कारण कुता देवता बनता है और श्रोत्रिय चाण्डाल (८.५८)।

आठवें सर्ग में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष, इन सात तत्त्वों की विस्तृत मीमांसा की गयी है। जीव का लक्षण चेतनता है। पुद्गल को अजीव कहते हैं (८.२०)। अजीव तथा जीव अथवा देह और आत्मा का सम्बन्ध शंख और उसकी ध्वनि अथवा अरणि एवं उसकी अग्नि के समान है। जिस प्रकार शंख की ध्वनि और और अरणि की आग दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार देह की अन्तर्वर्ती आत्मा भी दृष्टिगोचर नहीं है (६.६४, ७३)। पांच भूतों के समाहार से शरीर का निर्माण होता है, जीव का नहीं। इसी प्रकार स्पर्श आदि पुद्गल के गुण हैं, आत्मा के नहीं (६.६४, ६७)। आत्मा चित्स्वरूप, विमल, ज्ञानात्मक तथा साक्षी है। उसे सामान्यतः कर्मों का भोक्ता माना जाता है (८.६७-६९)। जैन दर्शन में आत्मा की बहुता स्वीकार की गयी है। यदि आत्मा एक अखण्ड है तो विभिन्न व्यक्ति, एक समय में ही, कैसे अलग-अलग आचरण कर सकते हैं (६.१०७)।

जीव और पुद्गल का अशुद्ध संयोग आस्रव है। वह दो प्रकार है— शुभ तथा अशुभ (८.८०-८०)। सब प्रकार के आस्रवों का निरोध संवर कहलाता है। द्रव्य तथा भाव के भेद में वह भी दो प्रकार है। पूर्व कर्मों के क्षय का नाम निर्जरा है। इसके भी दो भेद हैं—सकाया तथा अकाया (८.८६, ९४-९५)। समस्त कर्मों के

बिनाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन सात तत्त्वों के सम्पूर्ण ज्ञान से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है। सम्यक् दर्शन के बिना जीव कठोर यातनाएँ सहता हुआ अनन्त योनियों में घूमता है (८.२२-२३)। धर्म मनुष्य को मुक्ति में धारण करता है, यही उसकी सार्थकता है। वह आत्मभाव से एक प्रकार का तथा रत्नत्रय के कारण तीन प्रकार का है (८.१११)।

भाषा

प्रौढ़ तथा अलंकृत भाषा से विद्वद्भ्यः का बौद्धिक रंजन करना कवि का अभीष्ट नहीं है। पद्मनाभ ने काव्य में अपने भाषा-सम्बन्धी आदर्श का संकेत किया है। उसके विचार में प्रचण्ड पदविन्यास काव्य के लिये घातक है। मूढदयों के लिये भाषायी क्लिष्टता रचिकर नहीं है। उनकी तुष्टि ललित (सरल) भाषा से होती है।

प्रचण्डः पदविन्यासः कवित्वं हि विदम्बना ।

ललितेन कवित्वेन तुष्यन्ति परमार्थिनः ॥१.५

इस मानदण्ड से मूल्यांकन करने पर ज्ञात होगा कि पद्मनाभ ने काव्य में सर्वत्र अपने आदर्श का पालन किया है। यशोधरचरित्र की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें क्लिष्टता अथवा अन्य भाषात्मक जादूगरियों के लिये स्थान नहीं है। पौराणिक तथा प्रचारवादी रचना होने के नाते इसमें सर्वत्र प्रसादपूर्ण प्रांजल भाषा का प्रयोग किया गया है। पौराणिक काव्यों के लेखकों का उद्देश्य ही सुगम भाषा में पुराण-पुरुषों का गुणगान करना तथा उनके चरित के व्याज से अथवा उसके परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है। भाषा की यह सुगमता संवादों में चरम सीमा को पहुँच गयी है। इस दृष्टि से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व महाराज यशोधर द्वारा अपने पुत्र यशोधर को दी गयी शिक्षा उल्लेखनीय है। यहाँ भाषा की सुबोधता, प्रतिपादित राजधर्म की प्रभावशालिता को दूना कर देती है।

राजगुणानर्जय साधुवृत्त्या निजाः प्रजाः पालय पुत्रवृत्त्या ।

दोषान्मदा व्रजंय नीतिवृत्त्या स्वमानसं मार्जय धर्मवृत्त्या ॥३.१६

सान्ना यदा सिद्धिमुपैति कार्यं न तत्र दण्डो भवता विधेयः ।

शास्येद् यदा शर्करयेव पित्तं तदा पटोलस्य किमु प्रयोगः ॥३.२५

यशोधरचरित्र में भाषा की विविधता के लिये अधिक अवकाश नहीं है। सरलता उसकी विशेषता है। परन्तु प्रसंग के अनुसार उस सरलता में वर्णित भावों का पुट आ जाता है। यशोपति की आत्मरज्जि तथा पञ्चात्ताप का निरूपण जिस समासरहित पदावली में किया गया है, वह उसकी वेदना को प्रकट करती है।

हा हा धिम्दं व किं कुर्या शरणं कस्य यामि वा ।

को हि वा रक्षितुं शक्नो मामस्माद् भवबन्धनात् ॥७.१०५

जैन कवियों की शैली के अनुरूप पद्मनाभ ने अपने काव्य में भावपूर्ण सूक्तियों

का प्रयोग सरसता लाने के लिये किया है। कुछ सूक्तियाँ रोचक हैं—न काकमाका-
क्षति राजहंसी (३.४७), कर्मणो महती गतिः (६.११), असत्संसर्गतः कुत्र विवेकः
(७.१०२)

अलंकार

पौराणिक काव्यों के कलापक्ष को समृद्ध बनाना उनके लेखकों का लक्ष्य नहीं
है। साधारण सुविज्ञात अलंकार ही उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बने हैं। पद्मनाभ
उपमा का मर्मज्ञ है। उसके अप्रस्तुतों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्रकृति पर आधारित
यह उपमा अतीव रोचक है। गुणों ने महाराज यशोधर के हृदय से दोषों को इस
प्रकार निकाल दिया जैसे प्रातःकालीन सूर्य की किरणें कमलकोश से भ्रमरों को
निकाल देती है।

दोषान् निःकाश्य विविशुर्यच्चित्तं सकलगुणाः ।

भृगवान् कमलकोशेभ्यः प्रातः सूर्यकरा इव ॥२.४५

परिसंख्या का भी कवि ने पर्याप्त प्रयोग किया है। परिसंख्या से उसे कुछ
ऐसा अनुराग है कि नगरवर्णन में वह बार-बार इनका प्रयोग करता है। परिसंख्या
को नगरवर्णन का माध्यम बनाना जैन काव्यों की प्रवृत्ति है। राजपुर के प्रस्तुत
वर्णन में रति, करिकपोखों, केशों तथा व्याकरण-शास्त्र से अन्य पदार्थों का व्यवच्छेद
होने से परिसंख्या अलंकार है।

द्विजाधातो रते यत्र सदः करिकपोलयोः ।

मल्लनात्मा कचे स्त्रीणां पदशास्त्रे निपातनम् ॥१.२२

अमृतमती की दुश्चरित्रता का वर्णन अप्रस्तुप्रशंसा से किया गया है। यहाँ
अप्रस्तुत सूर्य, सरोजिनी तथा दादुर से क्रमशः यशोधर, अमृतमती तथा कुबड़ा व्यंग्य
हैं।

सदैव मित्रेण समं प्रसन्ना सरोजिनी या कुशते विलासम् ।

अकेन साकं रमतेऽथ सैव यदत्र हेतुर्जडसंगवासः ॥३.१४३

यशोधर के भवान्तर-वर्णन के इस पद्य में जीवन के साथ वीर्य के स्खलन का
उल्लेख होने से सहोक्ति अलंकार है।

समं जीवेन संक्रान्तः शुक्रस्तद्वर्करोदरे ॥५.१२४

यशोधरचरित्र में सुन्दर स्वभावोक्तियाँ विद्यमान हैं। प्रकृति-वर्णन में इनका
बाहुल्य है। घान के खेतों की रखवाती करने वाली गोपबालाओं का यह वर्णन
अपनी स्वाभाविकता के कारण उल्लेखनीय है।

क्षेत्रे क्षेत्रे यतश्चारुकर्णविश्रान्तलोचनाः ।

गायन्ति ललितं गीतं मधुरं शालिपालिकाः ॥१.२०

मुनि मुदत्त, अभयरुचि तथा अभयमती को तापस जीवन की कठोरता का

भान कराने के लिये विषम अलंकार का आश्रय लेता है। यहाँ मुकुमार राज-कुमार तथा कष्टसाध्य दीक्षित जीवन, इन दो विरोधी चीजों का समवाय दिखाया गया है।

एव युवां मुकुमारांगौ बालौ राजकुमारकौ ।

एव चेयं दुर्बहदीक्षा जिनेशकुलसेविता ॥८.८॥

इसके अतिरिक्त यशोधरचरित्र में सन्देह, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विरोध, श्लेष, मालोपमा, अनुप्रास आदि भी प्रयुक्त किये गये हैं।

छन्द

पौराणिक काव्यों की भाँति यशोधरचरित्र में अनुष्टुप् की प्रधानता है। तृतीय सर्ग की रचना उपजाति में हुई है। सर्गों के आरम्भ तथा अन्त में प्रयुक्त होने वाले छन्दों के नाम इस प्रकार हैं—मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपेन्द्रवज्रा, अगधरा तथा पृथ्वी। यशोधरचरित्र में कुल आठ छन्दों का प्रयोग किया गया है।

यशोधरचरित्र के लेखक ने प्रायः सभी काव्य-धर्मों का स्पर्श किया है। काव्य से उसकी कविद-शक्ति का आभास भी मिलता है, किन्तु भवान्तर के वर्णनों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को अधिक महत्त्व देने के कारण यशोधरचरित्र धर्मकथा-सा (पैडागोगिक) बन गया है।

२१. पार्श्वनाथकाव्य : पद्मसुन्दर

आलोच्य काल के पौराणिक महाकाव्यों में, मुगल सम्राट् अकबर के धर्म-मित्र उपाध्याय पद्मसुन्दर के पार्श्वनाथकाव्य का महत्त्व काव्य-गुणों के कारण इतना नहीं है, जितना कवि के व्यक्तित्व के कारण। पार्श्वनाथकाव्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का पुराण-प्रसिद्ध चरित, लगभग उसी परिवेश तथा शैली में, वर्णित है। चरित-वर्णन तो यहाँ निमित्त भाव है। पार्श्वचरित का आँख पकड़ कर कवि ने वस्तुतः जैन-धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या की है। वैसे भी काव्य में जन्म-जन्मान्तरों के वृत्तों तथा विषयान्तरों का इतना बाहुल्य है कि चरित का सूत्र कहीं-कहीं दिखाई देता है। इतना होने पर भी हेमचन्द्र के पार्श्वचरित की तुलना में, जिसकी समीक्षा इसी अध्याय में की जायेगी, इसकी विषय-समृद्धि तथा विविधता अल्प है, यद्यपि कवि का प्रचारात्मक दृष्टिभोग उतना ही प्रबल है।

विवेच्य युग के अन्य कुछ काव्यों के समान पार्श्वनाथकाव्य अभी तक अप्रकाशित है। डाकी एक अतीव शुद्ध तथा सुपाठ्य प्रति (संख्या १६) जयपुर के प्रसिद्ध आमेर-शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश इसकी प्रान्तप्रशस्ति का एक भाग नष्ट हो गया है, जिसके फलस्वरूप काष्ठासंघ के भट्टारक कुमारसेनदेव के आम्नायी चौधरी राजू की वंशावली अधूरी रह गयी है। 'जैन साहित्य और इतिहास' में किसी अन्य प्रति से उद्धृत लेखक-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वे रायमल्ल के पूर्वज थे, जिसकी अभ्यर्थना तथा प्रेरणा से कवि ने प्रस्तुत काव्य तथा रायमल्लभ्युदय की रचना की थी। पार्श्वनाथकाव्य के प्रणयन में रायमल्ल का योग ऐसा प्रबल है कि पद्मसुन्दर ने न केवल काव्य के प्रारम्भिक पद्य में,^१ अपितु प्रत्येक सर्ग के

१. नाथराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, जम्बई, १९५६, पृ. ३६७-६८ तथा पृ. ४०२-४०३ पर उद्धृत पार्श्वनाथकाव्य के लेखक की गद्यात्मक प्रशस्ति

२. इसका परिचय प्रो. पीटर्सन ने जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे ब्रांच (अतिरिक्त अंक, सन् १८८७) में विस्तार से दिया है। देखिये 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ. ३६७, पा. टि. १.

३. शुश्रूषुस्तदकारयत्सुकवितः श्रीपार्श्वनाथाह्वयम् ।

काव्यं नव्यमिदं श्रुतिप्रमददं श्रीरायमल्लह्वयः ॥ पार्श्वनाथकाव्य, १.३.

आरम्भ और काव्य के अन्त में से आधारपूर्वक स्वीकार किया है। पार्श्वनाथकाव्य की उक्त प्रति ग्यारह इंच लम्बे तथा साढ़े चार इंच चौड़े चालीस पत्रों पर लिखी गयी है। यही प्रति प्रस्तुत विवेचन का आधार है।

पार्श्वनाथकाव्य का महाकाव्यत्व

पार्श्वनाथकाव्य की परिकल्पना महाकाव्य के रूप में की गयी है। इसमें यद्यपि शास्त्र-सम्मत अष्टाधिक सर्ग नहीं हैं तथापि इसका कलेवर महाकाव्योचित विस्तार से रहित नहीं है। आशीर्वादात्मक मंगलाचरण के प्रथम दो पद्यों में क्रमशः 'कमठ' (पूर्वजन्म का पार्श्व का अग्रज) के हठ को चूर करने वाले काव्यनायक पार्श्वनाथ तथा वाग्देवी से कल्याण की कामना की गयी है। पार्श्वप्रभु के पुराण-वर्णित चरित के अनुकूल होने के नाते पद्मसुन्दर का कथानक 'इतिहासकथोद्भूत' है। पौराणिक काव्यों के उद्देश्य के अनुसार पार्श्वनाथकाव्य में शान्तरस की प्रधानता है। शृंगार, वात्सल्य, अद्भुत तथा वीर रस की, अंगरूप में, निष्पत्ति हुई है। काव्य-नायक पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व में वे समग्र गुण विद्यमान हैं, साहित्यशास्त्र जिनका अस्तित्व धीरोदात्त नायक में आवश्यक मानता है। इसकी रचना का प्रेरक बिन्दु 'धर्म प्राप्ति' है। पार्श्व के जीवनवृत्त के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन के सिद्धान्तों का सरल भाषा में विश्लेषण करके उन्हें जनप्रिय बनाना काव्य-रचना का उद्देश्य है।

पद्मसुन्दर ने नगर, प्रभात, दूतप्रेक्षण, युद्ध आदि के वर्णनों से एक ओर काव्य में जीवन की विविधता का चित्रण करने का प्रयास किया है, दूसरी ओर शास्त्र का पालन किया है। पार्श्वनाथकाव्य की भाषा-शैली में अपेक्षित शालीनता तथा गम्भीरता है। प्रसादगुण तथा विशद अलंकारों से भाषा को प्रौढ़ एवं कान्तिमयी बनाने में कवि की विशेष तत्परता है।

पार्श्वनाथकाव्य का स्वरूप

हेमविजय के पार्श्वचरित की अपेक्षा प्रस्तुत काव्य में पौराणिक तत्त्व यद्यपि कुछ कम हैं तथापि इसकी आधारभूमि की पौराणिकता असन्दिग्ध है। पार्श्वनाथ-काव्य के कथानक का स्रोत जैन पुराण हैं। पौराणिक काव्यों की प्रकृति के अनुरूप इसमें भवान्तरों का विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य में जन्म-जन्मान्तरों के वर्णनों के अनुपात का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि प्रथम दो सर्ग आद्योपान्त इन्हीं वर्णनों से आच्छन्न हैं। प्रथम सर्ग में तो पार्श्वप्रभु के पूरे सात जन्मों का वर्णन किया गया है। काव्य में मर्त्य तथा अमर्त्य का इतना प्रचुर तथा प्रबल सहयोग है कि गेटे के शब्दों में इसे, सही अर्थ में, 'धरा तथा आकाश का मिलन' कहा जा सकता है। पार्श्वप्रभु के गन्ध में अवतरण से लेकर उनकी निर्वाण-पूजा तक समस्त अनुष्ठानों

४. वही, ७.७०.

५. सद्यः पल्लवय प्रसादविशदालंकारसारविषयः । वही, १.२

में देवों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पुराणों की तरह प्रस्तुत काव्य में अलौकिक घटनाओं का यथेष्ट समावेश है। शिशु पार्श्व का स्नातोत्सव एक योजन लम्बे मुंह वाले कलशों से किया जाता है। मुनि अरविन्द के दर्शन मात्र से महभूति गज को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है। पार्श्वनाथकाव्य में एक अन्य उल्लेखनीय पौराणिक प्रवृत्ति यह है कि इसमें स्तोत्रों का सन्निवेश बहुत तत्परता से किया गया है। तीसरे से सातवें तक कोई सर्ग ऐसा नहीं जिसमें कवि ने स्तुति के द्वारा अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति न की हो। पार्श्वनाथकाव्य के स्तोत्रों की विशेषता यह है कि इनमें उपनिषदों की विरोधाभासात्मक शैली में जिनेश्वर के स्वरूप का वर्णन किया गया है^१। वस्तुतः कवि ने पार्श्व को परब्रह्म के रूप में परिकल्पित किया है। वे सामान्य काव्यनायक अथवा मर्त्य नहीं हैं।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

पार्श्वनाथकाव्य के प्रणेता उपाध्याय पद्मसुन्दर का परिचय उनके यदुसुन्दर की समीक्षा के अन्तर्गत दिया जा चुका है। पद्मसुन्दर पण्डित पद्ममेध के शिष्य तथा आनन्दमेध के प्राशिष्य थे^२।

स्वयं कवि के कथनानुसार पार्श्वनाथकाव्य की रचना सम्बत् १६१५ (सन् १५५८) की मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशी, सोमवार की पूर्ण हुई थी। रायमल्लाभ्युदय के समाप्त इसके प्रणयन में भी रायमल्ल की प्रेरणा निहित है।

अब्दे विक्रमराज्यतः शरकलामृतकभूसंमिते

मार्गे मास्यसिते चतुर्दशदिने सप्तोन्म्यवारांकिते ।

काव्यं कारितवानतीवसरसं श्रीपार्श्वनाथाह्वयं

सोऽयं नन्दतु नन्दनः परिवृतः शोरायमल्लस्तदा ॥^३

उपाध्याय पद्मसुन्दर बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् तथा आशुकवि थे। उन्होंने सम्बत् १५१४ की कार्तिक शुक्ला पंचमी को भविष्यदस्तचरित की रचना सम्पन्न की^४, सम्बत् १६१५, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को रायमल्लाभ्युदय का निर्माण हुआ^५ और उसी वर्ष मार्गशीर्ष की कृष्ण चतुर्दशी को प्रस्तुत काव्य पूरा हुआ। इस प्रकार लगभग एक वर्ष में, उन्होंने पर्याप्त विपुलाकार तीन ग्रन्थों की रचना कर, अपनी कवित्वशक्ति को प्रमाणित किया।

६. वही, ५. ८१-८३.

७. वही, ७. ६४ तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका।

८. वही, ७. ७४

९. नाथूराम प्रेमी : जन साहित्य और इतिहास (पूर्वोद्धृत), पृ० ३६९

१०. वर्षे विक्रमराज्यतः शरकलामृतकभूसंमिते।

ज्येष्ठे मासि सिते च पंचमदिनेऽहं वृत्तसंनिभतम्। रायमल्लाभ्युदय, प्रशस्ति, २४.

कथानक

जैन पौराणिक काव्यों के लेखकों ने पुराणवर्णित शलाकापुरुषों के चरित को, नदीन उद्भवना किये बिना, यथावत् गृहीत तथा प्रतिपादित किया है। पार्श्वनाथ काव्य का कथानक भी पार्श्वनाथ के परम्परागत चरित के अनुकूल है। पार्श्व से सम्बन्धित अन्य काव्यों के इतिवृत्त की भाँति प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु के दो भाग हैं। प्रथम दो सर्गों में पार्श्वनाथ के आठ पूर्वभवों का वर्णन है। पोतना-नरेश श्रवणन्द के मन्त्री, वेदवेत्ता ब्राह्मण विश्वभूति के पुत्र कमठ तथा मरुभूति का द्वेष जन्म-जन्मान्तरों तक चलता है, जिसके फलस्वरूप कमठ का जीव अपने अनुज^{११} के जीव को निरन्तर विकल किये रखता है। मरुभूति नाना जन्मों में कष्ट भोग कर, कालान्तर में, दाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। यही काव्य के वास्तविक कथानक—पार्श्वचरित—का आरम्भ-बिन्दु है।

तृतीय सर्ग में काव्यनायक के जन्म तथा देवों द्वारा उसके स्नातोत्सव का वर्णन है। देवकुमारों के साहचर्य में यौवन व्यतीत करने के बाद पार्श्व ने यौवन में प्रवेश किया। उसके यौवन-जन्म सौन्दर्य का चतुर्थ सर्ग में विस्तृत वर्णन किया गया है। कुशस्थल के शासक अर्ककीर्ति^{१२} की लावण्यवती पुत्री को बलपूर्वक हथियाने के लिये कालयवन^{१३} उस पर आक्रमण करता है। अर्ककीर्ति दूत भेज कर अश्वसेन से सैनिक सहायता की याचना करता है। युवक पार्श्व तुरन्त यवन के विरुद्ध प्रस्थान करता है। देखते-देखते यवन-सेना छिन्न-भिन्न हो गयी। अर्ककीर्ति के ऊपर से विपत्ति के बादल छंट गये। वह कृतज्ञतापूर्वक पार्श्व की स्तुति करता है। पंचम सर्ग में अर्ककीर्ति, उसके उपकार के प्रति आभार प्रकट करने के लिये, पार्श्व को अपनी पुत्री देने का प्रस्ताव करता है। वैराग्यशील होते हुए भी पार्श्व ने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया किन्तु, विवाह से पूर्व ही, वह अपनी राजधानी लौट आता है। वहाँ साकेतराज के दूत को देखकर उसे, पूर्वजन्म में अयोध्या में, अर्हद् गोत्र की प्राप्ति का स्मरण हो जाता है। उसमें निर्वेद उदित होता है और वह समस्त वैभवों को ठकुरा कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है। छठे सर्ग में पार्श्व तपश्चर्या में प्रवृत्त होते हैं। उन्होंने धन्य नृप के प्रासाद में तप की पारणा की, जिसके फल-स्वरूप वहाँ अन्न की वृष्टि हुई। तत्पश्चात् पार्श्व तपोवन में जाकर कायोत्सर्ग भुद्रा में स्थित हो गये। उनके देहमन्दिर से अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और बोध-

११. पार्श्वनाथचरित के अनुसार मरुभूति कमठ का अग्रज था और उनके पिता का नाम वसुमति था।

१२. पार्श्वनाथचरित में उसका नाम प्रसेनजित् है।

१३. पार्श्वनाथचरित से ज्ञात होता है कि वह कलिग का राजा था।

दीपिकाएँ प्रज्वलित हो उठीं। चार मास के कठोर तप के उपरान्त उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। देवगण प्रभु के समवसरण की रचना करते हैं। सातवें वर्ष में प्रभु की देशना तथा सम्मैतादि पर उनकी निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन है। इन्द्र उनकी निर्वाण पूजा करता है और उनकी भस्मी क्षीरसागर को भेंट कर देता है।

धार्मिक आवेश के कारण पार्श्वनाथकाव्य के रचयिता को कथानक की अधिक सुध नहीं है। पौराणिक कथानक में काव्योचित परिवर्तन करके उसका सफल निर्वाह करना उसे अभीष्ट भी नहीं है। पुराण-पुरुषों के परम्परागत वृत्त से उनका गुणगान करना तथा पुण्यलाभ करना ही उसका ध्येय है। प्रथम दो सर्गों के भवान्तरवर्णनों का मूल कथानक से अधिक चेतन सम्बन्ध नहीं है। काव्यनायक के चरित वाले भाग में भी स्तोत्रों, दार्शनिक सिद्धान्तों तथा अन्य वर्णनों ने काफी स्थान हृदय लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य में पार्श्वनाथ के जीवन के कुछ प्रमुख प्रसंगों का ही प्रतिपादन हो सका है।

रसयोजना

समूचे मूल परिवेश-सहित गृहीत होने के कारण पुराण-पुरुषों के चरित के विकास तथा उसकी विविध घटनाओं का एक पूर्वनिश्चित क्रम है। पौराणिक काव्यों के लेखकों ने उनमें नवीन उद्भावना अथवा अन्य परिवर्तन करने का बहुत कम साहस किया है। अतः इन काव्यों में रस-परिपाक की एक निश्चित तथा रुढ़ प्रक्रिया है। पौराणिक काव्यों के नायकों का चरम उद्देश्य जीवन के समस्त सुख-वैभव छोड़कर, साधना के मार्ग से, निर्वाण प्राप्त करना है। जीवन की नश्वरता तथा भोगों की छलना के बोध से उनमें संवेग की उत्पत्ति होती है, जो काव्य में शान्तरस के रूप में परिणत होता है। कर्मों के क्षय के लिये वे गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करते हैं और युद्ध के द्वारा अपनी वीरता की स्थापना करते हैं, जो महाकाव्य के नायक के लिये आवश्यक है। इन प्रसंगों के चित्रण में क्रमशः शृंगार तथा वीररस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु ये सब शान्तरस के महासागर में विलीन हो जाते हैं। पार्श्वनाथकाव्य का रसचित्रण इसी प्रक्रिया पर आधारित है।

कवि के शब्दों में पार्श्वनाथकाव्य 'शृंगार की छलकती सागर' है—काव्येऽस्मिन् मधुमाधुरीपरिणते शृंगारशृंगारके (१.२)। पता नहीं, इस धारणा का क्या आधार है? काव्य को आद्योपान्त पढ़ने के पश्चात् इससे पाठक को शृंगार के कुछ कण ही प्राप्त होते हैं। उनकी सृष्टि भी मानव-प्रणय के अन्तर्गत नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों की कामकेलियों में हुई है। और इस नाते उसे रस की अपेक्षा रसभास कहना अधिक उपयुक्त होगा। पौतनाधिपति के अमात्य का पुत्र मरुभूति मर कर भवान्तर में गज बनता है और उसके अग्रज की पत्नी बरुणा हृदिनी के रूप में

जन्म लेती है। उनकी प्रणयकेलि में सम्भोग शृंगार के अनुभावों की कमनीय अभिव्यक्ति हुई है।

कान्तया स विचचार कानने सल्लकीकवलमपितं तथा ।

तं चखाद जलकेलिष्वयं तां सिषेच करसीकरैर्गजः । १.२५

आस्फालयन् विहितबुद्धितनाद एष शिष्येण तत्र करिणीं करलालनेन ॥ १.२६

पार्श्वनाथकाव्य की मूल प्रकृति शमप्रधान है। तीर्थंकर के जीवन पर आधारित होने के कारण, जिसने राजसी वैभव तथा सम्पदा को तृणवत् त्याग कर निरीहता का अक्षय सुख स्वीकार किया था, पार्श्वनाथकाव्य में शान्तरस की प्रधानता है। अरविन्द के संयम-ग्रहण, देवराज की जिनस्तुति आदि प्रसंगों में शान्तरस का पल्लवन हुआ है, किन्तु उसकी तीव्रतम व्यंजना पार्श्व की दीक्षा-पूर्व चिन्तन-धारा में दिखाई देती है। साकेतराज के दूत के आगमन से, पूर्व जन्म में, अहंद्गीत्र की प्राप्ति का स्मरण होने से उसमें निर्वेद की उत्पत्ति होती है, जो काव्य में शान्तरस का रूप लेता है।

निर्वृण्दृत्वं सौख्यमेवाहुराप्ताः सद्गद्धानां रागिणां तत्कुत्स्त्यम् ।

तूष्णामोहायासकृच्चान्यविध्न्वं सौख्यं किं स्यादापदां भाजनं यत् ॥ ५.७२

भोगास्तावदापातरम्याः पर्यन्ते ते स्वान्तसन्तापमूलं ।

तदधानाय ज्ञानिनो ब्राह्म्यतन्ते भोगान् रोगानेव मत्वाप्ततत्त्वाः ॥ ५.७४

तस्माद् ब्रह्माद्वैतमध्यस्तीलगं ज्ञानानन्तज्योतिर्योतमानं ।

नित्यानन्दं चिद्गुणोज्ज्वलमानं स्वात्मारामं शर्मं धाम प्रपद्ये ॥ ५.७८

पार्श्वनाथकाव्य में शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य, अद्भुत तथा वीर, शान्त के अंगभूत रस हैं। वात्सल्यरस की निष्पत्ति स्वभावतः शिशु पार्श्व की बाल-चेष्टाओं में दिखाई देती है। आंगन में लड़खड़ाती गति से चलते शिशु की तुलनाती बातें सुनकर माता-पिता का हृदय वात्सल्य से भर जाता है।

शिशुः स्मितं क्वचिसेने रिखन्मणिमयागणे ।

बिभ्रच्छैशवलीलां स पित्रोर्मुदमवर्षयत् ॥ ४.१४

अलौकिकता अथवा अतिप्राकृतिकता पौराणिक काव्यों की निजी विशेषता है, यह कहना पुनरुक्ति मात्र है। पार्श्वनाथकाव्य में ऐसी घटनाओं की भरमार है, जो व्यावहारिक जगत् में असम्भव तथा अविश्वसनीय हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख काव्य के स्वरूप के प्रसंग में किया गया है। ये अलौकिक घटनाएँ 'अद्भुत' की जननी हैं। धन्यनूप के प्रासाद में पार्श्वप्रभु के पारणा करने पर, वहाँ सहसा अन्न की वर्षा हुई, देवताओं ने पुष्प बरसाए, दिशाएँ यकायक मृदंगों से ध्वनित हो गयीं तथा शीतल बयार चलने लगी। इन अतिप्राकृतिक घटनाओं का निरूपण अद्भुतरस की सृष्टि करता है।

तद्गोहेरन्मबृष्टिस्तु पपात गगनांगणात् ।

महावानफलश्रेणो सद्यः प्रादुरभूवि ॥ ६.२०

आमन्त्रमानका नेदुर्नादापूरितदिग्मुखाः ।

अबावा (?) पुष्परजसां मन्वं शीतो मरुत् बवौ ॥ ६.२२

शान्तरस-प्रधान काव्य में वीररस का चित्रण असंगत प्रतीत हो सकता है, किन्तु पद्मसुन्दर ने पार्श्व तथा कालयवन के युद्ध का जो वर्णन किया है, वह कथानक की कतिपय घटनाओं की स्वाभाविक परिणति है। इसलिये वह काव्य में बलात् टूँसा हुआ प्रतीत नहीं होता। जैसे भी शास्त्र ने महाकाव्य में नायक के शौर्य-प्रदर्शन का विधान किया है। पार्श्वनाथ में वर्णित युद्ध शुद्ध परोपकार की भावना से प्रेरित है। वीर युवा पार्श्व के प्रहार से कालयवन की सेना तितर-बितर हो जाती है, जिससे अर्ककीर्ति के प्रताप को हड़पने वाले काले बादल छंट जाते हैं।

युयुधे समुखीभूय सोऽपि तेन ह्यारुणः ।

ततः पार्श्वकुमारस्तु निजसैनिकसंवृतः ॥ ४.१८०

यमनस्य भटास्तावत्कादिसीका हतौजसः ।

बभूवुस्तपनोद्योते खद्योतद्योतनं कुतः ॥ ४.१८२

श्रीमत्पार्श्वप्रतापोप्रतपनोद्योतविद्रुताः ।

यमनाद्यास्तमांसीव पलयांचक्रिरे द्रुतम् ॥ ४.१८३

पार्श्वनाथकाव्य में, रसों की यह योजना, इसके पौराणिक इतिवृत्त की नीरसता तथा एकरूपता में रोचकता का संचार करती है।

सौन्दर्य-चित्रण

संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्य-वर्णन की मुख्यतः चार प्रणालियाँ हैं। एक तो वर्ण्य पात्र के सौन्दर्य की समग्रता का सामान्य चित्रण किया जाता है। दूसरे, सुप्रसिद्ध नखशिखविधि से उसके आपादमस्तक सभी अंगों-प्रत्यंगों का सूक्ष्म चित्रण करने का चलन है। इस शैली ने साहित्य में इतनी लोकप्रियता प्राप्त की है कि न केवल संस्कृत-कवि इस ओर तत्परता से प्रवृत्त हुए बल्कि कुछ प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों में भी इसे रुचिपूर्वक स्वीकार किया गया है। व्यतिरेक तथा अतिशयोक्ति के द्वारा पात्र के अलौकिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना, तीसरी प्रचलित शैली है। आभूषणों अथवा प्रसाधनों से सौन्दर्य-वृद्धि करने के प्रति भी कवियों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

पद्मसुन्दर का मानव-सौन्दर्य के प्रति कुछ ऐसा आकर्षण तथा पक्षपात है कि उसने अपने प्रायः सभी पात्रों के रूप का जमकर वर्णन किया है और उसमें अपनी पटुता प्रदर्शित करने तथा वैविध्य लाने के लिये पूर्वोक्त सभी शैलियों का उपयोग किया है। मरुभूति की पत्नी वसुन्धरिका हो अथवा जिन-माता वामा, नायक हो या

नायिका, कवि की तूलिका ने उन सब के चित्रों में आकर्षक रंग भरे हैं। पार्श्व तथा वसुन्धरिका का चित्रण नखशिख-प्रणाली से किया गया है। वामा के रूप को समग्र रूप में अभिव्यक्ति मिली है। कुशस्थल-नरेश अर्ककीर्ति की रूपसी पृथ्वी प्रभावती के लावण्य के चित्रण में इन तथा कतिपय अन्य शैलियों का सम्मिश्रण है, यद्यपि उनमें निश्चित क्रम का अभाव है। उन्हें अलग-अलग करके यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

सर्वप्रथम पद्मसुन्दर ने नखशिख-शैली से प्रभावती के अंगों-प्रत्यंगों का सविस्तार वर्णन करके उसके अनवद्य सौन्दर्य को वाणी देने का गम्भीर उद्योग किया है। कवि ने प्रभावती के विभिन्न अवयवों के वर्णन में ऐसे अर्थवान् उपमानों की सम्भावना की है कि राजकुमारी का सौन्दर्य सहसा मानस चक्षुओं के सामने स्फुरित हो जाता है और वह नवयौवना त्रिलोकसुन्दरी प्रतीत होने लगती है।

तदीयमध्यं नतनाभिसुन्दरं बभार भूषां सबलित्रयं परा ।

प्रकलूतसोपानमिदं विनिर्ममे स्वमञ्जनायेव सुतीर्थमात्मभूः ॥ ५.१७

विसारितारद्युतिहारहारिणौ स्तनौ तु तस्याः सुषमासवापतुः ।

सुरापनातीरयुगाश्रितस्थौ रथांगयुग्मस्य तु कुंकुमांचितौ ॥ ५.१६

इयं मुकेश्याः कचपाशमंजरी विधूतुदस्य प्रतिमापुपेयुषी ।

मुखेन्दुबिम्बवग्रसनैः कलिप्सया तमोऽजनस्निग्धविभा विभाष्यते ॥ ५.३४

समग्रसर्गाद्भुतरूपसम्पदां दिदृक्षयैकत्र विधिर्ध्यंघादिव ।

जगत्त्रयीयौवतमौलिसालिकामशेषसौन्दर्यपरिष्कृतां तु ताम् ॥ ५.३५

पद्मसुन्दर ने अप्रस्तुत की अपेक्षा प्रस्तुत को अधिक गुणवान् बताकर, व्यतिरेक^{१४} के द्वारा तथा अतिशयोक्ति^{१५} की असम्भव कल्पनाओं से भी प्रभावती के सर्वातिशायी सौन्दर्य का संकेत किया है।

युवक पार्श्व के रूप के वर्णन का माध्यम भी चिरपरिचित नखाशिखप्रणाली है जो पार्श्व के कायिक सौन्दर्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत वर्णन करने में विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है। पार्श्व के ललाट, भौंहों, तरल-विशाल नेत्रों, नासिका-विवर, तथा ऊरुओं की क्रमशः लक्ष्मी के अभिषेक-पट्ट, काम की वागुराओं, वायु से हिलते नीलकमलों, वाग्लक्ष्मी के प्रवेश-मार्ग तथा काम एवं रति के कीर्त्तिस्तम्भों के साथ तुलना करके कवि ने मौलिकता का परिचय दिया है।

१४. तदीयजंघाद्वयोदीप्तिनिजितां वनं गता सा कदली तपस्यति ।

चिराय वातातपशीतकर्षणैरधःशिरा नूनमखण्डितव्रता ॥ वही, ५.१३

१५. रदच्छदोऽस्याः स्मितदीप्तिभासुरो यदि प्रवालः प्रतिबद्धहीरकः ।

तदीपमोयेत विजित्य निर्वृतः सुपक्वबिम्बं किल बिम्बतां गतम् ॥ वही, ५.२६

ललाटपट्टमस्याभादर्धचन्द्रनिभं विभोः ।

लक्ष्म्याः पट्टाभिषेकाय तत्पीठमिव कल्पितम् ॥ ४.४६

भ्रूवौ विनीले रेजाते सुषमासुन्दरे विभोः ।

विन्यस्ते घागुरे नूनं स्मरेणस्यैव बन्धने ॥ ४.५०

नेत्रे विनीलतारेऽस्य सुन्दरे तरलायते ।

प्रवातेन्दीवरे सद्गिरेफे इव रराजतुः ॥ ४.५१

तदूरुद्वयमहूतश्रिया भ्राजते सुन्दरम् ।

स्मररत्नयोश्च दम्पत्योः कीर्तिस्तम्भद्वयं नु तत् ॥ ४.६३

आभूषणों तथा प्रसाधनों से सौन्दर्य-वृद्धि करने की शैली का शिशु पार्श्व के, जन्माभिषेक के पश्चात्, अलंकरण में आश्रय लिया गया है। सच्ची शिशु की आँखों में अंजन आँजती है, कटि पर रत्नों की मेखला पहनाती है, और चरणों को मणि-जटित भूषणों से अलंकृत करती है।

इन्दीवरनिभे स्निग्धे लोचने विश्वचक्षुषः ।

शची चक्रैऽजनाचारं बभौ तेन निरंजनः ॥ ३.१४७

कटीतटेऽस्य विन्यस्तं किंकिणीभिः सुभासुरं ।

कांचीदाम स्फुरद्रत्नरचितं निश्चितं श्रिया ॥ ३.१५१

चरणौ किरणोद्दीप्तः स्फुरद्भिर्मणिभूषणः ।

गोमुखोद्भासिभिर्न्यस्तं रेजतुर्जगदीशितुः ॥ ३.१५२

विविध भगिमाओं से पात्रों के सौन्दर्य का यह मनोयोगपूर्वक चित्रण कवि की सौन्दर्यान्वेषी वृत्ति तथा कल्पनाशीलता का परिचायक है।

प्रकृति-चित्रण

वीतराग जैन साधु मानव के शारीरिक सौन्दर्य पर इतना मुग्ध है कि प्रकृति का विराट् उन्मुक्त सौन्दर्य उसे आकर्षित नहीं कर सका। पार्श्वनाथकाव्य में प्रभात का सामान्य-सा चित्रण किया गया है। कहने को तो पद्मसुन्दर ने साहित्य की सुविज्ञात शैलियों को अपने प्रकृति-वर्णन का आधार बनाया है, किन्तु यह महाकाव्य-परम्परा का निर्वाह मात्र है। तृतीय सर्ग में प्रभातवर्णन के अन्तर्गत अलंकृत तथा स्वाभाविक शैलियों का मिश्रण है। प्रातःकाल बाल-रवि की किरणें गगन में फैल जाती हैं, सरोवर सारसों के शब्द से गुंजित हो जाते हैं तथा सुगन्धित समीर से वातावरण महक उठता है। निम्नोक्त पंक्तियों में, प्रभात के इन उपकरणों का स्वाभाविक (अनलंकृत) वर्णन है।

इतः प्राच्यां विभग्नित स्म स्तोकोन्मुक्ताः करा रवेः ।

इतः सारससंरावाः श्रूयन्ते सरसीष्वपि ॥ ३.३४

सरःसीकरबन्धानां बौद्धा मन्दं बवौ मरुत् ।

प्रफुल्लपंकजोत्सर्पत्सौरभोद्गारसुन्दरः ॥ ३.३८

प्रभात के इसी वर्णन को प्रेषणीय बनाने के लिये कवि ने कुछ अलंकारों का भी प्रयोग किया है । प्रस्तुत पद्य में व्यतिरेक के प्रयोग से प्रभात का यह साधारण दृश्य आकर्षक बन गया है ।

मन्दिमानं गतश्चन्द्रो देवि त्वन्मुखनिर्जितः ।

प्रकाशयत्वथ जगत्प्रबुद्धं त्वन्मुखाम्बुजम् ॥ ३.३९

पार्श्व के जन्म के समय, प्रकृति, स्वाभाविकता छोड़कर अपना आदर्श रूप प्रकट करती है । जिनेश्वर के अवतरित होने पर शीतल समीर चलने लगी, दिशाएँ निर्मल हो गयीं, देववृक्षों ने पृथ्वी पर पुष्पवृष्टि की और आकाश दुन्दुभियों की छवि से गूँज उठा (३.६८-७०) ।

काव्य में केवल एक स्थान पर प्रकृति को मानवी रूप दिया गया है । प्रकृति का मानवीकरण संस्कृत-कवियों का प्रिय विषय है, परन्तु पद्मसुन्दर का मन इसमें नहीं रम सका । पार्श्वप्रभु के समवसरण की रचना में अशोक चचन पत्तों का हाथ हिलाकर नर्तक की भाँति नृत्य करता है । भीरों का गुंजन उनका मधुर गीत है । शाखाएँ उसकी भुजाएँ हैं जिनसे वह अभिनय कर रहा है ।

यस्य पुरस्ताच्चलदलहस्तैर्नृत्यमकार्षीदिव किमशोकः ।

भृंगनिनार्दः कृतकलगीतः पृथुतरशाखाभुजबलनैः स्वं ॥ ६.८६

चरित्रचित्रण

पार्श्वनाथकाव्य पर पौराणिकता इतनी हावी है कि उसने पात्रों का चरित्र पनपने नहीं दिया । उसे पौराणिक रेखाओं की सीमाओं में ही अंकित किया गया है । काव्य में केवल दो पात्र हैं, जिनका चरित्र कुछ विकसित हुआ है । वह भी उनके पुराण-वर्णित चरित्र से भिन्न नहीं है ।

पार्श्वनाथ

काव्यनायक पार्श्वनाथ पूर्वजन्म का मरुभूति है, जो विविध जन्मों में भटक कर वाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप में जन्म लेता है । पौराणिक पात्र की भाँति वे विभूतिसम्पन्न पुरुष हैं । उनके जन्म के समय देवगण माता वामा की वन्दना करते हैं । उनका स्त्रात्रोत्सव देवराज के निर्देशन में सम्पन्न किया जाता है । उनका शैशव देवों के साहचर्य में बीतता है । वस्तुतः उनका चरित्र दिव्यता से इस प्रकार ओत-प्रोत है कि जन्माभिषेक से लेकर निर्वाण-पूजा तक, उनके जीवन से सम्बन्धित सभी कार्यों का अनुष्ठान देवता करते हैं ।

पार्श्वनाथ सुन्दर युवक हैं । यौवन में उनका कायिक सौन्दर्य ऐसे प्रस्फुटित

हो जाता है जैसे अलंकारों से काव्य की शोभा में वृद्धि होती है^{१६}। काव्य में उनके रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पार्श्वनाथ का चरित्र वीरता तथा विरक्ति के दो ध्रुवों में बंधा हुआ है। कुशस्थल के शासक अर्ककीर्ति के अनुरोध से वे कालयवन को समरांगण में तत्काल घेर लेते हैं। उनके पराक्रम तथा युद्धकौशल से यवन की सेना क्षत-विक्षत हो जाती है। इससे अर्ककीर्ति न केवल पराजय से, अपितु शत्रु को पुत्री देने के अपमान से भी बच जाता है। वे कुशस्थलनरेश के प्रस्ताव को स्वीकार तो करते हैं परन्तु वैराग्य की प्रबलता के कारण वे संयम-श्री का वरण करते हैं और तपश्चर्या के द्वारा क्रमशः केवलज्ञान तथा निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

अश्वसेन

अश्वसेन वाराणसी के शासक तथा काव्यनायक के पिता हैं। उनके प्रताप से भीत होकर सूर्य ने अपनी रक्षा के लिये चारों ओर परिधि के दुर्ग की रचना की है। उनके नेत्र तत्त्वभेदी हैं। वे चररूपी चक्षु से प्रजा की गतिविधियाँ देखते हैं और विचार के मंत्र से गूढतम रहस्यों का तल उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उन्होने प्रजा की सुरक्षा की ऐसी चार व्यवस्था की है कि उनके राज्य में भय का नाम भी नहीं रहा। प्रजा उनसे वस्तुतः सनाथ है। वह 'राजन्यती' है। उनके जीवन में चतुर्वर्ग का मनोरम समन्वय है। अर्थ और काम का भी धर्म से संघर्ष नहीं है। वे सज्जनों के लिये चन्द्रमा के समान सौम्य हैं किन्तु दुष्टों के लिये साक्षात् यम हैं^{१७}। उनके पुत्रप्रेम का काव्य से यथेष्ट परिचय मिलता है।

अर्ककीर्ति

अर्ककीर्ति कुशस्थल का शासक है। कालयवन उसकी पुत्री को हथियाने के लिये उस पर आक्रमण करता है किन्तु पार्श्व की सहायता से वह, उसके दुस्साहस के साथ, उसे भी चूर कर देता है।

दर्शन

अश्वघोष के समान काव्य की सरस भाषा में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता पद्मसुन्दर की काव्यरचना का उद्देश्य है। समवसरण में पार्श्व प्रभु की देशना में इसके लिये उपयुक्त अवसर था, जिसका कवि ने पूरा उपयोग किया है। यहाँ जैन दर्शन के कुछ सिद्धान्तों का विस्तृत निरूपण किया गया है।

जैन दर्शन में जीव तथा अजीव के भेद से तत्त्व दो प्रकार का माना गया है। जीव का लक्षण चैतन्य है। उसके मुक्त तथा भवस्थ दो भेद हैं। भवस्थ जीव पुनः दो प्रकार का है—भव्य और अभव्य। मुक्त जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। वह

१६. सालंकारः कवेः काव्यसन्दर्भ इव स व्यभात्। वही, ३.१५६

१७. वही, ३.११-१६

अनादि, सनातन, विशुद्ध, ज्ञाता तथा द्रष्टा है। द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत है। उसके पर्याय भंगुर हैं। इस दृष्टि से उसकी तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं -- उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवता। विभिन्न मतावलम्बी अपने सिद्धांत के अनुरूप आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उसकी वास्तविकता अनेकान्त के द्वारा ही जानी जा सकती है। भव तथा मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं। इस चतुरंग संसार में भटकना 'भव' है। भवबन्धन के समस्त हेतुओं का अभाव तथा समूचे कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह अखण्ड आनन्द की स्थिति है। सम्यग् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र मोक्षप्राप्ति के सोपान हैं।

जीव के अतिरिक्त जैन दर्शन में अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष, ये आठ पदार्थ माने गये हैं। पुण्य से इतर पाप है। वह ८२ प्रकार का माना गया है। आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का विश्लेषण पद्मनाभ-कायस्थ के यशोधरचरित की समीक्षा में किया जा चुका है।

मिथ्यात्व, कषाय, योग, अविरति तथा प्रमाद बन्धन के हेतु हैं। चरित्र समस्त दोषपूर्ण योगों के परित्याग का नाम है। सम्यक् दर्शन से ही ज्ञान तथा चारित्र की सार्थकता है। दर्श और ज्ञान के बिना चारित्र निष्फल है^{१८}।

जैन धर्म में साधु के लिये पांच महाव्रतों का विधान है। श्रावक के लिये बारह अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। यथार्थवादी, आप्त पुरुष होता है। उससे भिन्न व्यक्तियों को आप्ताभास कहते हैं। आगम आप्त पुरुषों के ही वचनों का संकलन है^{१९}।

भाषा

प्रचारवादी दृष्टिकोण से रचित पौराणिक काव्य में जो सुबोध भाषा अपेक्षित है, पार्श्वनाथकाव्य में उसी का प्रयोग हुआ है। पद्मसुन्दर की भाषा का प्रमुख गुण उसकी सहजता है, किंतु वह प्रौढता तथा कान्ति से शून्य नहीं है। सामान्यतः पार्श्वनाथकाव्य की भाषा को प्रांजल कहा जाएगा। युद्ध-वर्णन जैसे कठोर प्रसंग में भी वह अपने इस गुण को नहीं छोड़ती, इसका संकेत पार्श्व तथा यवन के युद्ध-वर्णन से मिलता है। पार्श्व के जन्म से उत्पन्न देवताओं के हार्दिक उल्लास की अभिव्यक्ति जिस भाषा में हुई है, वह अपने वैभवात् से प्रसन्नता की द्योतक है।

केऽपि नृत्यन्ति गायन्ति हस्त्यास्फोटयन्त्यथ ।

वल्गन्त्यन्ये सुपर्वाणः प्रमोदभरमेदुराः ॥ ३.७६

अवतीर्य क्रमात्सर्वे नभसः काशिपत्तनम् ।

प्रापुर्जयारवोन्मिथदुन्दुभिध्वानडम्बराः ॥ ३.७६

१८. वही, ६.११६-१४२

१९. वही, ६.१४३-१४४

नीति के प्रतिपादन में भी इसी कोटि की भाषात्मक सरलता दिखाई देती है। काल-यवन के अपमानजनक प्रस्ताव का प्रतिवाद करने के लिये अकर्मोक्ति का मन्त्री जिस स्मृतिविहित राजधर्म का निरूपण करता है, उसमें कतिपय नीतिपरक उक्तियाँ सुगमता की कान्ति से शोभित हैं।

दुर्मदनां विपथाणां वधाघोद्योगमाचरेत् ।

अलसो हि निरुद्योगो नरो बाध्यते शत्रुभिः ॥ ४.१०१

मन्त्रः स्याद्वषट्कर्णस्तृतीयादेरगोचरः ।

स च वृद्धिमता कार्यः स्त्रीधूर्तशिशुभिर्न च ॥ ४.१०४

पार्श्वनाथकाव्य में समासबहुला भाषा का बहुत कम प्रयोग किया गया है। जहाँ वह प्रयुक्त हुई है, वहाँ भी शब्द की नदी की भाँति वह अपना 'प्रसाद' नहीं छोड़ती। मंगलाचरण के दीर्घ समास, अनुप्रास तथा प्राञ्जलता के कारण, अर्थबोध में बाधक नहीं हैं (१.१)।

पद्मसुन्दर को शब्दचित्र अंकित करने में अद्भुत कौशल प्राप्त है। शब्दचित्र की सार्थकता इस बात में है कि वर्ण्य विषय अथवा प्रसंग को ऐसी शब्दावली में अंकित किया जाये कि वह पाठक के मानस चक्षुओं को तत्काल प्रत्यक्ष हो जाए। छठे सर्ग में पार्श्व शत्रु के विहार के अन्तर्गत प्रभञ्जन तथा महावृष्टि के वर्णन की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

कादम्बिनी तदा श्यामांजनभूधरसन्निभा ।

व्यानशे विद्युद्व्युग्रज्वालाप्रज्वलिताम्बरा ॥ ६.४७

गजितः स्फूर्जयुष्मान्ब्रह्माण्डं स्फोटयन्तिव ।

भापयन्तडिदुल्लासैर्वर्षति स्म घनाघनः ॥ ६.४९

आसप्तरात्रादासारैर्ज्ञानमारुतभोषणः ।

जलाप्लुता मही कुत्सना व्यभावेकार्णवा तदा ॥ ६.५०

पार्श्वनाथकाव्य की भाषा में रोचकता की वृद्धि करने के लिये कवि ने कुछ भावपूर्ण सूक्तियों का समावेश किया है। उनमें कुछ सरस सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं।

१. कामरागो हि दुस्त्यजः । १.२१

२. जडानामुच्चसंगोऽपि नीचैः पाताय केवलम् । ३.१४४

३. किं तत्तपो यदिह भूतकृपाविहीनम् । ५.५३

अलंकारविधान

पद्मसुन्दर ने काव्य में अलंकारों की स्थिति तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत प्रकट किया है। पार्श्व के सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त एक पद्य को

बदल कर कहा जा सकता है कि कवि के विचार में अलंकारों से वाक्य-सौन्दर्य में उसी तरह वृद्धि होती है जैसे यौवन से शारीरिक सौन्दर्य खिल उठता है^{१०}। अन्य कई स्थानों पर भी उसने काव्य को आग्रहपूर्वक 'सालंकार' कहा है^{११}। इससे यह निष्कर्ष निकालना तो उचित नहीं कि पद्मसुन्दर अलंकारवादी कवि है अथवा पार्श्वनाथकाव्य में जानबूझकर अलंकार आरोपित किये गये हैं किंतु यह तथ्य है कि भावों को समर्थ बनाने के लिये कवि ने अलंकारों का कविपूर्वक प्रयोग किया है। उपमा के प्रति उसका विशेष पक्षपात है। प्रकृति पर आधारित उसके उपमान सटीक हैं और वे वर्ण्यविषय को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। अर्ककीर्ति के चक्कों से शत्रुसेना का ऐसे क्षय हो गया जैसे सूर्य की प्रचण्ड किरणों से हिमराशि पिघल जाती है। गर्मी में हिम को पिघलती देखकर सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कान्यकुब्ज की सेना कैसे ध्वस्त हुई होगी ?

चक्रेरस्य द्विषच्चक्रं क्षयमापादितं क्षणात् ।

मार्तण्डकिरणैस्तीक्ष्णैर्हिमानीपटलं यथा ॥ ४.१६०

इसी युद्धवर्णन में कुछ रोचक श्लेषोपमाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

कर्णलग्ना गुणयुताः सपत्राः शीघ्रगामिनः ।

दूता इव शरा रेजुः कृतार्थाः परहृद्गताः ॥ ४.१५२

वक्रोक्ति के प्रति रुचि न होने के कारण कवि ने स्वभावोक्ति को काव्य में पर्याप्त स्थान दिया है। महावृष्टि का पूर्वोद्धृत वर्णन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। अन्य जैन काव्यों के समान पार्श्वनाथकाव्य में नगर का वर्णन परिसंख्या के द्वारा किया गया है। इस दृष्टि से वाराणसी का यह वर्णन उल्लेखनीय है।

धन्विष्वेव गुणारोपः स्तब्धता यत्र वा मदः ।

करिष्वेवातपत्रेषु दण्डो भंगस्तु वीचिषु ॥ ३.७

पार्श्वनाथकाव्य में अतिशयोक्ति के दो रूप मिलते हैं। एक तो वह जिसमें वर्ण्य विषय की असाधारणता छोटित करने के लिये असम्भव कल्पनाएँ की जाती हैं। एक ऐसी अतृप्ति अतिशयोक्ति सौन्दर्यवर्णन के प्रकरण में उद्धृत की चुकी है। दूसरी अतिशयोक्ति वह है, जो किसी वस्तु के अकल्पनीय गुणों अथवा प्रभावशालिता का वर्णन करती है। निम्नोक्त अतिशयोक्ति इसी प्रकार की है।

जितस्तानाम्बुपूरेण नृलोके निगमादयः ।

निरीतयो निरातंकाः प्रजाः सर्वाः पवित्रिताः ॥ ३.१२३

तृतीय सर्ग में पार्श्व की स्तुति में विरोधाभास के प्रयोग से जिनेश्वर का स्वरूप और प्रस्फुटित हो गया है।

२०. सालंकारः कवेः काव्यसम्बन्ध इव स व्यभात । वही, ३.१५६

२१. वही, १.२, ७.६४, ७०

अमूषणोऽपि सुषगोऽनधीतोऽपि विदांवरः ।

अदिग्धोऽपि सर्गधांगः संस्कारो भक्तिरेव न ॥ ३.१६४

पार्श्वनाथकाव्य में प्रयुक्त अन्य अलंकारों में अनुप्रास, यमक, व्यतिरेक; उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, तद्गुण, भ्रान्तिमान्, रूपक, सहोक्ति तथा दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है ।

छन्दयोजना

छन्दों के प्रयोग में पद्मसुन्दर ने शास्त्र का पालन किया है । काव्य के प्रथम सर्ग में प्रयुक्त विभिन्न छन्द उसके छन्दकौशल के परिचायक हैं । इस सर्ग में ग्यारह छन्दों को काव्यरचना का माध्यम बताया गया है । उनके नाम इस प्रकार हैं—
स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, शालिनी, तोटक, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, रथोद्धता, द्रुतविम्बित, वंशस्थ तथा आर्या । अन्य सर्गों में इनके अतिरिक्त केवल एक नया छन्द—मालिनी प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार समूचा काव्य १२ छन्दों में निबद्ध है ।

पार्श्वनाथ के जीवन पर आधारित हेमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित, जैसा हम आगे देखेंगे, काव्य तथा पौराणिक, दोनों दृष्टियों से पद्मसुन्दर के काव्य की अपेक्षा अधिक श्लाघनीय है । पार्श्वनाथकाव्य के अपेक्षाकृत संक्षिप्त फलक पर पार्श्वचरित की कुछ रेखाएँ ही उभर सकी हैं । कवि का ध्येय काव्य के व्याज से स्वधर्म तथा आराध्य का गौरव गान करना है । इसमें उसे असफल नहीं कहा जा सकता ।

२२. पार्श्वनाथचरित : हेमविजयगणि

तपागच्छीय हेमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित^१ आलोच्य युग का विशुद्ध पौराणिक महाकाव्य है। इसके छह बृहत्काय सर्गों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र निरूपित करने का उपक्रम किया गया है। पार्श्वनाथ के वर्तमान (अन्तिम) भव का वृत्त काव्य का गौण विषय प्रतीत होता है; इसका अधिकांश, पौराणिक काव्य की प्रकृति के अनुरूप, उनके जन्मान्तरों के विचित्र किन्तु अनिवार्यतः संवेगजनक वृत्तान्तों से आच्छादित है, जो मूल इतिवृत्त की पृष्ठभूमि निर्मित करते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं। कवि का प्रमुख उद्देश्य कथानक के विविध प्रसंगों से कर्म-सिद्धान्त की अटलता की प्रतिष्ठा करना तथा आर्हत धर्म की कठना एवं पवित्रता की प्रस्थापना के द्वारा उसे सर्वग्रह्य बनाना है।

पार्श्वनाथचरित का महाकाव्यत्व

पार्श्वनाथचरित, कथावस्तु की परिकल्पना तथा विनियोग की दृष्टि से, यद्यपि उपजीव्य पुराण की प्रतिमूर्ति है तथापि परिभाषा के परिपालन से इसे महाकाव्य-रूप देने की कवि की व्यग्रता स्पष्ट है। इसके आधार-फलक में, महाकाव्य के कलेवर के लिए वांछित, पर्याप्त व्यापकता है। इसके कथानक का छह सर्गों में विभाजन शास्त्रीय मानदण्ड के अनुरूप नहीं है, किन्तु काव्य में सर्गों की संख्या की कमी की पूर्ति उनके परिमाण से हो जाती है। पार्श्वनाथचरित का कथानक पार्श्वभ्रु के प्रेरक चरित पर आधारित है। कवि के शब्दों में यह 'सच्चरित्र से चमत्कृत' (सच्चरित्र-चमत्कारी) है। धीर-प्रशान्त गुणों से सम्पन्न, क्षत्रियकुल-प्रसूत पार्श्वनाथ काव्य के नायक हैं। उनकी धीरता तथा प्रशान्तता के पोषक, काव्य में वर्णित वे अगणित उपसर्ग हैं, जिन्हें वे वैर-भाव के बिना सहज समत्व से सह कर अन्ततः वर्तमान भव प्राप्त करते हैं। उनके सम्यक्त्व से अनुप्राणित काव्य में शान्तरस की प्रधानता स्वाभाविक थी, जो अन्य रसों के साथ इसकी रसवत्ता को सघन बनाता है। पार्श्वचरित की रचना धर्म से प्रेरित है। विविध प्रकार से जिन-धर्म की दया, अहिंसा, समता आदि का प्रतिपादन करके उसका उन्नयन करना काव्य का लक्ष्य है।

सर्गान्त के कतिपय पद्यों को छोड़कर समूचे काव्य की रचना अनुष्टुप् छन्द में हुई है। छन्दों का यह विधान पश्चिमी काव्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है, जिसमें महाकाव्य के निर्विघ्न प्रवाह के लिये एक छन्द के प्रयोग की आज्ञा दी गयी है।

१. मुनि मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, संख्या १, सन्द्त् १९७२.

विविध वस्तु-वर्णन पार्श्वनाथचरित को पौराणिकता की ऊँच से बचाने में समर्थ हैं। इसकी भाषा को प्रौढ़ तो नहीं कहा जा सकता परन्तु वह गरिमा से वंचित नहीं है। काव्य में प्रक्षिप्त युग-चेतना का प्रतिबिम्ब इसके महाकाव्यत्व को दृढ़ता प्रदान करता है। अतः पार्श्वनाथचरित को महाकाव्य मानना उचित है यद्यपि कवि ने उसे कहीं भी 'महाकाव्य' संज्ञा से अभिहित नहीं किया है।

पार्श्वनाथचरित की पौराणिकता

पार्श्वनाथचरित पौराणिक महाकाव्य है, यह उक्ति तथ्य की पुनरुक्ति है। इसमें अतिप्राकृतिक घटनाओं की भरमार है। स्वयं काव्यनायक का व्यक्तित्व देवत्व से ओतप्रोत है। उनके जीवन से सम्बन्धित समस्त अनुष्ठानों का आयोजन, देवराज के नेतृत्व में देवगण करते हैं। जन्माभिषेक, निष्क्रमणोत्सव, दीक्षाग्रहण, पारणा, कंबल्य-प्राप्ति तथा निर्वाण के समय देवगण निष्ठापूर्वक प्रभु की सेवा में तत्पर रहते हैं। अतिप्राकृतिक घटनाएँ पार्श्वनाथचरित को यथार्थ के धरातल से उठाकर रोमं-चक काव्यों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करती है। स्वर्गलोक की प्रख्यात सुघोषा घण्टा का परिमण्डल एक योजन विस्तृत था। शिशु पार्श्व के स्नात्रोत्सव के अनुष्ठान के लिये देवगण जिस विमान में वाराणसी आए थे, वह डेढ़ लाख योजन लम्बा था और उसका सिंहासन रत्नों से निमित्त था। इन्द्र बहुरूपिये की तरह काव्य में स्वेच्छा-पूर्वक माना रूप धारण करता है। प्रभु की सेवा का अनुपम पुण्य अजित करने के लिये उसने शिशु को मेरु पर्वत पर ले जाते समय एक साथ पांच रूप धारण किये, और अभिषेक सम्पन्न होने पर मायाकार की भाँति तत्काल उनका संवरण कर लिया।^१ स्नात्रोत्सव के प्रसंग में उसने चार वृषभों का रूप धारण करके अपने सींगों से निस्सृत दूध की आठ धाराओं से प्रभु को स्नान कराने का अलौकिक कार्य सम्पन्न किया।^२ वह शिशु पार्श्व के अंगूठे को अमृत से परिपूर्ण कर देता है जिससे क्षुधा शान्त करने के लिये उसे किसी बाह्य साधन पर निर्भर न रहना पड़े। बन्धुदत्त विद्याधरों के साथ उड़ कर कौशाम्बी के जिन-मन्दिर में जाता है। पार्श्व प्रभु के समवसरण की एक योजन भूमि में करोड़ों श्रोता आसानी से समा जाते हैं।

पौराणिक काव्यों के स्वरूप के अनुरूप पार्श्वनाथचरित में जन्मान्तरों का विस्तृत वर्णन है तथा वर्तमान जीवन के आचरण तथा कार्यकलाप को मानव के पूर्वजन्मों के कर्मों से परिचालित एवं नियन्त्रित माना गया है। काव्य का

२. विद्याय पंचधाऽऽत्मानं ततः स त्रिवशेश्वरः। पार्श्वनाथचरित, ४.२३४

३. अथ सौधर्मनाथः स चक्रे रूपचतुष्टयम्।

वृषाणां वृषमावित्सुरिध जैनं चतुर्विधम् ॥ वही, ४.३०७

संजह्ने दूधरूपाणि मायाकार इव द्रुतम्। वही, ४.३१५

४. शक्तः संचारयामास स्वाम्यंगुष्ठे सुधामथ। वही, ४.३३४

अधिकतर भाग पार्श्वप्रभु के पूर्व भवों के वर्णनों से ही आच्छादित है। पुरोहित वसुभूति के पुत्रों, कमठ तथा मरुभूति का वैर निरन्तर दस जन्मों तक चलता है जिसके कारण कमठ का जीव अपने अनुज की कहीं चैन नहीं लेने देता। मरुभूति सम्पत्कत्व तथा शुक्लध्यान के कारण आठ भवों के पश्चात् वाराणसी-नरेश अश्वसेन के आत्मज पार्श्व के रूप में जन्म लेता है। इसके विपरीत कमठ, कषाय तथा आर्तध्यान के फलस्वरूप, लोमहर्षक नारकीय यातनाएँ सह कर, वर्तमान भव में भी, मेघमाली असुर बनता है तथा नाना उपसर्गों से वैरशोधन का जघन्य उद्योग करता है। ब्राह्मणजन्म में अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता तथा हृदयहीनता के कारण सार्थवाह सागरदत्त, वर्तमान जन्म में नारी-मात्र से विरक्त हो जाता है। शबर के रूप में, पशुयुगलों को नियुक्त करने के अपराध के परिणाम-स्वरूप बन्धुदत्त को पत्नी-वियोग तथा कारा-दण्ड सहना पड़ता है। पार्श्वनाथचरित में धर्मदेशनाओं की विस्तृत योजना की गयी है। काव्य का कोई ऐसा सर्ग नहीं जिसमें इन धर्मोपदेशों का समावेश न किया गया हो। पाँचवें सर्ग में इस उपदेशात्मक प्रवृत्ति का प्रबल रूप दिखाई देता है। काव्य में इन देशनाओं का उपयोग जैनधर्म एवं दर्शन के प्रतिपादन तथा उनकी गौरववृद्धि आदि के लिये किया गया है। अरविन्द, किरणदेव, वज्रबाहु, स्वर्णबाहु, वज्रनाभ, पार्श्व आदि के संयम ग्रहण करने का तात्कालिक कारण ये धर्मोपदेश ही हैं। धार्मिक उपदेशों की भाँति स्तोत्रों का भी काव्य में अबाध समावेश हुआ है। काव्य-नायक के जीवन से सम्बन्धित ऐसा कोई प्रसंग नहीं है, जब देवों द्वारा उनकी भक्ति-विह्वल स्तुति न की गयी हो। कथा के भीतर कथा कहने की पौराणिक प्रवृत्ति का पार्श्वनाथचरित में उग्र रूप दिखाई देता है। पार्श्वनाथ के पूर्व भवों के विस्तृत विवरण के अतिरिक्त मुख्य कथा में पोतनाधिपति अरविन्द, विद्याधर विद्युद्गति, राजकुमारी पद्मा, सार्थवाह सागरदत्त तथा बन्धुदत्त आदि की अवान्तर कथाएँ इस प्रकार पल्लवित की गई हैं कि कहीं-कहीं मूलकथा गौण-सी प्रतीत होने लगती है, यद्यपि इनका उद्देश्य कर्म की अपरिहार्यता आदि का प्रतिपादन करके काव्य की पौराणिकता को प्रगाढ़ बनाना है।

कवि तथा रचनाकाल

पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में हेमविजयशर्मा ने अपनी गुरु-परम्परा का पर्याप्त परिचय दिया है। उनके विजयप्रशस्तिकाव्य की गुणविजय-कृत टीकाप्रशस्ति में मुनि-परम्परा के अतिरिक्त कवि की रचनाओं की महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। इनके आधार पर हेमविजय के स्थितिकाल तथा साहित्यिक उपलब्धियों का निश्चित विवरण प्राप्त है। हेमविजय विद्वद्भर कमलविजय के शिष्य थे। कमलविजय के गुरु अमरविजय, तपामच्छ के प्रख्याततम आचार्य हीरविजयसूरि

के पट्टधर विजयसेनसूरि के सुयोग्य शिष्य थे^१ ! हीरविजय की परम्परा मुनि जगच्चन्द्र तक पहुँचती है जिनकी तीव्र तपश्चर्या के कारण उनका गच्छ तपागच्छ नाम से ख्यात हुआ था^२ । पार्श्वनाथचरित की रचना विजयसेनसूरि के धर्म-शासक में, सम्बत् १६३२ (सन् १५७५), फाल्गुन सुक्ला द्वितीया को सम्पन्न हुई थी ।

दृक्-कृशानु-रस-सोममितेऽब्दे शक्रमन्त्रिणि दिने द्वयसंज्ञे ।

हस्तभे च बहुलेतरपक्षे फाल्गुनस्य चरितं ध्यरचोदम् ॥ प्रशस्ति, १४

विजयप्रशस्ति की टीकाप्रशस्ति के अनुसार पार्श्वनाथचरित कवि के बाल्य-काल की कृति है किन्तु इसका आस्वादन प्रौढजन ही कर सकते हैं^३ । यह पार्श्वनाथ-चरित की कविता का उदार मूल्यांकन है । टीकाप्रशस्ति में हेमविजय की रचनाओं की जो तालिका दी गयी है, उससे उनकी काव्य-प्रतिभा तथा साहित्यिक गतिविधि का पर्याप्त संकेत मिलता है । प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त उन्होंने कथारत्नाकर, कीर्तिकलोलिनी, अन्योक्ति-महोदधि, सूक्तारत्नावली, विजयप्रकाश, स्तुतित्रिदशतरंगिणी, कस्तूरीप्रकर, सद्भावशतक, विजयस्तुतयः, ऋषभशतक तथा अन्य सैकड़ों स्तोत्रों की रचना की थी । उनकी साहित्य-साधना की परिणति विजयप्रशस्तिकाव्य में हुई, जो उनके साहित्य-प्रासाद का स्वर्णकलश है ।^४

हेमविजय की कविता अपने लालित्य के कारण विद्वानों में प्रसिद्ध रही है । हेमविजय के वाग्गालित्य की पुष्टि उनके ग्रन्थों से होती है ।

पार्श्वनाथचरित की पूर्ति सम्बत् १६३२ (१५७५ई०) में हुई । कथारत्नाकर सम्बत् १६५७ (सन् १६००) में लिखा गया । ऋषभशतक १६५६ सम्बत् (सन् १५९९) की रचना है । अतः सोलहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध तथा सतर-हवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग को हेमविजय का स्थितिकाल मानना सर्वथा युक्ति-युक्त होगा ।

कथानक

पार्श्वनाथचरित छह मर्गों का महाकाव्य है । इसका कथानक दो पृथक् भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम तीन सर्ग काव्य की भूमिकामात्र हैं । इनमें काव्यनायक पार्श्वनाथ के पूर्वभवों का विस्तृत तथा विचित्र वर्णन है । पोटनानरेश अरविन्द के पुरोहित विश्वभूति के पुत्र मरुभूति का जीव, प्रथम भव के अप्रज कमठ के द्वेष का फल भोगता हुआ, आठ योनियों में भटक कर, अपने सम्य-

५. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ७-१३

६. प्रापत् बाणवसुद्वयोडुपमिते तपोभिस्तपे-

त्याह्यपाति त्रिजगज्जनधृतिमुखां यो दूरभीर्भूरिभिः ॥ वही, २

७. बाल्येऽप्यशालधीगम्यं श्रीपार्श्वचरितं महत् । विजयप्रशस्ति, टीकाप्रशस्ति, ५२.

८. वही, ५५

वस्त्र तथा उपसर्ग सहन करने की क्षमता के कारण, अन्ततः वाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। यहीं, चतुर्थ सर्ग से काव्य का मुख्य कथानक प्रारम्भ होता है।

दिवकुमारियाँ नाना दिशाओं से आकर शिशु का जातकर्म करती हैं। उसका स्नातोत्सव सुरपति इन्द्र तथा अन्य देवों के द्वारा ठेठ पौराणिक रीति से मेरु पर्वत पर सम्पन्न किया जाता है। माता वामा ने गर्भावस्था में, रात्रि के गहन अन्धकार में भी, अपने पार्श्व में रेंगता सांप देखा था, अतः शिशु का नाम पार्श्व रखा गया। एक दिन कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती किन्नर-मिथुन से युवा पार्श्व के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर उस पर मोहित हो जाती है। उसमें पूर्वराग का उदय होता है। कुचिन्ददयिता (तन्तुवाय की ढरकी) की तरह वह पल में बाहर, पल में भीतर, पल में नीचे, पल में ऊपर— उसे कहीं भी चैन नहीं मिलती। उसका पिता उस स्वप्नवरा को तुरन्त पार्श्व के पास भोजने का निर्णय करता है, किन्तु तभी कलिंग का यवन शासक उस सुन्दरी को हृथियाने के लिये प्रसेनजित् पर आक्रमण कर देता है। उसकी पराक्रमी सेना ने कुशस्थल को ऐसे घेर लिया जैसे आप्लावन के समय पृथ्वी जलराशि में मज्जित हो जाती है। पार्श्व यवन-नरेश को दण्डित करने के लिये अपनी सेना के साथ कूच करता है परन्तु कर्तिभराज उसकी दिव्यता से हतप्रभ होकर, बिना युद्ध किये, उसकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। वैपयिक सुखों से पराङ्मुख तथा संवेग में तत्पर पार्श्वनाथ, अपना भोग-कर्म समझकर तथा पिता के मनोरथ की पूर्ति के लिये प्रभावती से विवाह करते हैं। प्रभावती कृतार्थ हो जाती है। पाँचवें सर्ग में, एक प्रासाद में अंकित नेमिदेव का चरित्र देखकर पार्श्व को संवेगोत्पत्ति होती है और वे उन्हीं की भाँति विषयभोग छोड़कर, तीन सौ राजपुत्रों के साथ, प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। दीक्षा के साथ ही उनमें मनःपर्यय ज्ञान स्फुरित हुआ। क्रमशः विहार करते हुए पार्श्वप्रभु ने कोपटक सन्निवेश में धन्य के घर त्रिकोटिशुद्ध पायस से पारणा की। पारणास्थल पर धन्य ने प्रभु की चरण-पादुकाओं से युक्त पीठ की स्थापना की। शिवपुरी के कौशाम्बयन में जहाँ पद्मभराज ने, पूर्वोपकारों के कारण, प्रभु के ऊपर फणों का छत्र धारण किया था, वह स्थान अहिच्छत्रा नाम से प्रसिद्ध हुआ। कठ के जीव नीच मेघमाली असुर ने पार्श्वनाथ को दारुण उपसर्ग दिये परन्तु वे सब ऐसे निरर्थक हो गये जैसे संयमी के लिये नानी के कटाक्ष। वाराणसी में धातकी वृक्ष के नीचे, उन्हें चैत्र-कृष्णा चतुर्थी

६. कियन्मात्रं स पार्श्वो यः परिणेतुः प्रभावतीम् । वही, ४.५४०

वेष्टितं तत् पुरं भूमिरिव पाथोन्निरब्धिना । वही, ४.५४६

१०. ईप्सितार्थे हि सम्पन्ने प्रमोदः किकरायते । वही, ४.६७५

को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उनकी धर्मदेशना से उनके पिता अश्वसेन, माता तथा पत्नी भी दीक्षित हो जाते हैं। छठे सर्ग में ताम्रलिप्ता के सार्थवाह सागरदत्त, नागपुरी के बन्धुदत्त तथा पुण्ड्रवर्धन के श्रीधर के विचित्र किन्तु रोचक वर्णन हैं। अपने पूर्ववर्ती तथा भावी भवों का रोमहर्षक विवरण सुनकर वे तापसव्रत स्वीकार करते हैं। निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु सम्मोदादि पर, अनेक श्रमणों के साथ, अनशन आराधना से शरीर त्याग देते हैं। इन्द्र, प्रभु तथा श्रमणों के शव पृथक्-पृथक् चिताओं को भेंट कर देता है।

पार्श्वनाथचरित का मुख्य कथानक भवान्तरों के अनन्त वर्णनों तथा रोमाञ्चक विषयान्तरों में ऐसा उलझा हुआ है कि उनकी तुलना में वह गौण-सा प्रतीत होता है। प्रथम तीन सर्ग अर्थात् काव्य का पूर्वाङ्ग महभूति और कमठ के पूर्व भवों के वर्णन-जाल से आच्छादित है। ये मूल कथानक के अवयव नहीं, उसकी प्रस्तावना हैं। प्रस्तावना को नाटक के समान आकार देना कथा-प्रवाह के प्रति कवि के प्रमाद का परिचायक है। कथान्विति की दृष्टि से ये सर्ग सर्वथा अनावश्यक तथा अप्रासंगिक हैं। इन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। मुख्य कथा के साथ इनका अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध है। पार्श्वनाथ का मूल चरित भी, उनके जन्माभिषेक, प्रव्रज्या, निष्कमण, बिहार आदि के पौराणिक वर्णनों, स्तोत्रों, धर्मोपदेशों तथा अवान्तर-कथाओं की पर्तों में दब गया है। छठे सर्ग के अधिकांश का कथानक से केवल इतना सम्बन्ध है कि उसमें वर्णित पात्र पार्श्वप्रभु से अपने पूर्वजन्मों का वर्णन सुनकर, जिनके कारण उन्हें वर्तमान जीवन में यातनाएँ सहनी पड़ीं, प्रतिबोध पाकर संयम व्रत ग्रहण करते हैं। इस सर्ग का अधिकतर भाग बन्धुदत्त के विचित्र वृत्त ने हड़प लिया है। पार्श्वचरित से सम्बन्धित इस सर्ग की सामग्री को सरलता से सौ-डेढ़ सौ पद्यों में समेटा जा सकता है। यह सच है कि आकर-ग्रन्थों में पार्श्वचरित इसी रूप में निरूपित है किन्तु उसे यथावत् ग्रहण करना महाकाव्य के लिये आवश्यक नहीं है। काव्य के द्वारा कर्मफल की अवश्यम्भाविता तथा जिनधर्म के गौरव का प्रतिपादन करना कवि का मुख्य लक्ष्य है।

पार्श्वनाथचरित का आधारस्रोत

दोनों सम्प्रदायों के पुराणों में जैनधर्म के प्रसिद्ध ६३ महापुरुषों के चरितों का निरूपण किया गया है। उत्तरवर्ती कवियों ने सम्प्रदाय-भेद से इन ग्रन्थों को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। श्वेताम्बर हेमविजय के प्रस्तुत पार्श्वनाथचरित का स्रोत आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशतकापुरुषचरित है (६२-४)। त्रि० श० पु० चरित में निरूपित पार्श्वचरित के साथ हेमविजय के काव्य की तुलना से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथचरित हेमचन्द्र के ग्रन्थ की सच्ची प्रतिकृति है। पार्श्वनाथ के पूर्वभवों तथा मूल कथानक के प्रत्येक प्रसंग तथा घटना के निरूपण में हेमविजय

ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का इस निष्ठा में अनुगमन किया है और हेमचन्द्र के भावों को इस उदारता से ग्रहण किया है कि उनका पार्श्वनाथचरित, त्रि० श० पु० चरित के सम्बन्धित प्रकरण का अभिनव संस्करण बन गया है और वह कवि की इस प्रतिज्ञा—चरित्रं पार्श्वदेवस्य यथादृष्टं प्रकाशयते (१.२४)—की पूर्ति करता है। अन्तर केवल इतना है कि हेमविजय ने त्रि० श० पु० चरित के पार्श्वचरित को स्वतन्त्र महाकाव्योचित विस्तार के साथ ३०४१ पद्यों के तिगुने कलेवर में प्रस्तुत किया है। आकार में यह वृद्धि कथानक के अंगभूत अथवा अवान्तर प्रसंगों के सविस्तार वर्णन से सम्भव हुई है। उदाहरणार्थ त्रि० श० पु० चरित में सुवर्णबाहु की षट्खण्डविजय का एक पंक्ति में संकेत मात्र किया गया है। हेमविजय ने इस विजय का पुरे २२८ पद्यों में विस्तृत वर्णन करके मूल कथानक की भूमिका के इस अंश को अनावश्यक महत्त्व दिया है^{११}। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्वर्णबाहु की विजय का यह वर्णन धनुर्वती भरत की षट्खण्डविजय पर आधारित है, जिसका हेमचन्द्र ने अपने काव्य के प्रथम पर्व में सविस्तार निरूपण किया है। इसी प्रकार शिशु पार्श्व के जन्मोत्सव तथा जन्माभिषेक के हेमचन्द्र के संक्षिप्त वर्णन^{१२} (१३ पद्य) को पार्श्वनाथचरित में ३१६ पद्यों में प्रस्तुत किया गया है।

पार्श्वनाथचरित के कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनका त्रि० श० पु० चरित में अभाव है अथवा उनका भिन्न प्रकार से निरूपण हुआ है अथवा उनके क्रम में विपर्यास है। वज्रनाभ के मातुल-पुत्र कुबेर का प्रसंग^{१३} तथा उस द्वारा प्रतिपादित चार्वाक दर्शन और मुनि लोकचन्द्र का उसका प्रतिवाद^{१४} त्रि० श० पु० चरित में उपलब्ध नहीं हैं। हेमचन्द्र के अनुसार वज्रबाहु की राजधानी पुराणपुर थी। पार्श्वनाथचरित में उसका नाम सुरपुर है^{१५}। हेमचन्द्र के काव्य में, आश्रमवासिनी विद्याधरकन्या पद्मा गान्धर्वविधि से विवाह करके पति सुवर्णबाहु के साथ अकेली वैताड्यगिरि को प्रस्थान करती है। पार्श्वनाथचरित में उसकी व्यवहारकुशल सखी नन्दा भी, उसकी परिचारिका के रूप में, साथ जाती है^{१६}। हेमचन्द्र के विवरण के अनुसार पार्श्व ने

११. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज,

संख्या १३०, जिल्द ५, पृ० ३७५

पार्श्वनाथचरित, ३.२७५-५०३

१२. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३७६-३८०; पार्श्वनाथचरित, ४.१-३१६

१३. पार्श्वनाथचरित, २.१४८-१६३

१४. वही, २.१७२-२२२

१५. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३६६, पार्श्वनाथचरित ३.१

१६. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३७५. पार्श्वनाथचरित, ३.२५७-२५८

भोग्य कर्मों के फल का क्षय होने पर तपस्या ग्रहण करने का निश्चय किया। 'जिनेन्द्र अपने भोगकर्मों का क्षय करने के लिये गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करते हैं', इस तथ्य का पार्श्वनाथचरित में, पार्श्व के विवाह-प्रसंग में उल्लेख अवश्य है^{१७} किंतु उनकी प्रव्रज्या का तात्कालिक कारण, प्रासाद में अंकित नेमिनाथ का प्रेरक चरित था, जिसे देखकर उनमें संवेग का उद्रेक होता है^{१८}। त्रिषण्डिशलाकापुरुषचरित में केवल-ज्ञानी पार्श्व अपनी प्रथम देशना में पंच व्रतों तथा उनके व्यतिक्रमों का विवेचन करते हैं। पार्श्वनाथचरित में उसके अन्तर्गत चतुर्विध धर्म का निरूपण किया गया है^{१९}।

स्वर्णबाहु तथा तापसबाला पद्मा के विवाह का प्रकरण यद्यपि त्रि० श० पु० चरित में उपलब्ध है^{२०} और हेमविजय ने उसी के अनुसार, अपने काव्य में, इसका प्रतिपादन किया है^{२१} किंतु इस प्रसंग के लिये स्वयं हेमचन्द्र कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के ऋणी हैं। उन्होंने नाटक के प्रथम चार अंकों की प्रमुख घटनाएँ अपने वृत्त की प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत की हैं। जैन कवियों के विवरण में क्योंकि मुनि गालव स्वयं, तपस्वी की भविष्यवाणी के अनुसार, स्वर्णबाहु से पद्मा के विवाह का प्रस्ताव करते हैं, अतः उनके प्रणय की उद्भूति तथा परिणति के लिये, कण्व की तरह गालव को तपोवन से देर तक दूर रखना आवश्यक नहीं था। काव्य में वे अभ्यागत ऋषि को विदा करके आश्रम में शीघ्र लौट आते हैं। नाटक के चतुर्थ अंक तक सीमित होने के कारण पार्श्वनाथचरित के इस प्रसंग में दुर्वासा के शाप के लिये भी कोई अवकाश नहीं है। शेष प्रायः समस्त घटनाएँ अभिज्ञानशाकुन्तल की अनुगामी हैं। स्वर्णबाहु के आश्रम में आगमन से लेकर पद्मा की कारुणिक विदाई तक के समस्त इतिवृत्त को काव्य में समेटने का प्रयास किया गया है^{२२}।

रसचित्रण

अश्वघोष की तरह हेमविजय ने कवियश की प्राप्ति अथवा चमत्कृति उत्पन्न करने के लिये काव्यरचना नहीं की है। उसका प्रमुख उद्देश्य कविता के सरस माध्यम

१७. भोगकर्मक्षयार्थं हि जिना गार्हस्थ्यवासिनः। पार्श्वनाथचरित, ४.६७२

१८. वही, ५.५७-६३

१९. वही, ५.३६८-२८

२०. त्रिषण्डिशलाकापुरुषचरित (पूर्वोक्त) पृ० ३७१-३७५

२१. पार्श्वनाथचरित, ३.६३-२३४

२१a. इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिए देखिये हमारा निबन्ध 'A Versified Adaptation of Abhijñānaśākuntalam (I-IV)' VII, Hoshiarpur, 1981, P.99-105

से मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त करना है^{२२}। इस संकुचित दृष्टिकोण ने उसकी कविता को धर्मवृत्ति की चेरी बना दिया है, किंतु उसका निष्प्रान्त मत है कि कविता की सार्थकता रसात्मकता में निहित है। गंगा की पावन धारा के समान वही काव्य तापहारी (आनन्दप्रद) है जिसका आधार तीव्र रसवत्ता हो^{२३}। काव्य में रस की स्थिति के प्रति कवि के इस दृष्टिकोण के कारण पार्श्वनाथचरित में, चरितात्मक रचना होते हुए भी, विभिन्न रसों की तीव्र व्यंजना हुई है। जन्म-जन्मान्तरों, उत्तम-अधम विविध स्थितियों, चित्र-विचित्र घटनाओं, रोमांचक प्रसंगों तथा कर्मसिद्धान्त से प्रेरित मानव के उत्थान-पतन से सम्बद्ध होने के नाते पार्श्वनाथचरित में विभिन्न मनोराशियों के चित्रण का मुक्त अवकाश है। हेमविजय मनोभावों का कुशल चित्रकार है। यह तीव्र रसव्यंजना पार्श्वनाथचरित की उल्लेखनीय विशेषता है।

पार्श्वनाथचरित वैराग्य-प्रधान काव्य है। भोगस्थाय इसके पात्रों की प्रमुख विशेषता है। सांसारिक सुखों की क्षणिकता, विषयों की विरसता तथा वैभव की नश्वरता से अस्त होकर उनमें संवेग का उदय होता है जिसके फलस्वरूप वे सब अन्ततः दीक्षा ग्रहण करते हैं, जो कवि के शब्दों में मुक्ति-रमणी की अग्रदूती है — मुक्तिमीमन्निनी-दूती दीक्षां संवेगनोग्रहीत् (५.४३५)। अतः पार्श्वनाथचरित में शान्तरस की प्रधानता है। शान्तरस का स्थायी भाव शम अथवा निर्वेद काव्य-पात्रों की भूल वृत्ति है, जो अनुकूल भाव-सामग्री से सिकत होकर शान्त के रूप में प्रस्फुटित होती है। अरविन्द, वज्रबाहु, स्वर्णबाहु, पार्श्व, मागरदत्त आदि सभी विविध मार्गों से शान्तरस के एक बिन्दु पर पहुँचते हैं। आकाश में हृदयग्राही मेघमाला को सहसा विलीन होता देखकर पोटना-नरेश अरविन्द का हृदय जीवन की क्षणिकता तथा वैषयिक सुखों की छलना से आहत हो जाता है। उसी यह मनोदशा शान्तरस में व्यक्त हुई है।

मणिमानिक्यसाम्राज्यराज्यरूपा अपि श्रियः ।

सर्वा अपि विलीयन्ते स्थासका इव तत्क्षणात् ॥ १.२०६

काः स्त्रियः के सुताः किञ्च राज्यं परिजनश्च कः ?

काऽसौ सम्पत् पुनः कोऽहं सर्वं मेघानुसार्यदः ॥ १.२०७

तन्मुग्धैव निमग्नोऽस्मि तुले सांसारिके भृशम् ।

यत्फलं मूलनाशाय रम्भाफलमिव ध्रुवम् ॥ १.२०८

अंगी रस शान्त के अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित में शृंगार, रोद्र, भयानक,

२२. यच्चक्रे चरितं चमत्कृतकृति श्रीपार्श्वनेतुर्मया

किन्त्वात्मानमनन्तनिर्वृतिमयं नेतुं पदं निर्धृतेः ॥ वही, ६.४७४

२३. जयन्ति कवयः सर्वे सुरसार्थमहोदयाः ।

शिवाश्रया रसाधारा यद्गीर्गमेव तापहृत् ॥ वही, १.६

वात्सल्य आदि रसों का भी यथेष्ट परिपाक हुआ है। शृंगार शान्तरस का विरोधी ध्रुव है। काव्य में उसके चित्रण के लिये अधिक स्थान भी नहीं है, किन्तु शान्त की भाँति शृंगार को पलज्वित करने में हेमविजय की सिद्धहस्तता निर्विवाद है। उसकी तुलिका ने काव्य में शृंगार के उभय पक्षों के प्रभावी चित्र अंकित किये हैं। कमठ और वसुन्धरा के रमण तथा पार्श्व एवं प्रभावती की विवाहोपरान्त विलास-क्रीड़ा में सम्भोग-शृंगार का सफल परिपाक हुआ है। कमठ तथा व्यभिचारिणी वसुन्धरा की अवैध रति में शृंगार के सम्भोग पक्ष की प्रगाढ़ता उल्लेखनीय है।

ततस्तौ निभयं भावनिर्भरौ रहसि स्थितौ ।

रेमाते काममुद्दामकामयामिकबोधितौ ॥ १.११५

कदाचिद् विरलीभूतौ लक्ष्मी-लक्ष्मीपती इव ।

एकीभूतौ कदाचिच्च गौरी-गौरीपती इव ॥ १.११७

हास्यंस्ल्लासितानंगविभ्रमौ शुभ्रविभ्रमौ ।

चिरं चिक्रीडतुः कामिककराविव निस्त्रयी ॥ १.११८

राजकुमारी प्रभावती के पूर्वराग के चित्रण में विप्रलम्भ की व्यथा है। काव्य में यही एक स्थल है, जहाँ विप्रलम्भ-शृंगार का निरूपण हुआ है, किन्तु संक्षिप्त होता हुआ भी यह अपनी सूक्ष्मता तथा पेनेपन के कारण हृदय के अन्तराल में पैठने की क्षमता रखता है। किन्नर-युगल से युवा पार्श्व के सौन्दर्य तथा गुणों का वर्णन सुनकर प्रभावती कामातुर हो जाती है। पार्श्व के बिना उसे कहीं भी कल नहीं है। विरह के प्रहार ने उसे जर्जर कर दिया है।

सा कन्याऽनंगसंसर्गाद् नानावस्थामुपेयुषी ।

रतिं कुत्रापि न प्राप मत्सीव स्वल्पपाथसि ॥ ४.५१२

क्षणं बहिः क्षणं मध्ये क्षणं चोर्ध्वं क्षणं त्वधः ।

कुविन्ददयितेर्बन्धा नंकां स्थितिमुपागमत् ॥ ४.५१३

शृंगार के समान वीररस भी शान्त का प्रतिद्वन्द्वी है। काव्य में 'वीरहीराणां दोर्बलं बलम्' (४.५४३) की गूँज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु जैन कवि की अहिंसावादी वृत्ति को युद्ध अथवा उसकी हिंसा कदापि सह्य नहीं है। अतः उसने जान-बूझ कर एक ऐसा अवसर हाथ से खो दिया है जहाँ वीररस की सशक्त अभिव्यक्ति हो सकती थी। कलिंगराज राजकुमारी को बलात् प्राप्त करने के लिये प्रसेनजित् की राजधानी पर घावा बोल देता है। वह दून के शान्तिप्रयास को भी विरोचित दर्प से ठुकरा देता है किन्तु पार्श्व की दिव्यता से अभिभूत होकर वह सहसा घेरा उठा लेता है। यह युद्ध का उन्नयन नहीं, उसका परित्याग है। इसका एकमात्र कारण मंथमधन कवि की युद्ध के प्रति संस्कारगत घृणा है।

रौद्र, भयानक तथा वात्सल्य रसों के चित्रण में हेमविजय की कुशलता

असंदिग्ध है, यद्यपि इन रसों में उसने विभावों की अपेक्षा अनुभावों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। सभाभूमि में दिग्विजयी स्वर्णबाहु के बाण के प्रहार से मगधराज बीखला उठता है। उसके क्रोध के चित्रण में रौद्ररस अनुभावों के रूप में प्रकट हुआ है।

पतितं पत्रिणं पृथ्व्यां ततो मागधतीर्थराट् ।

भोगीवात्मीयहृत्तारं बीक्ष्य कोपपरोऽजनि ॥ ३.३५१

कृतांतकामुंकाकारभ्रुकुटीभंगभीषणः ।

वायुपूरितभस्त्राभनासासम्पुटदारुणः ॥ ३.३५२

आताम्रीकृतनयनस्त्रिरेखाकृतभालभूः ।

इत्यसौ वचनं प्रोच्यं कोपोद्गारमिवावमत् ॥ ३.३५३

पर्वताकार मरुभूति हाथी के अचानक आक्रमण से काफिले के लोगों में भगदड़ मच जाती है। उनकी खलबली के वर्णन में भयानक रस का परिपाक हुआ है।

सोऽथ सार्वजनान् दन्तावलः प्रोहामधामभृत् ।

भाययामास दन्ताभ्यां भुजाभ्यामिष दन्तिराड् ॥ १.२८६

आरोहन् भूरुहान् केऽपि दावार्ता वानरा इव ।

गह्वरे प्राविशन् केऽपि व्याघ्रस्तता मृगा इव ॥ १.२८७

मूर्छितान्येऽपतन् केऽपि विषाघ्राता इव क्षितौ ।

पर्याटन्नारटन्तश्च केऽपि भूतातुरा इव ॥ १.२८८

वात्सल्यरस की मधुर छटा पार्श्व के शैशव के वर्णन में दिखाई देती है। अपनी डगमगाती चाल, धूलिधूसरित अंगों, तुतलाती वाणी तथा अन्य बालकेलियों से वह माता-पिता के हृदय को आनन्दित करता हुआ घर के आंगन में ठुमकता है^{१४}।

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में मुख्य रसों की निष्पत्ति हुई है, जो काव्य को रसाद्रं बना कर पाठक को रसचर्वणा कराने में पूर्णतया समर्थ हैं।

प्रकृति-चित्रण

हेमविजय ने अपने चरित को महाकाव्य बनाने का तत्परता से प्रयत्न किया है। महाकाव्य-परम्परा के अनुरूप उसने पार्श्वनाथचरित में नगर, पर्वत, रात्रि, दावाग्नि, ऋतुओं के ललित वर्णन किये हैं, जो इस इतिवृत्तात्मक काव्य की पौराणिक नीरसता को भेट कर उसमें रोचकता का स्पन्दन करते हैं। माघोत्तर कवियों की तरह हेमविजय ने प्रकृति के न तो उद्दीपन-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है और न उस पर मानवीय चेतना का आरोप किया है। उसने बहुधा प्रकृति के स्वाभाविक रूप का चित्रण किया है, किन्तु हेमविजय प्रकृति-चित्रण की समवर्ती शैली के प्रभाव से न बच सका। फलतः, पार्श्वनाथ में प्रायः सर्वत्र प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन दृष्टिगत

होते हैं, जिनमें विविध अलंकारों के सहारे प्रकृति के सहज रूप का चित्रण किया जाता है। वैनाढ्यगिरि, रात्रि तथा दावानल को कवि ने इसी शैली में चित्रित किया है। इनमें दावाग्नि का शब्दचित्र अतीव सजीव तथा प्रभावशाली है।

सत्त्वानां करुणध्वानस्नेहसेकादिवाधिकाः ।

दावाग्निरग्न्यदा तत्र हेमाद्रावुदपद्यत ॥ २.१०४

ज्वालाभिरुच्छलन्तीभिर्विद्युद्भिर्विविधैः ।

धूमोऽपि व्यानशे धूम्रो धरोत्थ इव वार्षरः ॥ २.१०५

कारस्वरत्रटकारैः कन्दरान् रोदयन्निव ।

स्फूर्तिभिरुच्छलद्भिश्च तारकान् नोदयन्निव ॥ २.१०६

धूसरैर्धूमसन्दोहैरन्धयन्निव भूतलम् ।

प्रासीसरद् वने तत्र दावाग्निः कालरात्रिवत् ॥ २.१०७

शरत्काल का प्रस्तुत वर्णन भी संक्षिप्ततात्मक शैली का द्योतक है। शरत् के स्वाभाविक उपकरणों का यह चित्रण उत्प्रेक्षा का स्पर्श पाकर रोचकता से दीप्त हो गया है।

दौर्बल्यं वाहिनीवाहा भेजुर्यत्र वचोऽतिगम् ।

गाण्डूषीकृतपाथोधेरगस्तेरीक्षणदिष्व ॥ १.१८४

नीरं नीरजनीरन्ध्रं स्वच्छं नीराशयेष्वभूत् ।

अनन्तानन्तनेर्मल्यस्पर्धयेव समन्ततः ॥ १.१८५

विकाशः काशपुष्पाणां शोभते यत्र निर्भरम् ।

हंसानामीयुषां मुक्तोपदेव विहिता भुवा ॥ १.१८६

भाति यत्रातिलक्ष्मीकं मण्डलं मृगलक्ष्मणः ।

जगज्जेतुमिवोद्युक्तं चक्रं कन्दर्पचक्रिणः ॥ १.१८७

हेमविजय ने अपने काव्य में इसी शैली में पशुप्रकृति का भी एक चित्र अंकित किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में गीदड़ों की प्रकृति का चित्रण है, जो रात्रि में स्वर मिलाकर भोंकार छाड़ते हैं।

गोमायवो रटन्ति स्म पर्यटन्तः पदे पदे ।

रात्रौ रात्रिचराः सद्यः प्रसूताः पृथुका इव ॥ ५.२७५

हेमविजय का प्रकृति-प्रेम उन अप्रस्तुतविधानों में भी प्रकट हुआ है, जो उसने प्रकृति से ग्रहण किए हैं। ये उसकी तत्त्वग्राही दृष्टि तथा प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के ज्ञान के जीवन्त प्रतीक हैं^{२५}।

२५. कतिपय प्रकृति पर आधारित अप्रस्तुत अवलोकनीय हैं—

विनाम्भोदं यथा कृषिः (२.२१६), शीतार्त इव तरणिम् (३.१३२), धाराहत-

कदम्बद्रुपुष्पवत् समुदश्वसत् (४.३४०), मा विधेहि मुग्धा कष्टं वीजोप्तिमिव

सौन्दर्य-चित्रण

हेमविजय की सौन्दर्याभिरुचि प्रकृतिवर्णन के अतिरिक्त सौन्दर्य-चित्रण में भी व्यक्त हुई है। उसने अपने पात्रों के शारीरिक सौन्दर्य का जो चित्रण किया है, वह सही अर्थ में नखशिख है। सौन्दर्य-वर्णन की यह प्रणाली बहुत पहले बद्धमूल हो चुकी थी। परवर्ती कवियों ने उसमें उद्भावना करने की अपनी असमर्थता को वर्णन की वारीकियों से सन्तुलित करने का प्रयत्न किया है। हेमविजय ने पार्श्व के सौन्दर्य-वर्णन में उनके चरणों के नखों से लेकर उष्णीष तक का क्रमबद्ध चित्रण किया है। उनकी अंगुलियों के पर्वों तथा पर्वों की सौभाग्यसूचक यवराजि को भी कवि नहीं भुला सका। इस प्रसंग में उसके प्रायः सभी अप्रस्तुत पूर्वज्ञात अथवा विसे-पिटे हैं। प्रभावती का नखशिखवर्णन भी नवीनता से शून्य, रूढ़, है। कवि ने यहाँ सौन्दर्य-वर्णन का पूर्व क्रम विपर्यस्त कर दिया है। पार्श्वनाथ के विपरीत प्रभावती का चित्रण उसकी केशराशि से आरम्भ होकर जंघाओं के वर्णन से समाप्त होता है। हेमविजय का यह सौन्दर्य-वर्णन पुनरुक्ति से भरपूर है। इसीलिये इसमें पिष्टपेषण अधिक है। उसके केशों तथा स्तनों के चित्रण पर क्रमशः दो तथा चार पद्य व्यय किये गये हैं। इन दोनों वर्णनों में कवि ने जहाँ नवीन अप्रस्तुतों की अवतारणा की है, वहाँ उन अवयवों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में समर्थता तथा रोचकता आई है। उदाहरणार्थ, प्रभावती की भोंहिं ऐसी प्रतीत होती थीं मानो नेत्रों की दीर्घिका के तट पर लावण्यवत्लरी के दो अंकुर उग आये हों (४.४४१)। उसकी कोमल भुजाएँ युवकों के चंचल मन को बाँधने के दो पाश हैं (४.४५६)। गम्भीर नाभि बहुमूल्य निधि को छिपाने का काम द्वारा निमित्त बिल है (४.४६४)। परन्तु प्रभावती का सर्वोत्तम अलंकरण यौवन है, जो, कवि के शब्दों में, मानव-शरीर का सहज मण्डन है (४.४६६)।

तापसबाला पद्मा का सौन्दर्य-चित्रण अपनी संक्षिप्तता तथा उपमानों की सटीकता के कारण कवि के सौन्दर्यबोध को जिस उत्तमता से रेखांकित करता है, उतना अन्य कोई वर्णन नहीं। इसमें प्रयुक्त उपमान कवि की सूक्ष्मबुद्धि तथा पर्यवेक्षण-शक्ति के परिचायक हैं और उनसे इस सौन्दर्य-चित्र की स्वाभाविकता में वृद्धि हुई है। पद्मा की केशरेखा (मांग) ऐसी प्रतीत होती है मानों संसार को लूटने वाले दस्यु काम का राजपथ हो। उसकी सरल भुजाएँ रति के झूले की रस्सियों के समान

पावके (५.२५), न लेभे चैतसं स्वास्थ्यं घर्मोत्पत्त इवाध्वगः (५.२३०), मरौ वारिवद् दुर्लभम् (५.४१६), पिहिता चेतनाऽवध्राश्रेणोव शशिनः कला (६.५) विरक्तः सर्वथा स्त्रीषु पद्मिनीष्विव चन्द्रमाः (६.११), बन्धुं गवेण्यामास रज-सीव महामणिम् (६-१६४)।

हैं, पुष्ट नितम्ब स्वर्गंगा के तटों का स्मरण कराते हैं और उसकी सुडौल जंघाएँ काम के तरकश हैं।

सीमन्तः स्थपुटः स्पष्टो भात्यस्या मूर्ध्नि सुभ्रुवः ।
अध्वेय मुष्णतो विश्वं पंचेषोः परिमोषिणः ॥ ३.१०७
शोभते सुभ्रुवोऽमुष्याः सरलौ च भुजाबुधौ ।
नृहृद्मनकवन्धौ रतेः प्रेक्षापुणाविव ॥ ३.११४
नितम्बबिम्बे भातोऽस्या, नितम्बिभ्याः समुन्नते ।
शारदिकं घनं धौते कूले स्वर्गधुनेरिव ॥ ३.११६
उद्बुत्ते सरले जंघे विभातोऽस्या मृगीदृशः ।
न्यासीकृताविधात्मीयौ तूणीरौ मीनकेतुना ॥ ३.११७

हेमविजय ने सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले प्रसाधनों तथा आभूषणों का वर्णन भी अपने काव्य में किया है। कमठ से रमण करने को आतुर वसुन्धरा के शृंगार के वर्णन में इन दोनों का समन्वय है।

सांजनं क्षेपयामास नेत्रयोः स्फारतारयोः ।
ह्रद्गदगधपंचेषोरिवोज्जीवनभेषजम् ॥ १.१०७
चक्रे च चान्वनं चित्रं विचित्रं चित्रकृच्चिरम् ।
काममूपप्रकाशाय प्रदीपमिव सांलिके ॥ १.१०८
विधाय बन्धनं बाढं सूत्रयामास सांगिकाम् ।
जगज्जेतुमहानंगरान्नः पटकुटीमिव ॥ १.१११

चरित्रचित्रण

पार्श्वनाथचरित के कथानक में पूरे दस जन्मों का वृत्त व्याप्त है। मरुभूति का जीव नाना योनियों में किस प्रकार द्वेष का फल भोग कर पार्श्व के रूप में उत्पन्न होता है, इसकी चर्चा पहले की गयी है। काव्य की मुख्य कथा में केवल चार पात्र हैं—पार्श्वनाथ, प्रभावती, अश्वसेन तथा वामा। काव्य का नायक होने के नाते पार्श्व के चरित्र का यथेष्ट विकास स्वाभाविक था। अन्य पात्रों के चरित्र की कुछ स्थूल रेखाएँ ही प्रस्फुटित हो सकीं हैं। पार्श्वचरित की जन्म-जन्मान्तरों में व्याप्ति तथा उसके अंतिम महत्त्व की पतों में दब कर उनके चरित धूमिल हो गये हैं।

पार्श्वनाथ

काव्यनायक पार्श्वनाथ वाराणसी-नरेश अश्वसेन का पुत्र है। उसका चरित्र पौराणिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है, अतः काव्य में उसके पुराण-प्राथित्य चरित्र से कोई भिन्नता अथवा नवीनता नहीं है। वह आद्यन्त पौराणिक पार्श्व की प्रतिमूर्ति है। पार्श्वनाथ दिव्यता से ओतप्रोत, चतुर्विध धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर हैं। काव्य

में उनके अतिशयोक्ति का विस्तृत वर्णन है। उनके विहार से दुग्धिश, महामारी आदि उत्पन्न तत्काल शान्त हो जाते हैं। व्यक्तित्व की अलौकिकता के कारण उनका स्वर्गदामी देवों के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। देवगण सदैव उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं। जन्माभिषेक से लेकर अन्त्येष्टि तक उनके सभी आयोजन देवों द्वारा सम्पन्न किये गये हैं।

पार्श्वनाथ गुणवान् तथा स्वयान् युवक है। यौवन में उनका शारीरिक लावण्य और प्रस्फुटित हो जाता है। राजकुमारी प्रभावती उनके सौन्दर्य एवं गुणों का वर्णन सुनने मात्र से उनमें अनुरक्त हो जाती है। पार्श्वनाथ में वीरता तथा वीराग्र का अद्भुत समन्वय है। वह, पिता को रोक कर, स्वयं यवनराज के विरुद्ध प्रयाण करता है। कमलनाल उखाड़ने में ऐरावत का प्रवृत्त होना हास्यास्पद है। पार्श्वनाथ के प्रताप से भीत होकर यवनराज उनका वशवर्ती बन जाता है और अपनी दुश्चेष्टा के लिये क्षमायाचना करता है। यह उन्हीं के प्रताप का फल है कि यवननरेश कुशस्थल का घेरा उठा लेता है और प्रसेनजित् के ऊपर से विपत्ति के बादल छंट जाते हैं। प्रसेनजित् कृतज्ञतापूर्वक उससे प्रभावती का विवाह करने का प्रस्ताव करता है, किन्तु, पिता की अनुमति के बिना, उसे यह मान्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है वे विषयभोगों से सर्वथा विरक्त हैं। संयम उनके जीवन का सर्वस्व है। उनके लिये नारी सर्पिणी है, जो, चाहे अनुरक्त हो या विरक्त, पुष्प को डसकर उसका सबनाश कर देती है (४.६५३)। उसके पिता को भी यह विश्वास नहीं कि वह विवाह करना स्वीकार करेगा।

किं चैव पार्श्वकुमारो भोगेभ्य विपराङ्मुखः ।

आजन्मतो विरक्तात्मा न जाने किं करिष्यति ॥ ४.६४३

किन्तु जन्म से विरक्तात्मा होने पर भी वह पूर्व कर्मभोगों के क्षय के लिये पिता का आदेश शिरोधार्य करता है। प्रभावती उन्हें पति के रूप में पाकर कृतकृत्य हो जाती है। किन्तु वैवाहिक सुख उनकी शमवृत्ति को दमित नहीं कर सके। नेमिनाथ के उदात्त चरित से प्रेरणा पाकर उनका संवेग प्रबल हो जाता है और उन्हें संसार कूप के समान तथा विषय खारे जल के समान तीरस प्रतीत होने लगते हैं। फलतः वे राजसी वैभव का परित्याग कर संयमश्री का वरण करते हैं। उनकी सहिष्णुता अनन्त, वस्तुतः अकल्पनीय है ! पूर्व जन्मों में वे कुक्कुट अहि, सिंह, भील आदि के मर्यान्तिक उत्पात सम्यक्त्व से सहन करते हैं। वर्तमान भव में असुर मेघमाली के उपसर्ग भी उन्हें विचलित नहीं कर सके। इस साधना की परिणति कैवल्य की प्राप्ति में हुई जो उनके शिवत्व का द्वार है।

प्रभावती

कुशस्थल-नरेश प्रसेनजित् की पुत्री प्रभावती काव्य की नायिका है। वह नव-

यौवना सुन्दरी है, लावण्य-लक्ष्मी का केलिगृह । उसका नखशिखवर्णन उसके सौन्दर्य की अनवद्यता की स्वीकृति है ।

वह गुणज्ञा युवती है । किन्नर-मिथुन से राजकुमार पार्श्व के गुणों का वर्णन सुनकर वह उस पर मृग हो जाती है । अपने प्राणवल्लभ को पाने के लिये उसकी अधीरता इतनी बढ़ जाती है कि वह उसकी तीव्रता से चेतना-शून्य-सी बन जाती है । कलिग के यवन वासक ने उसे छन-बल से हस्तगत करने का पूर्ण प्रयत्न किया किंतु उसके लिये जगत् पार्श्वमय बन चुका है । पार्श्व के अस्तित्व के अतिरिक्त समूचा जगत् उसके लिए शून्य है । चिरप्रतीक्षा के पश्चात् जब पार्श्व उसका विवाह-प्रस्ताव स्वीकार करते हैं, उसका मन आह्लाद से झूम उठता है । यह उसके मनोरथ की चरम परिणति है । अन्यान्य व्यक्तियों के साथ वह भी अपने केवलज्ञानी पति से दीक्षा ग्रहण करती है ।

अश्वसेन

अश्वसेन काव्यनायक पार्श्वनाथ के पिता हैं । काव्य में उनके चरित्र का विकास नहीं हो सका है । केवल उनके पुत्र-वात्सल्य की एक मधुर झांकी देखने को मिलती है । पुत्र-प्राप्ति से वे ऐसे प्रफुल्लित हो आते हैं, जैसे जलधारा से कदम्ब । उस समय उनके लिये कुछ भी अदेय नहीं था । पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में उन्होंने राज्य के समस्त बन्धियों को मुक्त कर दिया और समूचे कर समाप्त कर दिये ।

वामा

वामा पार्श्वप्रभु की माता है । उसे परम्परागत चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं जिनके फलस्वरूप उसे विभूतिमान् पुत्र की प्राप्ति होती है । वह भी पति के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करती है ।

अन्य पात्र

पूर्व भयों के पात्रों में किरणवेग, वज्रनाभ, वज्रबाहु तथा स्वर्णबाहु उल्लेखनीय हैं । इनमें स्वर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् है । उसने षट्खण्डविजय से अपने वर्चस्व तथा चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा की है । किन्तु उन सबके चरित तंग घेरे में सीमित हैं और उनका एक शैली में पल्लवण किया गया है । इसीलिये उनके चरित्रों में नीरस एकरूपता है । वे पूर्ण तल्लीनता से वैभव का भोग करते हैं परन्तु किसी घटना अथवा मुनि के उपदेश से विरक्ति का उद्रेक होने पर उसे तृणवत् त्याग कर संयम की लक्ष्मी स्वीकार करते हैं ।

भाषा

पहिले कहा गया है, पार्श्वनाथचरित की रचना यशप्राप्ति अथवा विद्वत्ता-प्रदर्शन के लिये नहीं हुई है । हेमविजय के अनुसार काव्य का गौरव मनोरम पदशय्या

तथा रसवत्ता पर आधारित है।^१ काव्य में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह सच्चे अर्थ में सरल है। काव्य को लोकप्रिय बनाने की व्यग्रता के कारण कवि ने भाषा की शुद्धता की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया है। मूर्च्छितान्ये (१.२८८), न इति वक्तुम् (३.२८७), धार्यते मूर्द्धिन् (१.४१५), न्यषदंश्च (२.५६), राज्यभारं सुतस्यादात् (२.६४), उत्तारतुरंगात् स्म (३.८७), गन्ति स्म (४.२६६), महाराजः, हरुचेऽस्य आदि अपाणिनीय प्रयोग निश्चिन्तता से किए गए हैं। छन्दपूर्ति के लिये शब्दों के वास्तविक रूप को विकृत करने में भी कवि ने संकोच नहीं किया है। द्विप को द्वीप (१.३७७), द्वीप वा द्विप (१.२५), तथा षडर्का और गूढगर्भा को क्रमशः षडरकाः (१.३०) तथा गूढगर्भा (४.१०६) बना देना इसी छन्दीय अनुरोध का परिणाम है। इसे भाषाविज्ञान की शब्दावली में स्वरागम कहा जाएगा किन्तु ये विचित्र पद छन्द-प्रयोग में कवि का असमर्थता प्रकट करते हैं, यह निर्विवाद है। पार्श्वनाथचरित में उस दोष को भी बनी नहीं, जिसे काव्यशास्त्रियों ने 'अधिक' नाम दिया है। 'उत्संगसंगसंगतविग्रही' (१.११६), में 'संग' के, 'ध्यानं ध्यायन्तः' (४.२८०) में 'ध्यानम्' के तथा 'उपभूपमुपेयिवान्' (३.२२३) में 'उप' के प्रयोग के बिना भी अभीष्ट अर्थ का बोध होता है।

हेमविजय का उद्देश्य अपने आराध्य के गुणगान से निर्वाण का सुख प्राप्त करना है। उसके लिये भाषा का महत्त्व माध्यम के अतिरिक्त कुछ नहीं। किन्तु जन्म-जन्मान्तरों की नाना स्थितियों से सम्बन्ध होने के नाते पार्श्वनाथचरित की भाषा विविध भाषों की व्यंजना करने में समर्थ है और उसकी सद्गुता तथा सुबोधता पौराणिक वृत्त को नीरसता से बचाए रखती है। प्रभावती के पूर्वरा के मनोवैज्ञानिक चित्रण में जो भाषा प्रयुक्त की गयी है, उससे उसकी तल्लीनता, विवशता तथा विकलता साकार हो गयी है।

तल्लीनमानसा नित्यं ध्यानरूढेव योगिनी ।

अस्मार्षीत् पार्श्वकुमारं सावज्ञातसुखस्मृतिः ॥४.५१८

स्थिता जागरिता सुप्ता गच्छन्ती प्रलपत्यपि ।

सर्वं पार्श्वगुणप्रामोत्कीर्तनं कृतवत्यभूत् ॥४.५२०॥

यान्तु यान्तिवति जल्पन्ती प्राणान्नपि रिपूनिच ।

उद्वेगमत्यगाद् बाला मरुप्राप्तेव हस्तिनी ॥४.५२२

इन पंक्तियों में उस नवयौवना बाला के हृदय की टीस मुखर है। उसे सारा संसार पार्श्वमय दिखाई देता है। वह उसके रोम-रोम में रम चुका है। इस कोमल

२६. निर्वर्णवर्णिनी दध्यपदन्त्यासा रसाद्भूता ।

कुलांगनेव सार्वज्ञी गौरवं गौस्तनोदु नः ॥ पार्श्वनाथचरित, १.७

तथा मसृण पदावली में पाठक को द्रवित करने की पूर्ण क्षमता है। यहाँ भाषा का वह गुण विद्यमान है, जिसे साहित्यशास्त्र में 'माधुर्य' कहा गया है।

पार्श्वनाथचरित की भाषा में बहुधा एकरूपता विद्यमान है किन्तु वह सचीलेपन से रहित नहीं है। विन्ध्याचन के भद्रजातीय हाथी की उद्धत चेष्टाओं^{१७} तथा मरुभूति हाथी की केलियों^{१८} के चित्रण की भाषा इसका भव्य निदर्शन है।

हेमविजय की वर्णन-निपुणता प्रशंसनीय है। अपनी तत्त्वग्राही दृष्टि से वह वर्ण्य विषय की समग्रता को हृदयंगम करने तथा उसे वाणी देने में समर्थ है। रात्रि; सरोवर, हाथी के उत्पात आदि का वह समान सहजता से चित्रण कर सकता है। द्वितीय सर्ग में दावाग्नि का वर्णन, इस दृष्टि से, विशेष उल्लेखनीय है।

अलंकार-विधान

हेमविजय ने यद्यपि अपने काव्य की 'अलंकृतिघोरणी'^{१९} की साग्रह चर्चा की है किन्तु उसका आदर्श 'अलंकारों' का यथोचित निवेश^{२०} है। अपने आदर्श के अनुसार उसने काव्य को सायास अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है। यह उसका उद्देश्य भी नहीं है। काव्य-रचना के सहज अवयव बन कर जो अलंकार आए हैं, उन्हें ही काव्य में स्थान मिला है।

हेमविजय का खास अलंकार उपमा है। काव्य में इसी का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। हेमविजय की उपमाएँ बहुत अनूठी हैं। इसका कारण उसके अप्रस्तुतों की सजीवता तथा मार्मिकता है। पार्श्वनाथचरित के उपमान उसके लोकज्ञान तथा पैनी दृष्टि के परिचायक हैं। नरवर्मा राज्य-भार से इस प्रकार विरक्त हो गया जैसे रोगी कुपथ्य को छोड़ देता है।^{२१} चर्म जल में ऐसे फँस गया जैसे दुर्जन को बतायी गोपनीय बात।^{२२} प्रकृति पर आधारित उपमान कवि की प्रकृति के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। गर्भिणी वामा पीले मुख से ऐसी लगती थी जैसे फल से पकी बेल।^{२३} विष से ब्राह्मण की चेतना इस प्रकार लुप्त हो गयी जैसे बादल से चन्द्रकला।

प्रसर्पता विषेणाशु क्षणेनास्य द्विजन्मनः।

पिहिता चेतनादध्माभ्रेणैव शशिनः कला ॥६.५

२७. वही, १.१७०-१७२

२८. वही, १.१७३-१७६

२९. लसदलकृतिघोरणीघारिणी। वही, ६.४७०

३०. यथौचित्यमलंकारान् स्थापयामास वासवः। वही, ४.२६१

३१. वही, ४.४४४

३२. वही, ३.४२८

३३. वही, ४.१०१

उत्प्रेक्षा कवि का अन्य प्रिय अलंकार है। काव्य में उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का व्यापक प्रयोग किया गया है। कवि के अप्रस्तुत-विधा के कौशल के कारण उसकी उत्प्रेक्षाएँ भी बहुत रोचक तथा कल्पनापूर्ण हैं। वसुन्धरा के शृंगार-वर्णन की यह उत्प्रेक्षा, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके मुख पर अंकित पत्ररचना में कामशिशु की जन्मपत्रों की सम्भावना करना कवि-कल्पना की उर्वरता है।

व्यधात् सा वदने पत्रसतां काश्मोरकश्मलाम् ।

जन्मपत्रोभिवत्तंगशिशोः सम्प्राप्तजन्मनः ॥ १.११०

काव्य में मधुरता लाने के लिए हेमविजय ने अनुप्रास का उदार प्रयोग किया है। उसने जिस मनोरम पदविन्यास को काव्य के गौरव का आधार माना है, वह बहुधा अनुप्रास पर अवलम्बित है। पार्श्वनाथचरित के अनुप्रास का कालित्य निर्विवाद है यद्यपि कवि के आवेश के कारण उसमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति अथवा अनावश्यक पदों का प्रयोग दिखाई देता है। 'वामाधरमाधुर्यं धुर्वं मधुरवस्तुषु' (२.१५०) जैसे यमक-मिश्रित अनुप्रास की काव्य में कनी नहीं है।

पार्श्वनाथचरित में प्रयुक्त अन्य अलंकारों में पर्यायोक्त, रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति, यथासंख्य, विभावना, परिसंख्या, विरोध, काव्यलिङ्ग तथा असंगति उल्लेखनीय हैं। निम्नोक्त पद्य में विद्युत्गति की विज्ञा का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है, अतः यहाँ पर्यायोक्त है।

यत्प्रतापस्य सूरस्य सामान्यमभिदध्महे ।

यदुदगते रिपुस्त्रीदृक्करवैर्मुकुलायितम् ॥ २.१६

पोतना-नरेश अरविन्द के प्रताप-दर्शन के अन्तर्गत प्रस्तुत पद्य में विषम अलंकार के द्वारा उसके पराक्रम का निरूपण किया गया है। काले काजल से मिश्रित, शत्रु-नारियों के अध्रुप्रवाह से धुल कर उसका यश कलुषित नहीं हुआ, वह निर्मल ही बना रहा।

द्विट्स्त्रीणां साजनैर्बाष्पैर्धौतं येन निजं यशः ।

नैर्मल्यं तदपि प्राप्तं काप्यहो ! अस्य वैदुषी ॥ १.३५

उपमान चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेय पार्श्व के भाल के अधिष्ठान का निरूपण होने से निम्नांकित पंक्तियों में व्यतिरेक अलंकार है।

भालस्थलमशोभिष्ट विशालं त्रिजगत्पतेः ।

स्वसौष्ठवेनाभिगच्छष्टमोशशिनः श्रियम् ॥ ४.४२२

छन्दयोजना

पार्श्वनाथचरित में बहुत कम छन्दों का प्रयोग किया गया है। समूचे काव्य की रचना अनुष्टुप् छन्द में हुई है। केवल सर्गान्त के पद्य भिन्न छन्दों में हैं। मुख्य छन्द अनुष्टुप् के अतिरिक्त काव्य में वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, हुतविलम्बित तथा मालिनी, ये पाँच छन्द प्रयुक्त हुए हैं। सरयता की दृष्टि से

अनुष्टुप् सर्वोत्तम छन्द है। प्रस्तुत काव्य में इसका प्रयोग इसके प्रचारवासी उद्देश्य के अनुरूप है।

समाजचित्रण

पार्श्वनाथचरित को 'जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना' तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इसमें युगचेतना का भव्य चित्र समाहित है। हेमविजय ने अपनी संवेदनशीलता से तत्कालीन समाज के कतिपय रीति-रिवाजों, लोकाचारों, मान्यताओं, शिक्षा, स्वास्थ्य, अपराध एवं दण्ड, मनोरंजन के साधनों आदि का यथार्थ वर्णन किया है जिसमें भारतीय समाज-व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिये उपयोगी सामग्री निहित है।

पार्श्वनाथ के जन्मोत्सव के प्रसंग में, उस समय प्रचलित कुछ लोकरीतियों का निरूपण किया गया है। इनमें से कुछ अवश्य ही राजगृह अथवा धनाढ्य वर्ग तक सीमित थीं। शासकवर्ग पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में राज्य के समस्त बन्धियों की मुक्ति तथा करों की समाप्ति से आन्तरिक हर्ष की अभिव्यक्ति करता था। नगर के चौराहों में कुंकुम के मांगलिक थापे लगाये जाते थे, भोतियों से स्वस्तिकचिह्न पुरे जाते थे, पण्योगनाओं का अविराम नृत्य होता था। वे मण्डलाकार हल्सीसक नृत्य करती थीं और पुरुष रास गाते थे। वेणु, वीणा, मृदंग आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि से नगर रंगभूमि का रूप धारण कर लेता था^{३४}। जहाँ इन रीतियों का आयोजन केवल श्रीमन्तों द्वारा सम्भव था, कतिपय अन्य आचार समाज के सभी वर्गों में प्रचलित थे। शिशुजन्म के प्रथम दिन स्नात्रोत्सव किया जाता था, तत्पश्चात् स्थितिपतिका^{३५} तीसरे दिन शिशु को सूर्य तथा चन्द्रमा का दर्शन कराया जाता था। छठे दिन रात्रि-जागरण करने की प्रथा थी। सघवाएँ सज-धज कर रात भर मांगलिक गीत गाती थीं। ग्यारहवें दिन अशुचिकर्मोत्सव सम्पन्न होता था। बारहवें दिन शिशु का नामकरण संस्कार किया जाता था। इन आचारों की परम्परा में नामकरण सबसे महत्वपूर्ण आयोजन था। पिता उस समय उदारतापूर्वक दान देता था तथा सम्बन्धियों को भोज दिया जाता था। अश्वसेन ने बेशकीमती वस्त्रों के साथ रत्नों, मणियों तथा सोने का कोश लुटा दिया था^{३६}।

हेमविजय के समकालीन समाज में ज्ञाननिष्ठा का सर्वगत महत्त्व था। 'आचार्यदेवो भव' की वैदिक परम्परा के अनुसार गुरु देववत् पूज्य था। छात्र द्वारा उपाध्याय की देवता की भाँति तीन बार प्रदक्षिणा करना गुरु की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा बौद्धिक उपलब्धि की नम्र स्वीकृति है। गुरु के प्रति अवज्ञा-भाव अकल्पनीय

३४. वही, ४.३४४-३५६

३५. वही, ४.३६५-३७४

था। छात्र अपने अपराध अथवा प्रमाद के लिये सिर झुका कर तत्काल क्षमा-याचना करता था। गुरु ज्ञान का अक्षय स्रोत था और उसकी तुलना में छात्र मात्र 'अणु'। किन्तु गुरु उद्धत छात्रों को शारीरिक दण्ड देने में संकोच नहीं करता था। पुत्री की भाँति विद्या का सुपात्र को देना ही अर्थवान् माना जाता था। धनार्जन की तरह विद्यार्जन के लिये एकाग्र निष्ठा तथा अथक परिश्रम अनिवार्य था। अवस्वापनिका, प्रज्ञप्ति, तालोद्घाटनी, तथा व्योमगामिनी विद्याओं का उल्लेख काव्य में हुआ है। शुद्ध भाषा, पाण्डित्य की परिचायक मानी जाती थी^{१६}।

रोग के साथ शरीर का चिरस्तन सम्बन्ध है। कुशल वैद्य के बिना रोगी का उपचार अशक्य था। अतः रोगी चिकित्सक के सम्मुख अपनी गोपनीय व्याधि भी निस्संकोच प्रकट कर देता था। रोग का गही निदान किये बिना चिकित्सा निरर्थक थी। बीमारी में पथ्यापथ्य का विचार उपचार का आधार है। ज्वरपीड़ित व्यक्ति के लिये कुपथ्य से बचना नितान्त आवश्यक था अन्यथा दूध भी विष बन सकता था। विषवैद्य सर्पदंश का इलाज दिव्य मन्त्रों से भी करते थे^{१७}।

अपनी सन्तान का विवाह प्रायः माता-पिता ही निश्चित करते थे, यद्यपि अपवाद रूप में गान्धर्व विवाह का प्रचलन भी था। गार्हस्थ्य जीवन के सुखमय यापन के लिये कन्या को विदाई के समय उपयुक्त शिक्षा दी जाती थी। उसे दहेज के रूप में धनादि मिलता था।^{१८}

अपराधवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितनी समाज की संस्था। हेमविजय के समय में परदारागमन आदि धूणित अपराध करने वालों को अत्यन्त कठोर दण्ड देने का प्रावधान था। परदारागामी को गधे पर नगर के चौराहों में घुमा कर अपमानित किया जाता था। पुलिस उस पर डण्डे बरसाती तथा मुष्टिप्रहार करती थी। दण्डित व्यक्ति सिर झुका कर और हाथ से मुँह ढककर आँसू बहाता हुआ चलता था। नगर में घुमाकर उसे सूली चढ़ा दिया जाता था। कभी-कभी अपराधी को अपमानित करके छोड़ दिया जाता था। चोर पुलिस से बचने के लिये तपस्वी का भेष बना कर घूमते थे, परन्तु सतर्क कोतवाल की पैनी दृष्टि को वे धोखा नहीं दे सकते थे। कोतवाल उन्हें रस्सियों से बाँध कर कड़ी सजा देता और जेल में ठूस देता था। जेल में उन्हें दारुण यातनाएँ दी जाती थीं। सजा भोगने के बाद जब वे कारागृह से छुटते थे तो उनका चर्मावृत आस्थिपंजर मात्र शेष रह जाता था। राजधन की चोरी करने वालों

३६. वही, ४.२२५, १.१५०, १५७, ३.७२, ४.४७२, ६.३४, ३.२३६, ४.२३३, ६.२७१, ३.१६१.

३७. वही, २.१६२, १.१३७, २.१६१, ४.४४४, ५.३२०, ३.३७६

३८. वही, ४.६२०, ३.२३४, ४.६७०.

को तत्काल फांसी दी जाती थी ।^{११}

मद्यपान का व्यसन समाज में था। शराब से विवेक और सन्तुलन दोनों बिगड़ जाते हैं। कुछ व्यक्ति शराब पीकर पागल हो जाते थे। मूर्छित होना तो सामान्य बात थी ।^{१२} विषपान आत्महत्या का अच्छा उपाय था ।^{१३}

मनोरंजन के साधनों में संगीत, वाद्य, मल्लयुद्ध (कुश्ती) तथा मुष्टियुद्ध का उल्लेख आया है ।^{१४} मदारी अथवा बहुरूपिया नाना रूप बना कर और उनका संवरण करके दर्शकों का मनोविनोद करता था ।^{१५}

धर्म

धर्म-देशनाओं के अन्तर्गत तथा अन्यत्र भी काव्य में धर्म का सामान्य प्रतिपादन हुआ है। दान, शील, तप तथा भाव के भेद से धर्म चार प्रकार का है। पुण्यवान् ही इस चतुर्विध धर्म का अनुष्ठान कर सकते हैं। पुण्यहीन व्यक्ति के लिये वह कल्पतरु की भाँति दुष्प्राप्य है। दान साक्षात् कल्पवृक्ष है, जिसके पत्ते सार्वभौम भोग हैं, पुष्प स्वर्गीय सुख हैं तथा फल महानन्द हैं। शील जीवन का सर्वस्व है। लवणहीन भोजन की तरह उसके बिना रूप, लावण्य, तारुण्य आदि सब निरर्थक है। जो नवगुणियों से युक्त शील का परिशीलन करते हैं, मुक्तिसुन्दरी उनका वरण करती है। तप समस्त दोषों तथा कलुषों को दूर करने का अच्छा उपाय है। भावना (भाव), दान, शील तथा तप रूपी त्रिविध धर्म का मूलाधार है तथा भवसागर को पार करने का सम्बल है। धर्म-कर्म में भाव प्रमुख है। भावनाहीन धार्मिक क्रियाएँ करने से मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से कदापि मुक्त नहीं हो सकता ।^{१६}

दर्शन

आत्मा-विषयक शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नास्तिक कुबेर आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यता प्रस्तुत करता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा आकाश-कुसुम की भाँति कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य में चेतना पंच भूतों के संयोग से प्रादुर्भूत होती है और उनके नष्ट होने पर मेघमाला की तरह सहसा विलीन हो जाती है। देह से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं है। अतः शरीरान्त के पश्चात् उसके देहान्तर में संक्रान्त होने अथवा परलोक जाने का प्रश्न ही नहीं है। आत्मा पाप-पुण्य का न कर्ता

३६. वही, १.१२६-१३१, ६.२३३-२३४, २४२, २२७, २८६, १५४, १६५

४०. वही, ३.१२१, ४.५०४

४१. वही, ४.४६७

४२. वही, ४.२६५-२७०, २६८-२६९

४३. वही, ४.३१५

४४. वही, ५.३६८-४१७

है, न भोक्ता । आत्मा में अन्य गुणों का आरोप करना भी सम्भव नहीं ।^{११}

मुनि लोकचन्द्र के प्रत्युत्तर के रूप में चार्वाक मत का प्रत्याख्यान किया गया है । जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का बोध अध्यात्म ज्ञान से होता है । सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण है क्योंकि चैतन्य के बिना उनकी संवेदना संभव नहीं और चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण है । आत्मा का अस्तित्व निर्णीत होने पर उसका परलोकगमन भी सिद्ध है । आत्मा पाप-पुण्य की कर्ता भी है, और उनके फल की भोक्ता भी । वह स्वकृत कर्मों के अनुसार धर्माधर्म का फल भोगती है । आत्मा बन्धन और मोक्ष का भी कारण है । कपायों से पराभूत होकर वह बन्धन की ओर अग्रसर होती है, उनको पराभूत करके वह मोक्ष की दायक बनती है ।^{१२}

कर्म जैन दर्शन का मर्म है । जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म के फल से बचना कदापि सम्भव नहीं । वह स्वयं रोपा गया वृक्ष है, जिसका फल इच्छा-अनिच्छा से चखना ही पड़ता है । पार्श्वनाथचरित में इस तथ्य की बार-बार आवृत्ति की गयी है । प्राणियों के सुख-दुःख, मान-अपमान आदि का निमित्त कृष्ट और हो सकता है, उनका कारण पूर्वकृत कर्म है ।^{१३} कर्मों का जब पूर्ण विलय होता है तो आत्मा निर्वाण को प्राप्त होती है । यह पूर्ण नैष्कर्म्य, शैलेशी अवस्था में होता है ।^{१४} त्रिरत्न मिथ्यात्व के अन्धकार को विच्छिन्न करने के लिये दीपक के समान हैं तथा स्वर्ग और अपदर्ग का द्वार हैं । त्रिरत्न से वंचित व्यक्ति संसार में भटकता रहता है ।^{१५} इस विवेचन के अतिरिक्त काव्य में आर्त तथा शुक्ल ध्यान, मति आदि ज्ञान, उत्पाद, विगम और धौव्य की पदश्रयी, द्रव्य, गुण तथा पर्याय और वाचिच्चात्मक सूक्ष्म योग का भी उल्लेख आया है ।^{१६}

पार्श्वनाथचरित कवि की बालकृति है । इसका उद्देश्य विदग्ध जनों का मनोरंजन करना नहीं है । आराध्य के गुणगान का पुण्य प्राप्त करने के लिये लिखे गये इस काव्य में प्रौढोक्ति अधवा चमत्कृति का स्थान नहीं है । इसका सारा सौन्दर्य इसकी सहजता तथा सरलता में निहित है । इस दृष्टि से यह उपेक्षणीय नहीं है । युगजीवन का यथेष्ट चित्रण इसके गौरव की वृद्धि करता है ।

४५. वही, २.१७४-१८६

४६. वही, २.१८८-२१७

४७. वही, १.१४१, ३६६, २.२८४, ६.२५१

४८. वही, ६.४१८

४९. वही, १.६८-६९

५०. वही, १.३६३, ६.४२१, २.७३, ५.४४४, ४४७, ६.४२०

विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मेरा लेख—‘पार्श्वनाथचरित का दार्शनिक पक्ष’

महावीर स्मारिका, जयपुर, १९७५, पृ० २.५३-५६

२३. जम्बूस्वामिचरित : राजमल्ल

आलोच्य युग के पौराणिक महाकाव्यों में, अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के संवेगजनक जीवनवृत्त पर आधारित पण्डित राजमल्ल का जम्बूस्वामिचरित^१ महत्त्वपूर्ण रचना है। विषय-साम्य होने पर भी ब्रह्मजिनदास के जम्बूस्वामिचरित तथा प्रस्तुत काव्य में, कवित्व तथा कथावस्तु के संयोजन की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। राजमल्ल का कथानक अधिक शिक्षित तथा विषयान्तरों से आच्छादित है परन्तु ब्रह्मजिनदास की अपेक्षा उनकी काव्य-प्रतिभा निश्चय ही अधिक समर्थ तथा श्लाघनीय है।

जम्बूस्वामिचरित का महाकाव्य

पौराणिक शैली में रचित जम्बूस्वामिचरित में महाकाव्य के मान्य लक्षणों का तत्परता से अनुवर्तन किया गया है, यह कवि की उक्त काव्यविद्या के प्रति निष्ठा का प्रतीक है। राजमल्ल के काव्य का विषय, जम्बूस्वामी का चरित, जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में सुप्रसिद्ध तथा समादृत कथा है। इसका मुख्य आधार जैन पुराण हैं तथा राजमल्ल के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के कवियों ने इस कथा को पल्लवित करने में योग दिया है^२। जम्बूकुमार सही अर्थ में धीरप्रशान्त नायक है, जो समस्त भोगों से निर्लिप्त है तथा रूपसी नवोढाओं के समूचे प्रलोभनों को विषवत् त्याग कर संयमव्रत ग्रहण करता है। रसवत्ता जम्बूस्वामिचरित की उल्लेखनीय विशेषता है। वैराग्यप्रधान रचना होने के नाते इसमें शान्तरस की प्रधानता है। काव्य की रसात्मकता को तीव्र बनाने के लिये राजमल्ल ने इसमें शृंगार वीर, बीभत्स, रौद्र आदि प्रायः सभी रसों की इस प्रकार निष्पत्ति की है कि जम्बूस्वामिचरित वस्तुतः आस्वाद्य बन गया है। जम्बूस्वामिचरित की रचना धर्म के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। कवि के विचार में धर्म लौकिक सम्प्रदायों तथा पारलौकिक अभ्युदय का मूलाधार है^३।

१. सम्पादक : जगदीशचन्द्र शास्त्री, भाणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, संख्या ३५, बम्बई, सम्बत् १९९३.

२. पं. सागरदत्त, भुवनकोत्ति, पद्मसुन्दर, सकलहर्ष, मानसिंह (दिगम्बर), हेमचन्द्र, जयशेखर उल्लेखनीय हैं।

३. धर्माभूतं च पानीयं निविकारपदप्रदम्। जम्बूस्वामिचरित, ३.८६

धर्मात्सुखं कुलं शीलं धर्मात्सर्वा हि सम्पदः। वही, ४.१७२

इन स्वरूप-विधायक तत्त्वों के समान जम्बूस्वामिचरित में महाकाव्य की स्थूल रूढ़ियों का भी पालन किया गया है। इसका प्रारम्भ चार पद्यों के मंगलाचरण से हुआ है, जिनमें क्रमशः महावीर स्वामी, सिद्धों, मुनित्रय तथा वाग्देवी सरस्वती की वन्दना की गयी है। जम्बूस्वामिचरित की विशेषता यह है कि इसके अन्य बारह सर्ग भी क्रमशः दो-दो तीर्थंकरों की स्तुति से शुरु होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक सर्ग में मंगलाचरण के व्याज से काव्य में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति का समावेश हो गया है। इसमें महाकाव्योचित नगर, ऋतु, उद्यान, दूतप्रेषण, युद्ध आदि के वर्णन भी यथास्थान पाये जाते हैं जो इसके पौराणिक इतिवृत्त को रोचक बनाते हुए युग-जीवन के कतिपय पक्षों को बिम्बित करते हैं। कवि के लक्ष्य के अनुरूप इसकी भाषा सुबोध तथा प्रसादपूर्ण है। वह अशुद्धियों से भी मुक्त नहीं है। अन्य पौराणिक काव्यों की भाँति इसमें अधिकतर अनुष्टुप् का प्रयोग किया गया है। काव्य तथा सर्गों का नामकरण शास्त्र के अनुकूल है, यद्यपि कवि ने सर्ग के लिये 'पर्व' तथा 'अध्याय' का प्रयोग मुक्तता से किया है। इस प्रकार जम्बूस्वामिचरित में महाकाव्य के समूचे प्रमुख तत्त्व विद्यमान हैं। अतः इस 'पुराण' को महाकाव्य मानने में आपत्ति नहीं हो सकती।

जम्बूस्वामिचरित की पौराणिकता

जम्बूस्वामिचरित पौराणिक शैली का महाकाव्य है। इसमें वे सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जो पौराणिक काव्यों का स्वरूप निर्धारित करती हैं। जम्बू-स्वामिचरित का आरम्भ ठेठ पौराणिक रीति से हुआ है। प्रथम सर्ग के अतिरिक्त द्वितीय सर्ग में जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, अवसपिणी तथा उत्सपिणी काल, उनके छह अरों, प्रत्येक अर में मनुष्यों की आयु, आकार, प्रकृति, योग आदि के वर्णन पुराणों पर आधारित तथा उनके अनुगामी हैं। कालचक्र के इस प्रवाह तथा स्वरूप का जम्बूस्वामी के मूल इतिवृत्त से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु कवि ने, अपनी कृति को पौराणिक रूप देने की व्यग्रता के कारण इस पुराण-सुलभ सामग्री का काव्य में समा-हार किया है। इसकी रचना का प्रेरक बिन्दु कवि का धर्मोत्साह है। ममूचा काव्य निर्ग्रन्थ धर्म की महिमा का दीपस्तम्भ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने निरपवाद रूप से स्वधर्म के गौरव का प्रतिपादन किया है।

धर्मान्नास्ति परः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया ।

तस्मिन् श्रीजिनधर्मशर्मनिरतैर्धर्मैर् मतिर्धार्यताम् ॥ १२.१५०

जैन सिद्धान्तपद्धति कुमत्तों को खण्डित करने के लिए वज्रसार है। दीक्षा को भवबन्धन को उच्छिन्न तथा कर्म का उन्मूलन करने वाला अमोघ मन्त्र माना गया है। धर्म-प्रचार के इसी उद्देश्य से तृतीय सर्ग में गणधर गौतम की देशना की योजना

४. जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते । वही, १.१२७

की गयी है, जिसके अन्तर्गत केवलज्ञान के आधारभूत सात तत्त्वों का विशद निरूपण हुआ है। अन्तिम सर्ग में द्वादश अनुप्रेक्षाओं के विवेचन के द्वारा काव्य के दार्शनिक पक्ष को समृद्ध बनाने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। पौराणिक काव्य की एक अन्य मुख्य विशेषता— भवान्तरवर्णन भी जम्बूस्वामिचरित में पायी जाती है। काव्य-नायक जम्बूस्वामी, उसकी चार पत्नियों, मुनि सौधर्म, यक्ष तथा विद्युच्चर के पूर्व-भवों का काव्य में सविस्तार वर्णन किया गया है तथा वर्तमान जन्म के आचरण एवं प्रवृत्तियों को पूर्व जन्मों के संस्कारों और कर्मों का परिणाम माना गया है। वर्द्धमानपुरवासी ब्राह्मण आर्यवसु का पुत्र भवदेव, जन्मान्तर में, वीतशोका नगरी के चक्री महापद्म के पुत्र शिवकुमार के रूप में घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप ब्रह्मोत्तर में विद्युन्माली देव बनता है और, कालान्तर में, स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूस्वामी के रूप में जन्म लेता है। मुनि सौधर्म, पूर्व जन्म का, जम्बूस्वामी का अग्रज भावदेव है। चम्पापुरी के अग्रणी धनवान् सूरसेन की चार पत्नियाँ धर्माचरण के कारण ब्रह्मोत्तर में विद्युन्माली की पत्नियाँ बनीं। वर्द्धमान जन्म में वे ही जम्बूस्वामी की पत्नियाँ हैं। यक्ष पूर्ववर्ती जन्म में अर्हद्दास का अनुज जिनदास था और विद्युच्चर हस्तिनापुर के राजा संवर का पुत्र। जम्बूस्वामिचरित में प्रतिपाद्य को रोचक तथा ग्राह्य बनाने के लिये कथा के भीतर अवान्तर कथाओं का समावेश करने की प्रवृत्ति का कराल रूप दिखाई देता है। काव्य का एक भाग उन कथाओं ने हड़प लिया है, जिनके द्वारा जम्बूकुमार की नवविवाहित पत्नियाँ तथा विद्युच्चर उसे वैराग्य से विरत करने का प्रयत्न करते हैं। काव्य में अनेक अतिप्राकृतिक घटनाओं का समाहार किया गया है। स्वर्ग के देवता तथा अप्सराएँ वर्द्धमान जिन के समवसरण की रचना करते हैं। मुनि सागरचन्द्र को देखकर शिवकुमार को जातिस्मरण हो जाता है। पौराणिक कृति की भाँति जम्बूस्वामिचरित की रचना का उद्देश्य पुण्यार्जन करना है। उसी प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें स्वधर्म का गौरवगान तथा परमधर्म पर आक्षेप किया गया है। काव्य में, जहाँ एक ओर जैन धर्म की आराधना करने की प्रेरित किया गया है^५ वहाँ अद्वैत तथा बौद्धधर्म की प्रकारान्तर से खिली उड़ायी गयी है^६। पौराणिक प्रवृत्ति के अनुरूप जम्बूस्वामिचरित की समाप्ति ग्रन्थ-माहात्म्य से होती है^७। इसकी भाषा में पुराणसुलभ खुरदरापन तथा व्याकरणविरुद्ध प्रयोगों की भरमार है। स्तोत्रों का समावेश भी यथास्थान किया गया है। इसकी पौराणिकता के अनुसार जम्बूस्वामिचरित का पर्यवसान शान्तरस में हुआ है। काव्य के सभी पात्र, अन्ततोगत्वा, तापसव्रत

५. जम्बूस्वामिकथाव्याजावात्मानं तु पुनाम्यहम्। वही, १.१४४

६. जैनो धर्मः क्षणं यावद्विस्मयो न महात्मभिः। वही, २.१२४

७. वही, २. ११२-११५

८. वही, १३. १७०-१७७

ग्रहण करते हैं। विद्युच्चर जैसे नीच चोर को भी मंथम द्वारा सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति होती है। यह जम्बूस्वामिचरित की पौराणिकता का प्रबल प्रमाण है कि इसके अनुशीलन के पश्चात् पाठक बरबस भंगुर भोगों से उद्विग्न होकर जीवन के श्रेय की ओर प्रेरित होता है। इस दृष्टि से यह काव्य 'रोमांचजननक्षम' है।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

आलोच्य युग के अधिकांश महाकाव्यों के विपरीत जम्बूस्वामिचरित दिगम्बर कवि की रचना है। दिगम्बर-परम्परा में राजमल्ल अथवा राजमल्ल नाम के कई विद्वान् हुए हैं। प्रस्तुत जम्बूस्वामिचरित के रचयिता राजमल्ल कवि, जैनागम के महान् वेत्ता तथा प्रौढ पण्डित थे। उनकी विभिन्न कृतियों से स्पष्ट है कि पण्डित राजमल्ल केवल आचारशास्त्र के ही समर्ज नहीं थे, अध्यात्म, काव्य और न्याय में भी उन्हें विशेष दक्षता प्राप्त थी।

राजमल्ल ने अपने ग्रन्थों में आत्मपरिचय नहीं दिया है। अतः उनके कुल, गुरु-परम्परा आदि के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। कवि की लाटीसंहिता की प्रशस्ति से संकेत मिलता है कि वे हेमचन्द्र के आम्नाय के थे। पण्डित जुगल किशोर के विचार में ये हेमचन्द्र, माथुरगच्छ तथा पुष्करगणान्दयी कुमारसेन^{१०} के पट्टशिष्य तथा पद्मनन्दिभट्टारक के पट्टगुरु, काष्ठासंधी भट्टारक हेमचन्द्र प्रतीत होते हैं, जिनकी कवि ने लाटीसंहिता के प्रथम सर्ग में बहुत प्रशंसा की है। इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि राजमल्ल काष्ठासंधी विद्वान् थे। उन्होंने अपने को हेमचन्द्र का शिष्य अथवा प्रशिष्य न कहकर आम्नायी कहा है। इसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि पण्डित राजमल्ल मुनि नहीं थे। सम्भवतः वे गृहस्थाचार्य थे अथवा ब्रह्मचारी आदि पद पर प्रतिष्ठित थे^{११}।

जम्बूस्वामिचरित के अतिरिक्त राजमल्ल की तीन अन्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। लाटीसंहिता आचारशास्त्र का ग्रन्थ है। पंचाध्यायी और अध्यात्मकालमार्तण्ड का प्रतिपाद्य अध्यात्म है। प्रान्त-प्रशस्ति के गद्यात्मक भाग^{१२} के अनुसार जम्बूस्वामिचरित की रचना सम्वत् १६३२ (सन् १५७५) की चैत्र कृष्ण अष्टमी को, मुगल सम्राट् अकबर के राज्यकाल में, सम्पूर्ण हुई थी। अर्थात् यह लाटी-संहिता (सं०

६. जम्बूस्वामिचरित्राद्यं रोमांचजननक्षमम्। बहो, १३.१७५

१०. जम्बूस्वामिचरित्र के प्रथम सर्ग में भी भट्टारक कुमारसेन की पूर्वपरम्परा का संक्षिप्त वर्णन है (१. ६०-६३)

११. लाटी-संहिता की भूमिका, पृ० २३

१२. अथ संवत्सरेर्जस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसम्वत् १६३२ वर्षे चैत्र सुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहिजलादीनअकबरसाहिप्रवर्तमाने श्रीमत्काष्ठासंधे माथुरगच्छे पुष्करगणे.....। प्रशस्ति।

१६४१) से ली वर्ण पूर्व लिखा जा चुका था। जम्बूस्वामिचरित सम्भवतः कवि की प्रथम रचना है। प्रतीत होता है कि विचारों की प्रौढ़ता के साथ-साथ राजमल्ल की रूचि अध्यात्म आदि गम्भीर विषयों की ओर बढ़ती गयी। काव्य में यद्यपि इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है तथापि प्रथम सर्ग में आगरा का जो तत्परतापूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है, उसके आधार पर यह कल्पना करना असंगत न होगा कि जम्बूस्वामिचरित का निर्माण आगरा में ही हुआ था। काव्य का प्रणयन, अलीगढ़ के अन्तर्गत भटाना नाम के वासी गर्गगोत्रीय शाह टोडर की प्रार्थना पर किया गया था। मधुरा के मिश्रक्षेत्र की यात्रा के समय जम्बूस्वामी, विद्युच्चर आदि के स्तूप देखकर शाह टोडर के मन में अन्तिम केवली का चरित सुनने की इच्छा उदित हुई। प्रस्तुत काव्य के द्वारा राजमल्ल कवि ने उस इच्छा की पूर्ति की^{१३}। इसीलिये प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में कवि ने टोडर की मंगलकामना की है तथा प्रथम सर्ग में उसके वंश का विस्तृत वर्णन किया है^{१४}।

कथानक

जम्बूस्वामिचरित तेरह सर्गों का महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु के चार निश्चित भाग हैं। प्रथम सर्ग काव्य की भूमिका निमित्त करता है। इसमें मुगल सम्राट् अकबर की वंशपरम्परा, उसके शासन एवं शौर्य तथा शाह टोडर के कुल का वर्णन है। कवि ने इसे ठीक ही कथामुख की संज्ञा दी है। अगले साढ़े तीन सर्गों (२-४ तथा पाँचवें का पूर्वार्ध) को भूलकथा की पूर्वपीठिका कहना उपयुक्त होगा। इनमें वीरप्रभु के समवसरण की रचना तथा समधराज श्रेणिक की जिज्ञासा के उत्तर में गौतम द्वारा विद्युन्माली देव, सौधर्म मुनि, यक्ष, विद्युच्चर आदि के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। वर्द्धमानपुर के ब्राह्मण आर्यवसु के पुत्र भवदेव का जीव, तीन योनियों में घूमने के पश्चात्, राजगृह के व्यापारी अर्हद्दास की पत्नी जिमती के गर्भ में, जम्बूस्वामी के रूप में, अवतीर्ण होता है। काव्य का कथानक जम्बूस्वामी का चरित—पंचम सर्ग के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। अन्यान्य वस्तुओं के साथ जिमती को स्वप्न में जम्बूफल दिखाई देता है जिसके परिणामस्वरूप उसके तयजात पुत्र का नाम जम्बू रखा जाता है। जन्मान्तर के अभ्यास के कारण उसने बाल्यावस्था में ही भगवत् विद्याओं तथा कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली। छठे सर्ग में जम्बूकुमार के जीवन, वसन्तकेलि तथा उसके द्वारा श्रेणिक के उद्धत हाथी विषम-संग्रामसूर को दमित करने का वर्णन है। सातवें सर्ग में केरलनरेश मृगांक की पुत्री को हृथियाने के लिये उसे आर्तकित करनेवाले विद्याधर रत्नचूल को, घनधोर युद्ध में, परास्त करके वह अपने शौर्य की प्रतिष्ठा करता है। आठवें सर्ग में विद्याधर

१३. जम्बूस्वामिचरित, १.७६-१३३

१४. वही, १.६४-७८

गगनगति की इस गर्वोक्ति के कारण कि मृगांक ने भी जम्बूकुमार तथा रत्नचूल के युद्ध में पौरुष का प्रदर्शन किया था, रत्नचूल क्रोध से बौखला उठता है। मृगांक को जीतने में असफल होकर वह उसे बांधकर, विजय के गर्व से, प्रस्थान करने ही वाला था कि कुमार उसे ललकारता है। फलतः दोनों में द्वन्द्वयुद्ध ठन जाता है। जम्बूकुमार शक्तिशाली रत्नचूल को पराजित करके मृगांक को बन्धन से मुक्त करता है। इस साहसिक विजय के कारण कुमार का अभूतपूर्व स्वागत किया जाता है तथा श्रेणिक को केरलराज की पुत्री विशालवती प्राप्त होती है। नवें सर्ग में, जम्बू में, मुनि सौधर्म की देशना से, निर्वेद का उदय होता है, किन्तु माता-पिता के आग्रह से वह विवाह के एक दिन बाद दीक्षा लेना स्वीकार कर लेता है। नगर की चार रूपवती कन्याओं के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। शयनगृह में वह वीतराग, तरुणियों के बीच 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' अलिप्त रहता है। दसवें तथा ग्यारहवें सर्ग में क्रमशः नवोढा वधुएँ और विद्युच्चर चोर, उपलब्ध सुख-वैभव को छोड़कर सन्दिग्ध वैराग्य-सम्पदा प्राप्त करने के उसके प्रयास का, आठ कथाओं के द्वारा, मजाक उड़ाते हैं तथा उसे विषयों में आसक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वह उनके प्रत्येक तर्क का दृढ़तापूर्वक खण्डन करता है। बारहवें सर्ग में गृहपाश से छूटकर जम्बूस्वामी तापसव्रत ग्रहण करते हैं और धीरे तपश्चर्या के उपरान्त शिवत्व प्राप्त करते हैं। अर्हद्दास और जिनमती ने भी सत्तेखना से देवत्व प्राप्त किया। यहीं जम्बूस्वामी की कथा समाप्त हो जाती है। तेरहवें सर्ग में बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण तथा विद्युच्चर की सिद्धिप्राप्ति का वर्णन है। यह कथानक की उत्तरपीठिका है।

जम्बूस्वामिचरित के कथानक के सूत्र अत्यन्त शिथिल हैं। प्रथम चार सर्गों का मूल कथावस्तु के साथ अत्यन्त सूक्ष्म, लगभग अदृश्य, सम्बन्ध है। इन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। कथानक के पूर्वापर का मूल तक सविस्तार वर्णन महाकाव्य की अन्विति को भंग करता है। काव्य के मूल भाग को भी प्रबन्धत्व की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता। कथानक के बीच वर्णनों और अवान्तर कथाओं के ऐसे अवरोध खड़े कर दिये गये हैं कि कहीं-कहीं तो वह सौ-सौ पद्यों तक एक पद्य भी आगे नहीं बढ़ता। इस दृष्टि से दसवाँ तथा ग्यारहवाँ सर्ग कथा-प्रवाह के मार्ग में विशाल सेतुबन्ध हैं। अन्यत्र भी कवि अधिकतर विषयान्तरों के मरुस्थल में भटकता रहा है। काव्य में अनुपातहीन अवान्तर कथाएँ कथानक को किस प्रकार नष्ट कर सकती हैं, जम्बूस्वामिचरित इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। और नायक की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् काव्य को एक सर्ग तक और घसीटना सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों की अवहेलना है। यह सच है कि जैन साहित्य में जम्बूस्वामी की कथा इसी रूप में प्रचलित है किन्तु 'कार्य' की पूर्ति से आगे बढ़ना महाकाव्यकार के लिये कदापि वांछनीय नहीं है।

जम्बूस्वामिचरित का आधारस्रोत

अन्तिम केवली के रूप में जम्बूस्वामी का रागरहित उदात्त चरित, जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में, सम्मानित तथा प्रचलित है। दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी होने के नाते पण्डित राजमल्ल ने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण को (७६.१-२१३) अपनी रचना का आधार बनाया है। राजमल्ल ने जिस प्रकार अपने काव्य में जम्बूस्वामी का इतिवृत्त निरूपित किया है, उसमें उत्तरपुराण में वर्णित जम्बूचरित से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। जम्बूस्वामिचरित के रचयिता ने उत्तरपुराण की रूपरेखा में अपनी प्रतिभा की तूलिका से रंग भरकर तेरह सर्गों की विशाल चित्रवीथी निर्मित की है।

काव्य के मुख्य पात्रों के पूर्वजन्मों के वर्णन का संकेत राजमल्ल को उत्तरपुराण से मिला है। गुणभद्र के अनुसार मुनि सौधर्म तथा जम्बूस्वामी, प्रथम भव में, वृद्ध ग्राम के वैश्य राष्ट्रकूट (पत्नी रेवती) के पुत्र भगदत्त तथा भवदेव थे (७६.१५३)। जम्बूस्वामिचरित में भवदेव के अग्रज का नाम भावदेव है और वे वर्द्धमानपुर के ब्राह्मण आर्यवसु (पत्नी सोमशर्मा) के पुत्र थे।^{१५} दोनों ग्रन्थों में अग्रज पहले प्रव्रज्या ग्रहण करता है। अपने अनुज भवदेव को संयम की ओर प्रेरित करने के लिये जब वह नगर में आया, उस समय भवदेव, दोनों काव्यों के अनुसार, विवाहोत्सव में लीन था। राजमल्ल ने उसकी पत्नी का नाम नागवसू दिया है जबकि उत्तरपुराण में वह नागश्री नाम से ख्यात है तथा नागवसु उसकी माता है (७६.१५६)। रूपसी नवोद्गा के अनुराग के कारण भवदेव द्रव्य-संयमी बनकर विषयों को बराबर मन से टटोलता रहता है। उत्तरपुराण में उसे सुव्रता गणिनी के उपालम्भ से शान्तभाव की प्राप्ति होती (७६.१६७-६०)। राजमल्ल के अनुसार नागवसू की जराक्रान्त काया को देखकर उसके हृदय में विषयों की भंगुरता तथा मुखों की नीरसता का उद्रेक होता है^{१६} (३.२२०-२२८)। उत्तरपुराण की तरह जम्बूस्वामिचरित में भी शिवकुमार (पूर्वजन्म का भवदेव) मुनि सागरदत्त (भावदेव) को देखकर आत्मीयता का अनुभव करता है तथा उसे जातिस्मरण हो जाता है^{१७}। गुणभद्र के विवरण में पोदनपुर के १५. हेमचन्द्र और जयशेखर दोनों के अनुसार बड़े भाई का नाम भवदत्त था।

वे सुग्राम नगर के वासी थे तथा उनके माता-पिता का नाम क्रमशः रेवती तथा आर्यवान था।

—जम्बूस्वामिचरित, पृ० १२, पा० टि० १

१६. हेमचन्द्र के अनुसार जिस समय भवदत्त (भावदेव) अपने अनुज को बोध देने के लिए आये, उस समय वहाँ के वातावरण को देखकर स्वयं भवदत्त का महाव्रत जर्जरित हो गया। साथी मुनि उनका उपहास करते हैं। वे पुनः भवदेव को गुरु के पास ले जाकर दीक्षित करते हैं। वही, पृ० १३, पा० टि० १

१७. उत्तरपुराण, ७६.१५१, जम्बूस्वामिचरित, ४.१०६

स्वामी विद्युद्राज का पुत्र विद्युच्चर चोर, पांच सौ चोरों के साथ अहंदास के घर में चोरी करने के लिये आता है (७६.५३-५६)। जम्बूस्वामिचरित में, पूर्व जन्म में, उसका पिता संवर हस्तिनापुर का शासक था। राजमल्ल के अनुसार यक्ष पूर्वजन्म में राजगृह के श्रेष्ठी धनदत्त का पुत्र जिनदत्त था। उत्तरपुराण में उसे अहंदास माना गया है,^{१९} जो जम्बूस्वामिचरित में जिनदत्त का अग्रज है।

विद्युच्चर, माता जिनमती की प्रार्थना से, जम्बूकुमार को प्रस्तावित प्रव्रज्या से विमुख करने के लिये चार कथाएँ सुनाता है जिनका संचित सार यह है कि काल्पनिक सुख की प्राप्ति की आशा में वर्तमान सुख को त्यागना विवेकहीनता है। कुमार प्रत्येक कथा का एक-एक संवेगपोषक कथा से प्रतिवाद करता है। उत्तरपुराण तथा जम्बूस्वामिचरित की इन अवान्तर कथाओं के स्वरूप तथा क्रम में पूर्ण साम्य न होते हुए भी, भाव की दृष्टि से, उनमें अधिक अन्तर नहीं है। विद्युच्चर की कहानियाँ उपलब्ध सुख को सर्वस्व मानकर आसक्ति का पोषण करती हैं। जम्बू की कथाओं में वर्तमान प्रेय की अपेक्षा भावी श्रेय को अधिक सार्थक मानकर आसक्ति को उभारा गया है। कथाओं के क्रम की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि उत्तरपुराण में विद्युच्चर की द्वितीय कथा को राजमल्ल ने उसके तृतीय दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया है।^{२०} अदम्य लालच के कारण मांसपिण्ड छोड़कर मछली पकड़ने के प्रयास में मरने वाले शृगाल की, उत्तरपुराण में, विद्युच्चर द्वारा प्रस्तुत तीसरी कहानी का जम्बूस्वामिचरित में, विद्युच्चर की दृढ़ गृहस्थ वणिक् तथा उसकी पुंश्चली पत्नी की द्वितीय कथा में अन्तर्भाव किया गया है। राजमल्ल के काव्य में विद्युच्चर से पहले कुमार की चार नवोदा पत्नियाँ भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये चार दृष्टान्तों का निरूपण करती हैं और जम्बूकुमार उसी प्रकार उनका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता है। उत्तरपुराण में इनका अभाव है। किन्तु उत्तरपुराण में, जम्बूकुमार अपने पक्ष के समर्थन में कूप में लटके पुरुष तथा मधुस्राव की प्रख्यात कथा कहता है^{२१} जिसे सुनकर उसके माता-पिता, पत्नियाँ और चौर सब सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाते हैं। यह कहानी, जम्बू की तृतीय परनी विनयश्री द्वारा बही गयी दरिद्रसंख की कथा के प्रतीकार में प्रस्तुत कुमार के दृष्टान्त से सारतः भिन्न नहीं है।^{२२}

१८. उत्तरपुराण, ७६.१२४-१२६

१९. शृगाल और धनुष की यह कथा हितोपदेश में भी आती है।

२०. उत्तरपुराण, ७६.१०२-१०७

२१. मधुबिन्दु वाले दृष्टान्त की कथा महाभारत (स्त्रीपर्व, ५), बौद्ध अवदानों और ईसाई साहित्य में भी पायी जाती है। इसलिये यह संसार के सर्वमान्य कथा-साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

उत्तरपुराण के अनुसार जम्बूस्वामी को बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् केवलज्ञान और उसके बारह वर्ष बाद निर्वाण की प्राप्ति हुई थी (७६.११८-११९) । राजमल्ल ने यह अवधि अठारह वर्ष दी है । सौधर्म मुनि के त्रिपुलाचल से मोक्षगमन के अर्द्धयाम के व्यवधान से जम्बूस्वामी में कैवल्य की स्फुरणा हुई थी । अठारह वर्ष तक निरावरण ज्ञान से धर्मदेखना करने के पश्चात् उन्हें विपुलाचल के उसी स्थान पर निर्वाण प्राप्त हुआ, जहाँ उनके गुरु निर्वाण को गये थे (१२.१०९-१२१) ।

रसचित्रण

जम्बूस्वामिचरित की रचना सहृदय की रसचर्चणा कराने के लिये नहीं हुई है । यह, भावना तथा उद्देश्य दोनों दृष्टियों से, शुद्धतः प्रचारवादी कृति है, जिसका लक्ष्य अन्तिम केवली के सर्वत्यागी तथा संयमी चरित के द्वारा त्रिपुलाचल जनों की, भोगों की नश्वरता और नीरसता का भान करा कर संयम की ओर उन्मुख करना है । परन्तु राजमल्ल ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति इस कौशल से की है कि उसका काव्य तीव्र रसात्मकता में सिक्त हो गया है । उसने स्वयं भी काव्य-रसों का साभिप्राय उल्लेख किया है (तद्व्या रसाः-१.२४) । और जम्बूस्वामिचरित में प्रायः सभी रसों के यथेष्ट पल्लवन के द्वारा अपने सिद्धांत की व्यावहारिक व्याख्या की है । पौराणिक महाकाव्य के लेखक के लिये यह प्रशंसनीय उपपद्धि है ।

वैराग्य की प्रधानता के कारण जम्बूस्वामिचरित में, अंगी रस के रूप में, शान्तरस का परिधान हुआ है । सागरचन्द्र की संवेगोत्पत्ति, वैराग्यविरोधी तर्कों को खंडित करने वाली शिवकुमार की युक्तियों, जम्बूकुमार की विवाहोपरान्त मनोदशा तथा अनित्यानुप्रेक्षा के प्रतिपादन आदि में शान्तरस की उद्दाम धारा प्रवाहित है । काव्य में शान्तरस वा चित्रण इस दृढ़ता तथा गम्भीरता से किया गया है कि इसके परिशीलन के पश्चात् पाठक के मन में जीवन तथा जगत् की अनित्यता, विषयों की छलना आदि भावनाओं का अनायास उद्रेक हो जाता है और वह आपातरम्य भोगों से विमुख होकर, संयम एवं त्याग में जीवन की सार्थकता खोजने को प्रेरित होता है । यह कवि के शान्तरस-चित्रण की दक्षता का प्रबल प्रमाण है । इस दृष्टि से अनित्यानुप्रेक्षा का प्रस्तुत विश्लेषण उल्लेखनीय है ।

जीवितं चपलं लोके जलबुद्बुदसन्निभम् ।

रोगैः समाश्रिता भोगा जराक्रान्तं हि योवनम् ॥ १३.१३

सौन्दर्यं च क्षणविध्वंसि सम्पदो विपदस्तकाः ।

मधुबिन्दूपमं पुंसां सौख्यं दुःखपरम्परा ॥ १३.१४

इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यचलान्वधोपमानि च ।

इन्द्रजाल समानानि राजसौधधानानि च ॥ १३.१५

इत्यधुवं जगत्सर्वं नित्यश्चात्मा सनातनः ।

अतः सद्भिन्नं कर्तव्यं ममत्वं वपुरादिषु ॥ १३.१७

अंगीरस के अतिरिक्त जम्बूस्वामिचरित में शृंगार, कण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स तथा वात्सल्य का भी यथास्थान, आनुषंगिक रूप में, व्यापक चित्रण हुआ है। वैराग्य-प्रधान काव्य में अंगी रस के विरोधी शृंगार के उभय पक्षों का सोत्साह निरूपण आपाततः अटपटा लग सकता है, किन्तु यह महाकाव्य-परम्परा में रसरज के गौरव तथा कवि द्वारा उसकी स्वीकृति का प्रतीक है। शान्त के प्रवाह में शृंगार की माधुरी को निमज्जित न करना राजमल्ल की साहित्यिक ईमानदारी है। वीतशोका नगरी के मदमाते युवकों की क्रीड़ाओं, शिवकुमार के रतिवर्णन तथा जम्बूकुमार की नवोढा पत्नियों की कामपूर्ण चेष्टाओं में सम्भोग-शृंगार का हृदय-स्पर्शी चित्रण हुआ है। शिवकुमार की केलियों के इस प्रसंग में शृंगार की छटा दर्शनीय है।

वनोपवनवीथीषु सरितां पुलिनेषु च ।

सरःसु जलकीडार्यै कान्ताभिरगमन्मुदम् ॥

आलिंगनं ददौ स्त्रीणां कदाचिद् रतकर्मणि ।

तासां स्मितकटाक्षैश्च रंजमानो मुहुर्महुः ।

कदाचिन्मानिनीं मुग्धां कोपनां प्रणयात्मिकाम् ।

नयति स्म यथोपायमनुनयं नयात्मकः ॥४.७०-७२

द्रव्यसंयमी भवदेव की नवयौवना पत्नी को पुनः पाने की अधीरता में विरह की व्यथा है। भवदेव अग्रज के गौरव के कारण संयम तो ग्रहण कर लेता है परन्तु नव-विवाहिता प्रिया की याद उसके हृदय को निरन्तर मथती रहती है। विरही तापस के कामाकुल उद्गार विप्रलम्भ शृंगार की सृष्टि करते हैं।

पर्यटन्पथि पाथः संश्रितति स्म स सस्मरः ।

अद्य भुंजामि कान्तां तां सालंकारां सकौतुकाम् ॥ ३.१६२

तारुण्यजलधेर्वेलं कप्त्रां कामदुघामिव ।

मत्स्थीमिव विना तोयं मामृते बिरहानुराम् ॥ ३.१६३

परन्तु शृंगार पवित्रतावादी जैन कवि के मन को अभिभूत नहीं कर सका। उपर्युक्त भावोच्छ्वास के पश्चात् भी उसके लिए नारी मल-मूत्र का घृणित पात्र, सर्व से अधिक भयंकर तथा पुरुष का अभेद्य बन्धनजाल है।^{११}

राजमल्ल की तूलिका ने वीररस के भी ओजस्वी चित्र अंकित किये हैं। शृंगार की भांति वीररस भी आधिकारिक कथा का अवयव बन कर आया है। पौराणिक नायक के पराक्रम की प्रतिष्ठा के लिए महाकाव्य में उसके युद्धों का वर्णन

एक रुद्धि बन गया था। राजमल्ल का युद्धवर्णन तत्कालीन काव्य-प्रणाली से प्रभावित है। माघ तथा उनके अनुवर्ती अधिकतर कवियों की भाँति राजमल्ल ने युवा जम्बूकुमार और विद्याधर रत्नचूल के युद्ध के वर्णन में अधिकतर वीररसात्मक रुद्धियों का निरूपण किया है। युद्ध के अन्तर्गत धूलि से आकाश के आच्छादित होने, हाथियों की भिड़न्त, रथचक्रों की चरमराहट, धनुषों की टंकार, बाण-वर्षा से सूर्य के ढकने, कबन्धों के युद्ध, इन्हीं रुद्धियों का संकेत देते हैं^{११}। आठवें सर्ग में क्रमशः मृगांक और रत्नचूल तथा जम्बूकुमार और रत्नचूल के द्वितीय युद्ध में उक्त रुद्धियों के अतिरिक्त वायव्य, आग्नेय तथा गारुड अस्त्रों और नागपाशों का खुलकर प्रयोग^{१२} भी इसी प्रवृत्ति का स्रोतक है। काव्य में वीररस की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति, सातवें सर्ग में, क्षात्र धर्म के निरूपण में हुई है।

क्रमोऽयं क्षात्रधर्मस्य सन्मुखत्वं यदाहवे ।

वरं प्राणात्ययस्तत्र नान्यथा जीवनं वरम् ॥ ७.३०

ये दृष्ट्वारिबलं पूर्णं तूर्णं भग्नास्तदाहवे ।

पलायन्ति विना युद्धं धिक् तानास्यमलीमसान् ॥ ७.३२

काव्य में युद्धों का सविस्तार वर्णन शास्त्र का निर्वाहमात्र प्रतीत होता है। शृंगार की तरह हिंसा भी कवि की मूल शान्तिवादी वृत्ति के अनुकूल नहीं है। प्रथम युद्ध में विजयी होकर जम्बू का पश्चात्ताप से दग्ध होना तथा हिंसा की निंदा करना^{१३}; कवि की वीररस के जनक युद्ध के प्रति महज घृणा को बिम्बित करता है। इस युद्ध-निन्दा के तुरन्त बाद जम्बूकुमार एक अन्य युद्ध में प्रवृत्त हो जाता है, इसे विडम्बना के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ?

जम्बूस्वामिचरित में करुणरस की अभिव्यक्ति के लिए यथेष्ट स्थान है। शिवकुमार के भूच्छित होने पर उसके पिता चक्रवर्ती महापद्म के विलाप में तथा जम्बूस्वामी के प्रव्रज्या के लिए प्रस्थान करने पर उसकी माता तथा पत्नियों के रोदन में करुणरस का परिपाक हुआ है। रघुवंश अथवा शाकुन्तल की करुणा की-सी पैनी व्यंजना की आशा इन कवियों से नहीं करनी चाहिए।

हा नाथ मन्महाप्राण हा कन्दर्पकलेवर ।

अनाथा वयमद्याहो विनाप्यागा कृताः कथम् ॥

धिग्देवं येन दत्तास्य तपसे बुद्धिस्तृप्ता ।

पश्यता स्म महादुःखं तत्कारुण्यमुकुर्वता ॥ १२.२०-२१

२३. वही, ७.२३१-२४१

२४. वही, ८.५०-५१, ६७-७८

२५. तत्केवलं मया नारि हिंसाकर्म महत्तरम् ।

तत्केवलं प्रमादाद्वा यद्वेच्छता यशश्चयम् ॥ वही, ८.१८

प्राणान्तेऽपि न हंतव्यः प्राणी कश्चिदिति श्रुतिः । ८.१६

महाराज श्रेणिक का गजराज, संग्रामशूर, शृङ्खला तोड़ कर भाग जाता है। उसके उत्पातों से भीत सैनिकों के वर्णन में भयानक-रस की उत्पत्ति हुई है। श्रेणिक के शूरवीर थोड़ा हाथी की दुष्टचेष्टाओं से इतने विचलित हो जाते हैं कि उसे बशीभूत करने का कोई प्रयास तक नहीं कर सका।

यतस्ततः पलायन्तस्तत्र केचिद् भयानुराः

कातरत्वं समादाय न पुनः सम्मुखं ययुः ॥ ६.७३

भाष्यमद्य किमत्राहो चिन्तयन्तो भटा अपि ।

न क्षमाः सम्मुखं गन्तुं बन्धनायाशु दन्तिनः ॥ ६.७५

गौरमास्थं सुयोद्धारः पश्यन्ति स्म परं परम् ।

विमनस्का बभ्रुस्तत्र निरुत्साहा निरुद्यमाः ॥ ६.७६

इसी संग्रामशूर के क्रोधावेश का चित्रण रौद्ररस की निष्पत्ति करता है। अपनी भयंकर गर्जना से सबको डराता हुआ तथा सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ वह पर्वताकार हाथी साक्षात् यम का अवतार प्रतीत होता है।

अंजनाद्विसमो दन्तो चलत्कर्णप्रभञ्जनः ।

स्थूलकायः कृतांताभो नवाषाढपयोदवत् ॥

दन्तावलोऽथ दन्ताग्रैरुत्खनन् पृथिवीतलम् ।

शुण्डाण्डेन तत्रोर्ज्वरुद्दिगर्न् वारिसंचयम् ॥

उच्चखान वनं सर्वं रौद्रस्वातिभीषणः ।

उच्छिन्दन् तरुमूलानि मूलोन्मूलमितस्ततः । ६.६३-६५

जम्बूस्वामिचरित में अद्भुत,^{६३} वीभत्स^{६४} तथा वात्सल्य^{६५} रसों का भी यथोचित परिपाक मिलता है।

प्रकृति-चित्रण

जम्बूस्वामिचरित की कथावस्तु कुछ ऐसी है कि उसमें प्रकृति-चित्रण के लिए अधिक स्थान नहीं है। परन्तु राजमल्ल ने काव्य में यथास्थान प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के द्वारा प्रकृति के प्रति अपने नैसर्गिक अनुराग का परिचय दिया है। आकार में परिमित होता हुआ भी राजमल्ल का प्रकृति-चित्रण उस रीतिबद्ध युग में ताजगी का आभास देता है। जम्बूस्वामिचरित में बहुधा प्रकृति के आलम्बन पक्ष का तत्परता से वर्णन किया गया है। कालिदासोत्तर कवियों की प्रकृति के स्वाभाविक चित्रण से विमुखता को देखते हुए जम्बूस्वामिचरित के रचयिता की यह प्रवृत्ति वस्तुतः अभि-नन्दनीय है। वर्षा-ऋतु के वर्णन में प्रकृति-चित्रण की यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती

२६. वही, २.२४८-२५१

२७. वही, ३.८७

२८. वही, ५.१३३

है। पावस में मेघमाला गम्भीर गर्जन करती हुई आकाश में घूमती है, शीतल पवन चलती है, मयूरों तथा चातकों का मधुर शब्द बरबस हृदय को हर लेता है और वर्षा की अविराम बीछारें पृथ्वी का सन्ताप दूर करती हैं। वर्षाकाल के इन उपकरणों का प्रस्तुत पंक्तियों में स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

विद्युद्वन्तो महाध्वाना वर्षन्तो रेजिरे घनाः ।

सहेमकक्षा मदिनो नागा इव सबृंहिताः ॥ २.४७

ववौ च वाततान्कुर्वन् कलापीधान् कलापिनाम् ।

घनाघनालिमुषताम्भःकणवाही समीरणः ॥ २.४८

चातका मधुरं रेणुरभिनन्द्य घनागमम् ।

अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम् ॥ २.५०

तदा जलधरोन्मुक्ता मुक्ताफलश्चशछटाः ।

महीं निर्वापयामासुर्दिवकरकरोष्मतः ॥ २.५५

राजमल्ल ने प्रकृति पर मानवीय चेष्टाओं तथा कार्यों का भी आरोपण किया है जिससे उसके तथा मानव के बीच अभिन्न साहचर्य स्थापित हो गया है। वसन्त तथा वर्षा दोनों ऋतुओं के वर्णन में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है, यद्यपि इस ओर कवि की अधिक रुचि नहीं है। वर्षाकाल में दमकती बिजली, नर्तकी की भाँति, आकाश की रंगभूमि में, हृदय-भाव दिखला कर, विभिन्न मुद्राओं में नृत्य करती हुई, अपने अंग-लावण्य से सबको मोहित कर लेती है।

विद्युन्नदी नभोरंगे विचित्राकारधारिणी ।

प्रतिक्षणविवृत्तांगी नृत्यारम्भमिवातनोत् ॥ २.५३

वसन्त के प्रस्तुत वर्णन में ऋतुराज को वैभवशाली सम्राट् के रूप में अंकित किया गया है, जो कमल का छत्र धारण करके तथा फूलों की यशोमाला पहिन कर वनांगन में प्रवेश करता है।

आतपत्रं दधानोऽसौ प्रफुल्लेन्दीवरच्छलात् ।

प्रसूनैः स्वयशोमालां न्यधान्मूर्ध्नि स माधवः ॥ ६.४७

संस्कृत काव्य की प्रकृति-चित्रण की तत्कालीन परिपाटी आलंकारिक वर्णन की प्रणाली थी। राजमल्ल का वसन्त-वर्णन प्रीटीकृति पर ही आधारित है। ऋतुराज के विविध उपकरणों के चित्रण में कविकल्पना अधिकतर उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुई है। इससे यह वर्णन, एक ओर, कल्पनाशीलता से द्योतित है और दूसरी ओर, इसकी प्रेषणीयता में वृद्धि हुई है। वसन्त में चम्पक वृक्षों से युक्त अशोक के पेड़ ऐसे लगते हैं मानों वियोगियों के विदीर्ण हृदयों के मांसपिण्ड हों। और टेसू के फूल विरही जनों को जलाने वाली चिताएँ प्रतीत होती हैं।

यत्राशोकतरू रेजे युतश्चम्पकवृक्षकैः ।

स्फुटितस्य हृदो मांसपिण्डो नूनं वियोगिनाम् ॥ ६.५२

रेजुः किशुरुपुष्पाणि यत्रारक्तच्छवीनि च ।

दग्धं हृद्विरहार्तानां चिताः प्रज्वलिता इव ॥ ६.५३

काव्य की कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो प्रकृति के आदर्श रूप की सृष्टि करती हैं। वर्द्धमान जिन के समवसरण तथा काव्यतायक के जन्म के अवसर पर प्रकृति का यह रूप दृष्टिगम्य होता है। जितेन्द्र के प्रभाव से पशु-पक्षी अपना चिरन्तन वैर छोड़कर सौहार्दपूर्ण आचरण करते हैं और अन्तिम केवली के जन्म के समय स्वर्ग में दुन्दुभिनाद होता है, त्रिविध बयार चलने लगती है और दिशाएँ जयघोष से गुंजित हो उठती हैं।

नेदुर्दुन्दुभयः स्वर्गो पुष्पवृष्टिरभूतदा ।

दवुवाताः मुशोताश्च सुगंधा पुष्परेणुभिः ॥ ५.१२६

सर्वत्रापि चतुर्विधं जयकारमहध्वनिः ।

श्रूयते परमानन्दकारणं करणद्वयः ॥ ५.१२७

सौन्दर्यचित्रण

राजमल्ल की सौन्दर्यावेधी दृष्टि के लिए प्रकृति-सौन्दर्य के समान मानव-सौन्दर्य भी आकर्षक तथा ग्राह्य है। काव्य में यद्यपि केवल मगधराज श्रेणिक के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन हुआ है किन्तु जिस तत्परता से कवि ने उसे अंकित किया है, उससे सौन्दर्य-चित्रण में उसकी दक्षता का परिचय मिलता है। संस्कृत-काव्य की चिर-प्रतिष्ठित नखशिखविधि को छोड़कर किसी अभिनव मार्ग की उद्भावना करना तो सम्भव नहीं था किन्तु राजमल्ल ने अपने काव्य-कौशल से सौन्दर्य-चित्रण को सरस तथा कल्पन-पूर्ण बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। श्रेणिक के विभिन्न अवयवों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रेक्षणीयता लाने के लिये उसने अलंकारों (उपमा और उत्प्रेक्षा) की विवेकसम्मत योजना की है। मगधराज के काले घुंघराले बाल ऐसे प्रतीत होते थे मानों वे कामरूपी कृष्ण मर्प के शिशु हों। विशाल वक्ष पर चन्दन का लेप मेरु की तलहटी में छिटकी शरत्कालीन चाँदनी के समान था। उसकी गम्भीर नाभि ऐसी लगती थी मानों सुन्दरियों की दृष्टि रूपी हथिनी को फांसने के लिये काम ने पानी की खाई बनायी हो। और करधनी से वेष्टित कटि स्वर्णिम वेदिका से धिरे जामुन के पेड़ के समान प्रतीत होती थी।

शिरस्यस्य बभ्रुर्नीला मूर्द्धजाः कुंचितायताः ।

कामकृष्णभुजंगस्य शिशवो नु विजृम्भिताः ॥ २.२१६

वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चन्दनचंचिताम् ।

मेरोनिजतटालग्ना शारवीमिव चन्द्रिकाम् ॥ २.२२१

सरिदावत्संगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बन्धौ ।

नारीदूषकरिणीरोधे वारिखातेव हृद्भुवा ॥ २.२२३

रसनावेष्टितं तस्य कटिमण्डलमावभी ।

हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव जम्बूद्रुमस्थलम् ॥ २.२२४

चरित्रचित्रण

जम्बूस्वामिचरित में अधिक पात्र नहीं हैं। काव्यनायक के अतिरिक्त उसके चार पत्नियाँ, पिता अर्हद्दास, माता जिनमती तथा विद्युच्चर कथानक का तानाबाना बुनने के सहयोगी हैं। जम्बूस्वामी का चरित्र अंकित करने में कवि को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

जम्बूस्वामी

जम्बूस्वामी मानवोचित समस्त गुणों का पुंज है। वह काम के समान रूपवान्, वज्रपाणि के समान बलवान्, मेरु की तरह धीर, सागर की भाँति गम्भीर, सूर्य-सा तेजस्वी, चाँद-सा सौम्य और कमल-सा कोमल है^{१९}। काव्य में उसके इन सभी गुणों का फलवन नहीं हुआ है। उसके चरित्र की जिन दो विशेषताओं पर अधिक बल दिया गया है तथा जिनसे उसका समूचा व्यक्तित्व परिचालित है, वे हैं परस्पर-विरोधी वीरता और वैराग्य। वह बन्धन से छूटे, श्रेणिक के पर्यंताकार मदमत्त हाथी को पूँछ पकड़ कर क्षण भर में दमित कर देता है जबकि अन्य बली योद्धा प्राण बचाने के लिये, कायरों की भाँति, इधर-उधर छिप जाते हैं। वज्र भी उस वीर का बाल बाँका नहीं कर सकता, कुछ हाथी का तो कहना ही क्या ?

वज्रास्थिबन्धनः सोऽयं वज्रकीलश्च वज्रवत् ।

वज्रोपाणि न हन्येत का कथा कीटहस्तिनः ॥ ६.८०

विद्याधर रत्नचूल की सुगठित सेना को वह अकेला क्षतविक्षत कर देता है। अतिमानुषिक योद्धा जहाँ असफल हुए, मनुष्य ने वहाँ विजय पाई। द्वन्द्वयुद्ध में भी रत्नचूल को उससे मुँह की खाती पड़ती है। उसकी इस अनुपम उपलब्धि का केरल-पति मृगांक तथा महाराज श्रेणिक कृतज्ञतापूर्वक अभिनन्दन करते हैं। यह उन्हीं का युद्ध था, जिसे जम्बूस्वामी ने उदारता से अपने सिर ले लिया था। किन्तु युद्ध, हिंसा आदि उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। विजयप्राप्ति के पश्चात् उसे, सम्राट् अशोक की भाँति, आत्मरत्नानि का अनुभव होता है और वह अपनी क्रूरता पर पश्चात्ताप करने लगता है^{२०}। उसके इस आचरण में विरोधाभास है परन्तु यह अप्रत्याशित नहीं क्योंकि उसके व्यक्तित्व का प्रेरणाबिन्दु कृष्णा एवं विरक्ति है।

जम्बूस्वामी समूचे उपलब्ध वैभवों से सर्वथा अलिप्त है। रूपवती नववधुओं के बीच वह ऐसे अदिकल रहता है मानों नारी में कोई आकर्षण न हो और पुंलक्ष में उत्तेजना न हो। पत्नियों के समस्त हाव-भाव भी उसकी दृढ़ता के दुर्ग को नहीं भेद सके। वस्तुतः, उसकी दृष्टि में नारी विष्टा, मूत्र, मज्जा आदि मलिनताओं के पुंज

२६. वही, ११.३-५

३०. वही, ८.१६

के अतिरिक्त कुछ नहीं है^{११}। जीवन का सार संयम में निहित है। माता-पिता का आग्रह तथा पत्नियों का अनुनय भी उसे अभीष्ट मार्ग से विचलित करने में असफल रहता है। विद्युच्चर का 'द्वयं प्राप्य न भुंजीत यः स दैवेन वंचितः' का तीर भी व्यर्थ जाता है। अन्ततः, उसे तपश्चर्या से परम पद की प्राप्ति होती है।

अन्य पात्र

अर्हदास राजगृह का धनी व्यापारी तथा पुत्रवत्सल पिता है। मुनिवर से अपनी पत्नी के गर्भ से अन्तिम केवली के जन्म की भविष्यवाणी सुनकर उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता। वह रीतिपूर्वक नवजात शिशु के जातकर्म आदि संस्कार करता है। पुत्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने से वह शोक में डूब जाता है। उसकी पत्नी जिनमती को अन्तिम केवली की जननी होने का गौरव प्राप्त है। वे दोनों ही भव-बन्धन से बचने के लिये तापसव्रत ग्रहण करते हैं।

जम्बूस्वामी की पत्नियाँ यौवनसम्पन्न सुन्दरियाँ हैं। उनकी पतिपरायणता आश्चर्यजनक है। जम्बू के साथ विवाह निश्चित होने के उपरान्त उन्हें किसी अन्य से विवाह करने का प्रस्ताव भी सह्य नहीं है। वे अपने संयमधन पति को रूपपाश में बांधने का पूर्ण प्रयत्न करती हैं। इसमें यद्यपि उन्हें सफलता नहीं मिलती किन्तु उनकी पति-निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आता। पति के चारिव्यव्रत लेने पर उनका प्रेमिल हृदय हाहाकार कर उठता है।

विद्युच्चर राजगृह का कुख्यात चोर है। वह जम्बूकुमार को वैराग्य से विरत कर सांसारिक सुख-भोगों में प्रवृत्त करने का प्रबल प्रयास करता है, किन्तु उसके संवेग से द्रवित होकर स्वयं मुनिव्रत ग्रहण करता है और तपोबल से सिद्धि प्राप्त करता है।

समाज-चित्रण

जम्बूस्वामिचरित में प्रसंगवश कुछ सांस्कृतिक सामग्री समाविष्ट है, जिसके विश्लेषण से तत्कालीन समाज के कतिपय पक्षों की कमवेश जानकारी मिलती है। आर्यवसु के पुत्रों की शिक्षा के सन्दर्भ में जिस पाठ्यक्रम का उल्लेख है, उससे विदित होता है कि उस समय वेद-शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष संगीत तथा अलंकारशास्त्र अध्ययन के विषय थे^{१२}। यद्यपि ये विषय ब्राह्मणों के लिये निर्धारित थे किन्तु इन्हें तत्कालीन शिक्षा का सामान्य पाठ्यक्रम मानने में कोई हिचक नहीं हो सकती। क्षत्रियों के लिये शस्त्रविद्या का विधिवत् अभ्यास अनिवार्य था^{१३}।

धान्यभेदों की सूची में षष्ठिका (सांठी), कलम तथा ब्रीहि विभिन्न प्रकार

३१. वही, ११.३-५

३२. वही, ३.८१-८३

३३. वही, ४.६३-६४

के चावल थे। श्यामाक और नीवार सम्भवतः स्वयम्भू जंगली चावल थे। गेहूँ के समान जौ का आटा भी प्रयोग में लाया जाता था। दालों में मसूर, मूँग, माष तथा राजमाष का प्रचलन था। चने का प्रयोग आटे और दाल दोनों रूपों में किया जाता होगा। धनिया और जीरा मसाले में प्रयुक्त किये जाते थे। अग्न्य खाद्य पदार्थों में कंगु, कोद्रव, उदार, वरक, तिल, अलसी, सर्षप (सरसों), आढकी, निष्ठाव, कुलत्थ त्रिपुट, कुसुम्भ का उल्लेख है। कपास की खेती भी की जाती थी। सरसों, तिल तथा अलसी का तेल निकाला जाता होगा^{३४}।

व्याधि से शरीर में धातुओं का विपर्यय स्वाभाविक है। खांसी जैसे सामान्य विकार से लेकर क्षय, जलोदर, भगंदर तथा श्वास जैसे भयंकर रोगों तक का उल्लेख राजमल्ल ने किया है। शरीर में वायु के आधिक्य से जोड़ों में असह्य वेदना होती थी^{३५}।

आत्महत्या से शरीरान्त करने की परम्परा शायद उतनी ही पुरानी है जितना मानव ! राजमल्ल के समकालीन समाज में असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को जब नीरोग होने की आशा छूट जाती थी, वह जीते जी चिता में प्राण होम कर देता था। आर्सवसु कोड से जर्जर हो जाने पर चिता में जल कर मर गया था। ऐसी स्थिति में नारी पति के साथ सती हो जाती है।^{३६}

धूत का व्यसन ऋग्वेद-काल से ही भारतीय समाज के साथ जुड़ा हुआ है। राजमल्ल ने अपने काव्य में जुआरी की दुर्दशा का रोचक चित्र खींचा है। जुए में हारी गयी राशि को न चुकाने वाले की हत्या तक कर दी जाती थी। जिनदास पर विजयी जुआरी ने तलवार का प्रहार किया था। जुआरियों की आपसी मारपीट तो सामान्य बात थी। व्यापक प्रचलन के बावजूद धूत को सदैव समाज-विरोधी माना जाता था। पुलिस जुआरियों को दण्ड देकर इस व्यसन को मिटाने का प्रयत्न करती थी।^{३७}

दर्शन

जम्बूस्वामिचरित में जैन-दर्शन के मूलाधार सात तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इनमें से आश्रव, संवर तथा निर्जरा का तेरहवें सर्ग में अनुप्रेक्षाओं के अन्तर्गत भी सविस्तार विवेचन हुआ है। गुण तथा पर्यय से युक्त द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव द्रव्य है। उसके योग के कारण पुद्गल को भी द्रव्य माना गया है। प्रदेशप्रचय के अभाव के कारण काल की काया नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश तथा

३४. वही, २.६०-६२

३५. वही, ५.८-९.

३६. वही, ३.६०-६१.

३७. वही, ५.७०-७५, ८३; तुलना कीजिए : न जानीमो नयता बद्धमेतम्—ऋग्वेद, १०.३४.४

पुद्गल चारों अस्तिकाय हैं। जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। उनके प्रति श्रद्धा सम्यक् दर्शन की जननी है। कर्म के हेतुभूत भावों के निरोध को सम्यक् चारित्र्य कहा गया है। सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। ये तीनों समन्वित रूप में मोक्ष के दायक हैं।^{११}

जीव अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध, असंख्यातदर्शी तथा अनन्त गुणवान् है। चैतन्य उसका लक्षण है। जीव स्वदेह-परिमाण, ज्ञाता, द्रष्टा तथा कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। कर्मों से मुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। प्राणी, जन्तु क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, अन्तरात्मा, ज्ञ तथा ज्ञानी उसके पर्यय हैं। जीव तीन प्रकार का है—भव्य, अभव्य और मुक्त। भविष्य में सिद्धि प्राप्त करने वाला जीव भव्य है। अभव्य वह है जिसे भविष्य में भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कर्मबन्धन से मुक्त, निर्मल, सुखमय तथा त्रिलोकी के शिखर पर स्थित जीव मुक्त अथवा सिद्ध है^{१२}। अजीव जीव का विपरीत है। उसका लक्षण भी धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल की दृष्टि से किया जाता है। इनमें पुद्गल साकार है, शेष चार आकार-रहित। स्कन्ध और अणु पुद्गल के दो भेद हैं। स्निग्ध, रूक्षात्मक अणुओं का संघात स्कन्ध कहा जाता है। द्वयणु से लेकर महास्कन्ध तक उसका विस्तार है। छाया, आतप, अन्धकार, ज्योत्स्ना, मेघ आदि उसके भेद हैं^{१३}। कर्मों के आगमन का मार्ग आश्रव है। वह दो प्रकार का है—भावाश्रव और द्रव्याश्रव। भावाश्रव के चार भेद हैं—मिथ्यात्व, कषाय, योग तथा अविरति। तत्त्वार्थ के प्रति अश्रद्धा अथवा मिथ्या श्रद्धा मिथ्यात्व है। कषाय मोहनीय कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं। वे संख्या में पच्चीस हैं। कर्माश्रव के कर्त्ता होने के नाते वे महान् विपत्तिदायक हैं। अविरति का अन्तर्भाव कषायों में हो जाता है यद्यपि उसका पृथक् निरूपण भी किया जाता है। पांच इंद्रियों तथा छठे मन के अनिग्रह को अविरति कहा गया है। आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द योग है। मन, वाक्, काया रूप वर्गणाओं के विपाक की दृष्टि से वह तीन प्रकार का है।^{१४} बन्ध आश्रव का फल है। वह भी भावबन्ध तथा द्रव्यबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। आश्रवों का निरोध संवर है। आश्रव की तरह उसके भी दो भेद हैं—भाव-संवर तथा द्रव्य-संवर। जितने अंश से कषायों का निग्रह हो, वही भावसंवर का क्षेत्र है। कर्मणाओं का रोध द्रव्यसंवर है। उक्त भेद से निर्जरा भी दो प्रकार की है। आत्मा के शुद्धभाव से कर्म का वेगपूर्वक विगलित होता भाव

३८. वही ३.११-१६

३९. वही, ३.२३-३१

४०. वही, ३.३३-५२

४१. वही, १३.१००-१२१

निर्जरा है। आत्मा के शुद्धभाव से तथा तप के अतिशय से पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय द्रव्य-निर्जरा है। सविपाक तथा अविपाक ये निर्जरा के दो अन्य भेद हैं।^{१३} अशुद्ध अवस्था त्यागकर शुद्धावस्था ग्रहण करना मोक्ष है। यह समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राप्त होती है। मोक्ष में ज्ञान, आनन्द आदि का आविर्भाव होता है।^{१४}

जैन दर्शन के इन आधारभूत तत्त्वों के विस्तृत निरूपण के अतिरिक्त जम्बू-स्वामिचरित में वेदान्तियों के अद्वैतवाद तथा बौद्धों के क्षणिकवाद की उपहासपूर्वक चर्चा हुई है। कापालिकों की इस मान्यता का भी काव्य में उल्लेख किया गया है कि पंच भूतात्मक शरीर के अतिरिक्त जीव, बंध तथा मोक्ष कुछ नहीं है। उनके हंस, परमहंस, दण्डधारी आदि साधुओं की खिल्ली उड़ाई गयी है।^{१५}

धर्म

दर्शन का व्यावहारिक पक्ष धर्म है। राजमल्ल के अनुसार धर्म का मूल सम्यक्त्व है। निश्चय और व्यवहार के भेद से धर्म दो प्रकार का है। निश्चय-धर्म आत्मा पर आश्रित है, व्यवहार धर्म पराश्रित है। आत्मा चैतन्य-रूप तथा अनुभूति-गम्य होने से निश्चय-धर्म पारमार्थिक धर्म है। वह आन्तरिक ऋद्धि, शुद्ध, परम तप, सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र और शाश्वत सुख है। व्यवहार-दृष्टि से धर्म का मर्म संयम, दया, तप तथा शील में निहित है। आश्रम भेद से वह गृहस्थ धर्म तथा श्रमण धर्म दो भागों में विभक्त है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र के रूप में वह त्रिविध है। लक्षणों के अनुसार उसके दस प्रकार हैं। क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सत्य, शुचिता, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता तथा ब्रह्मचर्य—ये धर्म के लक्षण हैं। धर्म इहलोक तथा परलोक दोनों में सदा हितसाधक है।^{१६} जम्बूस्वामिचरित में मुनि के बारह व्रतों का उल्लेख हुआ है। इनमें अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंख्यान, रसत्याग, विविक्त शयनासन तथा कायक्लेश बाह्य व्रत है। प्रायश्चित्त, परमेष्ठियों के प्रति विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा अनुत्तरध्यान आभ्यन्तर तप हैं।^{१७}

भाषा

जम्बूस्वामिचरित की रचना धर्मप्रचार तथा पुण्यार्जन के लिये हुई है। अतः इस कोटि के अन्य महाकाव्यों की भाँति, जम्बूस्वामिचरित में भाषात्मक प्रीडता अथवा सौन्दर्य की आशा करना व्यर्थ है। कथानक का स्वरूप इनके लिये अधिक

४२. वही, १३.१२२-१३२

४३. वही, ३.६०

४४. वही, २.११२-११५, १२०-१२१

४५. वही, १.१००-११, १३.११३-१६१

४६. वही, १२.६१-१०३

अवसर प्रदान भी नहीं करता। जम्बूस्वामिचरित में आदि से अन्त तक प्रसादपूर्ण सरल भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके जो इसकी रचना का प्रेरक है। सुबोधता की वेदी पर कवि ने भाषा की शुद्धता की बलि देने में भी संकोच नहीं किया है। काव्य में प्रायः उस प्रकार के सभी अपाणिनीय प्रयोगों को उदारतापूर्वक स्थान दिया गया है, जो पौराणिक काव्यों की भाषा की विशेषता हैं। जम्बूस्वामिचरित के व्याकरण-विरुद्ध रूपों का सम्बन्ध सन्धि, धातु-रूप, शब्दरूप, कारक, प्रत्यय, समास आदि शब्दशास्त्र के सभी अंगों से है। ततोवाच (तत उवाच), सोपायं (स उपायं), निर्धुनंतीव (निर्धुन्वतीव), अभिनन्दत् (अभ्यनन्दत्), वर्धनम् (जह्येनम्) वदे (वदामि), स्मरती (स्मरन्ती), सुवर्द्धन्ती (सुवर्द्धमानो), दक्षितुं (द्रष्टुम्), विद्यति (विद्यमाने), च नमार्तः (चलद्भिः), नाभिराजः (नाभिराजस्य), व्याकुलीभूतचेतसः (व्याकुलीभूतचेताः), उल्लेखनीय हैं। अस्ति स्म चाद्यापि विभाति (१.९), अभास्त स्म (२.२२५), ध्यानमेकाग्र्यं ध्यायन्नह (३.१२४), पतिर्भावी भविता कोऽत्र (७.१७), प्रतस्थेऽस्मिन् (८.१०२ प्रस्थितेऽस्मिन्) आदि विचित्र प्रयोग भी काव्य में दुर्लभ नहीं हैं। इस प्रकार की भाषा से महाकाव्य की गरिमा को आघात पहुँचता है। पर राजमल्ल शुद्ध अथवा समर्थ भाषा के प्रयोग में असमर्थ हो, ऐसी बात नहीं। काव्य को सर्वगम्य बनाने के उत्साह के कारण वह भाषा के परिष्कार की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सका।

जम्बूस्वामिचरित में भाषात्मक वैविध्य का अभाव है। काव्य में अधिकतर एकही भाषा प्रयुक्त की गयी है। परन्तु, जैसा रसचित्रण के प्रकरण से स्पष्ट है, कवि मनोभावों के अनुकूल वातावरण का निर्माण करने के लिये यथोचित भाषा का प्रयोग कर सकता है। रौद्र, करुण तथा शृंगार रसों की भिन्न-भिन्न पदावली इस कथन की साक्षी है।

काव्य में प्रसंगवश नीतिपरक उक्तियों का समावेश किया गया है, जिनकी भाषा सरलतम है। जन-साधारण में ग्राह्य होने के लिये उनमें सुबोधता अपेक्षित ही है।

तावन्मूलगुणाः सर्वे सन्ति श्रेयोविधायिनः ।

यावद्ध्वंसी न रोषाग्निर्भस्मसात्कुष्ठे क्षणात् ॥ ७.७२

गौरवं तावदेवास्तु प्राणिनः कनकाद्रिवत् ।

यावन्न भाषते दैन्याद् देहीति द्वी दुरक्षरौ ॥ ७.७३

राजमल्ल की भाषा सरल है किन्तु वह कान्तिहीन नहीं है। वह कवि के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त है।

अलंकार-विधान

जम्बूस्वामिचरित में अलंकार भावव्यंजना के अवयव हैं। शब्दालंकारों के प्रति कवि की अधिक रुचि नहीं है यद्यपि काव्य में अर्थालंकारों के साथ उनका भी

विरल प्रयोग किया गया है। राजमल्ल ने आत्माभिव्यक्ति के लिये जिस अलंकार का सबसे अधिक आश्रय लिया है, वह उपमा है। प्रकृति पर आधारित उपमानों के प्रति उसका विशेष पक्षपात है। ये कवि के प्रकृति-प्रेम के सर्वोत्तम परिचायक हैं। पुत्र के तापसव्रत ग्रहण करने का निश्चय सुनकर माता जिनमती इस प्रकार कांप उठी जैसे प्रभंजन के वेग से हिमदम्भा पद्मिनी।

चक्रम्पे श्रुतमात्रेण माता जिनमती सती ॥

पवनेनेरिता वेगाद् हिमदग्धेव पद्मिनी ॥ ६.५२

यह गुडोपमा भी कम रोचक नहीं है। भोजन के बाद खारा जल पीने से जैसे भूख भड़क उठती है उसी प्रकार अकबर की तलवार ने शत्रु का मांस भक्षण करके ज्यों ही समुद्र के जल का पान किया, वह तीनों लोकों को लीलने को आतुर हो गयी।

शिते कृपाणेऽस्य विदारितारितः (?) पलाशनात्कुर्वन्ति पानमब्धितः।

ततोऽधिकं क्षारतया बुभुक्षिते जगत्त्रयं त्रासमगावनेहसः ॥ १.२३

कवि-कल्पना का यही कौशल उत्प्रेक्षा की योजना में दृष्टिगत होता है। ऋतुराज वसन्त तथा महाराज श्रेणिक के वर्णन में तो कवि ने अपनी कल्पना का कोश लुटा दिया है। श्रेणिक की गम्भीर नाभि ऐसी लगती थी मानो नारी की दृष्टि रूपी हथिनी को फांसने के लिये काम द्वारा निर्मित जलपूर्ण खाई हो (२.२२३)।

जम्बूस्वामी तथा विद्याधर व्योमगति के वार्तालाप के अन्तर्गत प्रस्तुत पद्य में सामान्य मृगशिशु तथा क्रुद्ध केसरी से क्रमशः विशेष रत्नचूल विद्याधर और जम्बूकुमार व्यंग्य हैं, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

तावद्धत्ते स्वसद्यस्यश्चापत्यं मृगशावकः।

यावच्चाभिमुखं गर्जन् क्रुद्धो नायाति केसरी ॥ ७.६६

अकबर की दिग्विजय के इस वर्णन में अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। उसकी सेना के भार से पृथ्वी ही ऊबड़-खाबड़ नहीं हुई, पर्वत भी चूर-चूर होकर ढह गये।

न केधर्ल दिग्विजयेऽस्य भूभृतां सहस्रखण्डैरिह भावितं भृशम्।

भुवोऽपि निम्नोन्नतमानयानया चलच्चमूभारभरातिमात्रतः ॥ १.१६

भारतवर्ष का वर्णन कवि ने परिसंख्या के द्वारा किया है। प्रस्तुत पद्य में मदविकार, दण्डपाह्वय तथा जलसंग्रह आदि का अन्य पदार्थों से व्यवच्छेद दिखाया गया है।

यत्र भंगस्तरंगेषु गजेषु मदविक्रिया।

दण्डपाह्वयमग्नेषु सरःसु जलसंग्रहः ॥ २.२०५

जम्बू की बालकेलियों के वर्णन के इस पद्य में 'सारवं' की भिन्नार्थ में और 'तारवं' की अर्थहीन आवृत्ति हुई है। यह यमक है।

सारवं जलमासाद्य सारवं जलकूजितैः।

तारवं यंत्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवं ॥ ५.१५५

रूपक, विरोध, विषम, भ्रान्तिमान्, सन्देह, स्मरण, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, साटानुप्रास आदि अलंकारों को भी काव्य में स्थान मिला है।

छन्द

पौराणिक महाकाव्य की परम्परा के अनुसार जम्बूस्वामिचरित में अनुष्टुप् को काव्यरचना का माध्यम बनाया गया है। कुछ सग्यों में, बीच-बीच में अथवा अन्त में, कतिपय अन्य छन्द प्रयुक्त हुए हैं। राजमल्ल ने सारे काव्य में आठ छन्दों का प्रयोग किया है। अनुष्टुप् के अतिरिक्त वे इस प्रकार हैं—वंशस्थ, उपजाति, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, लघ्वरा तथा मालिनी। कवि ने अपने कुछ विशेष कथनों के समर्थन में साहित्य से संस्कृत तथा प्राकृत पद्य उद्धृत किये हैं। ये विविध छन्दों में निबद्ध हैं। जम्बूस्वामिचरित के छन्दों की सूची में उन्हें शामिल नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक संकेत

जम्बूस्वामिचरित में चगताई जाति में उत्पन्न मुगल सम्राट् बाबर, हुमाऊँ तथा अकबर के विषय में उपयोगी जानकारी निहित है। प्रथम दो सम्राटों का तो सरसरा-सा वर्णन किया गया है, अकबर के प्रताप तथा विजयों का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन है। कवि ने उसकी चित्तौड़, गुजरात तथा सूरत-दुर्ग की विजयों का विशेष उल्लेख किया है। कुख्यात जजिया की सम्राट् द्वारा समाप्ति और उसकी दयालुता को काव्य में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया गया है^{१०}।

जैसा पहिले कहा गया है, जम्बूस्वामिचरित की रचना भटानिया (अलीगढ़) के निवासी शाहू टोडर के अनुरोध पर की गयी थी। राजमल्ल ने उसकी वंशपरम्परा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। टोडर अरजानीपुत्र कृष्णामंगल चौधरी तथा वैष्णवमतानुयायी गढमल्ल साहु का कृपा-पात्र था। उसे टकसाल के कार्य में अतीव दक्षता प्राप्त थी। शाहू टोडर काष्ठसंघी कुमारसेन के आम्नायी पामा साहु का पुत्र था। उसकी पुत्री कौमुभी पतिपरायणा स्त्री थी। ऋषिदास, मोहन तथा रूपमंगद उसके तीन गुणवान् पुत्र थे^{११}।

जम्बूस्वामिचरित उस उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हुआ है, जिससे इसकी रचना की गयी है। काव्य की दृष्टि से भी यह नगण्य नहीं है। प्रसंगवश इसमें तत्कालीन युगचेतना का चित्रण भी हुआ है।

२४. प्रद्युम्नचरित : रत्नचन्द्रगणि

रत्नचन्द्रगणि का प्रद्युम्नचरित^१ विवेच्य काल का अन्तिम पौराणिक महाकाव्य है। सतरह सगौ के इस बृहत्काय काव्य में द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण के सुविज्ञात पुत्र प्रद्युम्न का, जन्म से निर्वाणप्राप्ति तक, सम्पूर्ण चरित निरूपित करना कवि का अभीष्ट है, किन्तु जिस परिवेश में उसे प्रस्तुत किया गया है, उसमें वह काव्य के एक भाग में सिमट कर रह गया है। प्रासंगिक वृत्तों को अनावश्यक महत्त्व देने से काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य गौण बन गया है। इसका कारण यह है कि रत्नचन्द्र ने विवेकपूर्वक एक सुसम्बद्ध कथानक चुनकर भी उसे, जैसा वह जैन पुराणों में वर्णित है, नेमिचरित के सांप्रान्य अवयव के रूप में प्रतिपादित किया है।

प्रद्युम्नचरित का महाकाव्यत्व

प्रद्युम्नचरित की रचना में उन बाह्य तथा आन्तरिक मानदण्डों का पालन किया गया है, जो भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लिये निर्धारित हैं। काव्य के अभिप्रेत प्रतिपाद्य तथा फलागम की दृष्टि से प्रद्युम्न को इसका नायक मानना युक्त है यद्यपि, परिभाषा के अनुरूप, वह, काव्य में, प्राणवायु की भाँति आपादमस्तक व्याप्त नहीं है और कृष्ण के बहुमुखी विराट् व्यक्तित्व की तुलना में वह तुच्छ प्राणी है। काव्य में निरूपित कृष्णचरित की परिणति के सन्दर्भ में, कृष्ण को नायक के पद पर आसीन करना तो शास्त्रसम्मत नहीं क्योंकि काव्य के अनुसार, जैन धर्म में दीक्षित पात्रों के विपरीत कृष्ण मरकर नरक में दारुण यातनाएँ भोगते हैं, पर उन्हें नायक का समकक्ष उच्च पद देना किसी प्रकार असंगत नहीं है। और पदों के पीछे से समूचे काव्य का सूत्र-संचालन करने वाले वीतराग महातपस्वी नेमिनाथ की भी कैसे उपेक्षा की जा सकती है? महाकाव्य का नायक होने के नाते प्रद्युम्न को धीरो-दात माना जाएगा पर बारीकी से देखने पर वह धीरोद्धत श्रेणी का नायक प्रतीत होता है, जो आत्मविकत्थना, बलप्रदर्शन, छल-कपट तथा कौतुकपूर्ण कार्यों में ही जीवन की सार्थकता मानता है।

कृष्णचरित तथा उसके अंगभूत प्रद्युम्नचरित को जैन साहित्य ने अपने धर्म के गहरे रंग में रंगकर, स्वानुकूल परिवेश में, ग्रहण किया है। जैनाजैन साहित्य के इस वृत्त की विश्रुतता असन्दिग्ध है। महाकाव्य के कथानक में जो पांच नाट्य-सन्धियाँ

१. अहमदाबाद, सन् १९४२

२. उत्तरपुराण, पर्व ७१-७२, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, अष्टम पर्व।

आवश्यक मानी गयी हैं, प्रद्युम्नचरित में उनमें से कुछ का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग में सत्यभामा द्वारा नारद का अपमान करने से लेकर, उसका प्रतिकार करने के लिये नारद द्वारा कृष्ण तथा रुक्मिणी को परस्पर अनुरक्त करने, कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण तथा पंचम सर्ग में प्रद्युम्न के जन्म-वर्णन तक मुख-सन्धि है, क्योंकि काव्य के इस भाग में कथावस्तु का बीज अन्तर्निहित है। इसी सर्ग में धूमकेतु द्वारा शिशु प्रद्युम्न को छलपूर्वक हरकर वैताद्वय पर्वत पर असहाय छोड़ने, नारद के उसकी स्थिति ज्ञात करने तथा अनेक विजयों और अतिमानवीय कार्यों के बाद, अष्टम सर्ग में, प्रद्युम्न के अपने माता-पिता से मिलने के वर्णन में बीज का लक्ष्य-लक्ष्य रूप में विकास होने से प्रतिमुख-सन्धि का निर्वाह हुआ है। सतरहवें सर्ग में प्रद्युम्न केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त करता है, जो इस काव्य का फलागम है। यहाँ निर्वहण-सन्धि है। गर्भ तथा विमर्श सन्धियों का प्रद्युम्नचरित में अस्तित्व खोजना दुष्कर है।

पौराणिक काव्य होने के नाते प्रद्युम्नचरित में शान्तरस की प्रधानता अपेक्षित है। इसका पर्यवसान शान्तरस में हुआ भी है। काव्य के प्रायः सभी पात्र अन्ततः संयम ग्रहण करते हैं। परन्तु प्रद्युम्नचरित में शान्त का अंगी रस के रूप में परिपाक नहीं हुआ है। इसकी तुलना में वीर रस की काव्य में तीव्र तथा व्यापक अभिव्यक्ति हुई है और यदि इसे प्रद्युम्नचरित का मुख्य रस माना जाए तो अनुचित न होगा। केवल काव्य के लक्ष्य तथा फलागम के आग्रह के कारण शान्त-रस को इसका अंगी रस माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त काव्य में प्रायः सभी प्रमुख रसों की इतनी तीव्र व्यंजना है कि रस की दृष्टि से प्रद्युम्नचरित उच्च पद का अधिकारी है। रत्नचन्द्र का काव्य चरित्रों की विशाल चित्रशाला है। यद्यपि काव्य के समस्त पात्रों को पौराणिक परिवेश तथा वातावरण में चित्रित किया गया है तथापि उनका निजी व्यक्तित्व है, जो आकर्षण से शून्य नहीं है। प्रद्युम्नचरित में जलकेल, दूत-प्रेषण, युद्ध, विवाह, ऋतु, नगर, पर्वत तथा कौतुकपूर्ण चमत्कारजनक कृत्यों के रोचक वर्णन हैं। ये वर्णन काव्य की विषय-समृद्धि तथा विविधता के आधारस्तम्भ हैं। इस प्रकार सन्धिविकृति को छोड़कर प्रद्युम्नचरित में महाकाव्य के समूचे परम्परागत तत्त्व विद्यमान हैं, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण हैं।

प्रद्युम्नचरित की पौराणिकता

प्रद्युम्नचरित पौराणिक शैली का महाकाव्य है। इसमें पौराणिक काव्यों के स्वरूपविधायक तत्त्वों की भरमार है। रत्नचन्द्र ने भवान्तरों के वर्णनों के व्याज से कर्मसिद्धान्त की अटलता की व्याख्या करने का घनघोर उद्योग किया है। काव्य में जन्म-जन्मान्तरों के अन्तहीन वर्णनों का यही कारण है। मनुष्य के कर्म क्षण भर भी उसका पीछा नहीं छोड़ते।^१ उनका फल जीव को अनिवार्यतः भोगना पड़ता

३. न मुचन्त्यः क्षणाद् दूरं जीवं किं कर्मराशयः । प्रद्युम्नचरित, १२.८२

है।^१ वेदज्ञ आग्नेभूति तथा वायुभूति, पूर्वजन्म में मांसभक्षी शृगालों के रूप में, चर्मरज्जु खाने के कारण इस जन्म में ईर्ष्यालु ब्राह्मण बनते हैं और मुनि नन्दिबर्धन की खिल्ली उड़ाने का प्रयास करते हैं। उसका पिता सोमदेव तथा माता अग्निना भवान्तर में व्यभिचार के कारण, नाता अधम योनियों में धूम कर भी, क्रमशः चाण्डाल तथा कुत्ती के रूप में पैदा होते हैं। हस्तिनापुर के अर्हद्दास के पुत्रों, पूर्णभद्र तथा मणिभद्र, (पूर्वजन्म के अग्निभूति और वायुभूति) को पूर्वभव के इस सम्बन्ध के कारण ही चाण्डाल और कुत्ती के प्रति सहसा स्नेह का अनुभव होता है। कालान्तर में पूर्णभद्र त्रिध्वक्सेन का पुत्र मधु बनता है। वटपुर के राजा कनकप्रभ की रूपवती पत्नी चन्द्राभा का अपहरण करके मधु उससे जो बँर मोल लेता है, वह भी जन्मान्तर में उसका पीछा करता है। यही मधु, वर्तमान भव में, रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में उत्पन्न होता है। कनकप्रभ धूमकेतु बनता है। पूर्ववँर के कारण धूमकेतु ने नवजात प्रद्युम्न का अपहरण किया है। पूर्वजन्म में सोमदेव की पत्नी लक्ष्मी, मुनि का अपमान करने के कारण गर्दभी, शूकरी आदि हीन योनियों में दुःख भोगती है। किन्तु अन्य जन्म में ऋषि समाधिगुप्त की सहायता करने के फलस्वरूप वह श्राविका और अस्तनः वृष्ण की पत्नी रुक्मिणी बनती है। लक्ष्मी के रूप में एक मयूरी को उसके शिशु से सौलह मास तक वियुक्त रखने के कारण रुक्मिणी को सौलह वर्ष तक पुत्र वियोग की वेदना सहनी पड़ती है। पूर्वजन्म में सपत्नी के सात रत्न चुराने के पाप का फल भोगती हुई देवकी को, वर्तमान भव में, मात पुत्रों को जन्म देकर एक भी पुत्र के लालन-पालन का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

पौराणिक काव्यों की प्रकृति के अनुरूप प्रद्युम्नचरित में अलौकिक तथा अतिमानवीय घटनाओं का प्राचुर्य है। देवर्षि नारद, जो महाकाव्य में अतीव महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं, स्वयं अलौकिक पात्र हैं। वे द्वीपान्तरों तथा अगम्य पर्वतों पर इस महजता से पर्यटन करते हैं जैसे पृथ्वी पर विचरण कर रहे हों। प्रद्युम्न के अतिप्राकृतिक कार्यों से तो काव्य भरा पड़ा है। उसकी शक्ति असीम तथा अलौकिक है। वह बल-प्रदर्शन की भावना से आरब्ध युद्ध में कृष्ण को भी पराजित कर देता है (८.३१७)। उसके कार्यकलाप में प्रज्ञप्तिविद्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वह कुण्डिननगर में, रात्रि के समय, वैदर्भी के आवासगृह में जाकर विद्याबल से समस्त विवाह-सामग्री जुटाता है और, प्रच्छन्न रूप में, उससे विवाह करता है। इसी विद्याबल से वह जाम्बवती को सत्यभामा का रूप देकर कृष्ण के शयनगृह में भेजता है। सागर तथा कनकमेला के विवाह का कारण भी प्रज्ञप्ति है। द्विज के रूप में वह सत्यभामा की कुब्जा दासी के सिर का स्पर्श करने मात्र से उसकी कुब्जता दूर कर देता है। उपा अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए गौरी की पूजा करती है। उसका पिता बाण शंकर की आराधना से अजेयता का बरदान प्राप्त करता है। कृष्ण और पाण्डव लवणसागर के अधिष्ठाता देव, सुस्थित की सहायता से उस दो लाख योजन

४. तुलना कीजिए—रुक्मसत्त्वा ह्यु पाणिनी : उत्तराध्ययनसूत्र, ७.२०

लम्बे सागर को आसानी से पार कर लेते हैं (१३.६६)। सुर की भेरी बजाने से द्वारिका के सब रोग सहसा शान्त हो जाते हैं (१४.१०.६)।

प्रद्युम्नचरित में रोमांचक प्रसंगों की भी कमी नहीं है। विजयाष्ट पर्वत पर कालसंवर के पुत्रों के गहित षड्यन्त्रों को विफल करने के लिए प्रद्युम्न के साहसिक तथा चमत्कारी कार्य तथा द्वारिका में प्रवेश करने से पूर्व उसके हास्यजनक करतब, काव्य में रोमांचकता के जनक हैं। अन्य पौराणिक काव्यों की तरह प्रद्युम्नचरित में रूप-परिवर्तन की लोककथा-रूढ़ि का भी प्रयोग किया गया है। प्रद्युम्न किरात का रूप बनाकर दुर्योधन की पुत्री का अपहरण करता है और वैदर्भी को पाने के लिए चाण्डाल का रूप धारण करता है। उसे मदारी, द्विज तथा बालमुनि बनने में भी संकोच नहीं है। अन्य पात्रों का रूप परिवर्तित करने में भी वह पटु है। हविमणी को योगिनी का, शाम्बर को कन्या का और जाम्बवती को सत्यभामा का रूप देना उसके लिए असंभव नहीं है। कन्याहरण, जिसका प्रद्युम्नचरित में प्राचुर्य है, रोमांचक काव्य का ही तत्त्व है। अपने प्रचारवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रत्नचन्द्र ने काव्य में धर्मदेशनाओं को माध्यम बनाया है। तीर्थंकर नेमिनाथ, सीमधर, नन्दिवर्धन, विमलवाहन, महेन्द्र आदि धर्माचार्य जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या के प्रसंग में श्रोताओं को संसार की नश्वरता तथा भोगों की भंगुरता से अभिभूत कर वैराग्य की ओर उन्मुख करते हैं, जिसके फलस्वरूप काव्य के प्रायः समूचे पात्र अन्ततोगत्वा प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। सन्तोष यह है कि ये उपदेश विस्तृत नहीं हैं जिससे काव्य नीरसता से मुक्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य के विस्तृत फलक पर कवि ने जीवन के विविध प्रसंगों के मनोरम चित्र अंकित किए हैं, जो पूर्वोक्त अतिप्राकृतिक तथा रोमांचक घटनाओं के साथ, पाठक को आद्यन्त अभिभूत रखते हैं।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

प्रद्युम्नचरित के सतरहवें सर्ग की पुष्पिका तथा प्रशस्ति से रत्नचन्द्र की गुरु-परम्परा तथा कृतित्व आदि के विषय में बहुत उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। रत्नचन्द्र के गुरु वाचक शान्तिचन्द्र तपागच्छ के प्रख्यात आचार्य आनन्दविनायकसूरि की शिष्य-परम्परा में थे। मुगल सम्राट् अकबर ने जब भट्टारक हीरविजय को धर्मपृच्छा के लिये फतेहपुरी बुलाया था, उस समय शान्तिचन्द्र, साधु-समाज में, उनके साथ थे। उनकी साहित्यिक प्रतिभा के स्मारक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कृपारसकोश उनकी मौलिक कृति है। जम्बूद्वीपप्रशस्ति को उन्होंने प्रमेयरत्नमञ्जूषा नामक बृहद्कृति से अलंकृत किया है। उन्होंने कृपारसकोश का वाचन अकबर के समक्ष किया था जिससे उन्हें यथेष्ट सम्मान प्राप्त हुआ था। मुगल सम्राट् की प्रेरणा से ही शान्तिचन्द्र

को उपाध्याय पद प्रदान किया गया था^१। रत्नचन्द्र को काव्यरचना में प्रवृत्त करने का श्रेय इन्हीं शान्तिचन्द्र को है। प्रद्युम्नचरित की रचना सम्बत् १६७४ (सन् १६१७) में, विजयादशमी को सुरत में सम्पूर्ण हुई थी^२। उसी दिन कवि की एक अन्य कृति अध्यात्मकल्पद्रुमवृत्ति भी पूरी हुई थी। यह उक्त वृत्ति की प्रशस्ति से स्पष्ट है^३।

रत्नचन्द्रगणि प्रसिद्ध टीकाकार भी थे। उन्होंने अपनी टीकाओं से अनेक जैनार्थ ग्रन्थों का मर्म प्रकाशित किया है। अध्यात्मकल्पद्रुम के अतिरिक्त भक्तानारस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, देवप्रभोस्तव, धर्मस्तव, ऋषभस्तोत्र, वीरस्तव, कृपारस-कोश, नैषधमहाकाव्य तथा रघुवंश पर भी उनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कथानक

प्रद्युम्नचरित सतरह सर्गों का विशालकाय महाकाव्य है, जिसमें पूरे ३५६६ पद्य हैं। प्रथम सर्ग में श्रीकृष्ण की नवनिर्मित राजधानी द्वारिका में देवर्षि नारद के आगमन तथा सत्यभामा द्वारा उनकी अवमानना करने का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में नारद अपमान वा बदना लेने के लिये सत्यभामा को सपत्नी के संकट में डालने का निश्चय करते हैं। वे विदर्भदेश की राजकुमारी रुक्मिणी को महाराज कृष्ण की अग्रमहिषी बनने का वरदान देते हैं। राजकुमार रुक्मी बहिन का विवाह चेदि के शासक शिशुपाल से निश्चित कर चुका था। तृतीय सर्ग में कृष्ण चित्रगता रुक्मिणी की नयनाभिराम छवि देखकर कामबिह्वल हो जाते हैं। उधर शिशुपाल लग्नपत्रिका भेजकर विवाह निश्चित कर देता है। रुक्मिणी एक दूत के द्वारा श्रीकृष्ण से उसे चेदिराज से बचाने की प्रार्थना करती है। चतुर्थ सर्ग में कृष्ण, पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार, रुक्मिणी का अपहरण करते हैं तथा द्वारिका के पार्श्ववर्ती उद्यान में उससे पाणिग्रहण करते हैं। तबोढा के प्रेम में डूब कर उन्हें सत्यभामा की सुध तक नहीं रहती। पंचम सर्ग में ऋषि अतिमुक्तक के वरदान से रुक्मिणी को विष्णुतुल्य पुत्र प्राप्त होता है। अमित तेज के कारण शिशु का नाम प्रद्युम्न रखा गया। प्रद्युम्न सहसा तिरोहित हो जाता है। कृष्ण तथा रुक्मिणी, पुत्र के एकाएक गायब होने से

६. इति श्रीविल्लीदेशे फतेपुरस्थः पातसाहिश्रीअकब्बरः श्रीगुरुदर्शनार्थसमाहृत-
मट्टारक श्री ५ श्रीहीरविजयसूरीश्वरः सह विहारकृताम्, स्वयंकृतकृपारसकोश-
ग्रन्थश्रावणरञ्जितपातसाहिश्रीअकब्बरारणाम् श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमूत्रस्य
प्रमेयरत्नमञ्जूषानामबृहद्वृत्तिकृतम् पातसाहिश्रीअकब्बरदापितोपाध्यायपदानाम् ।
पुष्पिका, सतदशसर्ग

७. प्रशस्ति, १९ तथा अन्तिम पंक्ति : संवत् १६७४ वर्षे विजयादशमीदिवसे सुरत-
बन्दरे प्रद्युम्नचरितं संपूर्णम् ।

८. युगमुनिरसशिवर्षे मासीषे विजयदशमिकादिवसे । शुक्लेऽध्यात्मसारद्रुमवृत्तिश्चके
मया ललिता ॥

शोकाकुल हो जाते हैं। नारद से उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रद्युम्न के प्रति पूर्व-वैर के कारण देवाधम धूमकेतु, रुक्मिणी के रूप में आकर, उसे ले गया है तथा भूख-प्यास से मरने के लिये वैताड्य पर्वत पर असहाय छोड़ दिया है। मेघकूट के स्वामी कालसंवर की पत्नी कनकमाला उसका पुत्रवत् पालन कर रही है। वह रुक्मिणी को सौलह वर्ष पश्चात् मिलेगा। छठे सर्ग में रुक्मिणी के पूर्व-भवों तथा उस कुकर्म का वर्णन है जिसके फलस्वरूप उसे पुत्रवियोग की पीड़ा मिली है। सातवें सर्ग में विद्याधर काल-संवर के पुत्र छलबल से प्रद्युम्न को मारने के लिये अनेक षड्यन्त्र रचते हैं, किन्तु वह अपनी व्यावहारिक प्रज्ञा तथा अनुपम शौर्य से ममस्त विपत्तियों को जीतकर अतुल समृद्धि प्राप्त करता है। कनकमाला युवा प्रद्युम्न के मोहक रूप पर रीझ कर उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयास करती है पर वह उसके प्रणय पूर्ति के निन्ध प्रस्ताव को दृढतापूर्वक ठुकरा देता है। आठवें सर्ग में, पूर्वनिश्चित शर्त के अनुसार अपनी माता को केश देने के अपमान से बचाने के लिये, प्रद्युम्न दुर्योधन की पुत्री उदधि को हरकर द्वारिका में आता है जिससे सत्यभामा के पुत्र भानु का विवाह सम्भव न हो सके। नवें सर्ग में देवता के वरदान से जाम्बवती को प्रद्युम्नतुल्य पुत्र (शाम्ब) प्राप्त होता है। कालान्तर में प्रद्युम्न उसके साथ चाण्डाल का भेस बनाकर कुण्डिनपुर जाता है और कौतुकपूर्ण ढंग से, रुक्मी की पुत्री वैदर्भी को, पत्नी के रूप में प्राप्त करता है। दसवें सर्ग में मगधराज जरासंध, जामाता कंस के वध से क्रुद्ध होकर द्वारिका पर आक्रमण करता है परन्तु धनंधोर युद्ध में कृष्ण, सेना-सहित उसे विध्वस्त कर देते हैं। ग्यारहवें सर्ग में बलराम के पौत्र सागरदत्त और कमलमाला का विवाह, अनिरुद्ध द्वारा उषा का हरण और इस प्रसंग में कृष्ण द्वारा बाण का वध वर्णित है। बारहवें सर्ग में नेमिचरित का निरूपण किया गया है। तेरहवें सर्ग में नारद की दुष्प्रेरणा से, धातकी-खण्ड की अमरकंका नगरी का शासक पद्मनाभ द्रौपदी को हर ले जाता है। युद्ध में पाण्डवों के असफल होने पर कृष्ण अमरकंका को ध्वस्त करके द्रौपदी को पुनः प्राप्त करते हैं। चौदहवें सर्ग में देवकी के पुत्र गजसुकुमाल, सागरदत्त, कृष्ण की छह पुत्रियों तथा एक पुत्र ढण्डण और अन्य यादवों के प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन है। पन्द्रहवें सर्ग में राजीमती के प्रति अनैतिक व्यवहार का पश्चात्ताप करने के लिये रथनेमि तप करते हैं जिससे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। सौलहवें सर्ग में द्वारिका-दहन तथा कृष्ण-मरण की भावी विपत्ति से भीत होकर प्रद्युम्न तथा शाम्ब प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। पूर्व अपमान से पीड़ित मुनि द्वैपायन, कृष्ण तथा बलराम के अतिरिक्त समूची द्वारिका को भस्मपात् कर देते हैं। भवितव्यता को अटल मानकर कृष्ण अपने अग्रज के साथ, द्वारिका छोड़कर चल पड़ते हैं। वन में जराकुमार का बाण लगने से कृष्ण के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। सतरहवें सर्ग में प्राणप्रिय अनुज की मृत्यु से शोकाकुल बलराम, परलोकसिद्धि की

साधनभूत प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। जराकुमार से अपने अनन्य मित्र कृष्ण के निधन का समाचार पाकर पाण्डवों में वैराग्य का उदय होता है और वे द्रौपदी के साथ शीखा ग्रहण करके क्रमशः कैनल्य और मोक्ष प्राप्त करते हैं। धातिकर्मों का क्षय होने से प्रद्युम्न भी परम पद को प्राप्त होता है।

कथावस्तु की उपर्युक्त रूपरेखा से स्पष्ट है कि काव्य में प्रद्युम्नचरित नवें सर्ग तक सीमित है। प्रथम चार सर्ग भी मुख्य कथा के साथ सूक्ष्म तन्तु से जुड़े हुए हैं। सतरहवें सर्ग में प्रद्युम्न की निर्वाण-प्राप्ति के प्रसंग को छोड़कर अन्तिम आठ सर्गों का प्रद्युम्न कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका नवें सर्ग में समाहार करके वहीं काव्य को समाप्त करना कहीं अधिक स्वाभाविक होता है। इससे कथानक विस्तृत होने से बच सकता था। किन्तु कवि ने काव्य में नेमिचरित तथा कृष्णचरित का विस्तार निरूपण करके कथानक की अन्विति को नष्ट कर दिया है। रत्नचन्द्र की दृष्टि में कथानक को अन्वितिपूर्ण बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करना अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रद्युम्नचरित में इस महत्ता का प्रदर्शन तब तक सम्भव नहीं था, जब तक नायक ही नहीं प्रत्युत काव्य के अन्य समूचे पात्र, किसी न किसी प्रकार, संसार की दुःखमयता से अभिभूत होकर प्रव्रज्या ग्रहण नहीं कर लेते। कवि के विचार में, काव्य का चरम उद्देश्य नेमिनाथ का निर्वाण प्रतीत होता है यद्यपि वह प्रमुख कथा के फलागम के प्रतिकूल है। अतः उसने, काव्य के अन्त में, प्रद्युम्न की शिवत्व-प्राप्ति के वर्णन से कथानक की परिणति करने की चेष्टा की है। परन्तु यह प्रसंग, काव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अलग से चिपकाया प्रतीत होता है। वर्तमान रूप में, काव्य में, कृष्णचरित का प्राधान्य है। तर्क के लिये कृष्णचरित का मूलकथा से सम्बन्ध मान भी लिया जाये, नेमिनाथ के वृत्त के सर्वांग निरूपण का क्या औचित्य है? स्पष्टतः रत्नचन्द्र अपने आधारस्रोत के प्रभाव से इतना अभिभूत है कि काव्य के लिये सुसम्बद्ध कथानक लेकर भी उसने, उसका नेमिचरित के अवयव के रूप में, प्रतिपादन किया है जिससे काव्य का आधिकारिक वृत्त गौण बन गया है। अतः काव्य के शीर्षक की चरितार्थता पर स्वतः प्रश्नात्मक चिह्न लग जाता है। वर्तमान रूप में, काव्य का 'कृष्णचरित' शीर्षक अधिक अर्थवान् होगा।

प्रद्युम्नचरित का आधारस्रोत

पौराणिक काव्यों के अन्य अधिकतर श्वेताम्बर लेखकों के समान रत्नचन्द्र गणि ने अपने काव्य का कथानक आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से ग्रहण किया है। त्रि. श. पु. चरित में (नवम पर्व) प्रद्युम्न का जीवनवृत्त नेमिचरित के उपांग के रूप में वर्णित है। पुत्र होने के नाते प्रद्युम्न का चरित कृष्णचरित का अवयव है, जिसका नेमिनाथ के उदात्तचरित के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक निरूपण किया

गया है। रत्नचन्द्र ने, अपने उद्देश्य से भटककर, प्रद्युम्नचरित का इसी रूप में प्रतिपादन किया है, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। हेमचन्द्र के आकर-ग्रन्थ के प्रासंगिक प्रकरण तथा प्रद्युम्नचरित में इतना घनिष्ठ साम्य है कि दोनों का तुलनात्मक विमर्श निरर्थक होगा, किन्तु कुछ भिन्नताओं की चर्चा आवश्यक है।

प्रद्युम्नचरित के अनुसार रुक्मिणी दूत भेजकर कृष्ण से, उसे शिशुपाल से बचाने की प्रार्थना करती है (३.४८.४९८)। त्रि. श. पु. चरित में रुक्मिणी के चित्रांकित रूप पर रीझ कर कृष्ण एक दूत के द्वारा रुक्मी को, उनके साथ अपनी बहिन का विवाह करने को प्रेरित करते हैं। रुक्मी कृष्ण के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है और शिशुपाल के साथ उसका विवाह करने का निश्चय करता है^१। हेमचन्द्र के विवरण में रुक्मिणी स्वयं नहीं बल्कि उसकी बुआ कृष्ण के पास सन्देश भेजती है।^{१०} त्रि. श. पु. चरित में, पूर्व निश्चित योजना के अनुसार, रुक्मिणी, अपनी बुआ की सहमति से, कृष्ण के रथ में स्वयं बैठ जाती है। उनके प्रस्थान के बाद उसकी बुआ तथा दासियाँ अपना दोष छिपाने के लिये कृष्ण तथा बलराम पर रुक्मिणी के अपहरण का दोष लगाती हैं^{११} जबकि प्रद्युम्नचरित में बलराम उस कोमलांगी को रथ में बैठाते हैं और स्वयं कृष्ण रुक्मिणी-हरण की घोषणा करते हैं (४.३७-४५)। प्रद्युम्नचरित में कृष्ण द्वारिका के निकटवर्ती उद्यान में रुक्मिणी से विधिवत् पाणिग्रहण करने के पश्चात् नगर में प्रवेश करते हैं (४.११०-१११, १२१)। हेमचन्द्र के काव्य में उनका विवाह नगर में सम्पन्न होता है।^{१२} प्रद्युम्न के अपहरण^{१३}, उसके पूर्वभावों और धूमकेतु के साथ उसके वर के कारण का दोनों काव्यों में समान वर्णन है।^{१४} त्रि. श. पु. चरित में उन सौलह विपत्तिजनक परीक्षाओं का उल्लेख नहीं है, जिनमें प्रद्युम्न को डालकर कालसंवर के पुत्र उसे नष्ट करने का षड्यन्त्र बनाते हैं।^{१५} रत्नचन्द्र को इनका संकेत उत्तरपुराण से मिला

६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), भाग ५, गायकवाड़ ओरियण्टल सोरीज, संख्या १३६, बड़ौदा, १९६२ पृ० १८१

१०. वही, पृ. १८२

११. वही, पृ. १८२

१२. वही, पृ. १८४

१२ अ. उत्तरपुराण के अनुसार शिशु प्रद्युम्न का अपहर्ता धमकेतु पूर्वजन्म का कनकरथ है। वह अन्तःपुर के सब लोगों को महानिद्रा से अचेत बनाकर प्रद्युम्न को उठा ले जाता है और उसे खदिर अटवी में तक्षक शिला के नीचे रख देता है। उत्तरपुराण, ७२.५१-५३।

१३. प्रद्युम्नचरित, ५.५४-२६२; त्रि. श. पु. चरित (पूर्वोक्त), पृ. १९४-१९७।

१४. त्रि. श. पु. चरित (पूर्वोक्त), पृ. २०४-२०५

होगा, जहाँ दस विपत्तियों का वर्णन किया गया है। उत्तरपुराण में यह षड्यन्त्र, प्रद्युम्न द्वारा काञ्चनमाला (कनकमाला) के गहित प्रस्ताव को ठुकराने के बाद रचा जाता है।^{१५} प्रद्युम्नचरित में उदधि के हरण का प्रसंग त्रि. श. पु. चरित की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उत्तरपुराण में प्रद्युम्न उदधि का अपहरण नहीं करता बल्कि भानुकुमार के महाभिषेक में उपस्थित लोगों का उपहास करता है। इसी प्रकार वह मथुरा के निकट कौरवों की खिली उड़ाता है।^{१६} रुक्मिणी और सत्य-भामा की केश देने की शर्त, प्रद्युम्नचरित में प्रद्युम्न के लौटने का उपादान कारण है, उत्तरपुराण में उसे यह शर्त तब ज्ञात होती है जब एक नाई रुक्मिणी के केश लेने के लिये वस्तुतः वहाँ आ जाता है। प्रद्युम्न उसे गोपुर में औघा लटका देता है। प्रद्युम्नचरित में जाम्बवती को, देवमाला के प्रभाव से, तेजस्वी पुत्र शाम्ब की प्राप्ति होती है। उत्तर पुराण में यह एक अंगूठी का चमत्कार है। गुणभद्र ने जाम्ब-वती के पुत्र का नाम शाम्भव दिया है।^{१७}

रसचित्रण

प्रद्युम्नचरित विविध अनुभवों का विश्वकोश है। इसके विराट् फलक पर कवि ने कटु-मधुर, क्षुद्राक्षुद्र सभी अनुभूतियों के हृदयहारी चित्र अंकित किए हैं, जो अपनी विविधता तथा अभिरामता से पाठक को मन्त्रमुग्ध रखते हैं। इस तीव्र रसवत्ता के कारण, पौराणिक काव्य होता हुआ भी, प्रद्युम्नचरित सरसता से सिक्त है। पौराणिक रचना होने के नाते इसमें शान्त-रस की प्रधानता मानी जाएगी। इसका पर्यवसान शान्त-रस में ही हुआ है। काव्य के प्रायः समूचे पात्र जाभतिक भोगों के प्रति निर्वेद से अभिभूत होकर प्रव्रज्या में शाश्वत सुख खोजते हैं। प्रव्रज्या पारलौकिक सुख की अमोघ साधिका है।^{१८} नेमिप्रभु के धर्मोपदेश से व्याघ्र आदि हिंसक पशु भी निवृत्तिप्रधान जैन धर्म अंगीकार करते हैं।^{१९} रत्नचन्द्र के साहित्य-शास्त्र में शान्तरस रससम्प्राट् है। बहुचर्चित शृंगार किपाक के समान नीरस तथा उद्वेजना-जनक है।

रसाधिराजं सेवस्व शान्तं शान्तमनाश्चिरम् ।

किपाकसदृशं मुञ्च शृंगारं विरसं पुरः ॥१२.२४३

पर शान्त को रसराज का पद देकर भी रत्नचन्द्र काव्य में उसकी अंश-रसोचित तीव्र व्यंजना करने में सफल नहीं हुए। देशना, दीक्षाग्रहण, केवलज्ञान-

१५. उत्तरपुराण, ७२.७४-१२६

१६. वही, ७२.१५४-१६१

१७. वही, ७२.१७३-१७४

१८. प्रद्युम्नचरित. १७.५८

१९. व्याघ्रादयोऽपि पशवो भेजिरे धर्ममार्हतम् । वही, १७.८२

प्राप्ति आदि के प्रसंगों में उसकी सामान्य अभिव्यक्ति हुई है। काव्य के वर्तमान वातावरण में शायद शान्तरस की सर्वातिशायी निष्पत्ति करना सम्भव भी नहीं है। प्रद्युम्नचरित में शान्तरस की प्रमुखता की सार्थकता इसी में है कि इसकी परिणति वैराग्य में होती है जिसके फलस्वरूप प्रद्युम्न जैसा उद्धत योद्धा तथा पाण्डवों जैसे दुर्द्धर्ष वीर भी संयम के द्वारा निर्वाण का परम पद प्राप्त करते हैं। मरणासन्न कृष्ण की यह संक्षिप्त उक्ति मनुष्य की असहायता तथा जगत् एवं उसके वैभव की भंगुरता का तीव्र बोध कराने में समर्थ है।

एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्नाहमपि कस्यचित्।

एवमदीनचित्तश्च चकाराराधनं हरिः ॥ १६-१७७

प्रद्युम्नचरित में शान्त की तुलना में वीररस की कहीं अधिक व्यापक तथा प्रगाढ़ निष्पत्ति हुई है। अनगिनत छिट-पुट संघर्षों के अतिरिक्त शिशुपाल, जरासन्ध तथा पद्मनाभ के साथ कृष्ण के घनघोर युद्धों में वीररस की उल्लेखनीय गहनता है। काव्य के इन भागों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह आमूलचूल वीररस-प्रधान काव्य है। यदि इसे अंगी रस का बाधक माना जाये तो अनुचित न होगा। वीररस के चित्रण की रत्नचन्द्र की खास शैली है, जिसे पौराणिक अथवा धार्मिक कहा जा सकता है। कृष्ण और जरासन्ध का युद्ध दो दुर्दमनीय शत्रुओं का युद्ध नहीं, वह दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष का प्रतीक है। उनमें कृष्ण का पक्ष सत्प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि है, जरासन्ध का पक्ष असत् का प्रतीक है। कृष्ण-पक्ष की इस श्रेष्ठता के कारण उसकी विजय अपरिहार्य है। शकुनि की शरवर्षा, सहदेव के पराक्रम के कारण नहीं बल्कि उसके पुण्य के प्रभाव से विफल हो जाती है।^{१०} प्रति-विष्णु जरासन्ध का विष्णु कृष्ण द्वारा वध भी पूर्व निश्चित है।^{११} इसीलिये कृष्ण जरासन्ध के भ्रू के प्रहार को ऐसे झेलते हैं जैसे वह अस्त्र न हो परन्तु उसी चक्र से वे तत्काल जरासन्ध का शिरच्छेद कर देते हैं। पुण्योदय से परायी वस्तु अपनी हो जाती है।^{१२}

इस युद्ध की विशेषता यह है कि इसमें 'जीवहिंसा से पराङ्मुख' नेमिनाथ भी तत्परता से भाग लेते हैं, इसके पीछे भले ही मातलि का प्रोत्साहन तथा प्रेरणा और व्यवहार के परिपालन की भावना हो (१०.२२८) ! लाखों योद्धाओं को धराशायी करके वे इस प्रकार निश्चित खड़े हो जाते हैं मानों हिंसा उनके व्यक्तित्व का सहज अंग हो।

पद्मनाभ तथा कृष्ण का युद्ध भी सदसत् के इसी द्वन्द्व की व्याख्या है। उनके

२०. मोघीबभूवुः सर्वोऽपि परं पुण्यप्रभावतः। वही, १०.१०२

२१. एकोऽपि विष्णुः स्याद् हन्ता प्रतिविष्णोरिति स्थितिः। वही, १०.२७०

२२. सति पुण्योदये सर्वमात्मोयं स्यात् परस्य हि। वही, १०.२६५

पाँचजन्य की ध्वनि तथा धनुष की टंकार ही पद्मनाभ की सेना को विक्षत करने के लिये पर्याप्त है। और स्त्री के भेस में उपस्थित उसे अभयदान देकर वे, अस्त्र के बिना ही, युद्ध जीत लेते हैं (१३.१०३-१०४)।

प्रद्युम्नचरित के इन युद्धवर्णनों में विरोधी योद्धाओं की आत्मश्लाघा तथा परनिन्दा की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। अर्जुन और कर्ण के युद्ध में यह गाली-गलौच अधिक प्रबल है।

कुत्रासि रे किरीटिस्त्वं मा याहि रणभूमितः ।

आगतोऽस्मि तव द्वेषी कर्णोऽहं कालपृष्ठभूत ॥ १०.११२

अन्यच्च शृणु राधेय रे रे कर्ण मुहुर्मते ।

जीवन्पि हि मां किं त्वं न पश्यसि पुरःस्थितम् ॥ १०.११४

इन घनघोर युद्धों का वर्णन करने पर भी कवि की अन्तर्वृत्ति युद्ध में नहीं रमती। वह शीघ्र ही युद्ध की हिंसा के प्रति विद्रोह कर उठती है। युद्धों का विस्तृत निरूपण करने वाले कवि की यह उक्ति हास्यजनक हो सकती है, किन्तु यह उसकी मूल अहिंसावादी प्रतिबद्धता के सर्वथा अनुरूप है।

विचार्येति प्रभुः प्रोचे कृतं युद्धस्य वार्तया ।

पुष्पेणापि न साक्षि स्यान्नीतिशास्त्रं धृतोऽस्य हि ॥ १२.२३

रत्नचन्द्र ने शृंगार के जिस किपाक को छोड़ने का आह्वान किया है (१२.२४३), वे स्वयं उसकी मोहिनी से नहीं बच सके। काव्य में यद्यपि शृंगार के पल्लवन के कई अवसर हैं किन्तु उसकी तीव्र व्यंजना करना सम्भवतः कवि को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। कृष्ण तथा यदुत्तारियों की जलक्रीड़ा के वर्णन में शृंगार की अपेक्षाकृत सफल अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण किसी नारी पर जल उछाल रहे थे। जल के वेग से उसकी आँखें बन्द थीं। तभी उसका अधोवस्त्र गिर गया किन्तु उसे इसका आभास भी नहीं हुआ।

कापि कृष्णजलाच्छोटात् पतन्मध्याम्बरा सती ।

दिगम्बरं स्म जानाति नात्मानं नेत्रमीलनात् ॥ १२.७५

रुक्मिणी के पूर्वराग की वेदना अधिक हृदयस्पर्शी है। विरहव्यथा के कारण उसकी नींद रूठ गयी है, भोजन में उसे रुचि नहीं रही, चाँदनी अंगीठी बन गयी है और शारीरिक ताप से चन्दन तत्काल सूख जाता है।

अन्नं न रोचते तस्या न विरहानलपीडनात् ।

निद्रापि तस्या रुष्टेव सखी कुत्राप्यगात् प्रभो ॥ ३.७६

चन्द्रज्योत्स्नां तु शीतां सा हसतीमिव मन्यते ।

श्रीखण्डस्य रसस्तस्या लग्नेव च शुष्यति ॥ ३.७६

अद्भुत^१, हास्य तथा कष्ट रस भी, आनुषंगिक रूप में, प्रद्युम्नचरित की २३. वही, १२.६-११

रसवत्ता की तीव्रता में वृद्धि करते हैं। कृष्ण के भावी जामाता तन्तुवाय वीर की वीरता का यह आत्मवर्णन हास्यरस से परिपूर्ण है। उसने गिरगिट को पत्थर से मार कर, रथचक्र द्वारा निर्मित गड्ढे में पांव से पानी रोक कर और घड़े के अन्दर बैठी मक्खियों को हाथ से पकड़ कर वीरता का कीर्तिमान स्थापित किया है।

बदरीस्थो ग्रावखण्डैः कृकलासो मया हतः ॥ १४.१५४

तोयं मया बहुद्रुद्धं मार्गं स्थन्दननिर्मिते ।

तत्क्षणाद् वामपादेन बलीत्यस्मि जनार्दन ॥ १४.१५५

वस्त्रपालकलयन्तः शतशो भक्षिका मया । १४.१५६

प्रविष्टा हस्तदानेन सर्वा अपि धृताः क्षणात् ॥ १४.१५७

रत्नचन्द्र की करुणा में अन्य जैन कवियों के करुणरस से कोई नवीनता नहीं है। चीत्कार और क्रन्दन को ही करुणा की मायिकता का पर्याय मान लिया गया है। जराम्बन्ध से युद्ध करते समय बलराम के भूछित होने पर यादवों के विलाप में तथा कृष्ण की अचानक मृत्यु पर बलराम की किंकर्तव्यविमूढ़ता में करुणा की टीस तथा कातरता है। परन्तु उसकी यथेष्ट व्यंजना मरणासन्न कृष्ण और जरामुत के आलाप में हुई है। भ्रातृहत्या के जिस जघन्य पाप से बचने के लिये जरामुत ने वनवास लिया था, आज वह अनजाने उस पाप का भागी बन गया है। आत्मघात से उसका प्रतीकार सम्भव था पर उसका सुख भी जरामुत के भाग्य में नहीं है।

कथं तदेव न मृतो हा किमेतदुपस्थितम् ।

वसुधे विवरं देहि मां गृहाणातिपातिनम् ॥ १६.१५८

हा वेधः किमकार्षीस्त्वं मद्धस्तात् कारयन् वधम् ।

नरोत्तमस्य मे भ्रातुः किं विराद्धं मया तव ॥ १६.१६०

कमहं नरकं गन्ता पापं कृत्वेदृशं महत् ।

मरणं श्रेय एवास्तु जीवितेनाधुना कृतम् ॥ १६.१६१

प्रकृतिचित्रण

प्रद्युम्नचरित के विराट् कलेवर में प्रकृतिचित्रण को जो स्थान मिला है, वह नगण्य है। वस्तुतः प्राकृतिक सौन्दर्य को चित्रित करने में कवि ने रुचि नहीं ली है। उसका प्रकृति-वर्णन कुछ पद्यों तक ही सीमित है, जिनमें वसन्त का तो नामोल्लेख करके सन्तोष कर लिया गया है। बारहवें सर्ग में ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्रण अपेक्षाकृत अधिक रोचक है। ग्रीष्म ऋतु में लोग सूक्ष्म वस्त्रों, पंखों और पुष्प-मालाओं से उसकी प्रचण्डता को परास्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसका सहज वर्णन निम्नोक्त पद्यों में किया गया है।

निःश्वासलहरीकम्प्रे वाससी श्वेतनिर्मले ।

युवानः पर्यधुस्तत्र परं ब्रीडैकहेतवे ॥ १२.६६

तालवृन्तं करात् सर्वे न मुंचन्ति स्म नित्यशः ।
मुक्ता अति नरा नार्यो व्यत्ययेन दधुः करे ॥ १२.६७
सौवर्णरत्नालंकारान् विमुच्य स्त्रीजनोऽखिलः ।
घत्ते स्म कौसुमांस्तारिच पतिवैदर्यकल्पितान् ॥ १२.६८

सौन्दर्य-चित्रण

प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा मानव-सौन्दर्य कवि के लिये अधिक आकर्षक है । मानव-सौन्दर्य के प्रति कवि का यह अनुराग उसकी कलात्मक अभिरुचि का उतना द्योतक नहीं जितना उसकी परम्परा से प्रतिबद्धता का सूचक है । प्रद्युम्नचरित में पुरुष तथा नारी दोनों के सौन्दर्य-चित्रण से सरसता की सृष्टि की गयी है, यद्यपि उसमें ताजगी का अभाव है । नारी-सौन्दर्य के चित्रण में कवि की वृत्ति अधिक रमी है । अधिकतर पात्रों के सौन्दर्य का चित्रण परम्परागत नखशिख-विधि से किया गया है । सत्यभामा, रुक्मिणी, तपस्विनी रति तथा शाम्बकुमारी के सौन्दर्य को कवि ने इसी विधि से अंकित किया है । सत्यभामा तथा रुक्मिणी के अङ्गो-प्रत्यङ्गों के चित्रण में बहुधा पूर्व-परिचित उपमानों की योजना की गयी है । रुक्मिणी के लावण्य की अभिव्यक्ति के लिये कतिपय नवीन अप्रस्तुतों को माध्यम बनाया गया है जिससे इस वर्णन में सजीवता तथा रोचकता का स्पन्दन है ।

जिह्वा रक्तोत्पलदलं नासा दीपशिखेव किम् ।
शयनास्पदमेवोच्चं गल्लौ कामस्य हस्तिनः ॥ ३.१८
स्तनी मदनबाणस्य कन्दुकाविव रेजतुः ।
रोमराज्यी विराजितस्मरबालस्य किं शिखा ॥ ३.२०
मन्मथस्य रथस्यैतन्निर्म्बहश्चक्रमेककम् ।
स्मरसन्धागणस्थेयं जघनं किमु वेदिका ॥ ३.२२

प्रथम सर्ग में सद्यःस्नाता सत्यभामा की शृंगार-सज्जा के वर्णन में विविध आभूषणों तथा प्रसाधनों से उसका सौन्दर्य प्रस्फुटित किया गया है (१.६४-६६) । शाम्बकुमारी तथा रति के चित्रण में उपर्युक्त दोनों शैलियों का मिश्रण है ।

पुरुष-सौन्दर्य का अंकन रुक्मी के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में हुआ है । इसमें उसके अङ्गलावण्य तथा सज्जा का मिश्रित चित्रण किया गया है ।

तावदेको दिव्यरूपश्चलत्काञ्चनकुण्डलः । २.२७
उत्फुल्लगलनयनोऽष्टमीचन्द्रसमालिङ्गः ।
पद्मविम्बाधरो धीरः पुष्पदन्तः प्रमोदभाक् ॥ २.२८
हाराढ्यं हारविस्तारं दधानः कण्ठकन्दले ।
मुखे सुरभि ताम्बूलं चर्वन् स्थगिभूद्वपितम् ॥ २.२९

स्वर्णतन्तुसमव्यूतशिरोवेष्टनधारकः ।

चीनदेशसमुद्भूतवासोरत्नागिकाधरः ॥ २.३०

चरित्रचित्रण

प्रद्युम्नचरित चरित्रों की विशाल चित्रवीथी है, जिसमें कवि की तुलिका ने अनेक मनोरम चित्र अंकित किये हैं । किन्तु उसकी कला की विभूति कृष्ण के चरित को मिली है, जो नायक न होते हुए भी काव्य के सबसे अधिक प्रभावशाली पात्र हैं । प्रद्युम्नचरित में अनेक स्त्री-पुरुष पात्र हैं । यद्यपि उन्हें पौराणिक परिवेश में चित्रित किया गया है, और उन पर अलौकिकता का घना आवरण है तथापि उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी रेखाएँ हैं, जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती हैं ।

प्रद्युम्न

प्रद्युम्न काव्य का नायक है । यद्यपि उसका व्यक्तित्व अपने पिता कृष्ण के सर्वातिशायी व्यक्तित्व के भार से दब गया है किन्तु उसके चरित्र का अपना आकर्षण है । वह अभिजात तथा सच्चरित्र है और उसे हकिमणी जैसी शुद्धशीला माता का पुत्र होने का गौरव प्राप्त है (७.४०१) । जन्म लेते ही उसे माता-पिता के वात्सल्य से वंचित होना पड़ता है । पूर्व-वैर के कारण देवाग्रिम धूमकेतु उसे चुरा कर वैताड्य पर्वत पर असहाय छोड़ देता है । विद्याधर कालसंवर की पत्नी उसका पालन-पोषण करती है । सौलह वर्ष तक माता से वियुक्त रह कर भी उसकी मातृवत्सलता अक्षत है । नारद से अपनी माता का संकट जानकर वह तत्काल द्वारिका को प्रस्थान करता है और माता को केश कटवाने के अपमान से बचाने के लिये वह, विवाह के मध्य ही, उदधि को हर लाता है ताकि भानु का विवाह प्रमाणित न हो सके ।

प्रद्युम्न सौन्दर्य-सम्पन्न तथा चतुर युवक है । उसके मोहक सौन्दर्य तथा असह्य तेज के कारण उसका प्रद्युम्न जैसा सार्थक नाम रखा गया । यौवन में उसके लावण्य में इतना निखार आ जाता है कि उसकी पोषिका कनकमाला उसके समागम के लिये तड़प उठती है और उसे प्रणयपूर्ति का निर्लेज्ज निमन्त्रण देती है, जिसे वह घृणापूर्वक अस्वीकार कर देता है । उसके लिये कनकमाला माता के समान पूज्य तथा पवित्र है (माता भवसि पालनात्—७.४०७) । इस निकृष्ट प्रकरण में अडिग रहकर वह चतुरता से, कनकमाला से, दो विद्याएँ हथिया लेता है और उसे विद्यादात्री आचार्या का पद देकर उसके व्यवहार की हीनता का बोध कराने में समर्थ होता है ।

उसके व्यक्तित्व में शौर्य तथा व्यावहारिक बुद्धि का अद्भुत समन्वय है । विद्याधर कालसंवर जब उसे अभिषिक्त करने का निश्चय करता है, तो उसके पुत्र उस कण्ठक को (प्रद्युम्न को) रास्ते से हटाने के लिये उसे नष्ट करने का पङ्कज रचते हैं । वे उसे एक के बाद एक ऐसे गहन संकटों में डालते हैं, जिनमें साधारण व्यक्ति का विनाश अवश्यम्भावी था परन्तु वह अपनी वीरता तथा सूझबूझ से उनकी

सब चालें विफल कर देता है। वस्तुतः उसे शौर्य-प्रदर्शन करना प्रिय है। कनकमाला के प्रति तथाकथित दुराचरण से क्षुब्ध कालसंवर जब उसे ललकारता है, तो प्रद्युम्न के रणकौशल से उसके छक्के छूट जाते हैं। परन्तु समस्त वातावरण अपने प्रतिकूल देखकर वह उस स्थान को तुरन्त छोड़ देता है। यह उसकी दूरदर्शिता का द्योतक है।

प्रद्युम्न की शक्ति का कोई ओर-छोर नहीं है। वह अपार तथा अलौकिक है। उसके पराक्रम में प्रज्ञप्ति-विद्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उसकी शक्ति तथा प्रज्ञप्ति के कारण वैताड्य पर्वत पर पूर्वोक्त संकट अनुपम लाभों में परिवर्तित हो जाते हैं और उसे अतुल समृद्धि प्राप्त होती है। द्वारिका में प्रवेश करने से पूर्व वह विद्याबल ही से सेना निमित्त करता है और कृष्ण को निश्चास्त्र कर देता है (निरस्त्रं चक्रुवान् कृष्णं सद्यो विद्याबलात् सुतः, ८.३१६)। वस्तुतः, उसके समक्ष कोई योद्धा नहीं टिक सकता। उसी के शब्दों में वह जगद्विजेता है—सुतोऽहं च जगज्जेता (६.६१)। प्रज्ञप्ति-विद्या से उसे स्वेच्छानुसार रूप बदलने की क्षमता प्राप्त है। वह किरात, चाण्डाल, मदारी, द्विज आदि का रूप आसानी से धारण कर सकता है।

प्रद्युम्न के कार्यकलाप में कन्याहरण का प्रमुख स्थान है। किरात के वेश में वह दुर्योधन की पुत्री को दिवाह-स्थल से उठा लाता है। अपने मामा की पुत्री को भोगने तथा छल से हथियाने में भी उसे कोई संकोच नहीं है। किन्तु वह दुश्चरित्र नहीं है। विद्याधरी के उन्मुक्त निमन्त्रण को ठुकरा देना तथा उदधि को हरकर भी उसे सत्यभामा के पुत्र भानु को सौंप देना उसके सच्चारित्र्य के प्रबल प्रमाण हैं।

पित्रा च दीयमानां तां नेच्छति स्म श्रियाः सुतः।

भ्रातृजाया यतो ह्येषा ततो मे नीचिती भवेत् ॥ ६.८

व्यवहारकुशल होने के नाते प्रद्युम्न को कार्य की सिद्धि के लिये छल-कौतुक का प्रयोग करने में संकोच नहीं है। वह सत्यभामा के स्थान पर जाम्बवती को कृष्ण के पास भेज देता है, जिससे जाम्बवती को तेजस्वी तथा सत्यभामा को कायर पुत्र प्राप्त होता है। छल से ही वह सत्यभामा के केश कटवा देता है। द्वारिका-प्रवेश से पूर्व उसके करतब कौतुकपूर्ण हैं।

प्रद्युम्न के चरित्र में वीरता, व्यावहारिकता, सच्चरित्रता तथा छल का विचित्र गठबन्धन है। नेमिनाथ की द्वारिका-दहन की भविष्यवाणी से भव-वैभव की भंगुरता का भान होने पर वह सर्वस्व छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण करता है और अन्ततः परम पद को प्राप्त होता है।

कृष्ण

कृष्ण काव्यनायक प्रद्युम्न के पिता हैं। उनका व्यक्तित्व अनेक अमूल्य गुणों का विशाल पूज है। उनका रूप, वैभव, ऐश्वर्य, भुजबल, धैर्य, दानवीरता, उदारता तथा पूज्यबुद्धि अद्वितीय है।^{१४} उनका सौन्दर्य इतना मोहक है कि रुक्मिणी, नारद से २४. बही, १.८४-८६

उसकी प्रशंसा सुनने मात्र से कामविह्वल हो जाती है (३. ७८-८०) । कृष्ण उसके हृदय में ऐसे बस गये हैं जैसे दमयन्ती का हृदय नल के प्रति अनुरक्त हो गया था (३.३५) । यह उनके रूप की मोहिनी थी कि रुक्मिणी दूत द्वारा उन्हें स्वयं आहूत करती है । राज-वर्ग की तरह उनकी अनेक पत्नियाँ हैं । काव्य में उनकी सौलह हजार रानियों का उल्लेख है । यह संख्या यद्यपि परम्परागत (काल्पनिक भी) है किन्तु उनका बहुपत्नीत्व निर्विवाद है । काव्य में उनमें से कोई कँकेयी के रूप में तो प्रकट नहीं होती, किन्तु रुक्मिणी के आने के पश्चात् सत्यभामा का आचरण सौतिया डाह से अनुप्राणित है । स्वयं कृष्ण सब पत्नियों के साथ समान व्यवहार करते हैं, ऐसी बात भी नहीं है । रुक्मिणी के प्रति उनकी अनुरक्ति तथा सत्यभामा के प्रति उपेक्षा स्पष्ट है ।

उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता उनकी अलौकिक शक्ति तथा वीरता है । रुक्मिणी-हरण के समय वे, शिशुपाल तथा विदर्भराज की संयुक्त सेना को, केवल बल-राम की सहायता से, छिन्न-भिन्न कर देते हैं । जरासन्ध जैसा पराक्रमी तथा क्रूर योद्धा भी उन्हें पराजित नहीं कर सका । उनके शौर्य, रणकौशल तथा विष्णुत्व के प्रभाव से मगधसेना देखते-देखते ध्वस्त हो गयी । लवणसागर को लांघ कर द्रौपदी को पुनः प्राप्त करता उनके लिये ही सम्भव था । पाण्डव पञ्चनाभ का पराक्रम चक्षुः के थे । 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की सत्यता में उन्हें पूर्ण विश्वास है । उनकी वीरता का परिचय कन्याहरण से भी मिलता है । उनकी विभ्रन्ति मान्यता है कि वीर के लिये कन्याहरण गौरव का प्रतीक है । बाण को सम्बोधित उनके ये शब्द उनके चरित्र के इस पक्ष को उजागर करते हैं ।

हरिर्जंगद किं वक्षि मिथ्यैतद् वसुधा तथा ।

कन्या चोभे स्थातां बलिनः खलु हस्तगे ॥ ११-६६

परकीया भवेत्कन्या तद्दहती दोष एव कः ।

वयं च बलिनो भूत्वा हरामः कन्यका इति ॥ ११-७०

समाज विशेष में, जनसाधारण के लिये कन्याहरण भले ही बल का द्योतक मान लिया जाए किन्तु श्रीकृष्ण जैसे नैतिक मूल्यों के समर्थक के लिये यह कुकृत्य कदापि शोभनीय नहीं है ।

यह आश्चर्य की बात है कि उन जैसा वीर भी भावी की अटलता के समक्ष नतमस्तक है । नेमिनाथ से द्वारिका के विनाश तथा अपने निधन की भविष्यवाणी सुन कर वे, सामान्य व्यक्ति की भाँति, सब कुछ भवितव्यता पर छोड़ देते हैं । यदुकुल के अग्रणी होते हुए भी वे यादवों को मद्यपान के व्यसन से विरत नहीं कर सके जिससे द्वारिका जल कर खाक हो गयी । भवितव्यता के प्रति अडिग आस्था के कारण^{१५} वे,

२५. भवितव्यं भवत्येव नाज्यथा तद्भवेत् ववचित् । वही, १६-१५४

मानों मृत्यु को आहूत करने के लिये, द्वारिका छोड़ कर चले जाते हैं। वन में उनका आचरण और भी आश्चर्यजनक है। वे इतने पराश्रित हो जाते हैं जैसे स्वयं असमर्थ, असहाय तथा अशक्त हों।^{११} कर्मयोग में आस्था के कारण प्रव्रज्या ग्रहण न करने के फलस्वरूप उनका नरक में पतन होता है। कृष्ण महान् हैं किन्तु उनका अन्त अतीव कारुणिक है।

बलदेव

बलदेव कृष्ण के अग्रज हैं। हल और मुसल उनके ख्यात शस्त्र हैं। उनके मदिराप्रेम की ध्वनि भी यज्ञ-तत्र सुनाई पड़ती है। काव्य में उनके चरित्र की दो मुख्य विशेषताएँ अंकित हुई हैं—वीरता तथा भ्रातृप्रेम। वे कृष्ण के अग्रज ही नहीं, सच्चे पथ-प्रदर्शक तथा हितैषी हैं। वे सुख-दुःख में, छाया की भाँति, सदैव उनका साथ देते हैं। उनका साहचर्य अविच्छिन्न है। वस्तुतः वे कृष्ण की शक्ति के स्रोत हैं। उनके शौर्य और सहायता से ही कृष्ण, शिशुपाल तथा जरासन्ध जैसे दुर्वर्ष शत्रुओं को घराशायी करने में सफल होते हैं (तव साहाय्यतस्तीर्णो जरासन्धरणोऽर्णवः—१२.३०)।

उनके व्यक्तित्व का सबसे मधुर पक्ष उनका भ्रातृ-प्रेम है। अपने अनुज के प्रति उनके हृदय में अथाह स्नेह है। अन्तिम समय में वे भी द्वारिका छोड़कर कृष्ण के साथ चल पड़ते हैं। वन में वे अपने प्रिय भाई की हर सुविधा का ध्यान रखते हैं और अपने प्राणों को संकट में डालकर उनके लिये अन्न, जल आदि जुटाते हैं। जरासुत का बाण लगने से जब कृष्ण के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, वे, अबोध बालक की तरह, उनके शव को कन्धे पर उठाकर छह मास तक घूमते रहते हैं। वे तो यह मानने को भी तैयार नहीं कि उनका अनुज मर चुका है (१७.३२)। स्वयं कृष्ण को उनके प्रेम पर पूरा विश्वास है। मरने से पूर्व जरासुत को कहे गये ये शब्द उनके प्रति बलदेव के अगाध स्नेह के द्योतक हैं।

बलो ज्ञाता यदि वधं तव हस्तान्मदीयकम्।

हन्त्यादेव तदा त्वां च स मयि प्रेमवान् यतः ॥ १६.१६८

वे नरक में भी कृष्ण की यातनाओं का प्रतिवाद करने का प्रयत्न करते हैं। उसमें असफल होने पर स्वयं नरक में रहने का प्रस्ताव करते हैं (१७.१६२)

नारद

देवर्षि नारद काव्य के अलौकिक पात्र हैं। वे लोक-लोकान्तरों में विचरण करते हैं और विभिन्न भुवनों तथा लोगों के बीच राजसी दूत अथवा सम्पर्क अधिकारी का काम करते हैं। वे कलह, क्रोध तथा ईर्ष्या के साक्षात् अवतार हैं। सांप की तरह उनका क्रोध एकदम फुफकार उठता है (साक्षादहिरिव क्रुद्धो नारदः कलिकौतुकी

२६. आतः क्षुधातुरोऽभूव—१६.१२१. बन्धोऽहं तृषितोऽभव—१६.१३४

—१३.६)। उन्हें अपमान कदापि सह्य नहीं है और अपमान का उनका निजी मानदण्ड है। अपमान का प्रतीकार करने के लिये वे व्यक्ति को घोर से घोर विपत्ति में डाल सकते हैं। परन्तु सम्मान करने वाले व्यक्ति पर वे कृपा की वृष्टि कर देते हैं। रुक्मिणी को श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त करना, प्रद्युम्न का पता लगाना तथा उसे द्वारिका लाना उनके लिये ही सम्भव था।

नेमिनाथ

नेमिनाथ यदुकुलभूषण समुद्रविजय के पुत्र हैं। काव्य में उनका पुराण-प्रसिद्ध चरित वर्णित है। उनकी अवतारणा प्रजा को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से हुई है। जैसे भी परम्परा से प्रद्युम्नचरित उनके चरित का अवयव है। वे सांसारिक विषयों से इतने विरक्त हैं कि कृष्ण की पत्नियों तथा अन्य यदुनारियों के उपालम्भ-प्रलोभन भी उन्हें विचलित नहीं कर सके। और जब माता-पिता की इच्छापूर्ति के लिये वे विवाह करना स्वीकार भी करते हैं, तो भावी पशुहिंसा से भीत होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। वे नैतिकता के संरक्षक तथा काव्य के सूत्रधार हैं। प्रायः सभी पात्र उनसे बोध पाकर संयम का सुख प्राप्त करते हैं। स्वयं नेमिनाथ कैवल्य और निर्वाण का परम पद प्राप्त करते हैं।

रुक्मिणी तथा सत्यभामा

नारी पात्रों में केवल रुक्मिणी तथा सत्यभामा के चरित्र की कुछ रेखाएँ उभर सकी हैं। वे दोनों रूपवती युवतियाँ हैं। रुक्मिणी का तो चित्र देखने मात्र से कृष्ण कामातुर हो जाते हैं। नारद को विश्वास है कि विधाता ने उसे कृष्ण के लिये ही बनाया है (३.३६)। वह भी उनके गुणों पर मुग्ध है और दूत के द्वारा उनसे, उसे शिशुपाल के चंगुल से उबारने का निवेदन करती है। वह काव्यनायक की जननी है। प्रद्युम्न के अपहरण से उसका मातृत्व चीख उठता है। कृष्ण उसके प्रेम में लीन होकर सत्यभामा आदि अन्य पत्नियों को भूल जाते हैं। इसीलिये सत्यभामा के चरित में सौतिया डाह का गहरा पुट है। यह बात भिन्न है कि प्रद्युम्न उसकी सब चालें विफल कर देता है। उसकी प्रद्युम्न के समान तेजस्वी पुत्र पाने की अभिलाषा भी अधूरी रह जाती है।

गौण पात्रों में विदर्भ के राजकुमार रुक्मी में सौन्दर्य तथा शौर्य का राजोचित समन्वय है। इक्ष्वाकुवंशी बालकों का पराक्रम जन्मसिद्ध है। उसके विचार में कवचधारी पुत्र के होते हुए पिता का शस्त्र उठाना पुत्र के लिए लज्जाजनक है (२.१०४-१०६)। राज्ञीमती को नेमिनाथ की सहर्षमिणी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था पर उनके विचार-परिवर्तन ने उसकी आशा पर पानी फेर दिया। वह नेमिनाथ को हृदय से स्वीकार कर चुकी थी, अतः उसके लिए वे ही वर और गुरु हैं। रथनेमि के कामाकुल प्रलोभन और सखियों के परामर्श भी उसे विचलित नहीं

कर सके। विद्याधरी कनकमाला के रूप के पीछे घृणित कुरूपता छिपी है।

भाषा

प्रद्युम्नचरित की रचना विद्वद्वर्ग के बौद्धिक रंजन के लिए नहीं अपितु जन-साधारण को कथात्मक पद्धति से धर्मबोध देने के लिए है। इसमें भाषा का महत्त्व माध्यम से अधिक नहीं है। फलतः प्रद्युम्नचरित में भाषा को परिष्कृत अथवा प्रौढ़ बनाने या साहित्यिक कलाबाजियां दिखाने की सप्रयत्नता नहीं है। कवि के उद्देश्य के अनुरूप वह सरल तथा सुगम है। काव्य में आद्यन्त एकरूप भाषा प्रयुक्त की गयी है। अनुष्टुप् भाषायी सरलता का वाहक है। प्रद्युम्नचरित्र के विस्तृत कलेवर में स्थितियों के वैविध्य की कमी नहीं, परन्तु उसकी भाषा में तदनु रूप रूप परिवर्तित करने की क्षमता नहीं है। युद्ध तथा हास्य, द्वारिकादाह तथा रुक्मिणी-हरण, धर्मापदेश तथा पङ्क्यन्त्र आदि का वर्णन एक जैसी भाषा में किया गया है। इन तथा अन्य प्रसंगों की भाषा में मात्रा का अन्तर भले हो, स्वरूपगत भिन्नता नहीं है।

अपनी कृति को सरल बनाने के लिए रत्नचन्द्र ने वाग्व्यहार तथा भाषा की शुद्धता को भी महत्त्व नहीं दिया है। उसका वाक्यविन्यास कहीं-कहीं ग्रान्त नहीं है। उस पर जनपदीय भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। अद्याप्युपायो द्वौ शेषौ तिष्ठतोऽस्य निपातने (७.२६१)—इसे मारने के अभी दो उपाय शेष रहते हैं; मानसं पृच्छ स्वकम् (८.२४२)—अपने मन को पूछ; चलत्पन्यानमुज्जित्वा (१२.६१)—चलते रास्ते को छोड़कर; श्वसोर्दत्वांगुली द्वे साऽवदत् (वह कानों में दो अंगुलियां डालकर बोली); तां समर्पय मार्गेण ऋजुना (१३.७४) उसे सीधे रास्ते से सौंप दे आदि संस्कृत की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। यान्तीमिव गन्धरेणुम् (५.१६७), किमारु-दोऽसि.....सहकारतरी (७.१६५), प्रौढऋद्धि (७.४००) प्रेमपात्रिका (८.१६१) अतिमुन्दराम् (६.१६८), प्राज्ञा अपास्तभयवेपथुः (१०.२६५) तामुपायत (११.५८), युक्तं तद्गमनं कर्तुं (१६.११३), सिंहा लक्षश एव हि। विकृतास्तं गिरि (१७.७६) आदि प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य हैं। सुबोधता के लिए ही प्रद्युम्नचरित में देशी शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनमें से कुछ बहुत विचित्र हैं—छोटयामास (४.१५६), हक्कयन् (७.२६८), हारयामास (८.८३), लड्डुकाः (८.१८६)। प्रद्युम्नचरितकार ने अपने भावों के समर्थन में संस्कृत तथा प्राकृत में पररचित पद्य उद्धृत करने में भी संकोच नहीं किया है। काव्य में ऐसे तेरह पद्य समाविष्ट हैं। 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' तथा 'कुमुदवनम-पश्चि श्रीमदम्भोजखण्डम्', भारवि तथा माघ के ये प्रसिद्ध पद सातवें (४३०) तथा दसवें सर्ग (२५८) में यथावत् विद्यमान हैं। भाषा को सुबोध बनाने के इस प्रयत्न के विपरीत प्रद्युम्नचरित में कुछ अतीव अप्रचलित संस्कृत शब्द प्रयुक्त किए गए हैं ४

उदाहरणार्थ—हेमकन्दल (मूंगा), हारदूरा (द्राक्षा), भामवती (क्रोधयुक्ता), त्रिवाकीर्ति (नाई), हीनांगी (चींटी), सत्रम् (वन) ।

प्रद्युम्नचरित्र की शैली पुराणों की संवादशैली है । समूचा काव्य मगधराज श्रेणिक की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए भगवान् महावीर की धर्मदेशना में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है । विभिन्न पात्र आपस में प्रश्नोत्तर करते हैं और प्रत्येक विषय का सविस्तार निरूपण किया जाता है । रुक्मिणी तथा कृष्ण के प्रश्नों के उत्तर के रूप में नारद क्रमशः कृष्ण तथा रुक्मिणी के देश, कुल, रूप आदि का जमकर वर्णन करते हैं । यदि दिक्सि तद्देहि.....तथोक्ते सा विलक्षोचे (८.२३१), स प्रोचे.....सोचे (८.२३२), तदा पप्रच्छ तान् पुत्री..... ऊचुस्ते किं न जानासि (१०.७८) संवादशैली के सूचक ऐसे वाक्यों की काव्य में भरमार है ।

अलंकार

भाषा की तरह अलंकार भी कवि के साध्य नहीं हैं । प्रद्युम्नचरित में वे अतीव सहजता से प्रयुक्त हुए हैं । रत्नचन्द्र के लिए उपमा भावाभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है । उपमा के प्रयोग में उसकी कुशलता का काव्य से अच्छा परिचय मिलता है । रुक्मी की सहायता से चेदिराज ऐसे प्रवल हो गया जैसे वायु के सहयोग से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है (५.५६) । कृष्ण के तेज को न सह सकने के कारण पद्मनाभ अपनी पुरी को इस प्रकार लौट गया जैसे सम्भोग-पीड़ा को सहने में असमर्थ नववधू पितृगृह चली जाती है ।

कृष्णाग्रे स्थातुमसहः सन् पद्मः [स्वां पुरीं ययौ ।

पुनः पत्युर्नवोद्वेगं गृहं पित्र्यं रतासहा ॥ १३.६३

निम्नांकित पंक्तियों में मेरु-वल्मीक, सूर्य-खद्योत, इन्द्र-इन्द्रगोप इन विरोधी वस्तुओं का समवाय है, अतः यहाँ विषम अलंकार है ।

क्व मेरुः क्व च वल्मीकः क्व सूर्यो ज्योतिरिगणः ।

क्व चेन्द्रश्चेन्द्रगोपश्च दृष्टान्तोऽस्त्ययमावयोः ॥ ६.२६४

राजीमती रथनेमि को व्रतभंग की गृहंता का आभास, निम्नलिखित श्लोक में, दृष्टान्त के द्वारा कराती है ।

ज्वलदग्नीं प्रवेशोऽपि वरं न तु व्रतभक्तिः ।

युद्धे वरं हि योद्धृणां मरणं न पलायनम् ॥ १५.१७

रत्नचन्द्र ने अप्रस्तुतप्रशंसा का भी काफी प्रयोग किया है । रुक्मिणी के सन्देश के उत्तर में कृष्ण का यह आपवासन अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में आया है । यहाँ अप्रस्तुत हंसी, हंस तथा काकी से क्रमशः रुक्मिणी, कृष्ण तथा सत्यभामा व्यंग्य है ।

हे हंसि ! माऽयसि कुर्यास्तवाहं हंस आगतः ।

न काकीसंगतो हृष्येद् हंसः कमलपत्रसृक् ॥ ३.६५

इनके अतिरिक्त प्रद्युम्नचरित्र में यमक, परिसंख्या, रूपक, यथासंख्य मालोपमा, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति तथा सन्देह का भी प्रयोग किया गया है ।

छन्द

अधिकतर पौराणिक महाकाव्यों की भाँति प्रद्युम्नचरित में आद्यन्त अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त किया गया है । प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि का परिचयात्मक छन्द वसन्ततिलका में निबद्ध है । प्रथम तथा षष्ठ सर्ग में एक-एक पद्य शार्दूलविक्रीडित में है । सत्तरहवें सर्ग में एक पद्य द्रुतविलम्बित में रचित है । सब मिलाकर प्रद्युम्नचरित्र में चार छन्द प्रयुक्त हैं ।

प्रद्युम्नचरित की रचना पाठक को निवृत्तिपरक जैन धर्म की ओर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से हुई है । रत्नचन्द्र अपने लक्ष्य की पूर्ति करते हुए काव्य-धर्मों का निर्वाह करने में सफल हुए हैं । उनका कवित्व प्रशंसनीय है । उनके काव्य की विविधता पाठक को निरन्तर आगे बढ़ने को उत्साहित करती है परन्तु उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण दोनों सीमित हैं ।

२५. उपसंहार

पूर्ववर्ती पृष्ठों में पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी के २२ जैन संस्कृत-महाकाव्यों का सर्वांगीण पर्यालोचन किया गया है। आलोच्य युग के महाकाव्य संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा की अन्तिम कड़ी है। प्रबन्ध के प्रासंगिक भागों से स्पष्ट है, विवेच्य शताब्दियों में जैन-महाकाव्य-रचना की प्रक्रिया वेगवती रही है। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही इतने महाकाव्य लिखे गये कि गुण और संख्या में वे अन्य दो आलोच्य शतियों के महाकाव्यों के समकक्ष हैं। सतरहवीं शताब्दी के बाद जैन-साहित्य में संस्कृत-महाकाव्य की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है।

विवेच्य युग में सभी प्रकार के महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है। अन्य शैलियों के महाकाव्यों के अतिरिक्त साहित्य को शास्त्रकाव्य प्रदान करने का गौरव भी प्रस्तुत काल को प्राप्त है। देवानन्द तथा सप्तसन्धान शुद्धतः शास्त्रकाव्य हैं। श्रीधरचरित छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण शास्त्रकाव्य के बहुत निकट पहुँच जाता है। आलोच्य युग के जैन कवियों का कतिपय तीर्थंकरों, पुराणपुरुषों तथा पूर्वगामी जैनाचार्यों के प्रति विशेष पक्षपात रहा है। जिनेश्वरों में नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ का चरित प्रस्तुत युग के कुछ महाकाव्यों का आधार बना है। पार्श्वप्रभु के इतिवृत्त पर दो महाकाव्य लिखे गये हैं। यशोधर, जम्बूस्वामी तथा प्रद्युम्न इन पुराण-पुरुषों के चरितों में अनुस्यूत कर्मवाद की अपरिहार्यता ने जैन कवियों को अधिक आकर्षित किया है। इन तीनों के चरित पर आलोच्य काल में एक-एक महाकाव्य की रचना हुई है, जो इन कथाओं की लोकप्रियता का प्रमाण है। तपागच्छ के आचार्यों, विशेषतः हीरविजय तथा उनकी पट्ट-परम्परा में विजयसेनसूरि, विजयदेवसूरि तथा विजयप्रभसूरि की आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपलब्धियों ने जैन कवियों को इतना प्रभावित किया कि आलोच्य युग में उन से सम्बन्धित कई उत्लेखनीय काव्यों की रचना हुई है। हीरविजयसूरि के इतिवृत्त पर आधारित हीरसौभाग्य संस्कृत के जैनाजैन काव्यों में प्रतिष्ठित पद पर आसीन है। विजयसेन तथा विजयदेवसूरि के जीवनवृत्त पर रचित महाकाव्यों—विजयप्रशस्ति, तथा देवानन्दमहाकाव्य—में भी, पूर्व पीठिका के रूप में, हीरसूरि का निरूपण हुआ है। सोमसौभाग्य तथा सुमतिसम्भव का विषय भी तपागच्छ के अनुवर्ती साधुओं की धर्म-धर्या है। आलोच्य काल के कवियों पर तपागच्छीय आचार्यों का यह एकाधिकार उनकी धर्म-प्रभावना तथा चारित्रिक निर्मलता का सूचक है।

संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा में प्रस्तुत युग के महाकाव्यों का अपना महत्त्व है। माघोत्तर अधिकतर महाकाव्यकार उनकी कविता के बाह्य एवं आध्यन्तर रूप से इतने अभिभूत हैं कि वे कथावस्तु के अलंकरण, रूढ़ियों के पालन तथा भाषा-शैली में माघ का अनुकरण करते रहे हैं। आलोच्य काल के कवि उस प्रबल आकर्षण से अछूते तो नहीं हैं, किन्तु जयशेखर, कीर्तिराज, पुण्यकुशल तथा सूरचन्द्र ने कालिदास की शैली को अपना आदर्श माना है। फलतः उनके काव्यों की भाषा-शैली माघ की विकटबन्ध कृत्रिम शैली नहीं है। उसमें गरिमा तथा सरलता का हृदयावर्जक संयोग है। पुण्य-कुशल के काव्य की यह विशेषता इसलिये और भी अभिनन्दनीय है कि कथावस्तु की परिकल्पना, उपस्थापन तथा निर्वाह आदि में वे माघ के ऋणी हैं। अवश्य ही काव्य-रचना के प्रयोजन ने इन कवियों को अपनी कृतियों को अत्यधिक अलंकृत करने से रोका है, किन्तु संस्कृत-महाकाव्य के अन्तिम चरण में बद्धमूल परम्परा तथा उसके दुर्दमनीय आकर्षण के समक्ष आत्मसमर्पण न करना स्वयं एक उपलब्धि है। इस दृष्टि से वे कालिदास के पथ के बटोही हैं और उनकी शिष्य-परम्परा को समृद्ध बनाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आलोच्य युग में माघ का प्रभाव समाप्त हो गया था अथवा उनका काव्य आकर्षणशून्य बन गया था। उपर्युक्त कवियों में से ही कुछ अपने काव्यों के प्रस्तुतीकरण में माघ के पदचिह्नों पर चलते दिखायी देते हैं। परन्तु माघ के सच्चे शिष्य मेघविजयगणि हैं। देवानन्द की समस्यापूर्ति के अतिरिक्त दिग्विजय महाकाव्य के चित्रकाव्य पर भी माघ की छाप स्पष्ट है। अन्य काव्यों के कुछ अंशों पर भी माघ का प्रभाव देखा जा सकता है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि श्रीहर्ष को भी विवेच्य युग में दो अनुयायी मिले हैं। हीरसौभाग्य जैन-साहित्य का नैषध है। यदुमुन्दर नैषधचरित का लघु संस्करण प्रस्तुत करता है।

कुमारपालचरित के अतिरिक्त आलोच्य युग के अन्य ऐतिहासिक महाकाव्यों के इतिहास-तत्त्व की प्रामाणिकता निर्विवाद है। संयमधन आचार्यों के जीवनवृत्त पर आधारित काव्यों का इतिहास-पक्ष संस्कृत के प्राचीन बहुप्रशंसित ऐतिहासिक महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय है। सर्वविजय ने सुमतिसम्भव में सुमति-साधु के साथ-साथ माण्डू के एक नागरिक, शाह जावड़, को अपने विवरण का विषय बना कर ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में नूतन उद्भावना की है। अपने इतिहास-पक्ष को लगभग निर्दोष बनाये रखना इन काव्यों की बड़ी विशेषता है।

विवेच्य तीन शताब्दियों में जैनकुमारसम्भव, नेमिनाथमहाकाव्य तथा काव्य-मण्डन (कुछ स्थलों को छोड़कर) में काव्य के सुकुमार मार्ग का निर्वाह हुआ है। भरतबाहुबलिमहाकाव्य की अन्तरात्मा भी कालिदास की कला से प्रभावित है। हम्मीरमहाकाव्य पाठक की ऐतिहासिक तथा काव्यात्मक चेतना को समान रूप से

सन्तुष्ट करता है। हीरसौभाग्य नैषधचरित का स्मरण कराता है। यदुसुन्दर तथा नैषधचरित का तुलनात्मक अध्ययन अतीव उपयोगी है। देवानन्द तथा सप्तसन्धान पण्डितवर्ग के बौद्धिक विलास की सामग्री हैं। श्रीघरचरित में पाठक को विभिन्न शैलियों का प्रपातक रस मिलेगा। इसमें प्रयुक्त लगभग १०० छन्द भी कम चमत्कारजनक नहीं हैं। ये नौ महाकाव्य ऐसे हैं जिन पर काव्यप्रेमी तथा साहित्य-समीक्षक गर्व कर सकता है तथा अन्य काव्यों पर किये गये अपने श्रम को, केवल इनके कारण भी, सार्थक मान सकता है। इन्हें संस्कृत के गौरवशाली महाकाव्यों की श्रेणी में समुचित स्थान मिलना चाहिये। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य विवेचित काव्य महत्त्व से शून्य हैं। हमारा दृढ विश्वास है कि जैन संस्कृत-महाकाव्यों के बिना संस्कृत-महाकाव्य के इतिहास को पूर्ण मानने का आग्रह नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि जैन संस्कृत-साहित्य का निष्पक्ष दृष्टि से मूल्यांकन किया जाये और जो उसमें आदेय है, उसे निस्संकोच ग्रहण किया जाये।

संदर्भ-ग्रंथ

१. अणुयोगद्वाराहम् : श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६८
२. उत्तराध्ययनसूत्रम् : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा, कलकत्ता, १९६७
४. दशवैकालिकसूत्रम् : व्याख्याकार, आत्मारामजी, लाहौर, १९४६
३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पत्राकार), सीकंदराबाद
५. पद्मपुराण (भाग १-२) : रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८-५९
६. हरिवंशपुराण : जिनसेन : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२
७. आदिपुराण (भाग १-२) : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१
८. उत्तरपुराण : कुणभद्र : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४
९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित : हेमचन्द्र, जैन धर्मप्रचारसभा, भावनगर, १९०६-१३
१०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित : अंग्रेजी अनुवाद, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज, संख्या १३९, जिल्द ५
११. जिनरत्नकोश : एच. डी. वेलंकर, पूना, १९४४
१२. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास : मो. द. देसाई, बम्बई, १९३३
१३. जैन संस्कृत साहित्य नो इतिहास, भाग-२ : हीरालाल कापड़िया, बड़ौदा, १९६८
१४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३
१५. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बंबई, १९५६
१६. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : हीरालाल जैन, भोपाल, १९६२
१७. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान : नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७१
१८. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज : जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, १९६५
१९. जैन प्रशस्तिसंग्रह : जुगलकिशोर मुख्तार, दिल्ली, १९५४
२०. ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह : अमरचन्द, भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता, सं० १९९४
२१. बीकानेर जैन लेख संग्रह : अमरचन्द नाहटा, कलकत्ता, बी. सं. २४८२

२२. युगप्रधान जिनदत्तसूरि : अगरचन्द नाहटा, कलकत्ता, सं. २००३
 २३. अतीत का अनावरण : आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ;
 १९६९
 २४. जैन-धातु-प्रतिमा-लेख-संग्रह : बुद्धिसागर, अध्यात्म प्रसारक मंडल, पादरा
 २५. भट्टारक संप्रदाय : विद्याधर जोहरापुरकर, शोलापुर, १९५८
 २६. राजस्थान का जैन साहित्य, प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७
 २६. सूरेश्वर अने सभाट
 २८. बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रन्थ, कलकत्ता, १९६७
 २९. जैन-गोत्र-संग्रह
 ३०. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १
 ३१. प्रबन्धकोश, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६
 ३२. ऋग्वेद (भाग १-२) दयानन्द संस्थान, दिल्ली, १९७३, १९७५
 ३३. ए वैदिक रीडर : ए. ए. मैकडानल, आक्सफोर्ड, १९५१
 ३४. ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्बत् २०२१
 ३५. महाभारत (मूल), भाग १-४, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं., २०१३-२०१५
 ३६. मार्कण्डेयपुराण : वैकटेश्वर प्रेस, बंबई
 ३७. वायुपुराण : बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण
 ३८. ब्रह्माण्डपुराण : वैकटेश्वर प्रेस, बंबई
 ३९. अग्निपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली, ग्रन्थांक ४१
 ४०. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई
 ४१. भागवतपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर
 ४२. काव्यालंकार : (भामह) : सं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९८५
 ४३. काव्यादर्श (दण्डी) : सं. घर्मोन्द्रकुमार गुप्त, दिल्ली, १९७३
 ४४. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) : सं. आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९६२
 ४५. काव्यप्रकाश (मम्मट), वामनी सहित, पूना, १९६५
 ४६. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) : सं. रसिकलाल पारीख, बी. एम. कुलकर्णी,
 श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६४
 ४७. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) : सं. शालिग्राम, लखनऊ, सम्बत् १९७८
 ४८. भारतकौमुदी (डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाग १-२);
 इलाहाबाद, १९४५
 ४९. लिट्रेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल : भोगीलाल सांडेसरा, बम्बई,
 १९५३
 ५०. कान्द्रीब्यूशन ऑफ जैनियम टू इण्डियन कल्चर : सं. रामचन्द्र द्विवेदी;

दिल्ली, १९७५

५१. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर : ए. बी. कीय, १९५३
५२. संस्कृत कवि दर्शन : भोलाशंकर व्यास, बनारस, १९५५
५३. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज : दशरथ शर्मा, दिल्ली, १९५६
५४. चौलुक्य कुमारपाल : लक्ष्मीशंकर व्यास
५५. हम्मीरायण (भाण्ड उ व्यास) : सं० भंवरलाल नाहटा, बीकानेर, सं० २०१७
५६. आर्देने अकबरी
५७. अरस्तू का काव्यशास्त्र : सं० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०२३
५८. सौन्दरनन्द : सं० ह. एच. जास्टन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५
५९. मेघदूत : साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९५७
६०. कुमारसम्भव : सं० एम. आर. काले, दिल्ली
६१. रघुवंश : सं० एच. डी. वेलकर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४८
६२. अभिज्ञानशाकुन्तल : सं० एम. आर. काले, बम्बई, १९३४
६३. वैराग्यशतक : सं० केशवदेव शास्त्री, मथुरा, १९५५
६४. शतकत्रयादिमुभाषितसंग्रह : सं० दामोदर धर्माचन्द कौसंबी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला (२३), बम्बई, १९४८
६५. पुरुषार्थोपदेशः (भर्तृहरि) : सं० के. वी. शर्मा, होशियारपुर, १९६६
६६. किरातार्जुनीय : सं० आदित्यनारायण पांडेय, वाराणसी, १९६८
६७. रामचरितम् (भट्टिकाव्य) : सं० शिवदत्त, बम्बई, १९२८
६८. शिशुपालवध : सं० हरमोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५
६९. नैषधचरित : सं० शिवदत्त शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३
७०. मण्डनग्रन्थसंग्रह (भाग १-२), पाटन, सम्बत् १९७४, १९७६
७१. धम्मिलकुमारचरित (जयशेखर) : हीरालाल हंसराज, जामनगर
७२. नेमिनिर्वाण (वाग्भट) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८६६
७३. भानुचन्द्रचरित्र (सिद्धिचन्द्र) : सिंधी जैन ग्रन्थमाला (१५), बम्बई, सं० १९६७
७४. कुमारपालचरित (जयसिंह), [पत्राकार] : हीरालाल हंसराज, जामनगर, १९१५
७५. सुकृतसंकीर्तन : जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, सं० १९७४
७६. विजयदेवमाहात्म्य (श्रीवल्लभ) : जैन साहित्य संशोधक समिति,

अहमदाबाद, १९२८

७७. वृत्तरत्नाकर (केदारभट्ट) : सं० रामचन्द्र शास्त्री, भारद्वाज पुस्तकालय
लाहौर, १९३७

७८. विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि) : हिन्दी अनुवाद, मेवानगर (राज०);
१९७८

७९. जैनजन्म इन राजस्थान : के. सी. जैन, झोलापुर, १९६३

८०. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य : श्यामशंकर दीक्षित,
जयपुर, १९६९

८१. भारतीय पुरातत्त्व (मुनि जिनविजय अभिनन्दन ग्रन्थ) : जयपुर, १९७१

८२. अमरचन्द नाहटा अभिनन्दनग्रन्थ (भाग २) : बीकानेर, १९७६

८३. भारतीयभानम् : लाईट ऑफ इण्डोलोजी : होशियारपुर, १९८०

८४. आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट : हर्मेन गोट्ज, आक्सफोर्ड;
१९५०

शोध पत्रिकाएं

१. जैन सिद्धान्तभास्कर

२. जैन एण्टीक्वेरी (पूर्वोक्त का अंग्रेजी विभाग)

३. जैन सत्यप्रकाश

४. अनेकांत

५. स्वाध्याय (गुजराती)

६. जैन संदेश

७. महावीर-स्मारिका

८. अवगाहन, सरदारशहर

९. जर्नल आफ मध्यप्रदेश हिस्टोरिकल सोसाइटी

१०. जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा

११. विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल

१२. तुलसीद्विज्ञा

शुद्धिपत्र

मृच्छ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१५	यथा	तथा
१२	१५	महाकाव्यों	महाकवियों
२३	पा० टि० १३	पा० णि०	पा० टि०
३१	६	गतस्त	गतस्य
३४	पा० टि० ३४	मधूय	मवधूय
४२	पा० टि० ४५	उपसिषीष्टताम्	उपासिषीष्ट
५६	२४	अनुभवों	अनुभावों
५८	८	प्रभूतयो	प्रभूतयो
६०	२२	जलदागमः	जलदागमः
६७	११	सुबान्धवो	सुबान्धवो
८०	१७	उत्तराध्ययनसूत्र	उत्तराध्ययनसूत्र
८०	२५	जितेन्द्र	जितेन्द्र
८७	२१	ज	च
९५	२०	तोतोत्तू....	तोतोत्तू...
१००	शीर्षक	ततोन्तुत्	तातोन्तुत्
१०६	शीर्षक	पदमसुन्दर	पदमसुन्दर
११४	१०	काव्यप्रतिभा	काव्यप्रतिभा
१३१	२५	प्रभाव	अभाव
१५४	६	से	के
१८०	२२	इतिवृत्त	इतिवृत्त
१८३	२६	नैदिभया	नैतद्भिषया
२१८	२२	इतिवृत्ति	इतिवृत्त
२२६	११-१२	मभ्ययु ॥६.८	मभ्ययुः ॥६.६
२४८	७	इसके लिये....	इस पंक्ति को
		करते हैं	निकाल दें
		संप्राप्तितः	संप्रापितः

२५०	२६	कान्चन	काञ्चन
२५५	१३	सग्धरा	सगधरा
२७८	३	आचारों	आचारों
२७९	५	बृद्धा	बृद्ध
२७९	२६	ध्रुव	ध्रुवं
३२०	९	अधिकारी	उत्तराधिकारी
३२४	१	बीस वर्ष	बीस वर्ष की
३२४	२२	आचार्य	आचार्य
३४१	१८	ओर	आदि
३४१	१९	ओर	ओर
३६४	२	चन्द्रमा	चन्द्रमणि
३७०	२३	मेहतुंगसूरि	मेस्तुंगसूरि
३७२	२७	कचनवर्णी	कंचनवर्णी
३८०	१४	नरमेघ के	नरमेघ से
३८८	५	ऽछवन्यधू	ऽछवन्यधू
३९१	३२	आनन्दयन्त्र	आनन्दयन्त्र
४०६	३३	आनन्दयन्त्र	आनन्दयन्त्र
४२१	१६	गण्डकीकृत	गण्डकीकृत
४४०	२८	आस्थिपंजर	अस्थिपंजर
४५५	१२	दिवकर	दिनकर
४५७	४	उसका	उसकी

